श्री उत्तराध्ययन सूत्रम्

संस्कृत-छाया - पदार्थान्वय - मूलार्थोपेतं

प्रथम भाग - १ से १३ अध्ययन पर्यंत

व्याख्याकार

जैन धर्म दिवाकर जैनागम रत्नाकर

आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज

सम्पादक

जैन धर्म दिवाकर ध्यानयोगी

आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी महाराज

प्रकाशक

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति (लुधियाना)

भगवान महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सेंटर (दिल्ली)

आगम		**श्री उत्तराध्ययन सूत्रम्**
व्याख्याकार		आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज
दिशा निर्देश		गुरुदेव बहुश्रुत श्री ज्ञानमुनि जी महाराज
सपादक		आचार्य सम्राट् डॉ० श्री शिवमुनि जी महाराज
सहयोग		युवा मनीषी श्री शिरीष मुनि जी महाराज
प्रकाशक		आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना भगवान महावीर रिसर्च एण्ड मेडीटेशन सेटर, दिल्ली
अर्थ सौजन्य		भक्त श्री त्रिलोक चन्द जी जैन (कसूर वाले) के सुपुत्रो द्वारा (लुधियाना) "टॉप गियर" मिनी किग निटवियरज् प्रा० लि० न्यू शिवपुरी, शेखावल रोड, लुधियाना-७ दूरभाष २६०६३६२, २६६६६३७, २३०२०५५ २७४६३४४, २७६०७६३-६४-६५
अवतरण		मार्च २००३
मूल्य		तीन सौ रुपए मात्र
प्रति		११००
प्राप्ति स्थान	१	भगवान महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सैटर श्री आर के जैन, एस-ई-६२-६३, सिघलपुर विलेज, शालिमार बाग, नई दिल्ली दूरभाष ९८११०८३६२७, (ऑ०) २७१३८१६४
	२	श्री सरस्वती विद्या केन्द्र, जैन हिल्स, मोहाड़ी रोड जलगॉव २६००२२ २६००३३
	३	पूज्य श्री ज्ञान मुनि जैन फ्री डिस्पेसरी डाबा रोड, नजदीक विजेन्द्र नगर, जैन कॉलोनी, लुधियाना
	४	श्री चन्द्रकान्त एम मेहता, ए-७, मोन्टवर्ट-२, सर्वे न० १२८/२ए, पाषाण सुस रोड, पूना-४११०२१ दूरभाष ०२०-५८६२०४५
मुद्रण व्यवस्था		कोमल प्रकाशन C/o विनोद शर्मा, म न २०८७/७ गली न० २०, शिव मन्दिर के पास, प्रेम नगर, नई दिल्ली-११०००८ दूरभाष ०११-२५८७३८४१, ९८१०७६५००३

प्रकाशकीय

प्रस्तुत आगम श्री उत्तराध्ययन सूत्र विद्वद्वरेण्य जैन धर्म दिवाकर, जैनागम रत्नाकर आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा व्याख्यायित और टीकाकृत है। विगत पन्द्रह सौ वर्षों में श्री उत्तराध्ययन सूत्र पर निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि के अतिरिक्त अनेक मनीषी मुनीश्वरो और आचार्यो द्वारा वृत्तिया भी प्रचुर मात्रा मे लिखी गई है। गत शती में पण्डित रत्न आचार्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज, जैनागमो के प्रकाण्ड पण्डित पुरुष श्री घासीलाल जी म० प्रभृति अनेक मनीषी मुनीश्वरो ने प्रस्तुत आगम पर सक्षिप्त और बृहद् दोनों ही प्रकार की टीकाए लिखकर मुमुक्षु अध्येताओं पर महान उपकार किया है। इसी शृखला में पूज्यवर्य आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा व्याख्यायित उत्तराध्ययन-सूत्र अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। कारण स्पष्ट है कि आचार्य श्री ने उत्तराध्ययन-सूत्र के गुरु-गम्भीर रहस्यो का ऐसा सरलीकरण किया है कि सामान्य पाठक वर्ग भी उसे सरलता से हृदयगम कर सकता है। इसी दृष्टि से आचार्य श्री के व्याख्यायित आगम जैन धर्म की चारो ही परम्पराओं में विशेष रुचि और उत्साह से पढ़े और पढ़ाए जाते है।

आचार्य श्री नि सदेह ज्ञान के अक्षय सागर थे। उन्होने अपने जीवन काल मे जितना लिखा परिमाण की दृष्टि से उसे देखकर बुद्धि हैरत मे पड़ जाती है। पर यह भी सत्य है कि आचार्य श्री ने जो भी लिखा उनके लेखन का शब्द-शब्द अर्थपूर्ण और अपने विषय की पुष्टि करता है। उनके लेखन मे एक भी शब्द अनावश्यक नही है।

आचार्य श्री के साहित्य की मुमुक्षुओं मे इतनी अधिक मांग है कि प्रत्येक सस्करण शीघ्र ही अप्राप्त हो जाता है। वर्तमान मे श्री उत्तराध्ययन सूत्र भी अप्राप्त प्राय अवस्था मे है। इसी बात को दृष्टिपथ पर रखते हुए चतुर्थ पट्टधर आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी महाराज की मगलमयी प्रेरणा से "**आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति**" का गठन किया गया है। समिति आचार्य श्री के भावो को अपने संकल्प मे ढ़ालकर पूज्य आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज की समस्त श्रुत साधना को त्वरित गति से प्रकाशित करने के पथ पर अग्रसर है।

प्रस्तुत आगम सुविख्यात जैन श्रावक भक्त श्री त्रिलोक चन्द जी जैन की पुण्य स्मृति मे उनके परिवार के अर्थ सौजन्य से आकार पा रहा है। इसके लिए आगम प्रकाशन समिति इस परिवार का हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करती है।

शिवाचार्य के निर्देश हमारे सकल्प का प्राण है। पूर्ण उत्साह से आगे बढ़ते हुए हम अपनी मजिल प्राप्त कर लेगे ऐसा हमारा सुदृढ़ विश्वास है।

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना

भगवान महावीर रिसर्च एण्ड मेडिटेशन सेंटर, दिल्ली

सम्पादकीय

श्री उत्तराध्ययन सूत्र जैनागम साहित्य का एक बहुमूल्य मणि-रत्नो से पूर्ण मूल आगम है। इस आगम में कथाओं, उपदेशों, निर्देशो आदि के माध्यम से धर्म और दर्शन का अल्प कलेवर में सूक्ष्म और हृदय-स्पर्शी निरुपण हुआ है। उत्तराध्ययन सूत्र का स्थान मूल आगमो में है। इस आगम मे भगवान महावीर की वाणी का मूल हार्द संग्रहीत है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे बीज रूप में वे सभी रत्न सकलित है जो समग्र आगम वाङ्मय में मौजूद है। सार रूप मे कह सकते है कि वैदिक परम्परा में जो स्थान श्रीमद् भागवत गीता का है, ईसाइयो में जो स्थान बाइबिल का है और इस्लाम मे जो स्थान कुरान का है, वही स्थान जिन परम्परा मे श्री उत्तराध्ययन सूत्र का है। यह आगम एक ऐसा पुष्पाहार है जिसमें समस्त शुभ वर्णो के सुगन्धित पुष्प कुशल मालाकार की भाति सजोए और पिरोए गए है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे धर्म के आधार-स्वरूप आचार-विचार और उनके प्रकारो पर तो विस्तृत और स्पष्ट चर्चाए हुई ही है, साथ ही आत्मा, परमात्मा, जीवन, शरीर, आयुष्य आदि पर भी प्रखर प्रकाश डाला गया है। विनय को धर्म के धरातल के रूप मे स्वीकार करके उसी के स्वरूप चिन्तन और विश्लेषण से उत्तराध्ययन मे प्रवेश किया गया है। जैसे-जैसे हम उत्तराध्ययन मे आगे बढ़ते जाते है हमारे समक्ष चिन्तन के असख्य-असख्य द्वार उद्घाटित होते जाते है। हमे ज्ञात होता है कि जिस जीवन के पखो पर हम सवार है वह कितना अस्थिर असस्कारित और अनिश्चित है। हमे ज्ञात होता है कि जीवन मे क्या दुर्लभ है और उस दुर्लभ के सम्यक् उपयोग के सूत्र हमारे हाथो मे आते है। वे सूत्र इतने सटीक, सहज और सरस है कि उन्हे पाकर हम गद्गद् बन जाते है। उपदेशो मे इतनी तीक्ष्णता और हृदय-स्पर्शिता है कि अध्येता का जीवन आन्दोलित बन जाता है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे कई कथाए और दृष्टांत भी सकलित है। ये कहानिया और दृष्टान्त अध्येताओं के मानस को आन्दोलित करती है और वे अपने जीवन और उसकी दिशा पर चिन्तन करने के लिए अन्त स्फूर्त प्रेरणा से प्रेरित बनते है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र तीर्थंकर महावीर की अन्तिम वाणी है। इस दृष्टि से भी इस आगम का विशिष्ट महत्व है। इसमे छत्तीस अध्ययन है। प्रत्येक अध्ययन मे जीवन और साधना के विभिन्न पहलूओं पर चिन्तन किया गया है और श्रेय पथ का निर्देश किया गया है।

प्रस्तुत आगम के व्याख्याकार

प्रस्तुत आगम श्री उत्तराध्ययन सूत्र (भाग प्रथम) के व्याख्याकार है स्वनामधन्य, जैनागम रत्नाकर, जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज। पूज्य आचार्य श्री का व्यक्तित्व और कृतित्व निश्चित रूप से किसी परिचय की अपेक्षा नही रखता। उनके बारे मे कुछ भी लिखना सूरज को दीपक दिखाने के सदृश है। जैन-जैनेतर जगत के साथ साथ कई पाश्चात्य विद्वान भी आचार्य श्री के व्यक्तित्व और कृतित्व को देखकर अभिभूत बन गए। सरिता मे जैसे जल बहता है वैसे ही पूज्यश्री की प्रज्ञा मे आगम प्रवाहित होते थे। उनका जीवन

और दर्शन आगमो के अर्क से ओत-प्रोत और सुवासित था। उनके उठने, बैठने, चलने आदि क्रियाओं से **'जयं चरे जयं चिट्ठे'** आदि सूत्र व्याख्यायित और प्राणवन्त बनते थे। अप्रमाद के संवाद उनके सासों में सुवासित बनकर जगत के समक्ष महावीर के सच्चे 'भिक्षु' का प्रतिमान प्रस्तुत करते थे। आगमो के शब्द-शब्द का मर्म उनकी प्रज्ञा के साथ-साथ आचार मे भी आकार पाता था। नि.शब्द है उनका व्यक्तित्व। आकाश को हथेलियो में बाधने का बाल प्रयत्न है उनके बारे में कुछ कहना।

आचार्यश्री का कृतित्व भी जहां परिमाण मे अत्यन्त विशाल है वही गहराई मे भी अपरिमित और अगाध है। जिस भी आगम पर आचार्यश्री की लेखनी चली, उसी के अतल को उसने छू लिया। सुखद आश्चर्य है कि धर्म और दर्शन के गूढ़तम रहस्यो को उन्होंने इतनी सरलता से प्रस्तुत कर दिया कि उसे साधारण से साधारण बुद्धि का अध्येता भी सरलता से हृदयगम कर सकता है। जन-सामान्य पर आचार्य श्री का यह उपकार सदाकाल स्मरणीय और समादरणीय रहेगा।

प्रस्तुत आगम आचार्य श्री की लेखनी से व्याख्यायित है। पाठक स्वय इस आगम का अध्ययन कर आचार्य श्री के विशाल दृष्टिकोण को हृदयगम कर सकेगे। आचार्य श्री जी द्वारा व्याख्यायित श्री उत्तराध्ययन सूत्र एक विशाल ग्रन्थ है। इसकी विशालता को देखते हुए इसे तीन भागो मे प्रकाशित करने का विचार रखा गया है। पूर्व प्रकाशनो में भी इसे तीन ही भागों मे प्रकाशित किया गय। है। प्रस्तुत प्रथम भाग मे प्रथम से तेरह अध्ययन तक की विषय वस्तु ग्रहण की गई है। अस्तु, प्रस्तुत पुस्तक मे पाठक तेरह अध्ययनो का स्वाध्याय कर सकेगे।

जिनशासन की महती कृपा से मुझे यह पुण्यमयी अवसर उपलब्ध हुआ है कि पूज्यश्री के आगमो को जनसुलभ बनाने मे अपना योगदान समर्पित कर सकूं। पूज्यश्री के अदृष्ट आशीर्वाद का ही यह सुफल है कि जैन जगत के अग्रगण्य श्रावको मे यह सकल्प जगा है कि महाप्रभु महावीर की वाणी के सरलतम सस्करण प्रकाश मे आए जिससे विभ्रमित जगत को एक नवीन दिशा मिल सके। इस कार्य मे मै निमित्त भर हूँ। परन्तु अपने निमित्त भर होने को मै अपना महान पुण्य मानता हूँ। आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव प्रकाशन समिति साधुवाद की सुपात्र है जो पूरे समपर्ण और सकल्प से आचार्य भगवन के साहित्य के प्रकाशन की दिशा मे त्वरित गति से गतिमान है।

मेरे सुशिष्य मुनिरत्न श्री शिरीष मुनि जी महाराज एव ध्यान साधना को समर्पित साधक श्री शैलेश जी का श्रम भी इस सपादन-प्रकाशन अभियान से पूर्ण समर्पण भाव से जुड़ा हुआ है। वे सहज ही मेरे आशीष के सुपात्र है। उनके अतिरिक्त जैन दर्शन के अधिकारी विद्वान श्री ज प त्रिपाठी ने मूल पाठ पठन व श्री विनोद शर्मा ने प्रूफ पठन तथा प्रकाशन दायित्व का सफल संवहन कर श्रुत सेवा का शुभ अनुष्ठान किया है। तदर्थ उन्हें मेरे साधुवाद !

—आचार्य शिव मुनि

आत्म पब्लिक स्कूल, लुधियाना

१-१-२००३

निर्भीक आत्मार्थी एवं पंचाचार की प्रतिमूर्ति :
आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म०

व्यक्ति यह समझता है कि मेरी जाति का बल, धन बल, मित्र बल यही मेरा बल है। वह यह भूल जाता है कि यह वास्तविक बल नही है, वास्तव में तो आत्मबल ही मेरा बल है। लेकिन भ्रांति के कारण वह उन सारे बलो को बढ़ाने के लिए अनेक पाप-कर्मों का उपार्जन करता है, अनत अशुभ कर्म-वर्गणाओं को एकत्रित करता है, जिससे कि उसका वास्तविक आत्मबल क्षीण होता है। जाति, मित्र, शरीर, धन इन सभी बलो को बढ़ा करके भी वह चितित और भयभीत रहता है कि कही मेरा यह बढ़ाया हुआ बल क्षीण न हो जाए, उसका यह डर इस बात का सूचक है कि जिस बल को उसने बढ़ाया है वह उसका वास्तविक बल नही है।

सर्वश्रेष्ठ बल—वास्तविक बल तो अपने साथ अभय लेकर आता है। आत्मबल जितना बढ़ता है उतना ही अभय का विकास होता है। अन्य सारे बल भय बढाते है। व्यक्ति जितना भयभीत होता है उतना ही वह सुरक्षा चाहता है। बाहर का बल जितना ही बढता है उतना ही भय भी बढ़ता है और भय के पीछे सुरक्षा की आवश्यकता भी उसे महसूस होती है। इस प्रकार जितना वह बाह्य-रूप से बलवान बनता है उतना ही भयभीत और उतनी ही सुरक्षा की आवश्यकता अनुभव करता है। भगवान अभय मे जीवन को जीए, उन्होने आत्मबल की साधना की। वह चाहते तो किसी का सहारा ले सकते थे लेकिन उन्होंने किसी का सहारा, किसी की सुरक्षा क्यो नही ली, क्योकि वे जानते थे कि बाह्य बल बढ़ाने से आत्मबल के ज्ञान का जागरण नही होता। इसलिए वे सारे सहारे छोड़कर आत्मबल-आश्रित और आत्मनिर्भर बन गए। जैसे कहा जाता है कि श्रमण स्वावलम्बी होता है, अर्थात् वह किसी दूसरे के बल पर, व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति के बल पर नही खड़ा अपितु स्वय अपने बल पर खड़ा हुआ है। जो दूसरे के बल पर खड़ा हुआ है वह सदैव दूसरो को खुश रखने के लिए प्रयत्नरत रहता है। जिस हेतु पापकर्म या माया का सेवन भी वह कर लेता है। आत्मबल बढ़ाने के लिए सत्य, अहिसा और साधना का मार्ग है। 'भगवान का मार्ग वीरो का मार्ग है।' वीर वह है जो अपने आत्मबल पर आश्रित रहता है। यह भ्रान्ति अधिकाश लोगो की है कि बाह्यबल बढ़ने से ही मेरा बल बढ़ेगा। इसलिए अनेक बार साधुजन भी ऐसा कहते है कि मेरा श्रावक बल बढ़ेगा तो मेरा बल बढ़ेगा, मेरे प्रति मान, सम्मान एव भक्ति रखने वालों की वृद्धि होगी तो मेरा बल बढ़ेगा। फिर इस हेतु से अनेक प्रपच भी बढ़ेगे। यही अज्ञान है। वास्तविकता यह है कि बाह्य बल बढ़ाने से, उस पर आश्रित रहने से आत्मबल नही बढ़ता अपितु क्षीण होता है। लेकिन आत्मबल का विकास करने से सारे बल अपने आप बढ़ते है।

साधु कौन?—साधु वही है जो बाह्यबल का आश्रय छोड़कर आत्मबल पर ही आश्रित रहता है। अतः आत्मबल का विकास करो। उसके लिए भगवान के मार्ग पर चलो। चित्त में जितनी स्थिरता और

जैन धर्म दिवाकर ध्यान योगी
आचार्य सम्राट् डा० श्री शिवमुनि जी महाराज

समाधि होगी उतना ही आत्मबल का विकास होगा और उसी से समाज-श्रावक इत्यादि बल आपके साथ चलेंगे। बिना आत्मबल के दूसरा कोई बल साथ नहीं देगा।

असंयम किसे कहते हैं?—इन्द्रियो के विषयों के प्रति जितनी आसक्ति होगी उतनी ही उन विषयो की पूर्ति करने वाले साधनो के प्रति (धन, स्त्री, पद, प्रतिष्ठा आदि) आसक्ति होगी। साधनो के प्रति रही हुई इस आसक्ति के कारण वह निरन्तर उसी और पुरुषार्थ करता है, उनको पाने के लिए पुरुषार्थ करता है, इस पुरुषार्थ का नाम ही असंयम है।

संयम क्या है?—इन्द्रिय निग्रह के लिए जो पुरुषार्थ किया जाता है वह सयम है और विषयो को जुटाने के लिए जो पुरुषार्थ किया जाता है वह असयम है।

साधु पद में गरिमायुक्त आचार्य पद—साधुजन स्वय की साधना करते है और आवश्यकता पड़ने पर सहयोग भी करते है। लेकिन आचार्य स्वय की साधना करने के साथ-साथ (अपने लिए उपयुक्त साधना ढूढने के साथ-साथ) यह भी जानते है और सोचते है कि सघ के अन्य सदस्यो को कौन-सी और कैसी साधना उपयुक्त होगी। उनके लिए साधना का कौन-सा और कैसा मार्ग उपयुक्त है, जैसे मां स्वय ही खाना नही खाती अपितु किसी को क्या अच्छा लगता है, किसके लिए क्या योग्य है यह जान-देखकर वह सबके लिए खाना बनाती भी है। इसी प्रकार आचार्यदेव जानते है कि शुभ आलम्बन मे एकाग्रता के लिए किसके लिए क्या योग्य है और उससे वैसी ही साधना करवाते है। इस प्रकार आचार्य पद की एक विशेष गरिमा है।

पचाचार की प्रतिमूर्ति—हमारे आराध्य स्वरूप पूज्य गुरुदेव श्री शिवमुनि जी म. दीक्षा लेने के प्रथम क्षण से ही तप-जप एव ध्यान योग की साधना मे अनुरक्त रहे है। आपकी श्रेष्ठता, ज्येष्ठता और सुपात्रता को देखकर ही हमारे पूर्वाचार्यो ने आपको श्रमण सघ के पाट पर आसीन कर जिन-शासन की महती प्रभावना करने का सकल्प किया। जिनशासन की महती कृपा आप पर हुई।

यह सक्रमण काल है, जब जिनशासन मे सकारात्मक परिवर्तन हो रहे है। भगवान महावीर के २६००वे जन्म कल्याणक महोत्सव पर हम सभी को एकता, सगठन एव आत्मीयता-पूर्ण वातावरण मे आत्मार्थ की ओर अग्रसर होना है। आचार्य सघ का पिता होता है। आचार्य जो स्वय करता है वही चतुर्विध सघ करता है। वह स्वय पचाचार का पालक होता है तथा सघ को उस पथ पर ले जाने मे कुशल भी होता है। आचार्य पूरे सघ को एक दृष्टि देते है जो प्रत्येक माधक के लिए निर्माण एव आत्मशुद्धि का पथ खोल देती है। हमारे आचार्य देव पचाचार की प्रतिमूर्ति है। पंचाचार का सक्षिप्त विवरण निम्नोक्त है—

ज्ञानाचार—आज ससार मे जितना भी दुख है उसका मूल कारण अज्ञान है। अज्ञान के परिहार हेतु जिनवाणी का अनुभवगम्य ज्ञान अति आवश्यक है। आज ज्ञान का सामान्य अर्थ कुछ पढ़ लेना, सुन लेना एव उस पर चर्चा कर लेना या किसी और को उपदेश देना मात्र समझ लिया गया है। लेकिन जिनशासन मे ज्ञान के साथ सम्यक् शब्द जुड़ा है। सम्यक् ज्ञान अर्थात् जिनवाणी के सार को अपने अनुभव से

जानकर, जन-जन को अनुभव हेतु प्रेरित करना। द्रव्य श्रुत के साथ भावश्रुत को आत्मसात् करना। हमारे आराध्यदेव ने वर्षो तक बहुश्रुत गुरुदेव श्री ज्ञानमुनि जी म.सा , उपाध्याय प्रवर्तक श्री फूलचद जी म.सा. 'श्रमण' एव अनेक उच्चकोटि के संतो से द्रव्य श्रुत का ज्ञान ग्रहण कर अध्यात्म साधना के द्वारा भाव श्रुत मे परिणत किया एव उसका सार रूप ज्ञान चतुर्विध सघ को प्रतिपादित कर रहे हैं एव अनेक आगमों के रहस्य जो बिना गुरुकृपा से प्राप्त नही हो सकते थे, वे आपको जिनशासनदेवो एव प्रथम आचार्य भगवत श्री आत्माराम जी म की कृपा से प्राप्त हुए है। वही अब आप चतुर्विध सघ को प्रदान कर रहे है। आपने भाषाज्ञान की दृष्टि से गृहस्थ मे ही डबल एम.ए. किया एव सभी धर्मो में मोक्ष के मार्ग की खोज हेतु शोध ग्रन्थ लिखा और जैन धर्म से विशेष तुलना कर जैन धर्म के राजमार्ग का परिचय दिया। आज आपके शोध ग्रन्थ, साहित्य एवं प्रवचनो द्वारा ज्ञानाचार का प्रसार हो रहा है। आप नियमित सामुहिक स्वाध्याय करते है एव सभी को प्रेरणा देते है। अत· प्रत्येक साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका ज्ञानाचारी बनकर ही आचार्यश्री की सेवा कर सकते है।

दर्शनाचार—दर्शन अर्थात् श्रद्धा, निष्ठा एव दृष्टि। आचार्य स्वय सत्य के प्रति निष्ठावान होते हुए पूरे समाज को सत्य की दृष्टि देते है। जैन दर्शन में सम्यक् दृष्टि के पाच लक्षण बताए है—१ सम अर्थात् जो समभाव मे रहता है। २ सवेग—अर्थात् जिसके भीतर मोक्ष की रुचि है उसी ओर जो पुरुषार्थ करता है, जो उद्वेग मे नही जाता। ३ निर्वेद—जो समाज-सघ मे रहते हुए भी विरक्त है, किसी मे आसक्त नही है। ४ आस्था—जिसकी देव, गुरु, धर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धा है, जो स्व में खोज करता है, पर मे सुख की खोज नही करता है तथा जिसकी आत्मदृष्टि है, पर्यायदृष्टि नही है। पर्याय-दृष्टि राग एव द्वेष उत्पन्न करती है। आत्म-दृष्टि सदैव शुद्धात्मा के प्रति जागरूक करती है। ऐसे दर्शनाचार से सपन्न है हमारे आचार्य प्रवर। चतुर्विध सघ उस दृष्टि को प्राप्त करने के लिए ऐसे आत्मार्थी सद्‌गुरु की शरण मे पहुचे और जीवन का दिव्य आनन्द अनुभव करे।

चारित्राचार—आचार्य भगवन् श्री आत्माराम जी म चारित्र की परिभाषा करते हुए कहते है कि चयन किए हुए कर्मो को जो रिक्त कर दे उसे चारित्र कहते है। जो सदैव समता एव समाधि की ओर हमे अग्रसर करे वह चारित्र है। चारित्र से जीवन रूपान्तरण होता है। जीवन की जितनी भी समस्याए है सभी चारित्र से समाप्त हो जाती है। इसीलिए कहा है **'एकान्त सुही मुणी वियरागी'**। वीतरागी मुनि एकान्त रूप से सुखी है। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष रूपी शत्रुओं को दूर करने के लिए आप वर्षो से साधनारत है। आप अनुभव गम्य, साधना जन्य ज्ञान देने हेतु ध्यान शिविरो द्वारा द्रव्य एव भाव चारित्र की ओर समग्र समाज को एक नयी दिशा दे रहे है। आप सत्य के उत्कृष्ट साधक है एवं प्राणी मात्र के प्रति मगल भावना रखते है एव प्रकृति से भद्र एव ऋजु है। इसलिए प्रत्येक वर्ग आपके प्रति समर्पित है।

तपाचार—गौतम स्वामी गुप्त तपस्या करते थे एव गुप्त ब्रह्मचारी थे। इसी प्रकार हमारे आचार्य प्रवर भी गुप्त तपस्वी है। वे कभी अपने मुख से अपने तप एव साधना की चर्चा नही करते है। वर्षों से एकान्तर तप उपवास के साथ एव आभ्यतर तप के रूप मे सतत् स्वाध्याय एव ध्यान तप कर रहे है। इसी ओर पूरे चतुर्विध सघ को प्रेरणा दे रहे है। सघ मे गुणात्मक परिवर्तन हो, अवगुण की चर्चा नही हो,

इसी सकल्प को लेकर चल रहे हैं। ऐसे उत्कृष्ट तपस्वी आचार्य देव को पाकर जिनशासन गौरव का अनुभव कर रहा है।

वीर्याचार—सतत अप्रमत्त होकर पुरुषार्थ करना वीर्याचार है। आत्मशुद्धि एव सयम मे स्वय पुरुषार्थ करना एव करवाना वीर्याचार है।

ऐसे पचाचार की प्रतिमूर्ति है हमारे श्रमण सघ के चतुर्थ पट्टधर आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म.। इनके निर्देशन मे सम्पूर्ण जैन समाज को एक दृष्टि की प्राप्ति होगी। अत हृदय की विशालता के साथ, समान विचारो के साथ, एक धरातल पर, एक ही सकल्प के साथ हम आगे बढ़े और शासन प्रभावना करे।

निर्भीक आचार्य—हमारे आचार्य भगवन् आत्मबल के आधार पर साधना के क्षेत्र मे आगे बढ़ रहे है। संघ का संचालन करते हुए अनेक अवसर ऐसे आये जहा पर आपको कठिन परीक्षण के दौर से गुजरना पड़ा। किन्तु आप निर्भीक होकर धैर्य से आगे बढ़ते गए। आपश्री जी श्रमण सघ के द्वारा पूरे देश को एक दृष्टि देना चाहते है। आपके पास अनेक कार्यक्रम है। आप चतुर्विध सघ मे प्रत्येक वर्ग के विकास हेतु योजनाबद्ध रूप से कार्य कर रहे है।

पूज्य आचार्य भगवन् ने प्रत्येक वर्ग के विकास हेतु निम्न योजनाए समाज के समक्ष रखी है—

१ बाल सस्कार एव धार्मिक प्रशिक्षण के लिए गुरुकुल पद्धति के विकास हेतु प्रेरणा।

२ साधु-साध्वी, श्रावक एव श्राविकाओं के जीवन के प्रत्येक क्षण मे आनन्द पूर्ण वातावरण हो, इस हेतु सेवा का विशेष प्रशिक्षण एव सेवा केन्द्रो की प्रेरणा।

३ देश-विदेश मे जैन-धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु स्वाध्याय एव ध्यान साधना के प्रशिक्षक वर्ग को विशेष प्रशिक्षण।

४ व्यसन-मुक्त जीवन जीने एव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे आनद एव सुखी होकर जीने हेतु शुद्ध धर्म-ध्यान एव स्वाध्याय शिविरो का आयोजन।

इन सभी कार्यो को रचनात्मक रूप देने हेतु आपश्री जी के आशीर्वाद से नासिक मे '**श्री सरस्वती विद्या केन्द्र**' एव दिल्ली मे '**भगवान महावीर मेडीटेशन एड रिसर्च सेंटर ट्रस्ट**' की स्थापना की गई है। इस केन्द्रीय सस्था के दिशा निर्देशन मे देश भर मे त्रिदिवसीय ध्यान योग साधना शिविर लगाए जाते है। उक्त शिविरो के माध्यम से हजारो-हजार व्यक्तियो ने स्वस्थ जीवन जीने की कला सीखी है। अनेक लोगो को असाध्य रोगो से मुक्ति मिली है। मैत्री, प्रेम, क्षमा और सच्चे सुख को जीवन मे विकसित करने के ये शिविर अमोघ उपाय सिद्ध हो रहे है।

इक्कीसवीं सदी के प्रारभ मे ऐसे महान विद्वान और ध्यान-योगी आचार्यश्री को प्राप्त कर जैन सघ गौरवान्वित हुआ है।

—शिरीष मुनि

प्रस्तावना

संज्ञा

यद्यपि तीर्थकर देव की वाणी द्वादशागी के नाम से प्रसिद्ध है। (''दुवालसंग गणिपिडग''—समवायांग-नन्दी सू० १४) तथापि दृष्टिवाद नामक बारहवे अंग का विच्छेद हो जाने से वर्तमान काल मे उपलब्ध ११ अग, १२ उपाग, ४ छेद और ४ मूल तथा एक आवश्यक, इस प्रकार कुल ३२ सूत्र प्रामाणिक कहे व माने जाते है। इनमें आचारागादि ११ अग और औपपातिक आदि बारह उपाग है। व्यवहार, बृहत्कल्प, निशीथ और दशाश्रुत ये चार छेद सूत्र कहे जाते है तथा दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, अनुयोगद्वार और नन्दी इन चार की मूल सज्ञा है। इन चार को कालिक भी कहते है।

चार अनुयोग और उनकी व्याख्या

शास्त्र मे चार अनुयोग प्रतिपादन किए गए है—१ चरणानुयोग, २. धर्मानुयोग, ३ गणितानुयोग और ४. द्रव्यानुयोग। इन चार अनुयोगो मे ही पूर्वोक्त अंगोपागादि समस्त जैनागम वर्णित हुए है। ओघनिर्युक्ति भाष्य मे इस विषय से सम्बन्ध रखने वाली अर्थात् उक्त चारो अनुयोगो की विशेष रूप से व्याख्या करने वाली तीन गाथाए दी गई है, जो कि निम्नलिखित है—

(१) चत्तारि उ अणुओगा, चरणे धम्मगणियाणुओगे य ।
दवियणुजोगे य तहा, अहक्कमं ते महड्ढिया ॥ ५ ॥[1]

(२) सविसय बलवत्तं पुण, जुज्जइ तहवि य महिड्ढियं चरण ।
चारित्तरक्खणट्ठा जेणियरे, तिन्नि अणुओगा ॥ ६ ॥[2]

(३) चरणपडिवत्ति हेउं धम्मकहा कालदिक्खमाईया ।
दविए दंसण सुद्धी, दंसणसुद्धस्स चरणं तु ॥ ७ ॥[3]

---

१ चत्वारस्त्वनुयोगा, चरण धर्मगणितानुयोगौ च ।
द्रव्यानुयोगश्च तथा, यथाक्रम ते महर्द्धिका ॥ ५ ॥

२ स्वविषयबलवत्त्वं पुनर्युज्यते, तथापि च महर्द्धिक चरणम् ।
चारित्ररक्षणार्थं येन इतरे त्रयोऽनुयोगाः ॥ ६ ॥

३ चरणप्रतिपत्तिहेतव, धर्मकथाकालदीक्षादयः ।
द्रव्ये दर्शनशुद्धि, दर्शनशुद्धस्य चरण तु ॥ ७ ॥

इन तीनों गाथाओं का संक्षेप से व्याख्यानुसारी तात्पर्य इस प्रकार है[1]—चार प्रकार के अनुयोग कथन किए गए है—चरणानुयोग, धर्मानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग। ये चारो उत्तरोत्तर महत्वशाली है, अर्थात् प्रथम की अपेक्षा दूसरा अधिक महत्व रखता है। अनुकूल अथवा अनुरूप योग—व्याख्या को अनुयोग[2] कहते है। तात्पर्य यह है कि समस्त जैन सूत्र उक्त चारो अनुयोगो मे ही प्रतिपादन किए गए है।

---

१. इस गाथात्रय की सस्कृत व्याख्या भी है, जो कि क्रमश नीचे दी जाती है—

व्याख्या—चत्वार इति सख्यावचन. शब्द। अनुकूला अनुरूपा वा योगा अनुयोगा । तु शब्द एवकारार्थ , चत्वार एव। अन्ये तु, तु शब्द विशेषणार्थ व्याख्यानयन्ति। कि विशेषयन्तीति—चत्वारोऽनुयोगा । तु शब्दाद् द्वौ च पृथक्त्वापृथक्त्वभेदात्। कथ चत्वारोऽनुयोगा ? इत्याह—"चरणे धम्मगणियाणुओगे य" चर्यत इति चरण, तद्विषयोऽनुयोगश्चरणानुयोगस्तस्मिन् चरणानुयोगे, अत्र चोत्तरपदलोपादित्थमुपन्यास । अन्यथा चरणकरणानुयोगे इत्येव वक्तव्यम्, स चैकादशागरूप । "धम्मे" इति धारयतीति धर्म , दुर्गतौ पतन्त सत्त्वमिति, तस्मिन् धर्मे—धर्मविषये द्वितीयोऽनुयोगो भवति, स चोत्तराध्ययनप्रकीर्णकरूप । "गणियाणुओगे य" इति गण्यत इति गणितम्, तस्यानुयोगो गणितानुयोग , तस्मिन् गणितानुयोगे—गणितानुयोगविषये तृतीयो भवति, स च सूर्यप्रज्ञप्त्यादिरूप । च शब्द प्रत्येकमनुयोगपदसमुच्चायक । "दव्वियणुजोगे" त्ति द्रवतीति द्रव्य, तस्यानुयोगो द्रव्यानुयोग —सदसत्पर्यालोचनारूप । स च दृष्टिवाद., च शब्दादनाष सम्मत्यादिरूप । तथेति क्रमप्रतिपादक । आगमोक्तेन प्रकारेण "यथाक्रम" यथापरिपाट्येति। चरणकरणानुयोगाद्या "महर्द्धिका " प्रधाना इति यदुक्त भवति। एव व्याख्याते सत्याह पर —"चरणे धम्मगणियाणुओगे य, दव्वियणुओगे य" त्ति यद्येतेषा भेदेनोपन्यास क्रियते, तत्किमर्थ चत्वार ? इत्युच्यते— विशिष्टपदोपन्यासादेवायमर्थोऽवगम्यत इति, तथा चरणपद भिन्नया विभक्त्या किमर्थमुपन्यस्तम् ? धर्मगणितानुयोगौ तु एकयैव विभक्त्या, पुनर्द्रव्यानुयोगो भिन्नया विभक्तयेति, तथाऽनुयोगशब्दश्चैक एवोपन्यसनीय , किमर्थ द्रव्यानुयोग इति भेदेनोपन्यस्त इति ?

अत्रोच्यते—यत्तावदुक्त, चतुर्ग्रहण न कर्त्तव्य, विशिष्टपदोपन्यासात्, तदसत, यतो विशिष्टसख्यावगमो भवति विशिष्टपदोपन्यासेऽपि, कुत ? चरणधर्मगणितद्रव्यपदानि सन्ति, अन्यान्यपि सन्तीति सशयो मा भूत्कस्यचिदित्यतश्चतुर्ग्रहण क्रियत इति, तथा यच्चोक्त—भिन्नया विभक्त्या चरणपद केन कारणेनोपन्यस्तम् ? तत्रैतत् प्रयोजन, चरणकरणानुयोग एवात्राधिकृत , प्राधान्यख्यापनार्थ भिन्नया विभक्त्या उपन्यास इति, तथा धर्मगणितानुयोगौ एकविभक्त्योपन्यस्तौ, अत्र तु क्रमेऽप्रधानावेताविति, तथा द्रव्यानुयोगे भिन्नविभक्त्युपन्यासे प्रयोजनम्। अय हि एकैकानुयोगे मीलनीय , न पुनर्लौकिकशास्त्रवद् युक्तिभिन विचारणीय इति। तथाऽनुयोगशब्दद्वयोपन्यासे प्रयोजनमुच्यते—यत् त्रयाणा पदानामन्तेऽनुयोगपदमुपन्यस्त तदपृथक्त्वानुयोगप्रतिपादनार्थमिति। यच्चद्रर्व्यानुयोग इति तत्पृथक्त्वानुयोगा प्रतिपादनार्थमिति।

एव व्याख्याते सत्याह पर इह गाथासूत्रपर्यन्त इदमुक्तम्—"यथाक्रम ते महर्द्धिका" इति। एव तर्हि चरणकरणानुयोगस्य लघुत्व, तत्किमर्थ तस्य निर्युक्ति क्रियते ? अपितु द्रव्यानुयोगस्य यूज्यते कर्तु, सर्वेषामेव प्रधानत्वात्, एव चोदकेनाक्षेपे कृते सत्युच्यते—

(२) स्वश्चासौ विषयश्च स्वविषयस्तस्मिन् स्वविषये बलवत्त्व पुनर्युज्यते घटते। एतदुक्त भवति—आत्मीयात्मीयविषये सर्व एव बलवन्तो वर्तन्त इति। एव व्याख्याते सत्यपरस्त्वाह—यद्येव सर्वेषामेव निर्युक्तिकरण प्राप्तम् आत्मीयात्मीयविषये सर्वेषामेव बलवत्त्वात्, तथापि चरणकरणानुयोगस्य न कर्त्तव्येति। एव चोदकेनाशकते सत्याह गुरु —"तहवि य महड्ढिय चरण" तथापि एवमपि स्वविषयबलवत्त्वेऽपि सति महर्द्धिक चरणमेव। शेषानुयोगाना चरणकरणानुयो-

जिन सूत्रो में चारित्र-विधि की पूर्ण व्याख्या की गई है वे चरणानुयोग के नाम से प्रसिद्ध है यथा आचारागादि अगसूत्र चरणानुयोग कहे जाते है एव जिन सूत्रो मे धर्म की व्याख्या की गई है, वे धर्मानुयोग के नाम से प्रसिद्ध है। धर्मानुयोग में उत्तराध्ययनादि प्रकीर्ण ग्रन्थो का समावेश होता है। दुर्गति में पड़ते हुए प्राणी को सुगति मे ले जाने वाले तत्त्व का नाम धर्म है। इसी प्रकार जिन सूत्रो में गणित-विषय का उल्लेख किया गया है, वे गणितानुयोग के अन्तर्गत है, यथा सूर्य-प्रज्ञप्ति आदि सूत्र। इन सूत्रो मे गणित विषय का विशेष उल्लेख है और जिन सूत्रो मे धर्मादि द्रव्यो का विवेचन किया गया है, उन्हे द्रव्यानुयोग कहते है। दृष्टिवादाग की इसी अनुयोग मे गणना की जाती है। यद्यपि वर्तमान काल मे उपलब्ध होने वाले सूत्रग्रन्थो में चारो अनुयोगो के पाठ मिलते है, परन्तु उक्त कथन उत्सर्ग सापेक्ष है, अर्थात् उत्सर्ग-मार्ग को अवलम्बन करके कथन किया गया है और अपवाद-मार्ग में तो प्रत्येक सूत्र मे चारों अनुयोगो का वर्णन विद्यमान रहता है, इसलिए प्रत्येक अनुयोग की प्रधानता को लेकर उक्त प्रकार का उल्लेख समुचित ही है।

ऊपर बताया गया है कि ये चारो अनुयोग उत्तरोत्तर प्रधानता को लिए हुए है, अर्थात् चरणानुयोग से धर्मानुयोग प्रधान है, और धर्मानुयोग से गणितानुयोग विशिष्ट है। एव गणितानुयोग की अपेक्षा द्रव्यानुयोग महत्व वाला है। इस प्रकार सबसे अधिक बलवत्ता द्रव्यानुयोग की मानी गई है,

---

-गार्थमेवोपादानात्, पूर्वोत्पन्नसरक्षणार्थमपूर्वप्रतिपत्त्यर्थं च शेषानुयोगा अस्यैव वृत्तिभूता। यथाहि कर्पूरवनखडरक्षार्थं वृत्तिरूपादीयते, तत्र हि कर्पूरवनखड प्रधान, न पुनर्वृत्ति। एवमत्रापि चारित्ररक्षणार्थं शेषानुयोगानामुपन्यासात्। तथा चाह—"चारित्तरक्खणट्ठा जेणियरे तिन्नि अणुओगा" चयरिक्तीकरणाच्चारित्र, तस्य रक्षण तदर्थं चारित्ररक्षणार्थं येन प्रकारेण "इतरे" इति धर्मानुयोगादयस्त्रयोऽनुयोगा इति।

(३) एव व्याख्याते सत्याह—कथ चारित्ररक्षणमिति चेतदाह—चरणपडिवत्तिहेउ ।

चर्यत इति चरण—व्रतादि। तस्य प्रतिपत्तिश्चरणप्रतिपत्ति। चरणप्रतिपत्ते हेतु कारण निमित्तमिति पर्याया। कि तदाह—"धर्मकथा" दुर्गतौ प्रपतन्त सत्त्वसघात धारयतीति धर्मस्तस्य कथा—कथन धर्मकथा। चरणप्रतिपत्तेर्हेतुर्धर्मकथा। तथाहि—आक्षेपण्यादिधर्मकथाऽऽक्षिप्ता सन्तो भव्यप्राणिनश्चारित्रमवाप्नुवन्ति "कालदिक्खमाईयत्ति" कलन काल कलासमूहो वा कालस्तस्मिन् काले दीक्षादय। दीक्षण दीक्षा प्रव्रज्याप्रदान, आदिशब्दादुपस्थापनादिपरिग्रह। तथा च शोभनतिथिनक्षत्रमुहूर्तयोगादौ प्रव्रज्याप्रदान कर्त्तव्यम्। अत कालानुयोगोऽप्यस्यैव परिकरभूत इति। "दविएत्ति" द्रव्ये द्रव्यानुयोगे कि भवति ? इत्यत आह—"दर्शनशुद्धि" दर्शन सम्यगदर्शनमभिधीयते, तस्य शुद्धि निर्मलता—दर्शनशुद्धि। एतदुक्त भवति, द्रव्यानुयोगे सति दर्शनशुद्धिर्भवति, युक्तिभिर्यथाऽवस्थितार्थपरिच्छेदात्। तदत्र चरणमपि युक्त्यनुगतमेव ग्रहीतव्य, न पुनरागमादेव केवलादिति। आह—दर्शनशुद्धयैव किम् ? तदाह—"दर्शनशुद्धस्य" दर्शन शुद्ध यस्यासौ दर्शनशुद्धस्तस्य "चरण" चारित्र भवतीत्यर्थ। तु शब्दो विशेषणे, चारित्रशुद्धस्य दर्शनमिति।

१ अनुयोग इति क शब्दार्थ ? उच्यते—श्रुतस्य स्वेनार्थेनानुयोजनम्—अनुयोग, अथवा सूत्रस्याभिधेय व्यापारो योग, अनुरूप अनुकूलो वा योग अनुयोग, अथवा अर्थत पश्चादभिधानात् स्तोकत्वाच्च सूत्रमनु तस्याभिधेयेन योजनमनुयोग।

(इति विनयाध्ययने चूर्णीकार)

परन्तु ऐसा मानने पर चरणानुयोग सबसे लघु अर्थात् कम महत्व वाला ठहरता है। तब तो उसका सबसे प्रथम निर्देश करना असंगत होगा, क्योंकि सब से प्रथम निर्देश प्रधान का ही किया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि द्रव्यानुयोग को सब से अधिक प्रधानता प्राप्त है तो प्रथम उसी का निर्देश करना चाहिए था। इस आक्षेप के समाधानार्थ आचार्यो ने उत्तर की दूसरी गाथा का उल्लेख किया है। आचार्य कहते है कि उक्त कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि इन चारो अनुयोगों मे एक कम और दूसरा अधिक महत्व वाला है, किन्तु ये चारो ही अनुयोग अपने-अपने विषय मे प्रधान और महत्वशाली है। चरणानुयोग का प्रथम निर्देश करने का अभिप्राय उसकी मुख्यता का द्योतन करना ही है। तात्पर्य यह है कि चरणानुयोग अगी और शेष तीनो अनुयोग उसके अगभूत है। अथवा यो कहिये कि चरणानुयोग की रक्षा के लिए ही शेष के तीन अनुयोग प्रतिपादन किए गए है, अतः चरणानुयोग चारित्र-प्रधान है और धर्मकथा, गणित तथा द्रव्य ये तीनो चारित्र के वृत्तिभूत सरक्षक होने से गौण है।

लोक मे भी देखा जाता है कि जो रक्षणीय होता है उसे ही प्रधान कहा व माना जाता है। तात्पर्य यह है कि जैसे कर्पूर-वन-खड की रक्षा के लिए वृत्ति (बाड़) की अत्यन्त आवश्यकता होती है, कारण कि उसके बिना वह सुरक्षित नही रह सकता। परन्तु इससे वृत्ति (बाड़) को प्रधान नही माना जा सकता। प्रधानता तो कर्पूरवनखड को ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार चारित्र-सरक्षणार्थ वर्णन किए गए बाकी के तीनो अनुयोग आवश्यक होने पर भी उनमे प्रधानता चारित्र की ही मानी जाती है। कर्मो के सचय को—कर्मो के समूह को आत्मा से पृथक् करने का सामर्थ्य विशेषरूप से चारित्र मे ही है। अत "चयरिक्तीकरणाच्चारित्र"—कर्मो के सचय को रिक्त करने—आत्मा से पृथक् करने वाले तत्त्व का नाम चारित्र है। यह चारित्र शब्द की निरुक्ति सार्थक ही की गई है। तीसरी गाथा मे धर्मादि अनुयोगो की चारित्रसरक्षणता का वर्णन है, अर्थात् धर्मकथा, गणित और द्रव्य ये तीनो अनुयोग चारित्र की रक्षा किस प्रकार से करते है, इस बात का उल्लेख किया गया है। धर्मकथानुयोग के द्वारा चारित्र मे दृढ़ता सम्पादन की जाती है, अर्थात् मोक्षाभिलाषी भव्य जीवो को धर्मसम्बन्धी कथाओं के द्वारा चारित्र मे आरूढ़ किया जाता है जिससे कि उनके चारित्र मे उत्तरोत्तर निर्मलता और जीवन-सहभावित्व का सचार हो सके। इसी हेतु से धर्मानुयोग को चारित्र का रक्षक माना गया है। इसी भाति गणितानुयोग भी चारित्र का परम सहायक माना गया है, कारण कि दीक्षा-ग्रहण मे तिथि, नक्षत्र, योग ओर मुहूर्त्तादि की शुद्धि का जो विचार किया जाता है, जिससे कि ग्रहण की हुई दीक्षा निर्विघ्नतया सम्पन्न हो सके, यह सब गणितानुयोग पर ही निर्भर है। तीसरा द्रव्यानुयोग है जो कि चारित्र-रक्षको मे सब से अग्रसर है। कारण कि चारित्रनिष्ठा के लिये दर्शनशुद्धि की नितान्त आवश्यकता हे और दर्शनशुद्धि अर्थात् सम्यक्त्व की प्राप्ति जीवाजीवादि द्रव्यज्ञान की अपेक्षा रखती है, अर्थात् जब तक मुमुक्षु आत्मा को जीवाजीवादि द्रव्यो के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नही होता, तब तक उसको यथार्थ रूप से सम्यक्त्व की उपलब्धि नही हो सकती। अत दर्शनशुद्धि के लिए जीवाजीवादि द्रव्यो का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना मुमुक्षु जीव के लिए परम आवश्यक है और जिसका

दर्शन शुद्ध है, उसी का चारित्र निर्मल अथवा सुदृढ़ हो सकता है। इसी आशय से आगमो[1] में कहा है कि जो व्यक्ति शुद्ध जीव और शुद्ध अजीव तथा जीवाजीव आदि को भली-भांति जानता है, वही सयम मार्ग में निष्णात हो सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि दर्शन-शुद्धि के द्वारा ही सम्यक् चारित्र की उपलब्धि हो सकती है और जिन आत्माओं का दर्शन शुद्ध नही, उनका चारित्र भी निर्मल नही। इस प्रकार उक्त तीनो अनुयोग चारित्र की रक्षा के लिए अभिहित हुए है और उनमे से दूसरा जो धर्मानुयोग है, उसका वर्णन करने वाला यह उत्तराध्ययन सूत्र है।

उत्तराध्ययन शब्द की व्युत्पत्ति

'उत्तराध्ययन' इस वाक्य मे उत्तर और अध्ययन ये दो शब्द है। इनमे उत्तर शब्द का प्रधान अर्थ भी होता है और पश्चाद्भावी भी। तब प्रधान अर्थ मे उक्त वाक्य का यह अर्थ हुआ कि उत्तर—प्रधान अर्थात् धर्म-सम्बन्धी विषय मे एक से एक बढ़कर है अध्ययन—प्रकरण जिसमे, उस शास्त्र का नाम उत्तराध्ययन है। उक्त सूत्र के अध्ययनो—प्रकरणो की सख्या ३६ है। इस बात का उल्लेख प्रस्तुत सूत्र के अन्त मे[2] तथा समवायाङ्ग सूत्र के ३६वे स्थान मे किया गया है[3] और उत्तर शब्द का पश्चाद्भावी, उत्तर अर्थात् पश्चात् पढ़ा जाने वाला यह अर्थ भी होता है। प्राचीन समय मे आचारागादि सूत्रो से इस सूत्र की रचना पीछे से हुई है, कारण कि श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने इसको अन्त समय मे कहा है। इसलिए इन अध्ययनो के समुदाय की उत्तराध्ययन सज्ञा[4] हुई। सम्प्रतिकाल मे दशवैकालिक सूत्र के पश्चात् इस सूत्र के अध्ययन की प्रथा प्रचलित हो रही है, इस हेतु से भी इसका 'उत्तराध्ययन' यह नाम सार्थक प्रतीत होता है।

---

१ जो जीवेवि वियाणेइ, अजीवेवि वियाणइ।
जीवाजीवे वियाणतो, सो हु नाहीइ सजम ॥ (दशवैका० अ० ४ गा० १३)

२ छत्तीस उत्तरज्झाए भवसिद्धीय समए। (अ० ३६ गा० २७०)

३ छत्तीस उत्तरज्झयणा प० त०—१ विणयसुय, २ परीसहो, ३ चाउरगिज्ज, ४ असखय, ५ अकाममरणिज्ज, ६ पुरिसविज्जा ७ उरब्भिज्ज, ८ काविलिय, ९ नमिपव्वज्जा, १० दुमपत्तय, ११ बहुसुयपूजा, १२ हरिएसिज्ज, १३ चित्तसभूय, १४ उसुयारिज्ज, १५ सभिक्खुग, १६ समाहिठाणाइ, १७ पावसमणिज्ज, १८ सजइज्ज, १९ मियचारिया, २० अणाहपव्वज्जा, २१ समुद्दपालिज्ज, २२ रहनेमिज्ज, २३ गोयमकेसिज्ज, २४ समितीओ, २५ जन्नतिज्ज, २६ सामायारी, २७ खलुकिज्ज, २८ मोक्खमग्गई, २९ अप्पमाओ, ३० तवोमग्गो, ३१ चरणविही, ३२ पमायठाणाइ, ३३ कम्मपयडी, ३४ लेसज्झयण, ३५ अणगारमग्गो, ३६ जीवाजीवविभत्ती य।

४ इसी आशय को निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथा मे व्यक्त किया गया है। यथा—

कम उत्तरेण पगय, आयारस्सेव उपरिमाइ तु ।
तम्हा उ उत्तरा खलु अज्झयणा हुति णायव्वा ॥

अध्ययन शब्द का निर्युक्तिकार-सम्मत विशेष अर्थ

निर्युक्तिकार ने अध्ययन शब्द के प्रकरण अर्थ के अतिरिक्त कुछ विशेष अर्थ भी किए है। यथा—

(१) **अज्झप्पस्साणयणं, कम्माणं अवचयो उवचियाणं ।**
अणुवचयो व णवाणं, तम्हा अज्झयणमिच्छंति ॥ १ ॥

(२) **अहिगम्मंति व अत्था, अणेण अहियं व णयणमिच्छंति ।**
अहियं व साहु गच्छइ, तम्हा अज्झयणमिच्छंति ॥ २ ॥

भावार्थ—केवल आत्म-चिन्तन—आत्म-स्वाध्याय अर्थात् आत्मा मे तदाकार वृत्ति का सम्पादन करना ही अध्ययन है। आत्मा को वैभाविक परिणति से हटा कर स्व-स्वभाव में लाया जाए उसी को

भावार्थ—जिससे कि ये अध्ययन आचाराग से उत्तर काल मे पढ़े जाते थे, इसलिए इनकी उत्तर सज्ञा है।

यस्मादाचारस्योपर्येवे ाानि पठितवन्तस्तस्मात् उत्तराणि उत्तरशब्दवाच्यानि।

व्याख्या—तथा चूर्णीकार का निम्नलिखित कथन भी इसी आशय को व्यक्त करता है। यथा—

"उत्तरज्झयणा पुव्व आयारस्सुवरि आसि, तत्थेव तेसि उपोद्घातसबधाभिवत्थाण, ताणि पुण जप्पभिइं अज्ज सेज्जभवेण मणगपितुणा मणगहियत्थाए णिज्जूहियाणि अज्झयणाणि वियालियमित्ति, तम्मि चरणकरणानुयोगो वण्णिज्जति, तप्पभिइ च तस्सुवरि ठविताणि, एतेणाभिसबधेणुत्तरज्झयणाणि आगताणि"।

(१) **अध्यात्मस्यानयन, कर्मणामपचय उपचितानाम् ।**
अनुपचयो वा नवाना, तस्माद् अध्ययनमिच्छन्ति ॥ १ ॥

(२) **अधिगम्यन्ते वाऽर्था॰, अनेनाधिक वा नयनमिच्छन्ति ॥**
अधिक वा साधु गच्छति, तस्मात् अध्ययनमिच्छन्ति ॥ २ ॥

यह गाथा अनुयोगद्वार-सूत्र मे भी है। देखे प्रमाणद्वार सू० १२५ मे।

१ **व्याख्या**—"अज्झप्पस्स" त्ति सूत्रत्वादध्यात्ममात्मनि कोऽर्थ ? स्व-स्वभावे, आनीयतेऽनेनेति आनयन, प्रस्तावादात्मनोऽध्ययन, निरुक्तिविधिना चात्माकारनकारलोप । कुत ? एतदित्याह—यत 'कर्मणा' ज्ञानावरणीयादीनाम्, "अपचय " चयापगमोऽभाव इत्यर्थ । "उपचिताना" प्राग्बद्धानाम् "अनुपचयश्च" अनुपचीयमानताऽनुपादानमिति यावत्, "नवाना" प्रत्यग्राणा कोऽर्थ ? प्राग्बद्धानाम् एतदुपयुक्तस्येति गम्यते। उपसंहारमाह—तस्मात् प्राग्बद्धबध्यमान-कर्माभावेनात्मन स्वस्वभावानयनाद्धेतो अध्ययनम् 'इच्छन्ति' अभ्युपगच्छन्ति, पूर्वसूरय इति गम्यते। यद्वा अध्यात्ममिति रूढ़ितो मन., तच्च प्रस्तावात् शुभ, तस्यानयनमध्ययनम्। आनीयते ह्यनेन शुभ चेत , अस्मिन् उपयुक्तस्य वैराग्यभावात्। शेष प्राग्वत्, नवर वैराग्यभावात् कर्मणामिति क्लिष्टानामिति गाथार्थ ।

२. **निरुक्त्यन्तरेणैतदेव व्याख्यातुमाह**—अधिगम्यन्ते वा परिछिद्यन्ते वा "अर्था " जीवादय अनेनाधिक वा नयन—प्रापणमर्थादात्मनि ज्ञानादीनामनेन इच्छन्ति, विद्वास इति शेष.। 'अधिकम्' अर्गल शीघ्रतरमिति यावत्। 'वा' सर्वत्र विकल्पार्थ.। "साधु" इति साधयति पौरुषेयीभिर्विशिष्टक्रियाभिरपवर्गमिति साधु "गच्छति" यात्यर्थान्मुक्तिम्। अनेनेत्यत्रापि योज्यते। यस्मादेवमेव च तत किमित्याह—तस्मादध्ययनमिच्छन्ति। निरुक्तविधिनाऽर्थनिर्देशपरत्वाद्वाऽस्य, अयतेरेतेर्वा अधिपूर्वस्याध्ययनम्।

विद्वानो ने अध्ययन कहा है। यदि दूसरे शब्दो में कहे तो विशुद्ध आध्यात्मिकता का सम्पादन करना ही वास्तविक अध्ययन अथवा उसका सुचारु फल है। इसी आशय से चूर्णीकार ने— 'सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्रात्मकानि चोत्तराध्ययनानि' ऐसा उल्लेख किया है। यहां पर अध्ययन से शास्त्रकारों का अभिप्राय भावाध्ययन से है। कारण कि भावाध्ययन से ही यह आत्मा कर्म-बन्धन से मुक्त होकर अपने निज स्वभाव मे रमण करने की योग्यता प्राप्त कर सकता है। मन, वाणी और शरीर के शुभ व्यापार से भाव-पूर्वक जो अर्थ चिन्तन है, उसी का नाम भावाध्ययन है। इसी भावाध्ययन से यह आत्मा स्वोपार्जित कर्म-दलिको का क्षय करके अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है। निम्नलिखित निर्युक्ति-गाथा इसी भाव को अर्थात् भावाध्ययन के स्वरूप और फल को व्यक्त कर रही है। यथा—

अट्ठविहं कम्मरयं पोराणं, जं खवेइ जोगेहिं ।
एयं भावज्झयणं, णेयव्वं आणुपुव्वीए ॥[1]

परन्तु भावाध्ययन[2] द्रव्याध्ययनपूर्वक होता है, अर्थात् यह जीव शुभ मन से द्रव्याध्ययन करता हुआ भावाध्ययन मे प्रवेश करता है तथा भावाध्ययन से पूर्व सचित कर्मो का क्षय हो जाता है और आगे के लिए नए कर्मो का बन्धन नही होता। इस प्रकार उभयविध—सत्तागत और बध्यमान कर्मो से मुक्त होता हुआ यह जीवात्मा अपने स्वभाव मे रमण करने लगता है। अत अध्ययन शब्द की यह पूर्वोक्त निरुक्ति (आत्मा को स्व-स्वभाव मे लाना) ठीक ही प्रतीत होती है, अथवा रूढ्यर्थ को मानकर अध्यात्म का अर्थ यहा पर प्रशस्त मन है। तात्पर्य यह है कि जिसके द्वारा मन की प्रशस्त प्रवृत्ति हो, क्लिष्ट कर्मो के विनाशार्थ तदनुसार उपयुक्तता-पूर्वक वैराग्य भाव धारण किया जाए, उसको अध्ययन कहते है।

(२) अथवा जिसके द्वारा जीवाजीवादि पदार्थो का सम्यग्बोध हो जाए तथा आत्मा को जिसके

---

(१) छाया— अष्टविध कर्मरज· पुराण, यत् क्षपयति योगै ।
एतद् भावाध्ययन, नेतव्यम् आनुपूर्व्या ॥ १ ॥

व्याख्या—"अष्टविधम्" अष्टप्रकारक क्रियत इति कर्म—ज्ञानावरणादि, रज इव रजो जीवशुद्धस्वरूपान्यथात्वकरणेन, इह चोपमावाचकशब्दमन्तरेणापि परार्थप्रयुक्तत्वात् अग्निर्माणवक इतिवदुपमानार्थोऽवगन्तव्य। कर्मरज इति समस्त वा पद, "पुराण" अनेकभवोपात्तत्वेन चिरन्तन यत्—यस्मात् क्षपयति जतु 'योगै' भावाध्ययनचिन्तनादिशुभव्यापारै, तस्मादिदमेव भावरूपत्वात् क्षपणाहेतुत्वाद् भावक्षपणेत्युच्यते इति प्रक्रम। प्रकृतमुपसहर्तुमाह—'एतद' इत्युक्तपर्यायाभिधेय भावाध्ययन 'नेतव्य' प्रापयितव्यम् आनुपूर्व्या शिष्यप्रशिष्यपरपरात्मिकायाम्। यद्वा, 'नेतव्य' सवेदनविषयता प्रापणीयमानुपूर्व्या क्रमेणेति।

२ "दव्वज्झयणे ? पत्तयपोत्थय लिहिय" अर्थात् पत्र और पुस्तक पर लिखा हुआ द्रव्याध्ययन कहलाता है। (अनु० सू० १५०)

द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो, उस क्रिया-विशेष को विद्वान् अध्ययन कहते है। अपिच साधु पौरुषी आदि विशिष्ट क्रिया-कलापो के द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लिए यत्न करने वाला जीव जिस अनुष्ठान विशेष के द्वारा शीघ्र ही मोक्ष पथ का पथिक बन सके, उसका नाम अध्ययन है। यहा पर अधिपूर्वक इङ् धातु से निष्पन्न हुए अध्ययन शब्द की चर्चा की गई है। सारांश यह कि उपर्युक्त भिन्न-भिन्न प्रकार से की जाने वाली निरुक्तियो से उत्तराध्ययन सूत्र की विशिष्टता ध्वनित करना ही निर्युक्तिकार का अभिमत है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है जो कि सुसगत एव समुचित ही है।

रचनाविषयक मतभेद

प्रस्तुत सूत्र की रचना के विषय मे कुछ मतभेद देखने मे आता है। निर्युक्तिकार तो इसके कतिपय अध्यायो को दृष्टिवादाग से उद्धृत किया हुआ मानते है। कितने एक स्थलों को जिन-भाषित कहते है और कितने एक प्रत्येक बुद्धादि रचित एव अन्य स्थविरादि के द्वारा कहे गए स्वीकार करते है।[1] चूर्णीकार[2] श्री जिनदास गणि महत्तर और बृहद्वृत्तिकार वादिवैताल श्री शांतिसूरि[3] जी ने भी निर्युक्ति के इसी विचार को मान्य रखा है। तात्पर्य यह है कि इन दोनों विद्वानो ने उत्तराध्ययन की रचना को निर्युक्ति के लेखानुसार ही स्वीकार किया है। परन्तु उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीसवे अध्ययन की अन्तिम गाथा और श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण-सम्बन्धी कल्पसूत्र के पाठ को देखते हुए निर्युक्तिकार का उक्त कथन कुछ विचार की अपेक्षा रखता है। उत्तराध्ययन सूत्र की अन्तिम गाथा मे लिखा है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनो को प्रकट करने

---

(१) अगप्पभा जिणभासिया य, पत्तेयबुद्धसवाया।
बधे मुक्खे य कया, छत्तीस उत्तरज्झयणा॥ (निर्युक्ति गाथा ४)

छाया— अगप्रभवाणि जिनभाषितानि च प्रत्येकबुद्धसवादानि।
बन्धे मोक्षे च कृतानि षट्त्रिंशत् उत्तराध्ययनानि॥

२ एयाणि पुण उत्तरज्झयणाणि कओ केण वा भासियाणीति ? उच्यते "अगप्पभा"। तत्थ अगप्पभवा जहा परीसहा बारसमाओ अगाओ कम्मप्पवायपुव्वाओ णिज्जूढा, जिणभासिया जहा दुमपत्तगादि, पत्तेयबुद्धभासियाणि जहा काविलिज्जादि, सवाओ जहा णमिपव्वज्जा केसिगोयमेज्ज च, त एते सव्वेव बधप्पमोक्खत्थ छत्तीस उत्तरज्झयणा कया। (चूर्णी पृ० ७)

३ "अगप्पभवा जिणभासिया" इत्यादि का निर्युक्ति की गाथा की व्याख्या के रूप मे उल्लेख किया गया बृहद्वृत्ति का पाठ इस प्रकार है—अगाद् दृष्टिवादादे प्रभव —उत्पत्तिरेषामिति अगप्रभवानि, यथा परीषहाध्ययनम्।

वक्ष्यति हि—"कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडमि ज सुत्त। सनय सोदाहरण त चेव इहपि णायव्व"। जिनभाषितानि, यथा द्रुमपुष्पिकाऽध्ययन, तद्धि समुत्पन्नकेवलेन भगवता महावीरेण प्रणीतम्। यद्वक्ष्यति—"त णिस्साए भगव सीसाण देइ अणुसट्ठित्ति, च समुच्चये, प्रत्येकबुद्धाश्च सवादश्च प्रत्येकबुद्धसवाद तस्मादुत्पन्नानि इति शेष., तत्र प्रत्येकबुद्धा कपिलादय , तेभ्य उत्पन्नानि यथा कापिलीयाध्ययनम्। वक्ष्यति हि—"धम्मट्ठयागीय" तत्र हि कपिलेनेति प्रक्रम.। सवाद — सगतप्रश्नोत्तरवचनरूपस्तत उत्पन्नानि, यथा केशिगौतमीय वक्ष्यति च—"गोयमकेसीओ य सवायसगुट्टिय जम्हेयमित्यादि . (अध्य० १ निर्युक्ति गाथा ४ की व्याख्या)

के अनन्तर निर्वाण-पद को प्राप्त किया* और कल्पसूत्र का निम्नलिखित पाठ भी इसी बात का समर्थन कर रहा है। यथा—

''तेणं कालेण तेण समएण समणे भगवं महावीरे तीस वासाइं अगार-वासमज्झे वसित्ता साइरेगाइं दुवालसवासाइं छउमत्थपरियाय पाउणित्ता, देसूणाइ तीस वासाइ केवलिपरियाय पाउणित्ता, बायालीसं वासाइ सामण्णपरियाय पाउणित्ता, बावत्तरि वासाइ सव्वाउय पाउणित्ता, खीणे वेयणिज्जाउनामगुत्ते इमीसे उस्सप्पिणीए दुसमसुसमाए बहुविइक्कताए तिहि वासेहि अद्धनवमेहि य मासेहिं सेसेहिं पावाए मज्झिमाए हत्थिपालस्स रन्नो रज्जुगसभाए एगे अवीए छट्‌ठेण भत्तेण अपाणएण साइणा नक्खत्तेणं जोगमुवागएण पच्चूसकाल-समयसि सपलियकनिसन्ने पणपन्न अज्झयणाइ कल्लाणफलविवागाइं पणपन्न अज्झयणाइ पावफलविवागाइ छत्तीस अपुट्ठवागरणाइं-वागरित्ता पहाण नाम अज्झयणं विभावेमाणे विभावेमाणे कालगए विइक्कते समुज्जाए छिन्नजाइ-जरामरणबंधणे सिद्धे बुद्धे मुत्ते अतगडे परिनिव्वुडे सव्वदुक्खप्पहीणे'' ।**

इस पाठ का आशय यह है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी तीस वर्ष तक तो गृहस्थाश्रम मे

★ **प्रश्न ६४**—जैनमत मे रूढ़ि से अनेक लोग जो यह कहते है कि उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययन दीपमाला की रात्रि मे कथन करके और सैतीसवा अध्ययन कथन करते हुए श्री श्रमण भगवान् मोक्ष को प्राप्त हो गए, यह कथन सत्य है या नही ?

उत्तर—यह कथन सत्य नही है, क्योकि यह कल्पसूत्र की मूल टीका से सिद्ध है और श्री भद्रबाहू स्वामी ने उत्तराध्ययन की निर्युक्ति मे ऐसा कथन किया है कि—उत्तराध्ययनसूत्र का दूसरा परीषहाध्ययन तो कर्म प्रवाद पूर्व के सत्तरहवे पाहुड़ से उद्धार करके रचा गया है और आठवा अध्ययन श्री कपिल केवली ने रचा है और दसवा अध्ययन जब गौतम स्वामी अष्टापद से लौटकर आए थे, तब भगवन्त ने गौतम को धैर्य देने के लिए चम्पा नगरी मे कथन किया था और २३वा अध्ययन केशीगौतम के प्रश्नोत्तर रूप मे स्थविरो ने रचा है। अनेक अध्ययन प्रत्येक बुद्ध मुनियो के रचे हुए है और अनेक जिन भाषित है। इसलिए उत्तराध्ययन दीपमाला की रात्रि मे कथन किया सिद्ध नही होता है (जैन धर्म विषयक प्रश्नोत्तर पृ० १२२) यह पाठ चूर्णी और निर्युक्ति गाथा की व्याख्या रूप से उल्लेख किए गए सस्कृत पाठ का प्राय अनुवाद मात्र ही है।—लेखक

(१) इति पाउकरे बुद्धे नायए परिनिव्वुए।
छत्तीस उत्तरज्झाए, भवसिद्धीय समए॥ (गाथा २७०)

इससे प्रतीत होता है कि उत्तराध्ययन भगवान् महावीर स्वामी का अन्तिम उपदेश है, इसके बाद उनका निर्वाण हो गया।

★★ तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीर त्रिशद्‌वर्षाणि गृहस्थावस्थामध्ये उषित्वा समधिकानि द्वादशवर्षाणि छद्मस्थपर्याय पालयित्वा, किंचिदूनानि त्रिशद्‌वर्षाणि केवलिपर्याय पालयित्वा, द्विचत्वारिंशद्‌वर्षाणि चारित्रपर्याय पालयित्वा, द्विसप्ततिवर्षाणि सर्वायु पालयित्वा, क्षीणेषु सत्सु वेदनीयायुर्नामगोत्रेषु चतुर्षु भवोपग्राहिककर्मसु अस्याम् अवसर्पिण्याम् दुषमसुषमा इति नामके चतुर्थे अरके बहुव्यतिक्रान्ते सति त्रिषु वर्षेषु सार्द्धाष्टसु च मासेषु शेषेषु सत्सु पापाया मध्यमाया हस्तिपालस्य राज्ञ लेखकसभायाम्, एक सहायविरहाद् अद्वितीय, एकाकी एव, नतु ऋषभादिवत् दशसहस्रपरिवार इति षष्ठेन भक्तेन जलरहितेन स्वातिनक्षत्रेण सह चन्द्रयोगे उपागते सति प्रत्यूषकाले

रहे। दीक्षित होकर अर्थात् त्यागवृत्ति को धारण करके कुछ अधिक १२ वर्षों तक वे छद्मस्थ दशा मे रहे। फिर केवलज्ञान हो जाने पर कुछ न्यून तीस वर्ष तक वे केवली अवस्था मे विचरे। इस प्रकार ४२ वर्ष तक श्रमण-अवस्था मे रहकर कुल ७२ वर्ष की आयु को भोगकर चार प्रकार के अघाती— वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—कर्मो का क्षय करके इस अवसर्पिणी काल के दुषम-सुषम नामक चतुर्थ आरक के बीतने मे केवल तीन वर्ष साढ़े आठ मास बाकी रह जाने पर पावापुरी के हस्तिपाल राजा की राजसभा मे षष्ठ-भक्त करके प्रात काल के समय पद्मासन में बैठे हुए कल्याण फल के देने वाले ५५ और पाप फल के देने वाले ५५ अध्ययनो का तथा ३६ अपृष्ट व्याकरणो— उत्तराध्ययन रूप ३६ अध्ययनो का कथन करके, प्रधान नाम के अध्ययन—मरुदेव्यध्ययन का चिन्तन करते हुए निर्वाण पद को प्राप्त हो गए। इत्यादि—

इस कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उत्तराध्ययन के निर्माता भगवान महावीर स्वामी थे और यह उनका अन्तिम उपदेश था। इसके अतिरिक्त आचार्य-प्रवर श्री हेमचन्द्र सूरि ने भी अपने 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र' ने इसी सिद्धान्त का अनुसरण किया है, अर्थात् वे भी उत्तराध्ययन को श्रमण भगवान महावीर स्वामी का अन्तिम उपदेश मानते है। यथा—

''षट्त्रिंशत्तमाप्रश्नव्याकरणान्यभिधाय च ।
प्रधान नामाध्ययन जगद्गुरुरभाषयत् ॥'' (पर्व १०, सर्ग १३, श्लो० २२४)

इस श्लोक मे आया हुआ 'अप्रश्नव्याकरणानि' यह पाठ कल्पसूत्रगत **'अपुट्ठवागरणाइं''** पाठ का ही छायामात्र है। इसका तात्पर्य यह है कि बिना पूछे उपदेश करना। तब जैसे सब पर हित-बुद्धि रखने वाले महापुरुष बिना पूछे भी दूसरे जीवो के कल्याणार्थ धर्म का उपदेश देते है, इसी दृष्टि से परमोपकारी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने भी लोक-कल्याण की भावना से बिना किसी के प्रश्न किए ही इनका उपदेश किया जो कि भगवान का अन्तिम उपदेश कहा व माना जाता है तथा इससे उत्तराध्ययन का 'अपृष्ट व्याकरण' अथवा 'अप्रश्न व्याकरण' यह नामान्तर भी प्रमाणित हो जाता है।

अब एक और बात विचारणीय है, वह यह कि निर्युक्ति के कर्त्ता श्री भद्रबाहु स्वामी थे और कल्पसूत्र के रचयिता भी उन्ही अर्थात् भद्रबाहु स्वामी को ही माना जाता है। यह बात यदि सत्य है अर्थात् निर्युक्ति और कल्पसूत्र दोनो के कर्त्ता यदि भद्रबाहु स्वामी ही है तो फिर इन दोनो लेखो मे विभिन्नता क्यो ? और यदि दोनो के कर्त्ता एक नाम के कोई भिन्न-भिन्न व्यक्ति है, तब तो निर्युक्ति की अपेक्षा आगम-सम्मत विचार को ही अधिक महत्त्व देना उचित प्रतीत होता है। जैन सम्प्रदाय मे

समये—चतुर्घटिकावशेषाया रात्रौ सपल्यकासनेन निषण्ण पद्मासननिविष्ट पञ्चपञ्चाशदध्ययनानि कल्याण पुण्य तस्य फलविपाको येषु तानि कल्याणफलविपाकानि पचपचाशत् अध्ययनानि पापफलविपाकानि, षट्त्रिशत् अपृष्टव्याकरणानि अपृष्टान्युत्तराणि व्याकृत्य कथयित्वा प्रधान नाम एक मरुदेव्यध्ययन विभावयन् भगवान् कालगत , ससाराद् व्यतिक्रान्त , सम्यग्, ऊर्ध्वयात इत्यादि। (सुबोधिका टीका)

श्री हेमचन्द्र सूरि एक विशिष्ट विद्वान् हुए है। उनका समय बारहवी शताब्दी माना जाता है और निर्युक्तिकार का समय उनसे बहुत पहले का माना गया है, अर्थात् आचार्य-प्रवर श्री हेमचन्द्र सूरि के सामने निर्युक्ति और कल्पसूत्र ये दोनो ही विद्यमान थे और दोनो के लेखो से वे परिचित थे। उन्होने भी उत्तराध्ययन की रचना को कल्पसूत्र के अनुसार ही माना है, अर्थात इसको भगवान् का अन्तिम उपदेश स्वीकार किया है। इससे भी निर्युक्तिकार का लेख विचारणीय ठहरता है। इसमे तो सन्देह नही कि उक्त सूत्र के कतिपय अध्ययनो का विषय भगवान् महावीर स्वामी के पूर्व का तो अवश्य है (यथा—चित्तसभूत नामक अध्ययन) परन्तु उस विषय का वर्णन भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा ही हुआ है तथा प्रत्येक अध्ययन के अन्त मे आए हुए "**त्ति बेमि—इति ब्रवीमि**" शब्द की व्याख्या करते हुए जो—'इति सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामिन प्रति कथयति स्म, हे जम्बू ! अह भगवद्वचसा त्वा ब्रवीमि" यह कहा है, इसस भी उत्तराध्ययन का श्रमण श्री भगवान् महावीर स्वामी द्वारा उपदिष्ट होना ही प्रमाणित होता है।

यहा पर कोई-कोई सज्जन यह शका करते है कि समवायांग सूत्र के ५५वे स्थान मे लिखा है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी अपने अन्तिम समय मे ५५ कल्याण-फलविपाक के और ५५ पाप फलविपाक के अध्ययनो का कथन करके सिद्ध-गति को प्राप्त हुए'[1]। जिस प्रकार इस सूत्र मे उक्त ५५ अध्ययनो के कथन की चर्चा की गई है, उसी प्रकार इस सूत्र के ३६वे स्थान मे उत्तराध्ययन सूत्र के ३६ अध्ययनो के कथन का उल्लेख भी होना चाहिए था, परन्तु समवायाग सूत्र मे उन अध्ययनो के कथन का उल्लेख नही किया गया। इससे प्रतीत होता है कि उत्तराध्ययन सूत्र श्रमण भगवान महावीर स्वामी के अन्तिम उपदेश का विषय नही है, अर्थात् उन्होने अन्तिम समय मे इसका उपदेश किया हो, ऐसा प्रतीत नही होता।

इस शका का समाधान यह है कि वर्तमान सूत्रो के रचयिता शब्द-सकलना रूप से श्री सुधर्मा स्वामी ही माने जाते है, जब कि उन्होने उत्तराध्ययन सूत्र के अन्त मे यह स्पष्ट कह दिया है कि उत्तराध्ययनो का अन्त समय मे प्रकाश करके भगवान मोक्ष मे पधारे तो फिर समवायाग सूत्र मे उल्लेख न रहने पर भी कोई बाधा उपस्थित नही होती। कारण कि उत्तराध्ययन मे उसका उल्लेख हो चुका है और उक्त दोनो सूत्रो के आशय को लेकर श्री भद्रबाहु स्वामी ने कल्पसूत्र की ग्यारहवी वाचना मे इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है, जिससे कि किसी को भ्रम ही न रहे। तब इस सारे सदर्भ से यह बात भली-भाति प्रमाणित हो जाती है कि उत्तराध्ययन सूत्र के निर्माता (अर्थ रूप से) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अतिरिक्त और कोई नही है।

---

१ समणे भगव महावीरे अन्तिमराइयसि पणपन्न अज्झयणाइ कल्लाणफलविवागाइ पणपन्न अज्झयणाइ पावफलविवागाइ वागरित्ता सिद्धे बुद्धे जाव प्पहीणे।

क्या उत्तराध्ययन सूत्र भद्रबाहु रचित है ?

कितने एक विचारक सज्जनो का मत है कि उत्तराध्ययन सूत्र भी भद्रबाहु स्वामी की कृति है, इसीलिए इसका दूसरा नाम "भद्रबाहव" सुनने/देखने में आता है यथा—"**भद्रबाहुना प्रोक्तानि भाद्रबाहवानि उत्तराध्ययनानि**" अर्थात् भद्रबाहु प्रोक्त होने से उत्तराध्ययन को "भाद्रबाहव" कहते है। अत. इस कल्पना के लिए कि उत्तराध्ययन सूत्र भद्रबाहु स्वामी की कृति है, यह पूर्वोक्त प्रमाण अधिक बलवान् है। इस प्रमाण से उत्तराध्ययन का भद्रवाहु स्वामी द्वारा रचा जाना अनायास ही सिद्ध हो जाता है। परन्तु जरा गम्भीरता-पूर्वक विचार करने से उक्त कथन मे कुछ भी सार प्रतीत नही होता। कारण कि 'प्रोक्त' और 'कृत' ये दोनो शब्द समान नही है, किन्तु भिन्न-भिन्न अर्थो के वाचक है। इनमे प्रोक्त का अर्थ तो व्याख्यात और अध्यापित है तथा कृत का अर्थ नवीन रचना है। इसलिए भद्रवाहु प्रोक्त का अर्थ भद्रबाहु की कृति या रचना विशेष नही, किन्तु उनके द्वारा प्रचारित होना अर्थ है। तात्पर्य यह है कि भद्रबाहु स्वामी ने उत्तराध्ययन की रचना नही की, किन्तु व्याख्यान और अध्यापन द्वारा जनता मे इसका पर्याप्त रूप से प्रचार किया। उनके द्वारा किए जाने वाले विशिष्ट प्रचार के कारण ही यह उत्तराध्ययन सूत्र उनके नाम से विख्यात हो गया। इसलिए भद्रबाहु स्वामी उत्तराध्ययन के प्रचारक मात्र थे, न कि रचयिता। इस बात को शाकटायन व्याकरण के[1] "ट प्रोक्ते ३-१-६६" सूत्र की वृत्ति मे आचार्य यक्षवर्मा ने और हैमव्याकरण के[2] "तेन प्रोक्ते ६-३-१८" सूत्र की बृहद्वृत्ति मे आचार्य हेमचन्द्र ने विशेष रूप से स्पष्ट कर दिया है, अर्थात् इन दोनो आचार्यो ने प्रोक्त शब्द का अर्थ विशेष रूप से व्याख्यान और अध्यापन ही किया है। इसके अतिरिक्त "तेन प्रोक्तम् ४-३-१०" इस पाणिनीय सूत्र[3] की व्याख्या मे तत्त्वबोधिनीकार दण्डी ने भी 'प्रोक्त' शब्द का ऊपर की भांति ही अर्थ किया है। तात्पर्य यह है कि किसी के कहे हुए को कहना—अध्यापन और व्याख्यान द्वारा प्रकाशित करना उसका नाम "प्रोक्त" है, और नवीन रचना "कृति" कहलाती है। इसलिए भद्रबाहु स्वामी उत्तराध्ययन सूत्र के कर्त्ता नही, किन्तु व्याख्याता कहे जाते है। यदि भद्रबाहु स्वामी इसके कर्त्ता होते तो उन्होने निर्युक्ति मे उत्तराध्ययन के विषय मे जो यह लिखा है कि उसके कुछ अध्ययन तो पूर्व से उद्धृत है और कुछ जिन-भाषित तथा कई एक प्रत्येक बुद्धादि रचित है

---

१ प्रकर्षेण व्याख्यातमध्यापित वा प्रोक्त तस्मिन् ट इति तृतीयान्ताद यथाविहित प्रत्ययो भवति। भद्रबाहुना प्रोक्तानि भाद्रबाहवानि उत्तराध्ययनानि।

२ प्रकर्षेण व्याख्यातमध्यापित वा प्रोक्त नतु कृतम्। तत्र कृत इत्येव गतत्वात् तस्मिन्नर्थे तेनेति तृतीयान्तान्नाम्नो यथाविहित प्रत्यया भवन्ति। भद्रबाहुना प्रोक्तानि भाद्रबाहवानि उत्तराध्ययनानि गणधरप्रत्येकबुद्धादिभि कृतानि तेन व्याख्यातानीत्यर्थ ।

३ तेन प्रोक्तम् ४ ३-१० पाणिनिना प्रोक्त पाणिनीयम्। तेन प्रोक्तम्—प्रकर्षेणोक्त प्रोक्तमित्युच्यते, नतु कृत। कृत ग्रन्थे इत्यनेन गतार्थत्वात्। प्रोक्तमिति—स्वयमन्येन कृत, व्याकरणमध्यापनेनार्थव्याख्यानेन वा प्रकाशितमित्यर्थ ।

इत्यादि, सो किस प्रकार से संगत होगा ? इसलिए उत्तराध्ययन सूत्र को श्री भद्रबाहु स्वामी की कृति / रचना कहना व मानना किसी भी प्रकार से उचित प्रतीत नहीं होता।

सूत्र शब्द की निरुक्ति, लक्षण और भेदानुभेद

जैनागमों को सूत्र शब्द के नाम से भी अभिहित किया गया है। इसीलिए सूत्र शब्द की व्युत्पत्ति वा निरुक्ति तथा लक्षण और उसके अवान्तर भेदानुभेदो की जिस प्रकार से जैन-शास्त्रों में चर्चा की गई है, उसका उल्लेख कर लेना भी आवश्यक प्रतीत होता है, अत- इन बातों का क्रमशः यहां पर विचार किया जाता है।

निरुक्ति

सूत्र शब्द के निर्वचन मे निम्नलिखित गाथा देखने मे आती है। यथा—

"सुत्तं तु सुत्तमेव य, अहवा सुत्तं तु तं भवे लेसो ।
अत्थस्स सूयणा वा सुवुत्तमिइवा भवे सुत्तं" ॥ १ ॥[1]

प्राकृत भाषा मे जैसे सूत्र शब्द का 'सुत्त' प्रयोग बनता है, उसी प्रकार सुप्त शब्द का भी 'सुत्त' प्रयोग होता है और श्रुत शब्द के 'सुय' वा 'सुअ' इस प्रकार के दो प्रयोग बनते है। इस स्थान पर अर्थात् उक्त गाथा मे जो 'सुत्त' शब्द आया है, वह सूत्र और सुप्त इन दोनो का प्रतिरूप है। तात्पर्य यह है कि उक्त गाथा मे आये हुए 'सुत्त' शब्द के सूत्र और सुप्त ये दो अर्थ है। इन्हीं दोनो के प्रतिरूप मे 'सुत्त' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसलिए उक्त गाथा की व्याख्या मे—"**अर्थेनाबोधितं सुप्तमिव सुप्तं प्राकृतशैल्या सुत्तम्**" इस प्रकार कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे किसी सोए हुए व्यक्ति को शब्दो के द्वारा जगाया जाता है, ठीक उसी प्रकार अर्थो के द्वारा सुप्त की भाति किसी को जिसका बोध कराया जाए उसे 'सुत्त'—सूत्र कहते है। जैसे सोए हुए व्यक्ति के पास वार्तालाप करने पर भी उसे तब तक भान नही होता, जब तक कि उसको जगाया न जाए, इसी प्रकार उच्चारण किए जाने पर भी बिना वृत्ति या व्याख्या अथवा भाष्यादि के जिसके अर्थ का यथार्थ रूप से कुछ भी भान नही होता, उसी को सूत्र कहते है। यदि सक्षेप से कहे तो "सुप्तमिव सुत्त" अर्थात् सोए हुए की तरह जो हो उसका नाम सूत्र है। अथवा "**सूत्रमिव सूत्र**" अर्थात् तन्तु रूप जो हो उसे सूत्र कहते है। **सूत्रं नाम तद भवति श्लेष· तन्तुरूपमित्यर्थ.। यथा तंतूनां द्वे त्रीणि बहूनि वा वस्तूनि एकत्र संनह्यन्ते, एवम्केनापि सूत्रेण बहवोऽर्थाः संघात्यन्ते इति सूत्रमिव सूत्रम्)** सूत्र नाम तन्तुओं का है सो जैसे एक सूत्र मे अनेक वस्तुओं को सग्रहीत किया जाता है, अथवा जैसे एक सूत्र मे माला के अनेक मनको का

---

१ छाया— सूत्र तु सुप्तमेव च, अथवा सूत्र तु तद् भवति श्लेष ।
अर्थस्य सूचनाद्वा, सूक्तमिति वा भवेत् सूत्रम् ॥

संग्रह किया जाता है, तथा जैसे प्रमार्जनी (बुहारी-झाड़ू) की अनेक सीखें एकत्रित की जाती हैं, ठीक उसी प्रकार जिसमे अनेक अर्थों का संग्रह किया जाए, उसी को "सूत्र की भांति सूत्र" इस नाम से अभिहित किया जाता है। अथवा अर्थ का सूचक होने से भी सूत्र कहा जाता है "अर्थस्य सूचनाद्वा सूत्रम्" तात्पर्य यह है कि सूत्र में जो अर्थ निहित होता है उसकी सूचना सूत्र के उच्चारण करने पर हो जाती है। अपिच सूक्त (सुन्दर कथन) का भी प्राकृत में 'सुत्त' बनता है। इसलिए जो भली प्रकार से कथन किया जाए वह भी सूत्र कहलाता है। इसके अतिरिक्त सूत्र शब्द की निरुक्ति के लिए एक और गाथा उपलब्ध होती है। यथा—

"नेरुत्तियाइं तस्स, सूयइ सिव्वइ तहेव सुवइति" ।
अणुसरतित्ति भेया, तस्स नामा इमा हुंति ॥ २ ॥[२]

इस गाथा में भी भिन्न-भिन्न रूपो मे सूत्र शब्द की निरुक्ति—निर्वचन किया गया है। यथा—(१) सूचयतीति सूत्र, (२) सीव्यतीति सूत्र, (३) सुवतीति सूत्रं, (४) अनुसरतीति सूत्रम् इत्यादि। (१) अर्थ का सूचक होने से सूत्र कहा जाता है तथा जैसे खोई हुई सुई सूत्र द्वारा उपलब्ध हो जाती है, अर्थात् सूत्र के साथ खोए जाने पर सूत्र से उसका पता मिल जाता है, उसी प्रकार किसी विस्तृत अर्थ की सूचना देने के कारण सूत्र कहलाता है। (२) जिस प्रकार सूई के द्वारा वस्त्रादि सिये जाते है उसी प्रकार अनेक अर्थो का सग्राहक होने से सूत्र कहा जाता है। (३) सुप्त-प्रबोध की भांति सूत्र होता है, अर्थात् जैसे सोए हुए व्यक्ति को जगाकर ही बोध कराया जाता है, उसी प्रकार उच्चारण के अनन्तर इसके अर्थ द्वारा भव्य जीवों को जगाकर प्रतिबोध दिया जाता है। इसी कारण सूत्र शब्द को सुप्त अर्थ मे ग्रहण किया जाता है।

तथा—'**अर्थस्रवणात् सूत्रम्**—अर्थात् अर्थ का स्रावक होने से सूत्र कहलाता है। जैसे सूर्य के सम्मुख होने से सूर्यकान्तमणि अग्नि को बरसाती है और चन्द्रमा के सम्मुख होने पर चन्द्रकान्त मणि से जल की वर्षा होने लगती है, उसी प्रकार जो अर्थ का स्रावक—अर्थो की वृद्धि करने वाला है उसे सूत्र कहते है। तात्पर्य यह कि जैसे सूर्य और चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से सूर्यकान्त मणियो से अग्नि और चन्द्रकान्तमणियो से जल का वर्षण होने लगता है, उसी प्रकार जिसके उच्चारण से अर्थो की धारा निकल पड़े, उसका नाम सूत्र है।

अथवा "**अनुसरतीति सूत्रम्**" अर्थात् जिसके अनुसरण से—सहायता से कर्मो के मल को दूर किया जाए, उसको सूत्र कहते है। अनुसरण दो प्रकार का है—एक द्रव्यानुसरण और दूसरा भावानुसरण। इन दोनों के स्वरूप को निम्नलिखित एक दृष्टान्त से समझें। यथा—

---

२. छाया— निरुक्तानि तस्य—सूचयति सीव्यति तथैव सुवति इति ।
अनुसरति इति भेदा, तस्य नामानि इमानि भवन्ति ॥

एक वैश्य के चार पुत्र थे। उन चारो में एक जन्मान्ध—जन्म का अन्धा था। जब वे चारों युवावस्था को प्राप्त हुए तो उस वैश्य ने विचार किया कि मेरे तीन पुत्र तो अपनी योग्यता के अनुसार अपने-अपने काम-धन्धे में लग गए हैं, परन्तु यह चौथा पुत्र अन्धा होने से कुछ भी नहीं कर सकता। आगे चलकर कहीं ऐसा न हो कि इसके अन्य तीनो भ्राता और उनकी पत्निया इसका तिरस्कार करने लग जाएं, अत' इसको भी किसी कार्य मे नियुक्त कर देना चाहिए।

इस प्रकार विचार करने के अनन्तर उसने अपने विशाल भवन के दोनो खम्भों के साथ एक रस्सी बांध दी और अपने अन्धे पुत्र के हाथ मे वह रस्सी पकड़ा कर बोला कि लो इस रस्सी के सहारे से तुम प्रतिदिन अपने घर के कचरे-कूड़े, आदि को सिर पर उठाकर घर से बाहर फैक दिया करो।

वह अन्धा पुत्र विनीत था, इसलिए उसने अपने पूज्य पिता की आज्ञा को मान कर उसी प्रकार आचरण करना आरम्भ कर दिया, अर्थात् वह प्रतिदिन घर में एकत्रित हुए कूड़े-कचरे को सिर पर उठा कर खम्भे के साथ बधी हुई उस रस्सी के सहारे से बाहर ले जाकर फैक दिया करता।

उस विनीत एवं जन्मजात अन्धे पुत्र के उपरोक्त कार्य से घर के सभी लोग उसका आदर करने लगे और उसका जीवन शान्ति पूर्वक व्यतीत होने लगा। यह तो है द्रव्यानुसरण और भावानुसरण के लिए इसे यो समझिए—वैश्य के समान तो आचार्य है और जन्मान्ध पुत्र के तुल्य साधु है तथा रस्सी के समान ये सूत्ररूप आगम है एवं ज्ञानावरणीयादि आठ प्रकार के कर्म, यह घर के भीतर एकत्रित हुआ कूड़ा है। तब जिस प्रकार वह जन्मान्ध बालक पिता के आदेश से खम्भो के साथ बधी हुई रस्सी का सहारा लेकर घर मे रहे हुए कूड़े को बाहर फैकने मे समर्थ हो गया, उसी प्रकार गुरुजनों के आदेश से सूत्रानुसार क्रियानुष्ठान मे प्रवृत्त होने वाला साधु भी उक्त प्रकार के कर्म-मल को अपनी आत्मा से पृथक् करने में समर्थ हो जाता है। इसी का नाम भावानुसरण है।

वर्तमान काल मे तो मुमुक्षु पुरुषो के लिए एकमात्र सूत्र ही अवलम्बन है। इनके अनुसार सयम-मार्ग मे विचरने वाला साधु आत्मसंपृक्त कर्ममल को शीघ्र से शीघ्र दूर कर सकता है। इसलिए "**अनुसरणात् सूत्रम्**" यह सूत्र शब्द की निरुक्ति सर्वोत्तम प्रतीत होती है।

लक्षण

सूत्र रूप से ग्रन्थ रचना की प्रणाली अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होती है। प्राचीन आर्ष ग्रन्थो मे प्राय' इसी प्रणाली का अनुसरण देखने मे आता है। इसी हेतु से प्राचीन जैनागम ग्रन्थ सूत्र के नाम से विख्यात है। इसलिए सूत्र के लक्षण का निर्देश करना भी यहा पर आवश्यक प्रतीत होता है। सामान्य रूप से तो सूत्र का लक्षण यही है कि जिसमे अक्षर अल्प हो और अर्थ महान् एवं अधिक हो। तात्पर्य यह है कि जो अक्षरो में स्वल्प होते हुए भी अर्थ मे विस्तृत हो उसका नाम सूत्र है। परन्तु सूत्र के नाम से विख्यात होने वाले आगम ग्रन्थो को देखते हुए उनमे सर्वत्र उक्त लक्षण संघटित नहीं होता। इसलिए निर्युक्ति में सूत्र के लक्षण को चार प्रकार से वर्णन किया गया है, जिससे कि उसका आगमों मे समन्वय हो सके। यथा—

"अप्पक्खरं महत्थं, महक्खरऽप्पत्थं दोसुवि महत्थं ।
दोसुवि अप्पं च तहा, भणियं सत्थं च उ विगप्पं" ॥ १ ॥[1]

इस प्राकृत गाथा का तात्पर्य यह है कि सूत्र चार प्रकार के कहे हैं—(१) अल्प अक्षर और महान अर्थ, अर्थात् जिनके अक्षर थोड़े हों और अर्थ अधिक हों, (२) प्रभूत अक्षर और अल्प अर्थ वाले, अर्थात् जिनके अक्षर अधिक हों और अर्थ अल्प हो, (३) अधिक अक्षर और अधिक अर्थ वाले तथा (४) अल्प अक्षर और अल्प अर्थ वाले। इस प्रकार सूत्र के चार विकल्पों—भेदों का शास्त्र में वर्णन किया गया है। ऊपर की इस गाथा में सूत्र नाम से विख्यात आगम ग्रन्थो के चार प्रकार के भेद बताने के व्याज से सूत्र के भिन्न-भिन्न चार लक्षण बताए गए हैं, ताकि सूत्र नाम से व्यवहृत होने वाले आगम ग्रन्थो में ऊपर दिए गए सूत्र लक्षणों का समन्वय हो सके। सारांश यह है कि उपरोक्त भंगों में सारे ही सूत्रागमों का समावेश हो जाता है, परन्तु इतना ध्यान अवश्य रहना चाहिए कि उपरोक्त चार भंगों में प्रथम के तीन तो लोकोत्तर अर्थात् आगम शास्त्र के लिए हैं और चतुर्थ भंग का लौकिक शास्त्र से सम्बन्ध है। जैसे कि निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथा से व्यक्त होता है—

"सामायारी ओहे, नायज्झयणा य दिट्ठीवाओ य ।
लोइअ कप्पासाई अनुकम्माकारगा चउरो" ॥ २ ॥[2]

इस गाथा मे और पहली गाथा में वर्णन किए गए चार प्रकार के सूत्रों के उदाहरण दिखाए गए है। यथा—(१) ओघसामाचारी की गणना प्रथम भग मे की जाती है, (२) ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र का प्रथम अध्याय द्वितीय भग मे गिना जाता है (३) तीसरे भंग मे दृष्टिवाद की गणना है। और लौकिक

---

१ छाया— अल्पाक्षरं महार्थं, महाक्षराल्पार्थं द्वयोरपि महार्थम् ।
द्वयोरप्यल्प च तथा, भणित शास्त्र चतुर्विकल्पम् ॥

व्याख्या—अत्र चतुर्भङ्गिका, अल्पान्यक्षराणि यस्मिन् तदल्पाक्षर—स्तोकाक्षरमित्यर्थ.। 'महत्थ इति महानर्थो यस्मिन् तन्महार्थं-प्रभूतार्थमित्यर्थ.। तत्रैक शास्त्र अल्पाक्षर भवति महार्थञ्च प्रथमो भागः। अथान्यत् कि भूत भवति? "महक्खरमप्पत्थं" महाक्षरं प्रभूताक्षरमिति हृदयम्। अल्पार्थं स्वल्पार्थमिति हृदयम्, द्वितीयो भाग.। तथान्यत् किं भूत भवति ? "दोसुवि महत्थ" द्वयोरपीति अक्षरार्थयो., श्रुतत्वादक्षरार्थोभय परिगृह्यते। एतदुक्त भवति—प्रभूताक्षर प्रभूतार्थञ्च, तृतीयो भाग । तथान्यत् किं भूत भवति "दोसुवि अप्पं च तहा" द्वयोरप्यल्पमक्षरार्थयो., एतदुक्त भवति अल्पाक्षर अल्पार्थञ्चेति। तथेति तेनागमोक्त - प्रकारेण "भणितम्" उक्त शास्त्र चतुर्विकल्प—चतुर्विधमित्यर्थ.।

२. व्याख्या—ओघसामायारी प्रथमभगके उदाहरण भवति। पूर्वापरनिपातादेवमुपन्यासः कृतः। ज्ञाताध्ययनानि षष्ठागे प्रथमश्रुतस्कन्धे तेषु कथानकान्युच्यन्ते। तत प्रभूताक्षरत्वमल्पार्थञ्चेति, द्वितीयभङ्गके ज्ञाताध्ययनान्युदाहरणं 'च' शब्दादन्यच्च यदस्या कोटौ व्यवस्थितम्। दृष्टिवादश्च तृतीयभङ्गके उदाहरण यतोऽसौ प्रभूताक्षर. प्रभूतार्थश्च, 'च' शब्दादेकदेशोऽपि। चतुर्भङ्गोदाहरणप्रतिपादनार्थमाह—"लोइय कप्पासाई" इति लौकिकं चतुर्भङ्गे उदाहरणम्। कि भूतम् ? कार्पासादि, आदिशब्दात् शिवचन्द्रादिग्रहा.। "अनुक्कमत्ति" अनुक्रमादिति। अनुक्रमेणैव—परिपाट्या, तृतीयार्थे पंचमी। 'कारकाणि" कुर्वन्तीति कारकाणि—उदाहरणान्युच्यन्ते चत्वारीति यथासंख्येनैवेति।

पक्ष मे कार्पासादि, शिवचन्द्रादि शब्द चतुर्थ भग के उदाहरण में लिए जाते हैं।

यद्यपि सूत्र का सर्वसम्मत निर्दोष लक्षण तो यही है कि जिसके अक्षर अल्प हों और अर्थ विस्तृत हो, अतः उसका प्रथम विकल्प में ही समावेश हो जाता है। इस विकल्प में बृहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुत, निशीथ और सामायिक आदि सूत्र परिगणित किए जा सकते हैं। कारण कि इनके अक्षर तो अल्प हैं, परन्तु अर्थ बहुत विस्तृत है। यद्यपि पूर्वोक्त लक्षण इनमें सर्वाङ्ग-रूप से संघटित हो रहा है, तथापि अनेकान्तवाद के आश्रित होकर अन्य विकल्पो का विधान शास्त्र-सम्मत एवं युक्ति-युक्त ही प्रतीत होता है।

भेदोपभेद

शास्त्रो में यद्यपि सूत्रो के अनेक भेदोपभेदो का वर्णन प्राप्त होता है, परन्तु मुख्य भेद—सज्ञा-सूत्र, कारक-सूत्र और प्रकरण-सूत्र इस प्रकार से तीन है। पुन इनके उत्सर्ग, अपवाद, उत्सर्गापवाद और अपवादोत्सर्ग ये चार भेद और भी है।

(१) संज्ञा-सूत्र—जिनमे वर्णनीय किसी भी पदार्थ का सामान्य रूप से निर्देश किया जाए, उनको संज्ञा-सूत्र कहते है। दशवैकालिकादि सूत्रो की गणना सज्ञासूत्रो मे है, उदाहरणार्थ—**"जे छेए से सागारिय परियाहरे तहा सव्वामगंधपरिन्नाय निरामगंधो परिव्वए"**[1] अर्थात् जो बुद्धिमान है वह मैथुन को त्याग देता है, तथा सदोष वस्तु का त्याग करके निर्दोष वस्तु का सेवन करता है एव ज्ञान-परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से त्याग करता हुआ अप्रतिबद्ध होकर विचरता है, यह सज्ञा-सूत्र है।

(२) कारक-सूत्र—जिन सूत्रो मे क्रियाकाड का विधान किया गया हो और साथ ही उपस्थित होने वाली शकाओं का युक्ति-पूर्वक समाधान भी किया गया हो, उन्हें कारक सूत्र कहते है। यथा—

"अहाकम्मं भुंजमाणे समणे निग्गंथे कइ कम्मपगडीओ बंधंति ? गोयमा ! आउवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ बंधति। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?" इत्यादि।

हे भगवन् ! आधाकर्मी आहार करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ किन कर्म-प्रकृतियो को बाधता है ? भगवान्—हे गौतम ! आधाकर्मी आहार को ग्रहण करता हुआ श्रमण-निर्ग्रन्थ आयुकर्म को छोड़कर साती ही कर्म-प्रकृतियो को बाधता है। गौतम—हे भगवन् ! किसलिए ऐसा होता है इत्यादि इनका नाम कारक-सूत्र है। तात्पर्य यह है कि क्रिया-काड के प्रतिपादक यावन्मात्र सूत्र है, उन सबकी कारक-सूत्रो मे गणना की जाती है।

(३) प्रकरण सूत्र—जिस सूत्र मे वर्णनीय विषय और प्रकरण के अनुरूप ही अध्ययन का नाम निर्दिष्ट किया गया हो, उसे प्रकरण सूत्र कहते है। यथा—नमिप्रव्रज्या अध्ययन, गौतमकेशीय अध्ययन,और आर्द्रक अध्ययन, इत्यादि सब प्रकरण-सूत्र के अन्तर्गत है। नमि-प्रव्रज्या अध्ययन मे -

---

१ आचाराङ्गसूत्र।

राजर्षि नमि का वर्णन है, अतः उसी के नाम से यह अध्ययन प्रसिद्ध है। गौतमकेशीय अध्ययन मे गौतम स्वामी और केशिकुमार के प्रश्नोत्तरों की चर्चा है, अतः यह अध्ययन गौतम-केशीय के नाम से विख्यात है और आर्द्रक अध्ययन में आर्द्रक कुमार की कथा वर्णित है, अतः यह अध्ययन भी उसी के नाम से ख्याति को प्राप्त हुआ है। तात्पर्य यह है कि जिस अध्ययन व उद्देश्य का नामकरण उसमे वर्णन किए गए विषय के अनुसार किया गया हो, उसे प्रकरण-सूत्र कहते हैं। यह उपरोक्त भेद-कथन निर्युक्तिकार ने किया है। इसके अतिरिक्त यहां पर इतना स्मरण अवश्य रहे कि सूत्रों के ये उक्त प्रकार के तीन भेद, वर्णनीय विषय को लेकर किये गये है, अर्थात् सूत्र-ग्रन्थों में जो-जो विषय वर्णित हुए हैं उनमें क्रियाकाड से सम्बन्ध रखने वाला कारक-सूत्र के नाम से अभिहित होगा और सज्ञा तथा प्रकरणानुसारी विषय को सज्ञा और प्रकरण सूत्र माना जाएगा। इसलिए एक ही सूत्र ग्रन्थ में उक्त प्रकार के तीनो ही लक्षण चरितार्थ हो जाते है। इस प्रकार सूत्रो के सज्ञा, कारक और प्रकरण ये तीन मुख्य भेद माने गए है। इनमे से प्रत्येक के उत्सर्ग, अपवाद, उत्सर्गापवाद और अपवादोत्सर्ग रूप से चार भेद और होते है। इनका भी संक्षेप से निर्युक्त्यनुसारी वर्णन नीचे दिया जाता है—

(१) **उत्सर्ग सूत्र**—जिसमें किसी प्रकार की क्रिया या विधि-विशेष का स्वतन्त्रता-पूर्वक सामान्य वर्णन हो उसे उत्सर्ग-सूत्र कहते है—**नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा आमे तालपलंबे अभिन्ने पडिग्गाहित्तए''** अर्थात् साधु और साध्वी को ताल वृक्ष के फल का निषेध किया गया है, अतः यह उत्सर्ग-सूत्र कहलाता है।

२. **अपवाद-सूत्र**—जिसमे उत्सर्ग—सामान्य विधि का बोध हो उसका नाम अपवाद है। यथा—''**कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा पक्के तालपलंबे भिन्ने अभिन्ने वा पडिग्गाहित्तए,**'' अर्थात् साधु और साध्वी को ताल वृक्ष का पका हुआ भिन्न वा अभिन्न फल ग्रहण करना कल्पता है। इसमे ताल वृक्ष के पके हुए भिन्न अथवा अभिन्न सभी प्रकार के फलों को साधु और साध्वी के लिए ग्राह्य बताया गया है, अतः पूर्वोक्त निषेध की सामान्य विधि का बाधक होने से अपवाद सज्ञा है।

(३) **उत्सर्गापवाद सूत्र**—जिसमे उत्सर्ग और अपवाद—सामान्य और विशेष दोनो विधियो का विधान हो, उसे उत्सर्गापवाद कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सामान्य रूप से निषेध किए गए किसी विशेष कार्य के लिए विधान कर देना उत्सर्गापवाद है। जैसे किसी भी साधु अथवा साध्वी को प्रथम प्रहर मे लाए हुए आहार-पानी को चौथे प्रहर तक रखने और ग्रहण करने का निषेध है, परन्तु किसी विशेष कारण (रोगादि विशेष) के उपस्थित हो जाने पर उसके रखने और ग्रहण करने का भी विधान है, अर्थात् वह रखा भी जा सकता है। इसी को उत्सर्गापवाद कहते है। निम्नलिखित सूत्र पाठ में इसी बात को दर्शाया गया है। यथा—

''नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा परियासियस्स आहारस्स जाव तयप्पमाणमित्तमवि भूतिपमाणमित्तमवि बिंदुप्पमाणमित्तमवि आहारमाहारित्तए, नन्नत्थ आगाढेसु रोगायंकेसु''।

अर्थात् साधु और साध्वी को प्रथम प्रहर में लाए हुए आहार-पानी मे से चतुर्थ प्रहर में एक ग्रास और बिन्दुमात्र भी ग्रहण करना नही कल्पता, परन्तु किसी रोगादि विशेष कारण के उपस्थित हो जाने पर वह ग्रहण भी कर सकता है। यहां पर सामान्य और विशेष दोनो विधियो का एक ही सूत्र मे वर्णन किया गया है। इसीलिए इनकी सज्ञा उत्सर्गापवाद है।

(४) **अपवादोत्सर्ग-सूत्र**—जिसमें अपवाद और उत्सर्गविधि—विशेष और सामान्य विधि का विधान हो, उसे अपवादोत्सर्ग कहते है। जैसे कि साधु-वृत्ति की द्वादश प्रतिमाएं हैं। सामान्य साधु-वृत्ति की अपेक्षा उनके नियम कुछ कठिन है। वे नियम सब साधुओं के लिए कथन नहीं किए गए, किन्तु जिन आत्माओं ने उन नियमो को धारण किया है, उन्ही से वे सम्बन्ध रखते है। उन नियमों का यथाविधि पालन करने के अनन्तर फिर सामान्य वृत्ति में आ जाना, इसी का नाम अपवादोत्सर्ग है, स्कन्धादिक मुनि की भांति। यदि संक्षेप से कहें तो विशेष से सामान्य में प्रवेश करना अपवादोत्सर्ग कहलाता है।

शंका—उपरोक्त वर्णन से अपवादोत्सर्ग का स्वरूप तो ध्यान मे आ जाता है, जैसे कि प्रतिमा का धारण न करना अपवाद है और सामान्य साधु-वृत्ति[1] का यथा विधि पालन करना उत्सर्ग है। एवं साधु की द्वादश प्रतिमाओं में से अमुक प्रतिमा का वहन करके फिर सामान्य साधु वृत्ति मे प्रवेश करना अपवादोत्सर्ग है, परन्तु इस प्रकार से तो वह साधु शिथिल कहलायेगा। कारण कि उसने प्रथम उच्च वृत्ति को ग्रहण करके फिर सामान्य वृत्ति मे प्रवेश कर लिया है। ऐसी दशा मे तो उसे शिथिल ही कहना होगा ?

समाधान—पूर्वोक्त शका का समाधान यह है कि सामान्य वृत्ति तो सबके लिए प्रतिपादन की गई है। यदि उस वृत्ति मे कोई न्यूनता करे, तब तो उसे शिथिल कहा जा सकता है और यदि कोई सामान्य वृत्ति का यथावत् पालन करता हुआ कुछ समय के लिए और आगे बढ़कर फिर उसी सामान्य वृत्ति मे आ जाता है, तो उसको शिथिल नहीं कहा जा सकता। जैसे—कोई पुरुष किसी दूर स्थित नगर में पहुचने की इच्छा से उसकी ओर भागता हुआ चला जाता है, परन्तु अधिक भागने से जब वह मार्ग मे थक जाता है तो फिर द्रुत गति को त्याग कर वह अपनी स्वभाव-सिद्ध मूल गति में होकर चलने लगता है। तात्पर्य यह है कि यदि वह भागता ही चला जाए तो उसका जीवित रहना कठिन हो जायेगा और यदि मार्ग मे ही बैठ जाए तब उसको अभीष्ट स्थान की प्राप्ति नही हो सकती, इसलिए वह शीघ्र गति—अत्यन्त भागने को छोड़कर और बैठने को भी त्याग कर अपनी स्वभाव-सिद्ध मूल गति से चलता हुआ कुछ समय के बाद अपने गन्तव्य स्थान को प्राप्त कर लेता है। ठीक इसी प्रकार जो आत्मा अपवाद-मार्ग मे आरूढ़ होकर फिर उत्सर्ग-मार्ग मे आ जाते है, वे "धावति" क्रिया—द्रुतगति को छोड़कर "गच्छति" क्रिया—सामान्य गति में प्रविष्ट होते है। 'धावति' का अर्थ

---

१ सामान्य साधुवृत्ति—पाच व्रत, पचविध आचार, पाच समिति, तीन गुप्ति और दशविध श्रमण-धर्म का पालन करना।

है भागना और 'गच्छति' का अर्थ है चलना। अतः जैसे अत्यन्त भागने से भविष्य मे होने वाली हानि का विचार करने वाला पुरुष उसका त्याग करके अपनी स्वाभाविक गति की ओर आता हुआ मूर्ख कहलाने की अपेक्षा बुद्धिमान् कहलाता है, उसी प्रकार कुछ समय तक अपवाद मार्ग में आने वाला साधु भी शिथिलता के स्थान में अपनी बहुज्ञता का परिचय देता है। इसलिए अपवाद से उत्सर्ग में आना शिथिलता नही, किन्तु अपने लक्ष्य को निर्विघ्नता-पूर्वक प्राप्त करने के लिए एक प्रकार की सुविधा का सम्पादन करना है, तथा जैसे भागने से थका हुआ पुरुष कुछ समय के लिए धीरे-धीरे चलने लगता है और श्रम दूर हो जाने के बाद फिर भागना आरम्भ कर देता है, इसी प्रकार कभी भागते और कभी चलते हुए वह अपने गन्तव्य स्थान को प्राप्त कर लेता है, इसी भांति संयमशील साधु भी कभी उत्सर्ग से अपवाद और कभी अपवाद से उत्सर्ग, इस प्रकार यथा-शक्ति दोनों मार्गों का अनुसरण करता हुआ अपने गन्तव्य—मोक्ष-स्थान को प्राप्त कर लेता है। इसलिए अपवाद से उत्सर्ग और उत्सर्ग से अपवाद मार्ग मे आने-जाने से सयमशील मुनि को कोई क्षति नहीं पहुंचती। ये दोनो ही मार्ग सापेक्ष अथच समान है। इनमे से किसी एक को न्यून या अधिक कहना अनेकान्तवाद की परिधि से बाहर है। अनेकान्तवाद की विस्तृत राजधानी के ये दोनों ही राजमार्ग है। इसलिए शास्त्रकारो ने इन दोनो को समान कक्ष मे स्थान दिया है। साधु के लिए एक तरफ यदि सचित्त उदक के स्पर्श करने का निषेध है तो दूसरी तरफ विधि पूर्वक नदी पार करने की भी आज्ञा है। इसके अतिरिक्त सूत्रो के और भी कई एक अवान्तर भेद है। विस्तार भय से उन सब का यहां पर उल्लेख नही किया गया।

पठन-विधि

ऊपर जो सूत्रो के भेदो का वर्णन किया गया है, वह स्वाध्याय-प्रेमियो के लिए परम आवश्यक है। एक जिज्ञासु पुरुष को सूत्र और उसके अर्थ को भली-भांति समझने के लिए सूत्रों के अध्ययन का शास्त्र-विहित सारी विधि का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए तथा उपयोग-पूर्वक सूत्र-स्वाध्याय करने के साथ-साथ सूत्र-व्याख्या के प्रकारो को भी जान लेना परम आवश्यक है।

शास्त्रकारो ने सूत्र-व्याख्या के निम्नलिखित छ· प्रकार बताए है—१. संहिता, २. पद, ३. पदार्थ, ४ पद-विग्रह, ५. चालना और ६. प्रत्यवस्थान।

(१) पदों के अस्खलित उच्चारण को सहिता कहते है, (२) नाम, आख्यात्, निपात, उपसर्ग और मिश्रित इनकी पद संज्ञा है। तात्पर्य यह है कि सुबन्त और तिडन्त को पद कहते है, (३) पद के अर्थ को पदार्थ कहते है, (४) अर्थ करते समय समस्त पदों का छेद—विभाग करना विग्रह कहलाता है, (५) शका के उद्‌भावन को चालना कहते है, (६) सयुक्ति समाधान का नाम प्रत्यवस्थान है। इसके अतिरिक्त अनुयोगद्वार सूत्र में १. उपक्रम, २. निक्षेप, ३. अनुगम और ४. नय, ये चार और भी व्याख्या करने के प्रकार बताये गए है। इनका विवरण देखने की इच्छा रखने वाले मेरी लिखी हुई अनुयोगद्वार की ''ज्ञान-प्रबोधिनी'' भाषा व्याख्या को देखें। तथा सूत्रगत पदो की अर्थावगति के लिए

प्रत्येक पद की निरुक्ति का बोध भी नितान्त अपेक्षित है। कारण कि निरुक्ति के द्वारा जो अर्थ उपलब्ध होता है, वह प्रायः असंदिग्ध अथच स्पष्ट होता है। निरुक्ति और निर्युक्ति ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जैनागमो में निर्युक्त्यनुगम और सूत्रानुगम वर्णन में निर्युक्त्यनुगम के—निक्षेप-निर्युक्ति, उपोद्घात-निर्युक्ति और सूत्रस्पर्शी-निर्युक्ति, इस प्रकार तीन भेद वर्णन किए गए है। उपोद्घात निर्युक्ति के द्वारा सूत्रगत अध्ययनों और गाथाओं की उत्पत्ति का बोध होता है। सूत्रस्पर्शी निर्युक्ति से सूत्र के अवयवार्थ का ज्ञान होता है, नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—इन चार निक्षेपों के द्वारा सूत्रार्थ के व्याख्यान को निक्षेप-निर्युक्ति कहते है। इनका विशेष वर्णन अनुयोगद्वार सूत्र से जान लेना चाहिए।

इसके अतिरिक्त, अध्ययन-विधि मे सूत्रगत मूलपाठ का उच्चारण भी शुद्ध और बोध-पूर्वक होना चाहिए। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीनों की घोषसज्ञा है। तात्पर्य यह है कि जिस सूत्र में जो स्वर हो, उसको उसी स्वर से उच्चारण करना घोष-पूर्वक उच्चारण करना कहलाता है। इसी विधि से किया गया सूत्रपाठ शुद्ध कहलाता है।

इस प्रकार उपरोक्त रीति से विधि-पूर्वक किया हुआ श्रुत का अध्ययन ही सफल अर्थात् अभीष्ट फल के देने वाला है, परन्तु वह भी उपयोग-पूर्वक ही होना चाहिए, अन्यथा उपयोगशून्य अध्ययन केवल द्रव्याध्ययन ही है, जो कि आत्मशुद्धि के लिए पर्याप्त नहीं। इसलिए सूत्रो के पाठ और अर्थो का उपरोक्त विधि के अनुसार उपयोग-पूर्वक मनन और चिन्तन करने की ओर सदाचारी जिज्ञासुओं को अवश्य ध्यान देना चाहिए, जिससे कि श्रुतज्ञान के दिव्य प्रकाश द्वारा उनका आत्मगत अन्धकार शीघ्र ही नष्ट हो सके।

उत्तराध्ययन और धम्मपद

शास्त्रकार ने श्रुतज्ञान को सबसे अधिक और सबका उपकारी माना है। इसका दिव्य प्रकाश अन्तर और बाह्य दोनो प्रकार के जगत् को आलोकित कर देता है। श्रुतज्ञान की पुनीत जलधारा आत्मगत कर्म-मल को धो डालने के लिए अपने मे पर्याप्त सामर्थ्य रखती है। जिस आत्मा ने इस पुण्य स्रोत मे एक बार श्रद्धा-पूर्वक गोता लगाकर अपने आत्मगत कर्म-मल को धो डालने का प्रयत्न किया, निस्सन्देह वह कृत-कृत्य हो गया। इसलिए श्रुतज्ञान की महिमा अपार है। शास्त्रकारो ने श्रुतज्ञान के अंग-प्रविष्ट और अग-बाह्य इस प्रकार दो भेद किये है।[1] उनमे अग-बाह्य श्रुत के भेदो मे सबसे प्रथम नाम उत्तराध्ययन का आया है। दूसरे धर्म-कथानुयोग का प्रतिपादक होने से इसमें धर्म-सम्बन्धी सभी विषयो का बड़ी उत्तमता से वर्णन किया गया है। आचार, नीति और धर्म-सम्बन्धी विषयों के

1 सुयनाणे दुविहे पण्णत्ते, त जहा—अगपविट्ठे चेव अंगबाहिरे चेव। (स्थानाग सू० स्था० २, १ उ०, १ सू० ७१) तथा नन्दीसूत्र मे अगबाह्य के आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त, ऐसे दो भेद करके आवश्यक व्यतिरिक्त के भी उत्कालिक और कालिक ये दो भेद किए गए है। उनमे कालिक सूत्रो की गणना करते हुए उत्तराध्ययन का निर्देश सबसे पहले किया गया है। यथा—''कालिय अणेगविह पण्णत्त, त जहा—उत्तरज्झयणाइ'' इत्यादि।

प्रतिपादन की जो पद्धति इसमें दृष्टिगोचर होती है, उसका अन्यत्र प्राप्त होना दुर्लभ है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से अन्धकार भाग जाता है, उसी प्रकार इस सूत्र में प्रतिपादित शिक्षाओं के बोध से आत्मगत अज्ञानान्धकार भी शीघ्र ही दूर हो जाता है। इससे अधिक इसका और क्या महत्व हो सकता है कि इसमें प्रतिपादन किए गए विषयों को जैन-धर्म के प्रतिस्पर्द्धी बौद्ध-धर्म ने भी अपने धार्मिक ग्रन्थों में आदरणीय स्थान दिया है। उदाहरणार्थ धम्मपद को लीजिए। यह बौद्ध-धर्म का सर्वमान्य धर्म-ग्रन्थ है। इसमें उत्तराध्ययन की बहुत-सी गाथाएं तो कुछ शब्द-परिवर्तन के साथ ज्यों की त्यों ग्रहण कर ली गई हैं और अनेक स्थलों में केवल नाम मात्र का परिवर्तन किया गया है, परन्तु विषय सम्बन्धी चर्चा वही है। अधिक क्या कहे, यदि विचार-दृष्टि से देखा जाए तो धम्मपद की दृष्टि का मूल स्रोत उत्तराध्ययन ही प्रतीत होता है। उसमें स्थान-स्थान पर उत्तराध्ययन की छाया के दर्शन होते हैं। पाठक-गण नीचे दिए गए उत्तराध्ययन और धम्मपद के कतिपय उद्धरणों से इस बात की जांच करे—

(१) **मासे मासे उ जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए।**
न सो सुअक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं॥

(उत्तराध्ययन सू० अ० ६, गा० ४४)

(१) मासे मासे कुसग्गेन, बालो भुंजेथ भोजनं।
न सो सखतधम्मान, कलं अग्घति सोलसिं॥

(धम्मपद बालवग्ग ५, गा० ११)

(२) **जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।**
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥

(उत्तराध्ययन सू० अ० ६, गा० ३४)

(२) यो सहस्स सहस्सेन, सगामे मानुसे जिने।
एक च जेय्यमत्तानं, स वै सगामजुत्तमो॥

(धम्मपद सहस्सवग्गो, गा० ४)

(३) **जहा पउमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।**
एवं अलित्तो कामेहिं, तं वयं बूम माहणं॥

(उत्त० सू० अ० २५, गा० २७)

(३) वारि पोक्खरपत्तेव, आरग्गोरिव सासपो।
यो न लिम्पति कामेसु,तमह ब्रूमि ब्राह्मणं॥

(धम्मपद ब्राह्मण वग्ग, गा० १६)

(४) जहित्ता पुव्वसंजोगं, नातिसंगे य बंधवे ।
जो न सज्जइ एएसु, तं वयं बूम माहणं ॥

(उत्त० सू०, अ० २५, गा० २६)

(४) सव्व संयोजनं छेत्वा, यो वे न परितस्सति ।
संगातिगं विस भुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

(धम्मपद ब्राह्मण वग्ग, गा० २५)

(५) एए पाउकरे बुद्धे, जेहिं होई सिणायओ ।
सव्व-कम्म-विणिम्मुक्कं, तं वयं बूम माहणं ॥

(उत्त० सू०, अ० २५, गा० ३४)

(५) उसभं पवरं वीर, महेसिं विजिताविनं ।
अनेज नहातक बुद्ध, तमह ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

(धम्मपद वग्ग २६, गा० ४०)

(६) अक्कोसिज्ज परो भिक्खुं, न तेसिं पडिसंजले ।
सरिसो होइ बालाणं, तम्हा भिक्खू न संजले ॥

(उत्त० सू०, अ० २, गा० २४)

सोच्चाणं फरुसा भासा, दारुणा गामकंटया ।
तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसीकरे ॥

(उत्त० सू०, अ० २, गा० २५)

हओ न संजले भिक्खू, मणंपि न पओसए ।
तितिक्खं परमं नच्चा, भिक्खु धम्मं विचितए ॥

(उत्त० सू०, अ० २, गा० २६)

समणं संजयं दंतं, हणेज्जा को वि कत्थइ ।
नत्थि जीवस्स नासोत्ति, एव पेहेज्ज संजए ॥

(उत्त० सू०, अ० २, गा० २७)

(६) पठवीसमो नो विरुज्झति, इन्दखीलूपमो तादि सुव्वतो ।
रहदोऽव अपेतकद्दमो, संसारा न भवति तादिनो ॥

(धम्मपद अरिहंत व० ७, गा० ६)

खति परम तपो तितिक्खा, निव्वाणं परम वदति बुद्धा ।
नहि पब्बजितो परूपघाती, समणो होति पर विहेठयतो ॥

(धम्मपद बुद्ध व० १४, गा० ६)

सुत्वा रुसितो बहुं, वाचं समणाणं पुथु वचनानं ।
करुसेन न परिवज्जा, नहि संतो परिसेनि करोति ॥

(सुत्तनिपात ६३२)

न ब्राह्मणस्स पहरेय्यं, नास्स मुञ्चेथ ब्राह्मणो ।
धि ब्राह्मणस्स हंतारं, ततो धि यस्स मुंचति ॥

(धम्मपद ब्राह्म० व० २६, गा० ७)

इस प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र की अनेक गाथाएं धम्मपद में संग्रहीत हुई हैं। इसमें कतिपय तो शब्द रूप से ग्रहण की गई हैं और कई एक का अर्थ रूप में संग्रह किया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य बौद्ध ग्रन्थों में भी जैन साहित्य प्रतिबिंबित हुआ देखा जाता है। बुद्ध के अन्य जातकों में बहुत सी कथाए ऐसी उपलब्ध होती हैं जिनका संग्रह जैन सूत्रों से किया गया है। उदाहरणार्थ— चित्तसम्भूत जातक में उत्तराध्ययन सूत्र के १३वें अध्ययन का विषय संग्रहीत हुआ है। अंगुत्तरिका नाम के बुद्धजातक में आये हुए एक गद्य पाठ की भी उत्तराध्ययन-सूत्र के निम्नलिखित गद्य पाठ से पाठक तुलना करें।

(१) नो निग्गंथे इत्थीणं कुड्डंतरंसि वा दूसंतरंसि वा भित्तंतरंसि वा कूइअसद्दं वा रुइअसद्दं वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कंदिअसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणित्ता हवइ से निग्गंथे। त कहमिति चे ? आयरिय आह—निग्गंथस्स खलु इत्थीणं कुड्डंतरंसि वा जाव विलवियसद्दं वा सुणेमाणस्स बभयारिस्स बंभचेरे सका वा जाव केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसिज्जा, तम्हा खलु निग्गंथे नो इत्थीणं कुड्डंतरंसि जाव सुणेमाणे विहरेज्जा। (उत्तराध्ययन सूत्र, अ० १६)

(१) अपि च खो मातुगामस्स सद्द सुणाति तिरो कुड्डा वा तिरो परकारा वा हसंतिया वा भणंतिया वा गायंतिया वा रोदंतिया वा सो तदस्साहेति तन्निकामेति तेन च वित्तिं आपज्जति इदंपि खो ब्रह्मचारिस्स खण्डंपि छिद्दंपि वा सबलंपि कम्मासपि अयं वुच्चति ब्रह्मणो अपरिसुद्धं ब्रह्मचारियं चरति संतुत्तो मैथुनेन संयोगेन न परिमुच्चति जातिया जरामरणेन सो केहि परिदेवेहि दुक्खेहि.........न परिमुच्चति दुक्खस्मादिति वदामी। (अंगु० ७ वग्ग ५)

उत्तराध्ययन का माहात्म्य

उक्त लेखों से उत्तराध्ययन सूत्र की उपयोगिता को तो पाठक अब अच्छी तरह से समझ ही गए होंगे तथा बौद्ध ग्रन्थो में उसका उपयोग कहां तक हुआ है, इस बात का भी उन्हें उपर्युक्त पाठो में भली-भांति परिचय मिल चुका होगा।

अब पाठकों को निम्नलिखित निर्युक्ति गाथाओं के द्वारा इस ग्रन्थ के माहात्म्य का परिचय दिया जाता है। उत्तराध्ययन के महत्व को सूचित करने वाली तीन गाथाओं का निर्युक्तिकार ने उल्लेख किया है। यथा :—

जे किर भवसिद्धीया, परित्त-संसारिआ य भविआ य।
ते किर पढंति धीरा, छत्तीसं उत्तरज्झयणे ॥ १ ॥
जे हुंति अभवसिद्धीया, गंथिअ-सत्ता अणंतसंसारा।
ते संकिलिट्‌ठ-कम्मा, अभविय उत्तरज्झाए ॥ २ ॥
तम्हा जिणपन्नत्ते अणंतगमपज्जवेहि संजुत्ते।
अज्झाए जहा जोगं, गुरुपसाया अहिज्जिज्जा ॥ ३ ॥

व्याख्या—ये इत्यनिर्दिष्टनिर्देशे किल इति सम्भावने भवसिद्धिकाः भव्याः परीतः—प्राग्वत् परिमितः स चासौ संसारश्च तद्वन्तः परीत्तसांसारिकाः (अत इनिठनौ' (पा० ५/२/११५) इति मत्वर्थीयष्ठन्। कोऽर्थः ? तथा भव्यत्वाक्षिप्तप्रत्यासन्नीभूतमुक्तयः भव्याः सम्यग्दर्शनादिगुणयोग्याः भिन्नग्रन्थयः इति योऽर्थः उभयत्र च समुच्चये इति व्यवच्छेदफलत्वाद वा वाक्यस्य, त एव किल परोक्षाप्तसूचकः पठंति—अधीयते, धीराः प्राग्वत् कानि ? इत्याह 'छत्तीसं ति' षट्त्रिंशत् 'उत्तराध्ययनानि' विनयश्रुतादीनि। भवसिद्धिकादीनामेतत् पाठफलस्य सम्यग्-ज्ञानादेः सद्भावेन निश्चयतरतत्पाटसंभवः, अन्येषां व्यवहारतः एवेत्येवमभिधानम्। उक्तमेवार्थं विनेयानुग्रहाय व्यतिरेक्तः आह—ये भवन्ति अभवसिद्धयः—अभव्याः प्राग्वत् वचनव्यत्ययः, ग्रन्थि-उक्तरूपस्तदयोगात् ग्रन्थयस्त एव ग्रन्थिकास्ते च ते सत्त्वाश्च ग्रन्थिकसत्त्वाः, अभिन्नग्रन्थय इत्यर्थः। तथा अनन्तः—अपर्यवसितः संसार एषामित्यनन्तसंसारा ये न कदाचिन्मुक्ति सुखमवाप्स्यंति अभव्याः "भव्वावि ते अणंते" इत्यादिवचनतो भव्या वा ते संक्लिष्टानि - अशुभानि कर्माणि-ज्ञानावरणीयादीनि एषामिति संक्लिष्टकर्माण - इत्याह 'अभविय' त्ति सूत्रत्वात् अभव्याः अयोग्याः 'उत्तरज्झाय' त्ति वचनव्यत्ययादुत्तराध्यायेषु उत्तराध्यायविषये अध्ययन इति गम्यते। यद्वा—'उत्तर' त्ति प्राग्वत्, पदैकदेशेपि पददर्शनादुत्तराध्ययनानि तेषामध्यायः पाठः उत्तराध्यायरतस्मिन्, तदनेन विशिष्टयोग्यतायामेव तात्त्विकैतदध्ययनसद्भावलक्षणं माहात्म्यमुक्तमिति गाथाद्वयार्थः।

यतश्चैवमिति माहात्म्यवन्त एवम् उत्तराध्यायास्ततो यद्विधेयं तदाह—तस्माज्जिनैः श्रुतजिनादिभिः प्ररूपिताः प्रज्ञप्तास्तान् अनन्ताश्च ते गमाश्च अर्थपरिच्छित्तिप्रकाराः, पर्यवाश्च शब्दपर्यवार्थपर्यवरूपाः, अनन्तगमपर्यवास्तैः, समिति-सम्यग् भृशं वा युक्ताः, संयुक्तास्तान् अध्यायान् प्रक्रमादुत्तराध्यायान् 'जहा जोगं'ति, योग-उपधानादिरुचितव्यापारस्तदनतिक्रमेण यथायोगं गुरुणां प्रसादः—चित्तप्रसन्नता गुरुप्रसादस्तस्माद्धेतोः, अधीयीत नत्वेतदध्ययनयोग्यतावाप्तौ प्रमादं कुर्यादिति भावः। गुरुप्रसादादिति चाभिधानमध्ययनार्थिनाऽवश्यं गुरवः प्रसादनीयाः तदधीनत्वात्तस्येति ख्यापनार्थमिति गाथार्थः।

भावार्थ—जो भवसिद्धिक जीव है और मुक्ति-गमन के आसन्नभूत हो रहे है तथा जिनका ससार- पर्यटन बहुत अल्प रह गया है, वे ही भव्यात्मा उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनों को भाव-पूर्वक

पढ़ते हैं तथा जो अभव-सिद्धिक ग्रन्थिक-सत्त्व (जिनका ग्रन्थिभेद नहीं हुआ) और अनन्त-संसारी जीव हैं वे अत्यन्त क्लिष्ट अशुभ कर्मों के कारण उत्तराध्ययन सूत्र का अध्ययन करने के अयोग्य हैं। इसलिए जिनेन्द्र देव के कथन किए गए शब्द और अर्थ के अनन्त पर्याय वाले इस उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययनों को यथाविधि उपधानादि तप के द्वारा गुरुजनों की प्रसन्नता से पढ़े, इत्यादि।

प्रथम गाथा में अन्वय और दूसरी गाथा में व्यतिरेक से उत्तराध्ययन के माहात्म्य का वर्णन है, तथा च जिनका संसार-भ्रमण बहुत अल्प रह गया है और मोक्ष-प्राप्ति का समय जिनके नजदीक है, ऐसे भव्यात्माओं को ही इन अध्ययनों को भाव-पूर्वक पढ़ने का अवसर प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि ग्रन्थिभेद के अनन्तर जिनको सम्यक्त्व की प्राप्ति हो चुकी है, ऐसे भव्यात्मा जीव ही इसके अध्ययन से मुक्ति का लाभ प्राप्त करते है और शेष आत्माओं का अध्ययन तो केवल व्यवहार मात्र है। उनको इसके अध्ययन का मोक्षरूप फल प्राप्त नही होता तथा जो अनन्त-संसारी अभव्य आत्मा हैं, अर्थात् जिनका ग्रन्थिभेद नहीं हुआ, उनको इसका भाव-पूर्वक अध्ययन प्राप्त नहीं होता एवं जो अत्यन्त क्लिष्ट कर्म युक्त दीर्घसंसारी भव्यात्मा हैं वे भी भाव-पूर्वक इसके अध्ययन के अयोग्य है। तात्पर्य यह है कि जो अल्पसंसारी भव्यात्मा हैं उन्हीं के हृदय मे इसके पढ़ने की रुचि उत्पन्न होती है और जो अनन्त-संसारी अभव्य तथा दीर्घ-संसारी भव्य जीव हैं, उनको इसका अध्ययन भाव से प्राप्त नही होता। यदि वे पढ़ते भी है तो उनका पठन केवल व्यवहार मात्र ही है, उससे इच्छित लाभ नहीं होता। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से उत्तराध्ययन के पाठ का महत्व बताने के साथ-साथ निर्युक्तिकार ने भव्य और अभव्य जीवों का लक्षण भी बता दिया है।

तीसरी गाथा मे इसको जिनेन्द्र-भाषित कहा तथा शब्द और अर्थ के अनन्त पर्यायो से युक्त बताया और पूर्ण विनय से गुरुजनों के समीप बैठकर विधि-पूर्वक अध्ययन करने का आदेश दिया गया है, जिससे प्रस्तुत सूत्र की महिमा अनायास ही व्यक्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि श्रुत का अध्ययन गुरुमुख से ही करना चाहिए तथा भक्ति और विनयादि से गुरुजनो को सदा प्रसन्न रखना चाहिए।

इस प्रकार निर्युक्ति की उक्त तीन गाथाओं को उद्धृत करके बृहद्वृत्तिकार ने उनकी उपर्युक्त व्याख्या की है, परन्तु सूत्र की दीपिका टीका में निम्नलिखित अन्य दो गाथाएं और भी उपलब्ध होती है। यथा—

जोगविहीए वहिया एए, जो लहइ सुत्तमत्थं वा।
भासेइ भवियजणो, सो पावेइ निज्जरा बहुला ॥ १ ॥
जस्साढत्ता एए, कहवि समप्पंति विग्घरहियस्स।
सो लक्खिज्जइ भव्वो, पुव्वरिसी एवं भासंति ॥ २ ॥

दीपिका—स भव्यजनो विपुलां निर्जरां प्राप्नोति। सः कः—यो योगविधिं वाहयित्वा योगोपधान-

तपोऽनुष्ठानविधिं कृत्वा एतान् उत्तराध्यायान् सूत्रार्थतो लभेत्, पश्चात् गुरुमुखात् सूत्रार्थं लब्ध्वापरं भाषेत स क्षीणकर्मा भवतीत्यर्थ ॥ १ ॥

स मनुष्यो भव्यो मुक्तिगामी इति लक्ष्यते। पूर्वर्षयः पूर्वाचार्या एवं भाषन्ते। स इति कः—यस्य पुरुषस्य विघ्नरहितस्य निर्विघ्नस्य सतः कथमपि यत्नेनापि एते उत्तराध्यायाः आढत्ता पठनाय आरब्धाः सन्तः समाप्यन्ते सम्पूर्णा भवन्ति, स भव्यो भाग्यवान् ज्ञेय इत्यर्थः। भाग्यवतः पुरुषस्यैव निर्विघ्नम् एते अध्यायाः सम्पूर्णा भवन्ति। यतः "श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि" इत्युक्तेः ॥ २ ॥

भावार्थ—वह भव्य जन बहुत से कर्मो की निर्जरा कर देता है जो उपधान-तपोऽनुष्ठान द्वारा विधि-पूर्वक उत्तराध्ययन के सूत्र ओर उसके अर्थ को प्राप्त करता है। इतना ही नहीं, किन्तु गुरुमुख से सूत्र और अर्थ को प्राप्त करके उसका अन्य जीवो के कल्याणार्थ उपदेश करता है, वह क्षीण कर्म वाला होता है ॥ १ ॥

पूर्वाचार्य कहते है कि जिन आत्माओं का आरम्भ किया हुआ उत्तराध्ययन निर्विघ्नता से समाप्त हो जाता है वे आत्माए भव्य अर्थात मोक्षगामी है। कारण कि शुभ कार्य में अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित हो जाते है। इन दोनो गाथाओं मे उत्तराध्ययन की फलश्रुति का वर्णन किया गया है। इसके अध्ययन और उपदेश का फल कर्मो की निर्जरा है, अर्थात् विधि-पूर्वक गुरुमुख से पढ़ने तथा पढ़कर उसका उपदेश करने से पूर्व-सचित कर्मो का क्षय हो जाता है। इसलिए दूसरी गाथा में इनकी निर्विघ्न समाप्ति को पुरुष का अहोभाग्य बताया गया है। अत उत्तराध्ययन का विधि-पूर्वक पठन-पाठन साक्षात् वा परम्परया मोक्ष का निदान है, यह बात उपरोक्त कथन से भली-भाति प्रमाणित हो जाती है।

श्रुत (प्रवचन) प्रभावना

शास्त्रकारों ने जीवन के भा[illegible] कल्याणार्थ दस साधन बताए है, उनमे से एक साधन प्रवचन-प्रभावना भी है। यथा—

दसहिं ठाणेहिं जीवा आगमेसिं भद्दत्ताए कम्मं पगरेंति। तं जहा—

(१) अणिदाणताते, (२) दिट्ठिसंपन्नताते, (३) जोगवाहियत्ताते, (४) खंतिखमणताते, (५) जितिंदियताते, (६) अमाइल्लताते, (७) अपासत्थताते, (८) सुसामण्णताते, (९) पवयणवच्छलताते (१०) पवयण-उब्भावणताते।

भावार्थ—निम्नलिखित दस स्थानो से यह जीव भविष्यत्-काल में कल्याणप्रद कर्मो का बन्ध करता है। यथा—

(१) अणिदाणताते (अनिदानतया)—अनिदानता से, निदान कर्म—सकाम कर्म के त्याग से जिनके द्वारा आनन्द रसोपेत मोक्ष फल के देने वाली ज्ञानादि की आराधना रूप लता लौकिक अभ्युदय

की इच्छा रूप कुल्हाड़ी से काट दी जाए, उसका नाम निदान है। तद्भिन्न अर्थात् जिस कर्म में ऐहिक अभ्युदय की वासना न हो उसे अनिदान कहते हैं। तात्पर्य यह कि निदान-रहित क्रियानुष्ठान से यह जीव भविष्यत् काल में कल्याण रूप कर्मों का उपार्जन करता है।

(२) दिट्ठिसंपन्नताते (दृष्टिसम्पन्नतया)—सम्यग्दृष्टि का सम्पादन करने से।

(३) जोगवाहियत्ताते[1] (योगवाहितया)—श्रुतोपधान तप से अथवा समाधि से सर्वत्र उत्सुकता के परित्याग से।

(४) खंतिखमणताते (क्षान्त्या)—क्षमा करने से।

(५) जितिंदियताते (जितेन्द्रियतया)—इन्द्रियों के निग्रह से।

(६) अमाइल्लताते (अमायिकतया—निष्कपटतया)—छल का परित्याग करने से।

(७) अपासत्थताते (अपार्श्वस्थतया)—ज्ञान, दर्शन और चारित्र की पूर्णतया शुद्धि करने से।

(८) सुसामण्णताते (सुश्रामण्यभावतया)—शुद्ध संयम के पालन से।

(९) पवयणवच्छलताते (प्रवचनवत्सलतया)—द्वादशांग अथवा श्रीसंघ की वत्सलता करने से।

(१०) पवयणउब्भावणया (प्रवचनोद्भावनया))—धर्मोपदेशादि के द्वारा प्रवचन की प्रभावना करने से आगामी जन्मो में यह जीव भद्र-कर्मो का उपार्जन करता है।

अत आगामी काल मे सुलभबोधि और कल्याणप्रद कर्मो की उपार्जना के लिए श्रुत रूप प्रवचन की अवश्य प्रभावना करनी चाहिए, परन्तु श्रुत की प्रभावना करने की योग्यता तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि विधि-पूर्वक श्रुत का अध्ययन न किया जाए। इसलिए विधि-पूर्वक श्रुत का अध्ययन करना मुमुक्षु जनो का सबसे पहला कर्त्तव्य है।

प्रस्तुत टीका लिखने का प्रयोजन

यद्यपि प्रस्तुत सूत्र की छोटी-बड़ी टीकाएं तथा गुजराती और इंगलिश आदि भाषाओं में बहुत से अनुवाद मुद्रित हो चुके है, परन्तु हिन्दी भाषा-भाषी पाठकों के लिए हिन्दी भाषा मे एक ऐसी टीका की बड़ी आवश्यकता थी कि जिसमें मूल, छाया, पदार्थान्वय, मूलार्थ और विस्तृत विवेचन हो। विक्रम सम्वत् १९७१ में जब मै अनुयोगद्वार सूत्र की हिन्दी भाषा में व्याख्या कर रहा था, उस समय मेरे स्वर्गीय शिष्य मुनि ज्ञानचन्द्र ने मुझसे प्रस्तुत सूत्र की हिन्दी में व्याख्या करने के लिए विनय-पूर्वक बहुत आग्रह किया। अतएव मुनि ज्ञानचन्द्र की तीव्र प्रेरणा से और जिन-प्रवचन में उत्तराध्ययन सूत्र को अधिक शिक्षा-प्रद समझकर हिन्दी भाषा-भाषी पाठकों को इसका लाभ मिल सके, इस उद्देश्य से मैने इस कार्य का आरम्भ कर दिया, परन्तु "श्रेयासि बहुविघ्नानि" इस सूक्ति के अनुसार कई एक

---

१ योगवाहित्तया—श्रुतोपधानकारितया योगेन वा समाधिना सर्वत्रानुत्सुकत्वेन क्षणेन वहतीत्येवंशीलो योगवाही तद्भावस्तत्ता तया।

कारणों से तथा मुनि ज्ञानचन्द्र के रोगग्रस्त हो जाने से उस समय मैं इस कार्य को प्रारम्भ न कर सका। वि०सं० १९७२ में मुनि ज्ञानचन्द का तो बरनाला मंडी में स्वर्गवास हो गया। मैंने अनुयोग द्वार सूत्र का भाषान्तर सम्पूर्ण करने के बाद, फिर इस कार्य को हाथ में लेने का विचार किया, परन्तु इतने में इन्दौर निवासी सेठ केसरीचन्द जी भण्डारी की ओर से अर्द्धमागधीकोष के लिए श्री भगवती—व्याख्या-प्रज्ञप्ति, ज्ञाता-धर्म-कथाङ्ग, दशवैकालिक आदि सूत्रो में से शब्दों के संग्रहार्थ एक विज्ञप्ति मिली और उनकी ओर से कान्फ्रैंस प्रकाशन के कार्य-कर्त्ता लाला दुर्गाप्रसाद जी भी आए। उक्त कार्य को भी आवश्यक और उपयोगी समझते हुए उनकी विज्ञप्ति के अनुसार प्रथम अर्धमागधी-कोष के कार्य का आरम्भ किया गया जो कि कुछ समय के बाद सम्पूर्ण हो गया। अर्द्धमागधीकोष के लिए पर्याप्त शब्दो का संग्रह कार्य समाप्त करने के बाद मुनि ज्ञानचन्द्र की ओर से हुई प्रेरणा का ध्यान आने से फिर इस कार्य का आरम्भ किया गया, अर्थात् उत्तराध्ययन-सूत्र की हिन्दी भाषा में व्याख्या लिखनी आरम्भ कर दी। परन्तु प्राकृत भाषा से अधिक परिचय न रखने वाले सस्कृतज्ञ विद्वानों को भी इसके पदार्थो का यथेष्ट परिचय मिल सके, एतदर्थ प्राकृत मूलपाठ के साथ उसकी सस्कृत छाया भी दे दी गई है। यहा पर इतना स्मरण रहे कि मूल प्राकृत पाठ की सस्कृत छाया मे जहां कहीं पर भी पाठकों को छन्दोभङ्ग प्रतीत हो, वहां पर वे इस बात का भी ध्यान रखे कि प्राकृत पद्य के शब्दानुवाद मे यह त्रुटि अनिवार्य है, परन्तु इससे अर्थ-बोध में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नही होगी।

यद्यपि दुर्भाग्यवश इस भाषा-टीका के लिखने में विघ्न-बाधाए तो बहुत उपस्थित हुई, परन्तु जहा तक हो सका, वहां तक अशांति के कारणों की उपेक्षा करते हुए अपने ध्यान को इस कार्य की ओर ही संलग्न रखा और यह प्रस्तुत टीका सानन्द सम्पूर्ण हो गई।

नामकरण

अपने स्वर्गीय शिष्य मुनि ज्ञानचन्द्र की प्रेरणा से ही आत्मा मे इस टीका को लिखने के सस्कार उत्पन्न हुए थे। अत. इस टीका का नाम "आत्म-ज्ञान-प्रकाशिका" रखना ही उचित प्रतीत हुआ, ताकि नामकरण के साथ प्रेरक की स्मृति भी बनी रहे। जहा तक मुझसे बन पड़ा है, वहा तक इसको सर्वोपयोगी बनाने की ओर ही अधिक ध्यान रखा गया है और भाषा भी सरल एवं सुबोध रखी गई है। इसमें सन्देह नहीं कि जो सरलता मूल भाषा मे होती है उतनी अनुवाद में नही लाई जा सकती, परन्तु फिर भी जहा तक हो सका है वहा तक मूल के आशय को सरलतापूर्वक स्फुट करने का यथेष्ट प्रयत्न किया गया है।

हिन्दी टीका के लिखने में सहायक ग्रन्थ

इस हिन्दी टीका के लिखने मे जिन-जिन ग्रन्थो की सहायता ली गई है, उनका निर्देश कर देना भी उचित प्रतीत होता है।

प्रस्तुत टीका के लिखते समय खरतर गच्छाधिराज श्री जिनभद्र सूरि के शिष्य श्री कमल

संयमोपाध्याय विरचित सर्वार्थसिद्धि नामक संस्कृत टीका की एक प्रति तो पंजाब प्रान्तीय जालन्धर नगर निवासी श्रीयुत पूज्य केसर ऋषि जी के भण्डार से मिली, दूसरी लक्ष्मीवल्लभ गणि विरचित दीपिका नाम की टीका नाभा निवासी लाला वंशीलाल सीताराम मालेरी के पुस्तकालय से प्राप्त हुई। तीसरी पुस्तक वादिवेताल श्री शान्तिसूरिविरचित बृहद्वृत्ति है जो कि देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड की ओर से मुद्रित हुई है, उसके एक से लेकर पांच अध्ययन तो अमृतसर निवासी लाला उमेदसिंह मुसद्दीलाल की ओर से प्राप्त हुए और पांच से लेकर ३६ अध्ययन तक बीकानेर निवासी श्रीमान् सेठ अगरचन्द भैरोंदान जी की ओर से मिले। वि०सं० १९७५ में जब सेठ साहब गणावच्छेदक स्थविरपदविभूषित श्री श्री १००८ स्वामी गणपतिराय जी महाराज तथा श्री श्री १००८ गणावच्छेदक श्री स्वामी जयरामदास जी महाराज व प्रवर्तक गुरुदेव श्री श्री १००८ स्वामी श्री शालिगराम जी महाराज के दर्शनार्थ लुधियाना में पधारे थे, तब उनके पास वे सब अध्ययन थे। उस समय जब उत्तराध्ययन सूत्र की भाषा टीका के विषय में उनसे वार्तालाप हुआ तब वे प्रस्तुत टीका की सहायता के लिए दे गए। संस्कृत अवचूरी भाषाटीका की एक प्रति तथा भावविजयगणि विरचित टीका तो मेरे पास प्रथम से ही मौजूद थी। इनके अतिरिक्त गुजराती भाषा टीका की भी एक प्रति मेरे पास विद्यमान थी। इन उपर्युक्त टीका ग्रन्थों की सहायता से प्रस्तुत भाषा टीका का निर्माण किया गया एवं जहं-जहां भेद प्रतीत हुआ वहां पर उनका यथास्थान स्पष्टीकरण भी कर दिया गया है तथा कतिपय स्थानो में परस्पर जो पाठ-भेद वा पाठान्तर देखने मे आता है, उनका टीका द्वारा स्पष्टीकरण कर दिया गया है। मूल पाठ का अधिकाश भाग सेठ देवचन्द लाल भाई की ओर से प्रकाशित हुई प्रति से लिया गया है।

आभार-प्रदर्शन

जिन महानुभावो ने पूर्वोक्त प्रतियां देकर मेरे इस कार्य मे सहायता पहुचाई है, मै उन महानुभावो का अन्तःकरण से आभार मानता हू। अन्त में विद्वज्जनो से प्रार्थना है कि 'गच्छतः स्खलनम्' इस न्याय से प्रस्तुत भाषा टीका के निर्माण मे यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो वे इसे सुधार लेने की कृपा करे।

वि.स १९८२, आश्विन शुक्ल ५ प्रार्थी—

मगलवार, लुधियाना (पंजाब) उपाध्याय आत्माराम

□□

पूर्व संस्करण से

स्वाध्याय

जैन धर्म दिवाकर, उत्तर भारतीय प्रवर्त्तक,
उपाध्याय श्रमण श्री फूलचन्द्र जी म०

आत्मा स्वाध्याय के द्वारा आत्म-विकास कर सकता है, परन्तु स्वाध्याय विधि पूर्वक होना चाहिए। यदि विधिशून्य स्वाध्याय किया जाएगा तो वह आत्म-विकास करने में समर्थ नहीं हो सकेगा, क्योंकि विधि पूर्वक किया हुआ स्वाध्याय ही स्वाध्याय है।

स्वाध्याय का फल

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि स्वाध्याय करने से किस फल की प्राप्ति होती है ? इसका उत्तर इसी ग्रन्थ के २९वें अध्ययन मे प्रश्नोत्तर रूप में इस प्रकार दिया गया है कि—

''सज्झाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ'' ? ''सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ'।

उत्तराध्ययन अ० २९, सू० १८

अर्थात् हे भगवन् ! स्वाध्याय करने से किस फल की प्राप्ति होती है ?

भगवान् कहते है कि—'हे शिष्य ! स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म क्षीण हो जाते है। जब ज्ञानावरणीय कर्म ही क्षीण हो गए तो आत्म-विकास स्वयमेव हो जाएगा, जिससे कि आत्मा अपने स्वरूप में प्रविष्ट हो जाने के कारण सब दुःखो से छूट जाएगा। क्योंकि—

''सज्झाए वा सव्वदुक्खविमोक्खणे'' (उत्त० अ० २६, गा० १०)

अर्थात् स्वाध्याय सब दुःखों से विमुक्त करने वाला है।

शारीरिक और मानसिक दुःखों का उद्भव अज्ञानता से ही होता है। जब अज्ञानता नष्ट हो गई, तब वे दु.ख भी स्वत· ही नष्ट हो जाते है। क्योंकि—

''दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो'' (उत्त अ० ३२, गा० ८)

अर्थात् जिसको मोह नही होता, मानो उसने दुःखो का भी नाश कर दिया, अतः सब प्रकार के दुःखो से छूटने के लिए स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

स्वाध्याय किन-किन ग्रन्थों का करना चाहिए ?

स्वाध्याय उन्ही ग्रन्थों का करना चाहिए जो सर्वज्ञ-प्रणीत, सत्य पदार्थों के प्रदर्शक, इहलौकिक और पारलौकिक शिक्षाओं से युक्त, उभयलोकों के हितोपदेष्टा तथा जिनके स्वाध्याय से तप, क्षमा और अहिसा आदि तत्त्वो की प्राप्ति हो। तात्पर्य यह है कि जिनके स्वाध्याय से आत्मा ज्ञानी और

चारित्र-युक्त एवं आदर्शरूप बन सके, वे ही आगम स्वाध्याय करने योग्य है। उन्हीं के स्वाध्याय से आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान सकता है।

किन्तु प्रत्येक मतावलम्बी अपने आगमों को सर्वज्ञ-प्रणीत मानता है, फिर इस बात का निर्णय कैसे हो कि अमुक आगम ही सर्वज्ञ-प्रणीत है, अन्य नहीं ?

इसका उत्तर यही है कि आगमों की परीक्षा के लिए मध्यस्थ भाव से प्रमाण और नय के जानने की आवश्यकता है। जो आगम प्रमाण और नय से बाधित न हो सकें वे ही प्रमाण कोटि में माने जा सकते हैं। जैसे कि—कुछ व्यक्तियों ने अपने-अपने आगमों को अपौरुषेय (ईश्वरोक्त) माना है। उनका यह कथन प्रमाण-बाधित है, क्योंकि जब ईश्वर अकाय और अशरीरी है तो भला फिर वह वर्णात्मक-रूप छन्दों का किस प्रकार उच्चारण कर सकता है ? क्योंकि शरीर के बिना मुख नहीं होता और मुख के बिना वर्णों का उच्चारण नही हो सकता। अत. उनका यह कथन प्रमाण-बाधित सिद्ध हो जाता है। किन्तु जैनागम इस विषय को इस प्रकार प्रमाण-पूर्वक सिद्ध करते है, जिसे मानने मे किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती और न ही किसी प्रकार की शंका ही उत्पन्न हो सकती है। उदाहरणार्थ—शब्द पौरुषेय है और अर्थ अपौरुषेय है, अर्थात् शब्द द्वारा सर्वज्ञ आत्माओं ने उन अर्थों का वर्णन किया जो कि अपौरुषेय है। कल्पना कीजिए कि सर्वज्ञ आत्मा ने वर्णन किया कि "आत्मा नित्य है" ये शब्द तो पौरुषेय हैं, किन्तु इन शब्दों द्वारा जिस द्रव्य का वर्णन किया गया है वह नित्य (अपौरुषेय) है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य के विषय में समझ लेना चाहिए। अतः सिद्ध हुआ कि सर्वज्ञ-प्रणीत आगमो का ही स्वाध्याय करना चाहिए।

सर्वज्ञ-प्रणीत आगम कौन-कौन से हैं ?

वर्तमान काल मे सर्वज्ञ-प्रणीत और सत्य पदार्थो के उपदेश करने वाले ३२ आगम ही प्रमाण-कोटि में माने जाते है। इन आगमो मे पदार्थो का वर्णन प्रमाण और नय के आधार पर ही किया गया है। इनके अध्ययन से इन आगमों की सत्यता और इनके प्रणेता सर्वज्ञ या सर्वज्ञ-कल्प स्वत ही सिद्ध हो जाते है।

वर्तमान काल मे उपलब्ध ३२ आगम इस प्रकार है—

"से किं तं सम्मसुअं ? जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहि उप्पण्ण-नाणदंसणधरेहिं तेलुक्क निरिक्खिअ-महिअ-पूइएहिं तीयपडुप्पण्ण-मणागय जाणएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहिं पणीअं दुवालसंगं गणिपिडगं तं जहा—१. आयारो, २. सूयगडो, ३. ठाणं, ४. समवाओ, ५. विवाहपण्णत्ती, ६. नायाधम्मकहाओ, ७. उवसगदसाओ, ८. अंतगडदसाओ, ६. अणुत्तरोववाइयदसाओ, १०. पण्हवागरणाइं, १०. विवागसुअं, १२. दिट्ठिवाओ, इच्चेअं दुवालसंगं गणिपिडगं चोद्दस पुव्विस्स सम्मसुअं, अभिण्ण दस पुव्विस्स सम्मसुअं, तेण परं भिण्णेसु भयणा, से तं सम्मसुअं।

१२. अंगशास्त्र, १२. उपांगशास्त्र, ४ मूलशास्त्र, ४ छेदशास्त्र और १ आवश्यक सूत्र। किन्तु ये

३३ होते हैं। विचार करना चाहिए कि इस समय ११ अग-शास्त्र विद्यमान हैं, १२वां दृष्टिवादाङ्ग शास्त्र व्यवच्छेद हुआ माना जाता है। अगशास्त्रो के नाम निम्नलिखित है—

१. आचारांग-शास्त्र, २. सूयगडांग-शास्त्र, ३. स्थानाग-शास्त्र, ४. समवायांग-शास्त्र, ५. व्याख्या-प्रज्ञप्ति (भगवती-शास्त्र), ६. ज्ञाताधर्मकथांग-शास्त्र, ७. उपासकदशाग-शास्त्र, ८. अंतकृद्दशांग-शास्त्र, ९. अनुत्तरौपपातिक-शास्त्र, १० प्रश्नव्याकरण-शास्त्र, ११. विपाक-शास्त्र, १२. दृष्टिवादांग-शास्त्र (जो व्यवच्छेद हो गया है)।

उपांगशास्त्रों के नाम ये है—१ औपपातिक-शास्त्र, २ राजप्रश्नीय-शास्त्र, ३. जीवाभिगम-शास्त्र, ४. प्रज्ञापना-शास्त्र, ५. जबूद्वीपप्रज्ञप्ति-शास्त्र, ६. सूर्यप्रज्ञप्ति-शास्त्र, ७. चन्द्रप्रज्ञप्ति-शास्त्र, ८. निरया-वलिकाओ, ९. कप्पवडिसियाओ, १०. पुप्फियाओ, ११. पुप्फचूलियाओ, १२. वण्हिदसाओ। चार मूल शास्त्र ये हैं—१. दशवैकालिक शास्त्र, २. उत्तराध्ययन-शास्त्र, ३. नन्दी-शास्त्र और ४. अनुयोगद्वार-शास्त्र। चार छेद-शास्त्र—१. व्यवहार-शास्त्र, २. बृहत्कल्प-शास्त्र, ३. दशाश्रुतस्कन्ध-शास्त्र, ४. निशीथ-शास्त्र (ये ३१ हुए) और ३२वा आवश्यक शास्त्र। इस प्रकार ३२ आगमों की संज्ञा वर्तमान काल में मानी जाती है, किन्तु यह संज्ञा अर्वाचीन प्रतीत होती है। कारण यह है कि नन्दी-सिद्धान्त मे सब सिद्धान्तों की चार प्रकार से निम्नलिखित सज्ञाए वर्णन की गई है—जैसे—अंग-शास्त्र, उत्कालिक-शास्त्र, कालिक-शास्त्र और आवश्यक-शास्त्र। जो उपांग शास्त्र और चार मूलशास्त्र, चार छेदशास्त्र है, ये सब कालिक और उत्कालिक शास्त्रो के ही अन्तर्गत लिए गए है। (देखो नदी-सिद्धान्त—श्रुतज्ञानविषय।)

तथा औपपातिक आदि शास्त्रो मे कही पर भी यह पाठ नहीं है कि—ये उपागशास्त्र है। जैसे पाचवे अग के आगे के अंग शास्त्रो के आदि मे यह पाठ आता है कि, भगवान् जम्बूस्वामी जी कहते है—"हे भगवन्! मैने छठे अगशास्त्र के अर्थ को तो सुन लिया है, किन्तु सातवे अगशास्त्र का श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने क्या अर्थ वर्णन किया है ?" इत्यादि। किन्तु उपागशास्त्रो में यह शैली नही देखी जाती और न शास्त्रकर्ता ने उनकी उपाग सज्ञा कही है। किन्तु केवल निरयावलिका-सूत्र के आदि मे 'उपाग' यह शब्द अवश्य विद्यमान है। तथा च पाठ—

"तएणं से भगवं जंबू जातसड्ढे जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी—उवंगाणं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ? एव खलु जंबू ! समणेणं भगवया जाव संपत्तेणं एवं उवंगाणं पंचवग्गा पण्णत्ता तं जहा—१. निरयावलियाओ, २. कप्पवडिंसियाओ, ३. पुप्फियाओ, ४. पुप्फचूलियाओ, ५. वण्हिदसाओ" इत्यादि।

इस पाठ के आगे वर्गों के कतिपय अध्ययनों का वर्णन किया गया है। इस पाठ से यह स्पष्ट नही हो सकता कि—ये उपांगो के पाच वर्ग कौन-कौन से अगशास्त्र के उपाग है। यद्यपि पूर्वाचार्यों ने अग और उपागो की कल्पना करके अगो के साथ उपांग जोड़ दिए है, किन्तु यह विषय विचारणीय है। कालिक और उत्कालिक सज्ञा स्थानांगादि शास्त्रों मे होने से बहुत प्राचीन प्रतीत होती है, किन्तु

उपांगादि संज्ञा भी उपादेय ही है, फिर भी यह विषय विद्वानों के लिये विचारणीय है। आचार्यवर्य श्री हेमचन्द्र जी ने अपने बनाए 'अभिधानचिन्तामणि' नामक कोष में अंगशास्त्रों का नामोल्लेख करते हुए 'केवल उपांग-युक्त अंग-शास्त्र है' ऐसा कहकर विषय की पूर्ति कर दी है, किन्तु जिस प्रकार अंग-शास्त्रों के नामोल्लेख किए हैं, ठीक उसी प्रकार किस-किस अंग का कौन-कौन सा उपांग-शास्त्र है यह नहीं लिखा है। इससे भी यह कल्पना अर्वाचीन ही सिद्ध होती है। हा, यह अवश्य मानना पड़ेगा कि यह कल्पना अभयदेव सूरि या मलयगिरि आदि वृत्तिकारों से पूर्व की है, क्योंक उपांगों के वृत्तिकार वृत्ति की भूमिका में उस उपांग का किस अंग से सम्बन्ध है, इस प्रकार का लेख स्फुट रूप से करते हैं। अतः वृत्तिकारों के समय से भी यह कल्पना पूर्व की है, इसलिए यह कल्पना श्वेताम्बर आम्नाय में सर्वत्र प्रमाणित मानी गई है।

विधि-विरुद्ध स्वाध्याय के दोष

जिस प्रकार सातों स्वरों और रागों के समय नियत है—जिस समय का जो राग होता है, यदि उसी समय पर उसका गायन किया जाए, तो वह अवश्य आनन्द-प्रद होता है। और यदि समय-विरुद्ध राग अलापा जाए तब वह सुखदायी नहीं होता। ठीक इसी प्रकार शास्त्रो के स्वाध्याय के विषय मे भी जानना चाहिए। जिस प्रकार विद्यारम्भ सस्कार के पूर्व ही विवाह-सस्कार और भोजन के पश्चात् स्नानादि क्रियाए सुखप्रद नही होती और जिस प्रकार समय का ध्यान न रखते हुए असम्बद्ध भाषण करना कलह का उत्पादक माना जाता है, ठीक उसी प्रकार बिना विधि के किया हुआ स्वाध्याय भी लाभदायक नही होता। जिस प्रकार लोग शरीर पर यथास्थान वस्त्र धारण करते हैं, यदि वे बिना विधि के तथा विपरीतागों पर धारण किए जाएं तो उपहास के योग्य बन जाते है, ठीक इसी प्रकार स्वाध्याय के विषय में भी जानना चाहिए। अतः सिद्ध हुआ कि विधि-पूर्वक किया हुआ स्वाध्याय ही समाधिकरण माना जाता है। जिस प्रकार उक्त विषय विधि-पूर्वक किए हुए ही "प्रिय" होते है, ठीक उसी प्रकार स्वाध्याय भी विधि-पूर्वक किया हुआ ही आत्म-विकास का कारण होता है। प्रस्तुत शास्त्र की पहली दशा मे उस विषय का स्फुट रूप से वर्णन किया गया है।

स्वाध्याय का समय

स्वाध्याय के लिए जो समय आगमों में बताया गया है, उसी समय शास्त्र का स्वाध्याय करना चाहिए, किन्तु अनध्याय काल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियो मे भी स्वाध्याय एव अनध्याय-काल का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है, क्योकि मनु आदि ऋषि वेद के भी अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थो का भी अनध्याय-काल माना जाता है। इसी प्रकार जैनागमों के सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वर-विद्या-संयुक्त होने के कारण इनका भी अनध्याय-काल आगमो में वर्णित है। यथा—

"दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाइए पण्णत्ते, तं जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते,

विज्जुते, निग्घाते, जूयते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रतउग्घाते। दसविहे ओरालिते, असज्झाइए, पण्णत्ते, तं जहा—अट्ठिमंसं, सोणिते, असुतिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडणे, रायवुग्गहे, उवसयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।''

—स्थानांगसूत्र, स्थान, सू० ७१४

छाया—दशविधमान्तरिक्षकम् अस्वाध्यायिकं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—उल्कापातः, दिग्दाहः, गर्जितं, विद्युत, निर्घात', यक्षादीप्ते, धूमिता, महिता, रजउद्घातः। दशविधः औदारिकः अस्वाध्यायिकः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—अस्थिमासशोणितानि, अशुचिसामन्त, श्मशानसामन्त, चन्द्रोपरागः, सूरोपरागः, पतनं, राजविग्रहः, उपाश्रयस्यान्ते औदारिक शरीरकम्। तथा च पाठ —

''नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करित्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इन्दमहपाडिवए, कत्तियपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए, णो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गथीण वा चउहि संझाहिं सज्झायं करेत्तए, त जहा—पढमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्डरत्ते, कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गथीण वा चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पुव्वण्हे, अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।''

स्थानागसूत्र, स्थान ४, उद्देश २, सू० २८५

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थाना वा निर्ग्रन्थीनां वा चतुर्भिः महाप्रतिपद्भि स्वाध्यायं कर्त्तुम्, तद्यथा—आषाढीप्रतिपद', इन्द्रप्रतिपद , कार्त्तिकप्रतिपद , सुग्रीष्मप्रतिपद'। नो कल्पते निर्ग्रन्थाना वा निर्ग्रन्थीना वा चतुर्भि सन्ध्याभि' स्वाध्याय कर्त्तुम्, तद्यथा—प्रथमाया, पश्चिमाया, मध्याह्ने, अर्धरात्रौ। कल्पते निर्ग्रन्थाना, निर्ग्रन्थीना, चतुष्काले स्वाध्याय कर्त्तुम्, तद्यथा—पूर्वाह्णे, अपराह्णे, प्रदोषे, प्रत्यूषे।

भावार्थ—आकाश से सम्बन्ध रखने वाले कारणो से आकाश-सम्बन्धी दस प्रकार के अस्वाध्याय वर्णन किए गए है। जैसे उल्कापात (तारापतन), यदि महत् तारापतन हुआ हो तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्रो का स्वाध्याय नही करना चाहिए। जब तक दिशा रक्त वर्ण की दिखाई पड़ती रहे तब तक भी शास्त्रीय स्वाध्याय नहीं करना चाहिए २। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए। दो प्रहर पर्यन्त बादल गरजने पर ३, एक प्रहर पर्यन्त बिजली चमकने पर ४। दो प्रहर पर्यन्त कड़कने पर ५। अर्थात् बादल के होने या न होने पर आकाश मे घोर गर्जना हो, शुक्लपक्ष मे बालचन्द्र होने पर तीन दिन पर्यन्त। प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया की रात्रि को एक-एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करना चाहिए ६। आकाश मे जब तक यक्षाकार दीखता रहे ७। धूमिका श्वेत ८। धूमिका कृष्ण ६। माघ आदि महीनो मे धुंध जब तक रहे तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए, विशेषतया वृष्टि होने पर १०। उक्त कारणो के उपस्थित होने पर शास्त्रो का स्वाध्याय नही करना चाहिए। किन्तु गर्जना और विद्युत का अस्वाध्याय चातुर्मास में न मानना चाहिए, क्योकि वह गर्जित और विद्युत-कार्य-ऋतु स्वभाव से ही प्राय होता है, अतः आर्द्रार्क और स्वाति-अर्क तक अस्वाध्याय नहीं माना जाता।

दस प्रकार के औदारिक शरीर से सम्बन्ध रखने वाले कारणो के उपस्थित हो जाने पर भी

अस्वाध्याय हो जाता है। जैसे हड्डी के दिखाई देने पर १। मांस के समीप होने पर २. रुधिर के समीप होने पर ३. वृत्तिकारों ने ६० हाथ के आस-पास उक्त चीजे पड़ी होने पर अस्वाध्याय माना है। अशुचि (मल-मूत्रादि) के समीप होने पर ४. श्मशान के पास होने पर ५. चन्द्रग्रहण के होने पर ८-१२-१६ प्रहर पर्यन्त ६. सूर्यग्रहण होने पर ८-१२-१६ प्रहर पर्यन्त ७. किसी बड़े राजा आदि अधिकारी की मृत्यु हो जाने पर—उनके संस्कार पर्यन्त अथवा अधिकार प्राप्त होने तक शनैः-शनैः पढ़ना चाहिए ८. राजाओं के युद्ध स्थान ६. उपाश्रय के भीतर पचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जैसे किसी कबूतर या चूहे को मार दिया गया हो तथा १०० हाथ के आस-पास मनुष्य आदि का शव पड़ा हो, तब भी स्वाध्याय न करना चाहिए १०। एवं २८।

चार महाप्रतिपदाओं मे भी स्वाध्याय न करना चाहिए। जैसे आषाढ़ शुक्ला पूर्णमासी और श्रावण प्रतिपदा २, आश्विन शुक्ला, पूर्णमासी तथा कार्तिक प्रतिपदा ४, कार्तिक शुक्ला-पूर्णमासी तथा मार्गशीर्ष प्रतिपदा ६, चैत्र शुक्ला पूर्णमासी और वैशाख प्रतिपदा ८। सूर्योदय से एक घड़ी पूर्व तथा एक घड़ी पश्चात् एव सूर्यास्त से एक घड़ी पूर्व तथा एक घड़ी पश्चात्, मध्याह्न के समय तथा अर्धरात्रि के समय भी पूर्ववत् स्वाध्याय नही करना चाहिए। किन्तु दिन के प्रहर और पश्चिम प्रहर तथा रात्रि के प्रथम प्रहर और पिछले प्रहर मे अस्वाध्याय काल को छोड़कर अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए। इस प्रकार ३२ प्रकार के अस्वाध्याय काल को छोड़कर स्वाध्याय करना चाहिए। तथा निशीथ सूत्र के १६वे उद्देश्य मे यह पाठ है—

"जे भिक्खू चउसु महापडिवएसु सज्झायं करेइ, करंतं वा साइज्जइ, तं जहा—सुगिम्हिए पाडिवए, आसाढ़ी पाडिवए, भद्दवए, कत्तिए पाडिवए।"

इनका अर्थ भी पूर्ववत् है, किन्तु इस पाठ में भी भाद्रपद ग्रहण किया गया है। सो भाद्रपद-शुक्ला पूर्णिमा और आश्विन कृष्णा प्रतिपदा, इस प्रकार दो दिनों की वृद्धि करने से ३४ अस्वाध्याय काल हो जाते है, अतः इनको छोड़कर ही स्वाध्याय करना चाहिए। व्यवहार सूत्र के सातवे उद्देश्य मे स्वाध्याय और अस्वाध्याय काल के विषय मे वर्णन करते हुए उत्सर्ग और अपवादमार्ग दोनो का ही अवलम्बन किया गया है। जैसे—

"नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वितिकिट्ठाए काले सज्झायं उद्दिसित्तए वा करित्तए॥ १४॥

कप्पइ निग्गंथीणं वितिकिट्ठाए काले सज्झायं उद्दिसित्तए वा करित्तए वा निग्गंथणिस्साए॥ १५॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा असज्झाइए सज्झायं करित्तए॥ १६॥

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सज्झाइए सज्झायं करित्तए॥ १७॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अप्पणो असज्झाइयं करित्तए।

कप्पइ णं अण्णमन्नस्स वायणं दलित्तए॥ १८॥

इन सूत्रों का भावार्थ केवल इतना ही है कि—साधु या साध्वियों को अकाल मे स्वाध्याय न

करना चाहिए, किन्तु काल मे ही स्वाध्याय करना चाहिए। यदि परस्पर वाचना चलती हो तो वाचना की क्रिया कर सकते है, अर्थात् वाचना अकाल में भी दे-ले सकते है और यदि अपने शरीर से रुधिर बहता हो, तब भी स्वाध्याय नहीं कर सकते, परन्तु उस स्थान को ठीक प्रकार से बांधकर यदि खून आदि बाहर न बहतें हो तो परस्पर वाचना दे ले सकते है। इस प्रकार शुद्धिपूर्वक स्वाध्याय करने में प्रयत्नशील होना चाहिए।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि—अस्वाध्याय मूल सूत्र का होता है या अनुप्रेक्षादि का भी ? इसका उत्तर यही है कि—ठाणाग सूत्र के वृत्तिकार अभयदेव सूरि चार महाप्रतिपदाओं की वृत्ति करते समय प्रथम ही यह लिखते है :—

"स्वाध्यायो नन्यादि सूत्रविषयो वाचनादिः, अनुप्रेक्षा तु न निषिध्यते"

इस कथन से सिद्ध हुआ कि केवल संहिता-मात्र का अस्वाध्याय है, अनुप्रेक्षा आदि का नहीं।

अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने से हानि

अस्वाध्याय काल मे स्वाध्याय करने से यही हानि है कि—शास्त्र के देवाधिष्ठित एव देव-वाणी होने के कारण अशुद्धि-पूर्वक पढ़ने से कोई क्षुद्र देव पढ़ने वाले को छल ले या उसे दु.ख दे देवे ! (एतेषु स्वाध्याय कुर्वता क्षुद्रदेवता छलन करोति इति वृत्तिकार) जिससे कि लोगो में अत्यन्त अपवाद हो जाने की सम्भावना रहती है तथा आत्म-विराधना और सयम-विराधना के होने की भी सम्भावना की जा सकती है। अथवा—

सुयणाणंमि अभत्ती, लोगविरुद्धं पमत्त-छलणा य ।
विज्जासाहण-वेगुन्न — धम्मया एव मा कुणसु ॥ १ ॥

श्रुतज्ञानेऽभक्ति., लोकविरुद्धता प्रमत्तछलना च ।
विद्यासाधनवैगुण्यधर्मता — **इति मा कुरु ॥ १ ॥**

अर्थात्—विद्या-साधन मे असफलता इत्यादि कारण जानकर हे शिष्य ! अकाल मे स्वाध्याय न करना चाहिए। अतएव सिद्ध हुआ कि अकाल मे स्वाध्याय न करना चाहिए। जैसे जो वृक्ष अपनी ऋतु आने पर ही फलते और फूलते है वे जनता मे समाधि के उत्पन्न करने वाले माने जाते है, किन्तु जो वृक्ष अकाल में फलते और फूलते है वे देश मे दुर्भिक्ष, मरी और राज्य-विग्रह (कलह) आदि के उत्पन्न करने वाले माने गए है। इसी प्रकार स्वाध्याय के काल-अकाल के विषय मे भी जानना चाहिए। कारण यह है कि प्रत्येक कार्य विधि-पूर्वक किया हुआ ही सफल होता है। जैसे समय पर सेवन की हुई औषधि रोग की निवृत्ति और बल की वृद्धि करती है, ठीक इसी प्रकार भक्ति-पूर्वक और स्वाध्याय-काल में ही किया हुआ स्वाध्याय कर्मक्षय और शान्ति की प्राप्ति कराता है। अतः—

"उद्देसो पासगस्स नत्थि"

इस वाक्य को स्मरण कर इस विषय को यही पर समाप्त किया जाता है, अर्थात् बुद्धिमान् को

उपदेश की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं ही अपने कृत्यों को समझता है। इसलिए मुमुक्षु जनों को उचित है कि वे शास्त्रीय स्वाध्याय से अपने जीवन को पवित्र बनाकर मोक्ष के अधिकारी बनें, क्योंकि शास्त्र का वाक्य है—

"दोहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अणादीयं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतं-संसारकंतारं वीतिवतेज्जा, तं जहा—विज्जाए चेव चरणेण चेव।

स्थानाग सूत्र स्थान २ उद्देश १ सूत्र ६३

दो कारणों से संयुक्त भिक्षु अनादि-अनन्त दीर्घ मार्ग वाले चतुर्गति रूप संसाररूपी कान्तार से पार हो जाते है, जैसे कि विद्या और आचरण से। इसलिए हमे चाहिए कि देश और धर्म का अभ्युदय करते हुए अनेक भव्य प्राणियो को मोक्ष का अधिकारी बनाएं, जिससे जनता में सुख और शान्ति का संचार हो। इत्यल विद्वद्वर्येषु।

□□

पूर्व संस्करण से

शुभ स्मृति

इस विस्तृत आगम के प्रकाशन के समय सहसा मुझे चार स्वर्गीय महान् आत्माओं की शुभ स्मृति हो रही है। इन पुनीत आत्माओं के पवित्र नाम क्रमश· इस प्रकार है—परम पूज्य आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज, पूज्यवर्य आचार्य श्री सोहनलाल जी महाराज, पूजनीय स्थविरपदविभूषित गणावच्छेदक श्री गणपतिराय जी महाराज एव मेरे अन्तेवासी स्व० पण्डितवर्य मुनि श्री ज्ञानचन्द्र जी म० ।

आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज में हृदय की सरलता और शुद्धता, वाणी की मितता और मधुरता, अध्ययन और अध्यापन आदि मे सतत संलग्नता, शान्ति, सहिष्णुता और सद्गुणों की विशेषता थी। यह महात्मा परम गम्भीर थे। इनमें आचार्य के सब विशेष गुण विद्यमान थे। इन्होंने आचार्य के कर्त्तव्यो को अच्छी तरह से निभाया। इनके समकालीन श्रीसघ में पूर्ण शान्ति और उत्तम व्यवस्था रही। जैनागमो की आरम्भिक शिक्षा मैने इन्हीं से प्राप्त की थी, अतः इस प्रसिद्ध सूत्र के प्रकाशन के अवसर पर इन आचार्य-चरणो का पुण्य स्मरण करना नितान्त आवश्यक है।

आचार्य श्री सोहनलाल जी महाराज इनके उत्तराधिकारी थे। यह महात्मा परम तपस्वी और तेजस्वी थे। इनमे हृदय की दृढ़ता और आत्म-बल की विशेषता थी। इन्होने आत्मबल के द्वारा पजाब देश मे जैन धर्म का खूब प्रचार किया था। इनका आचार, तप और त्याग प्रशसनीय है।

श्री स्वामी गणपतिराय जी महाराज की सेवा का मुझे प्रभूत सुअवसर प्राप्त हुआ। मेरे अध्ययन और लेखनादि कार्य मे इनकी सहायता सब से अधिक रही। मेरे ऊपर इनकी सदैव कृपा-दृष्टि रही। यह महात्मा सौम्य मूर्त्ति थे। इनका हृदय गम्भीर और उन्नत विचारो से परिपूर्ण था। इन्होने अन्त तक मनसा, वाचा, कर्मणा सयम का निर्दोष एव निरतिचार पालन किया। इनकी अन्तिम घड़ियो की शान्ति, समाधि और तेजस्विता का दृश्य अवर्णनीय है। मारणान्तिक वेदना की आकुलता के स्थान पर इनके आनन पर अद्भुत मुस्कराहट और अभूतपूर्व तेजस्विता दिखाई देती थी। इस शुभ अवसर पर ऐसी पुण्यात्मा की शुभ स्मृति का होना स्वाभाविक ही है।

स्व० पं० मुनि श्री ज्ञानचन्द्र जी अद्भुत प्रतिभावान थे। इनकी स्मरण-शक्ति आश्चर्यजनक थी। केवल पाच वर्षो मे ही इन्होने व्याकरण, साहित्य और आगमो का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इनका पाण्डित्य प्रगाढ़ था। यह मेरे परम सहायक और प्रिय शिष्य थे। इन्होंने स्वय भी कतिपय पुस्तको की रचना की और मुझे भी लेखन-कार्य के लिए प्रेरणा देते रहते थे। इस शास्त्र की विद्वन्मान्य और लोकोपयोगी टीका लिखने की इन्होने ही मुझे विशेष रूप से प्रेरणा दी थी। अतः इस सूत्र के प्रकाशन के समय इनकी मधुर-स्मृति का होना भी अनिवार्य है।

—उपाध्याय आत्माराम

पूज्यपाद आचार्यवर्य्य श्री अमरसिंह जी महाराज की पट्टावली

पंचनईय सव्वगुणालंकियस्स पुज्जसिरि अमरसिंहस्स सीसो महाचाई
वेरग्गमुद्दा रामबक्खस महामुणी तप्पट्टे विराइओ।

तप्पट्टे तेसिं लहुगुरुभाया संतिमुद्दा गणिगुणालंकिओ सत्थविसारओ पुज्जसिरि मोतीरामो भूओ।

तप्पट्टे संघहिएसी जोइसविण्णु मिच्छत्त-निकंदणकत्ता पुज्जसिरि सोहणलालो होत्था।

तप्पट्टे जइण जाइए दसाए उद्धारए 'पंचाल केसरी' इय उपाधिधारए पुज्जसिरि कासीरामो संपइ काले विरायए, साहिच्चमंडलस्स ठावणा इमेसिं काले भूआ। आसं करेमि एएसिं पहावओ सव्वकज्जं सफलं भविस्सइ।

विक्रम संवत् १९९६ भाद्रपद शुक्ला गुरुवारे।

पूर्व संस्करण से

गुर्वावली

नायसुओ वद्धमाणो नायसुओ महामुणी ।
लोगे तित्थयरो आसी अपच्छिमो सिवंकरो ॥ १ ॥

सतित्थे ठविओ तेण पढमो अणुसासगो ।
सुहम्मो गणहरो नाम तेअंसी समणच्चिओ ॥ २ ॥

तत्तो पवट्टिओ गच्छो सोहम्मो नाम विस्सुओ ।
परंपराए तत्थासी सूरी चामरसिंघओ ॥ ३ ॥

तस्स संतस्स दंतस्स मोतीरामाभिहो मुणी ।
होत्थ सीसो महापन्नो गणिपयविभूसिओ ॥ ४ ॥

तस्स पट्टे महाथेरो गणावच्छेअगो गुणी ।
गणपतिसंनिओ साहू सामण्ण-गुणसोहिओ ॥ ५ ॥

तस्स सीसो गुरुभत्तो सो जयरामदासओ ।
गणावच्छेअगो अत्थि समो मुत्तोव्व सासणे ॥ ६ ॥

तस्स सीसो सच्चसंधो पवट्टगपयंकिओ ।
सालिग्गामो महाभिक्खू पावयणी धुरंधरो ॥ ७ ॥

तस्संतेवासिणा एसा अप्पारामेण भिक्खुणा ।
उवज्झाय पयंकेणं भासाटीका समत्थिआ ॥ ८ ॥

उत्तराज्झयणस्स टीकेयं लोकभासासुबद्धिआ ।
पढंताणं गुणंताणं वायंताणं पमोइणी ॥ ९ ॥

कृतज्ञता

जाते दिवं सविधवासिनि बुद्धिचन्द्रे,
मच्छेमुषीविवृतितो विमुखीबभूव ।
अङ्गीकृतामररचत् पुनरस्ततन्द्र :,
शिष्योऽपरो बुधवरो मम हेमचन्द्रः ॥ १ ॥

येऽपीपठन् मुनिवराः प्रथिताऽऽगमं मां,
येऽजीगमन् गुरुगिरा मतिमर्थगंगाम् ।
तन्वंस्तदत्र विवृतिं सुकृदंशभाग्भ्यः,
तेभ्योऽर्पयामि विनयैः शतधन्यवादान् ॥ २ ॥

कृतज्ञताललामस्य
आत्मारामस्य मुने :

प्रशस्तिः

तत्रेयं पद्यद्वयेन वागवतारणा

प्रपञ्चसञ्चारिणि पञ्चमेऽत्र काले कराले कलयन्ति लोकाः ।
स्वत्वेषु वित्तेषु सुतेषु भिक्षां सर्वे न शिक्षां न शुचिं न दीक्षाम् ॥ १ ॥
स्पृहणीयगुणा अगण्यपुण्यास्तरुणत्वेऽपि दधुस्तपस्वितां ये ।
रमणीयहृदां विदां तदेषां स्मरणं सद्वृजिनैकवर्जनं हि ॥ २ ॥
आस्ते पञ्चनदः शुभो जनपदो दूरीकृतान्तर्गदः,
प्रेमार्द्रैकगदागदः प्रकृतितः प्रोत्तुङ्गचित्तम्मदः ।
अत्राऽवातरदक्षिषड्वसुधरासंख्यामिते (१८६२) वत्सरे,
निस्तन्द्रोऽमरसिंहजिन्नरवरश्चञ्चत्प्रपञ्चात्परः ॥ ३ ॥
वस्वङ्कवस्विन्दुमिते (१८९८) शुभेऽब्दे, नामाभिधेयं विदधत्सदर्थम्
नरेषु चन्द्रोऽमरचन्द्रतां सः, मुनीन्द्रतां चारुतरां बभार ॥ ४ ॥
आचारागमतीर्थरक्षणपरा तच्चातुरी सा तुरी,
वेमाऽसौ यशसां चयं मृदुतरं श्वेतं व्यधादम्बरम्
तेने तेन विशेषवर्णरुचिकृद्देशोऽप्यशेषो निजः,
पञ्चापः प्रहतप्रपञ्चनिचयः श्वेताम्बरः संवरः ॥ ५ ॥
कालक्षोणिनिधीन्दुसम्मिततमे (१९१३) वर्षे विहारक्रमाद्,
इन्द्रप्रस्थपुरे सुमारवसतां पूज्याः कनीरामकाः
अस्मै पूज्यपदं तदैव ददिरे श्राद्धे समिद्धोद्धवे,
पूज्यं पूज्यमथो विधाय दधिरे शब्दाश्रयं द्विर्विधम् ॥ ६ ॥
वसुकालनिधीन्दुमिते (१९३८) विषमे, नृपविक्रमहायनकेऽयमगात्
सुरसद्म-यतोऽमरसिंहमुने रुचिता रुचिरोच्चतरैव गतिः ॥ ७ ॥
मोतीराममुनिस्ततोऽभवदसावष्टादशाशीतिके
वर्षे लब्धजनिः खभूमिनिधिभूसंख्येऽब्दके (१९१०) सद्व्रती ।
अङ्कत्र्यङ्कधरामितेऽ (१९३९) भवदयं पूज्योऽतियोग्यः सतां,
सिद्धीशास्यनिधीन्दुसम्मिततमे (१९५८) वर्षे दिवं चाऽप्यगात् ॥ ८ ॥

गणोऽपि ववृधेतमां गणपतेरपेक्षापरो,
रसाम्बरनिधीन्दुसंमिततमेऽब्दके (१९०६) सोऽप्यभूत् ।
त्रिकालनिधिभूमितेऽ (१९३३) धितहितां स दीक्षां गुरो,
द्विसिद्धिनिधिभूमिते (१९८८) सुरपुरीमयासीदसौ ॥ ९ ॥
तच्छिष्यो गणनीर्गणेयमुणिनां शश्वत्सतामग्रणीः,
स श्रीमान् स्थविरोऽजनीन्दुनयनाङ्केन्दूपमे (१९२१) वत्सरे ॥
दीक्षां वेद सरस्वदङ्कधरणीतुल्येऽ (१९४४) ग्रहीदाग्रहात्,
सच्छिष्यो जयरामदासजिदसावद्यापि विद्योतते ॥ १० ॥
तच्छिष्यः प्रथितप्रबोधमधुरः सद्वृत्तिसद्वर्तको,
भेजे जन्म पयोधिनेत्रनिधिभूसंख्येऽब्दके (१९२४) सत्कुले ।
मुन्यध्यङ्कधरामितेऽ (१९४७) तिमतिमान् दीक्षां दधारादरात्,
शालिग्राममुनिः सदा जयजनिर्जीव्याच्चिरं सन्मणिः ॥ ११ ॥
आगमोद्धार संस्कार-सार-लालसमानसः ।
मेधासिन्धून्-दीनबन्धून् आत्मारामो नमत्यमून् ॥ १२ ॥

आत्म-वृत्तम्

पांचालदेशे ऋषिभूमिख्याते, 'राहों' प्रसिद्धे नगरे समृद्धे ।
अङ्काग्नितत्त्वेन्दु (१९३९) मिते हि वर्षे, जातो ह्यसौ भाद्रपदाख्यमासे ॥
द्वादश्यां तिथौ श्रीमन्मनसाराम - पितुर्गृहे ।
माता परमेश्वरी ह्यासीत् ह्यात्मारामस्य सन्मते : ॥
चन्द्रभूताङ्कभूम्यब्दे (१९५१) मुनिदीक्षां गृहीतवान् ।
शालिग्राम - मुनेरन्ते - वासीत्यभवन्मुनीश्वरः ॥
अङ्करसतत्त्वचन्द्राब्दे (१९६९) नगरेऽमृतसराभिधे ।
पञ्चनदाचार्यः श्रीमान् सोहनलालो मुनीश्वरः ॥
उपाध्याय - पदं तस्मै ददति स्म जितेन्द्रियः ।
उपाध्यायपदं प्राप्य कृतमागम मन्थनम् ॥
मुनिचर्यानुरक्तेन तेनाचार्यपदं परम् ।
प्राप्तं त्रिनभाकाश-नेत्राब्दे (२००३) विक्रमस्य वै ॥

चतुर्विधेन संघेन 'सादड़ी' नगरे शुभे ।
घोषितः श्रमणसंघस्य, आचार्यः श्रमणाधिपः ॥
निधिनभव्योमनेत्राब्दे (२००९) विक्रमस्य नृपस्य वै ।
निगदन्तो जयेच्छब्दं सर्वे हर्षमुपागताः ॥

शिष्य-परम्परा

खजानचन्द्राभिधस्तस्य शिष्यः संयम-सागरः ।
ज्ञानचन्द्रो ज्ञाननिधिः, सुरलोकं गतौ हि तौ ॥
हेमचन्द्रो मुनिश्चापि मुनिर्ज्ञानाभिधोऽपि च ।
याभ्यां शास्त्रसिन्धोस्तु, गहनं मन्थनं कृतम् ॥
रत्नमुनीति विख्यातः, शिष्यः सेवापरायणः ।
श्री मनोहरमुनिश्चापि ख्यातः 'उत्कलकेसरी' ॥
अन्ये च बहवो मुनयस्तस्य शिष्यत्वमाप्नुवन् ।
संयमसिन्धौ निमज्जन्तः, सन्तः सत्य-परायणाः ॥

उपाध्यायः श्री फूलचन्द्रः 'श्रमणः'

श्री खजानमुनेः शिष्यः, फूलचन्द्रो महामुनिः ।
तपसा तेजसा तुष्ट्या, समृद्धः संयमाधिपः ॥
शान्तमूर्तिर्विरक्तो हि, रक्तो हि जैन शासने ।
निष्णातः शास्त्र-सिन्धौ च श्रमणाख्यः शान्तमानसः ॥
आचार्यानन्द - ऋषिणा, महत्तां तस्य जानता ।
भूम्यग्निव्योमनेत्राब्दे (२०३१) दत्तं "प्रवर्तकः" पदम् ॥
रामाग्निव्योमनेत्राब्दे, (२०३३) उपाध्यायपदं हि सः ।
प्राप्तवान् लोकविख्यातः, लुधियाना-नगरे वसन् ॥
अस्यां परम्परायातन्तु येऽपि सन्ति मुनिश्वराः ।
तेषां चरणेषु 'तिलको' हि, वन्दते सादरं सदा ॥

श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् - संकेतिका

णमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

अह विणयसुयं पढमं अज्झयणं

अथ विनयश्रुतं प्रथममध्ययनम्

संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो ।
विणयं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥ १ ॥

संयोगाद् विप्रमुक्तस्य, अनगारस्य भिक्षोः ।
विनयं प्रादुःकरिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत मे ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—**संजोगा**—संयोग से, **विप्पमुक्कस्स**—विप्रमुक्त, **अणगारस्स**—अनगार, **भिक्खुणो**—भिक्षु का, **विणयं**—विनय, **पाउकरिस्सामि**—प्रकट करूंगा, **आणुपुव्विं**—अनुक्रम से, **मे**—मुझ से, **सुणेह**—सुनो।

मूलार्थ—मैं संयोग से विप्र-मुक्त अर्थात् रहित अनगार भिक्षु के विनय-धर्म को प्रकट करूंगा, आप मुझ से उसको श्रवण करें।

टीका—इस गाथा मे शास्त्रकार त्यागी महात्मा जनों के विनय-धर्म के वर्णन की प्रतिज्ञा करते हुए उसके श्रवण करने का भव्य पुरुषों को उपदेश करते है। सांसारिक पदार्थों का विशिष्ट संसर्ग ही दुःख का मूल कारण है, अतः अनगार भिक्षु के लिए सब से प्रथम उस संसर्ग का परित्याग ही परम आवश्यक है, अन्यथा उसे अपने अभिलषित पद की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। यद्यपि मूल गाथा में केवल सामान्यरूप से ही 'संयोग' शब्द अभिहित हुआ है, तथापि भिक्षु शब्द के साथ सम्बन्धित होने से यह अपने विशेष अर्थ का भी स्फुटतया भान करा रहा है।

आगमवेत्ताओं ने सयोग के दो भेद माने हैं—एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। माता-पिता एव धन-धान्यादि आदि इष्ट पदार्थों का सम्बन्ध बाह्य सयोग है और क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की तीव्र इच्छा का नाम आभ्यन्तर संयोग है। जिस व्यक्ति ने इन दोनों प्रकार के संयोगों का ज्ञान-वैराग्य द्वारा दृढ़ता-पूर्वक परित्याग करके 'अनगार भिक्षु' पद ग्रहण किया है उसी महापुरुष के विनय-धर्म का यहां पर उल्लेख किया गया है।

अनगार—अगार का अर्थ है—घर। उससे जो रहित हो, अर्थात् जिसने घर-बार आदि का परित्याग कर दिया हो, उसे अनगार कहते है। अगार अर्थात् घर भी द्रव्य और भाव भेद से दो प्रकार का है। लकड़ी, पत्थर, मिट्टी, चूना आदि से बना हुआ घर द्रव्य-अगार है और जिनके प्रभाव से यह ससारी जीव नाना प्रकार की आपदाओं को झेलता है उन पापकर्मों के समुदाय को भाव-अगार कहते हैं। इन दोनों प्रकार के अगारों का सर्वथा परित्याग करने वाला भिक्षु अनगार कहलाता है। इस प्रकार निर्ममत्व भाव के अवलम्बन से जिसने द्रव्य रूप अगार का परित्याग किया हो और पाप-कर्म के विपाक से उत्पन्न होने वाली दुःख-परम्परा का अनुभव करते हुए दु ख के कारणीभूत मोहनीय आदि कर्मों के क्षय करने की तीव्र भावना से जिसने भिक्षु-चर्या का अनुसरण किया हो उसी अनगार महात्मा पुरुष के विनय-धर्म का यहां पर आरम्भ में वर्णन करने की ग्रन्थकार प्रतिज्ञा करते हैं।

भिक्षु—सामान्य रूप से देखा जाए तो भिक्षु शब्द का अर्थ केवल भीख मागकर खाने वाला होता है, परन्तु भिक्षु शब्द का ऐसा निकृष्ट अर्थ यहा पर अभिप्रेत नही है, और न ही ऐसे अर्थ के लिए भिक्षु शब्द उपयुक्त है। जीवन के उत्कृष्टतम आदर्श को लक्ष्य में रखकर यहां पर 'भिक्षु' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिए किसी प्रकार की जघन्य आकाक्षाओं से प्रेरित न होकर किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट न देकर तथा किसी भी गृहस्थ के लिए किसी भी प्रकार से भारभूत न होकर, केवल शरीर-यात्रा के निर्वाहार्थ निर्दोष आहार की भिक्षा लेने वाले साधु पुरुष को ही भिक्षु कहते है। यति, संयमी, मुनि और संन्यासी आदि इसी के पर्यायवाची शब्द अथवा नामान्तर है।

अनगार और भिक्षु शब्द की सार्थकता—अनगार और भिक्षु ये दोनों शब्द यद्यपि एक ही अर्थ के बोधक है, तथापि मूल गाथा मे इन दोनो का एक साथ प्रयोग करने का तात्पर्य यह है कि लोक में अनेक साधु महात्मा ऐसे भी दृष्टिगोचर होते है जोकि अनगार होते हुए भी भिक्षावृत्ति का पालन नही करते तथा ऐसे भिक्षुओं की संख्या भी कुछ कम नही है जोकि स्थानधारी होने पर भी सदा भिक्षावृत्ति से ही जीवन-यात्रा करते है, परन्तु शास्त्रकारो को ऐसा आचरण इष्ट नही है। शास्त्रकारो की सम्मति मे तो साधु के लिये अनगार होने पर भिक्षु होना और भिक्षु-वृत्ति का आलम्बन ग्रहण करने पर अनगार होना अनिवार्य है। इसीलिये उक्त गाथा मे इन दोनो शब्दो की एक साथ योजना की गई है जो कि सर्वथा सार्थक है।

क्रियापद—उक्त गाथा में वर्तमान काल की क्रिया का प्रयोग न करते हुए 'करिस्सामि' इस भविष्यत्कालीन क्रिया का प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञोक्त वाणी तो अनन्तविध अर्थो का प्रतिपादन करने वाली है और उनके अतिनिकटवर्ती शिष्य गणधरादि देव छद्मस्थ है। इसलिए वे सर्वज्ञ देव के कहे हुए सम्पूर्ण अर्थो का तो वर्णन नहीं कर सकते, किन्तु अपनी शक्ति के अनुसार उसके वर्णन की चेष्टा करते है। बस इसी भाव को व्यक्त करने के लिए भविष्यत्कालीन क्रिया का प्रयोग किया गया है, अर्थात् ग्रन्थकार गणधरदेव का यह वचन है कि मै यथाशक्ति सर्वज्ञदेव के कहे हुए अर्थो का प्रतिपादन करने की चेष्टा करूगा, न कि सम्पूर्णतया उन अर्थो के

प्रतिपादन करने में मैं समर्थ हूं। इस कथन से गणधरदेव ने अपनी असीम गुरु-भक्ति का परिचय दिया है।

शृणुत—इस गाथा में जो 'सुणेह' क्रियापद दिया है उससे शिष्यवर्ग को विनय-धर्म का श्रवण कराना ही ग्रन्थकार को अभिप्रेत है, क्योंकि वक्ता को श्रवण कराने में तभी आनन्द आता है जब कि श्रोता लोग दत्तचित्त होकर श्रवण करने की ओर अग्रसर होने की चेष्टा करें।

यहां पर '**आणुपुव्विं**' यह तृतीया विभक्ति के स्थान में द्वितीयान्त पद का प्रयोग इसलिए किया गया है कि आर्ष-भाषाओं में विभक्ति-व्यत्यय का होना शिष्ट सम्मत है, यह बात सब को भलीभांति विदित हो जाए तथा इस गाथा में केवल भिक्षु-सम्बन्धी विनय-धर्म के वर्णन की जो प्रतिज्ञा की गई है उसका तात्पर्य यह है कि सामान्य व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाले विनय के अवान्तर भेदों मे से केवल मोक्ष-विनय के विषय में ही यहां पर विचार करना ग्रन्थकार को अभीष्ट है, अन्य के विषय में नहीं।

शास्त्रकारो ने विनय के लोकोपचार-विनय, अर्थ-विनय, भय-विनय, काम-विनय और मोक्ष-विनय ये पांच भेद माने है।

१. केवल लोक-व्यवहार के पालन के उद्देश्य से की जाने वाली विनय लोकोपचार-विनय है।

२. धन-प्राप्ति की अभिलाषा के निमित्त किसी धनाढ्य व्यक्ति के समक्ष विनय करना अर्थ-विनय कहलाता है।

३ प्राणादि की रक्षा के लिये किसी राजा-मन्त्री आदि शासक-वर्ग के समक्ष की जाने वाली विनय को भय-विनय कहा गया है।

४ विषय-पूर्ति के निमित्त तदुपयोगी सामग्री का संग्रह करना तथा विषय-क्रीड़ार्थ स्त्री आदि का विनय करना काम-विनय है।

५. ऐहिक तथा पारलौकिक विषय-भोगों के विनश्वर सुख की अभिलाषा को छोड़कर केवल कर्म-क्षय के निमित्त सम्यक्तया रत्नत्रय—दर्शन, ज्ञान एव चारित्र की आराधना का नाम मोक्ष-विनय है।

इस प्रकरण मे केवल मोक्ष-विनय का ही वर्णन ग्रन्थकार को अभिप्रेत है, क्योंकि इस मोक्ष-विनय के अनुष्ठान से ही कर्म-क्षय द्वारा अक्षय सुख अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति शक्य हो सकती है। इसलिए विनय धर्म के साथ भिक्षु शब्द का सम्बन्ध परम आवश्यक और युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

विनय का स्वरूप

आगामी गाथा मे धर्मी द्वारा धर्म का निरुपण किया गया है। यद्यपि विनय ही निश्चय धर्म है, अतः उसी का वर्णन करना समुचित जान पड़ता है, तथापि धर्म एवं धर्मी के माध्यम से विनय-धर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं। यथा—

आणाणिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए ।
इंगियागारसंपण्णे, से विणीए त्ति वुच्चई ॥ २ ॥

आज्ञानिर्देशकरः गुरुणामुपपातकारकः ।
इङ्गिताकारसंपन्नः, स विनीत इत्युच्यते ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—आणा—आज्ञा का, **णिद्देसकरे**—निर्देश करने वाला, **गुरूणं**—गुरुओं के, **उववायकारए**—समीप रहने तथा उनकी आज्ञा के अनुकूल कार्य करने वाला, **इंगियागारसंपण्णे**—गुरुओं के इगित और आकार को भली-भांति जानने वाला, **से**—वह, **विणीए**—विनयवान्, **त्ति**—इस प्रकार से, **वुच्चई**—कहा जाता है।

मूलार्थ—जो गुरुओं की आज्ञा का पालन करने वाला हो, गुरुओं के समीप बैठने वाला हो, उनके कार्य को करने तथा उनके इंगित और आकार को भली प्रकार जानने वाला हो, वह शिष्य विनयवान् कहा जाता है।

टीका—इस गाथा मे विनय-धर्म का स्वरूप उसके आधारभूत धर्मो के द्वारा प्रतिपादन किया गया है। यहां पर विनय धर्म है और विनयवान् शिष्य धर्मी है, अतः धर्म-धर्मी का अभेद मानकर शिष्य के कर्त्तव्य का जो वर्णन है वही विनय-धर्म का स्वरूप समझना चाहिए। विनीत अथवा विनयवान् शिष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह आगम-विहित उत्सर्ग और अपवाद-मार्ग का अनुसरण करता हुआ गुरुजनो की आज्ञा के अनुकूल आचरण करे। गुरुजन उसे जिस कार्य के विधान की आज्ञा दे उसे तो वह आचरण मे लाए ही और जिस कार्य के लिए वे निषेध करें उसको वह सर्वथा त्याग भी दे, तथा उसकी (शिष्य की) सारी कार्यविधि गुरुजनों की दृष्टि के सम्मुख ही रहनी चाहिए, ताकि उसका कोई भी कार्य गुरुजनो की आज्ञा के प्रतिकूल न हो। इसके अतिरिक्त विनीत शिष्य का केवल इतना ही कर्त्तव्य नही है कि वह गुरुओं के आदेश पर ही हेय और उपादेय कार्य मे अपनी साधु-चर्या को मर्यादित करे, किन्तु गुरुजनो की प्रवृत्ति और निवृत्ति सूचक इगित आकार आदि चेष्टाओं के ज्ञान की भी वह अपने मे योग्यता सम्पादन करे। नेत्र का इशारा, सिर का हिलाना और दिशा आदि का अवलोकन करना इत्यादि जो भावसूचक मूलचेष्टाएं है उनके द्वारा भी गुरुजनो के आन्तरिक अभिप्राय को समझकर उसके अनुसार आचरण करने वाला शिष्य ही वास्तव में विनीत कहा जा सकता है।

यहा पर इतना और स्मरण रखना चाहिए कि गुरुजनो की आज्ञा का पालन करना, उनकी अग-सचालनादि मूल चेष्टाओं को समझकर तदनुकूल आचरण करना तथा गुरुजनों के संग का उनकी आज्ञा के बिना परित्याग न करना और श्रद्धापूर्वक उनकी सेवा-भक्ति करना आदि जो शिष्य के मुख्य धर्म उक्त गाथा में निर्दिष्ट किए गए है, उनको अहर्निश भलीभांति आचरण में लाने वाला विनयशील कहा अथवा माना जाता है। इसके विपरीत गुरुजनों को केवल नमस्कार मात्र कर देना, इच्छा न रहते

हुए भी किसी न किसी प्रकार से उन्हें आज्ञा देने के लिये बाध्य करना, उनसे पृथक् रहकर केवल शब्दों द्वारा उनकी प्रशंसा-मात्र कर देना, विनय-धर्म की झूठी नकल करना है। इस प्रकार का कृत्रिम आचरण करने वाला शिष्य न कभी विनीत माना जा सकता है और न उसके इस विनयाभास को विनय-धर्म के नाम से घोषित करना शास्त्र-सम्मत है।

मुख्य विनय-धर्म तो सर्वज्ञ वीतराग देव के द्वारा निर्दिष्ट किए गए मार्ग का अनुसरण और तदनुकूल आचरण करने वाले गुरुजनों की आज्ञा के यथावत् पालन में है, इसीलिए आगमों में अनेक जगह पर '**आणाए आराहित्ता**' की घोषणा देखी जाती है।

यहां गाथा के प्रथम पाद में तो आज्ञा के पालन का निर्देश है और द्वितीय, तृतीय पाद में उसके जानने की विधि का वर्णन है तथा चतुर्थ पाद में विनय-धर्म की पूर्ति की गई है। इसलिए शास्त्र-विहित और शिष्ट जनानुमोदित गुरुजनों की आज्ञा में रहने वाला शिष्य ही विनीत भाव को प्राप्त कर अपने अभिलषित स्थान की ओर प्रस्थान करने के लिए शक्तिशाली बन सकता है।

भगवान और उनकी वाणी में अभेद

जिस प्रकार विनय धर्म के निरूपण मे धर्म-धर्मी का कथंचित् अभेद अंगीकार किया गया है, उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् और उनकी आगम रूप वाणी में भी अभेद मानकर शास्त्र की आज्ञा को भगवान् की आज्ञा स्वीकार करना भी किसी प्रकार से असगत एवं न्याय-विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। इसलिए शास्त्रों मे जिन आज्ञाओं का विधान है वे सब साक्षात् भगवान की आज्ञा होने से सबके लिए सर्वथा मान्य एवं शिरोधार्य है, अत. उनको आचरण में लाना ही विनीत शिष्य का सबसे प्रथम कर्त्तव्य है।

विनय-धर्म रूप कल्पवृक्ष के पोषण की मूल सामग्री आगम-विहित आचार के सम्यग् अनुष्ठान में ही निहित है। जिस प्रकार जल-सिंचन आदि क्रियाओं से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ उत्तम वृक्ष अपनी छाया और फल पुष्पादि से पथिक जनो के लिए एक अपूर्व विश्रान्ति का स्थान बन जाता है, ठीक इसी प्रकार शास्त्रानुसार आचरण में लाई जाने वाली विनय-धर्म सम्बन्धी क्रियाएं भी आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप स्वाभाविक गुणों में चमत्कारपूर्ण एवं लोकोत्तर उत्कर्ष पैदा करके उसे विश्व-विश्रान्ति का पूर्ण धाम बना देती है।

अविनय का स्वरूप

धर्म और धर्मी का अभेद मानकर जिस तरह विनय का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार अब उसके प्रतिपक्षभूत अविनय के स्वरूप का वर्णन निम्नलिखित गाथा द्वारा किया जा रहा है—

आणाऽणिद्देसकरे, गुरूणमणुववायकारए ।
पडिणीए असंबुद्धे, अविणीए त्ति वुच्चइ ॥ ३ ॥

आज्ञाऽनिर्देशकरः, गुरूणामनुपपातकारकः ।

प्रत्यनीकोऽसंबुद्धः, अविनीत इत्युच्यते ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—**आणा**—आज्ञा को, **अणिद्देसकरे**—अस्वीकार करने वाला, **गुरूणं**—गुरुओं के, **अणुववायकारए**—पास न बैठने वाला, **पडिणीए**—प्रतिकूलवर्ती, **असंबुद्धे**—तत्त्व के बोध से रहित, **अविणीए**—विनय-रहित, **त्ति**—इस प्रकार, **वुच्चइ**—कहा जाता है।

मूलार्थ—गुरुजनों की आज्ञा को अस्वीकार करने वाला, उनके समीप न बैठने वाला तथा उनके प्रतिकूल आचरण करने वाला और तत्त्वार्थ के बोध से रहित ऐसा जो शिष्य है उसे अविनीत या विनय-शून्य कहते हैं।

टीका—पूर्व गाथा में विनय-धर्म के जितने भी लक्षण बताए गए हैं, उनके विपरीत चलने वाला अविनीत कहा जाता है। शास्त्राज्ञा को सम्मान न देना, गुरुजनो की परिचर्या में न रहना तथा गुरुजनों की इच्छा के सर्वथा प्रतिकूल आचरण करना, इत्यादि सब अविनीत शिष्य के लक्षण है। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थ-बोध से रहित होना और पूज्य वृद्ध जनो से शत्रुता रखना भी अविनीतता का प्रत्यक्ष स्वरूप है। तत्त्वार्थ-बोध मे षट् द्रव्य, नव तत्त्व, सप्त नय, सप्त भंग और चार प्रमाण आदि के ज्ञान का समावेश है। यदि सक्षेप मे कहे तो तीर्थंकरो की आज्ञा का विराधक और गुरुजनों के प्रतिकूल आचरण करने वाला शिष्य अविनीत कहा जाता है, जो कि अति दूषित है।

अब इसी विषय को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जाता है :—

जहा सुणी पूइकण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो ।
एवं दुस्सीलपडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ॥ ४ ॥

यथा शुनी पूतिकर्णी, निष्कास्यते सर्वतः ।
एवं दुःशीलः प्रत्यनीकः मुखारिर्निष्कास्यते ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैसे, **सुणी**—कुतिया, **पूइकण्णी**—सड़े हुए कानों वाली, **निक्कसिज्जइ**—निकाली जाती है, **सव्वसो**—सर्व स्थानो से, **एवं**—इसी प्रकार, **दुस्सील**—दुराचारी, **पडिणीए**—शत्रुता रखने वाला विद्वेषी, **मुहरी**—मुखर अर्थात् वाचाल, **निक्कसिज्जई**—निकाला जाता है।

मूलार्थ—जैसे सड़े हुए कानो वाली कुतिया घर आदि निवास योग्य स्थानों से निकाल दी जाती है उसी प्रकार गुरुजनों से शत्रुता रखने वाला, असम्बद्ध-प्रलापी और दुराचारी पुरुष भी गण अर्थात् संघ आदि से पृथक् कर दिया जाता है।

टीका—इस गाथा मे जो दृष्टान्त दिया गया है वह स्वेच्छाचारी, चारित्र-भ्रष्ट, अविनीत शिष्य के साथ बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। जैसे कि ऐसी कुतिया जिसके कान मे कृमि पड़े हुए है, घावों से पीप और रुधिर की धारा बह रही है, उसे कोई भी भद्र-पुरुष अपने या अपने घर के समीप आने नही

देता, अपितु उसे समीप आती देखकर दूर से ही भगा देता है, जैसे इस सड़ी हुई कुतिया के साथ होने वाले इस प्रकार के व्यवहार को हम प्रत्यक्ष रूप से संसार में देखते हैं, ठीक इसी प्रकार का घृणित व्यवहार लोक में उस व्यक्ति के साथ होता है जो कि आचार-भ्रष्ट होकर शास्त्रों और गुरुजनों की अवहेलना करता है। जैसे उस सड़ी हुई कुतिया को घर में रखने से दुर्गन्धादि के फैलने का भय रहता है उसी प्रकार आचार-भ्रष्ट व्यक्ति के ससर्ग में भी अनेक प्रकार के उपद्रवो के आगमन की सम्भावना रहती है। जिस प्रकार वह कुतिया गृह आदि निवास-योग्य स्थानों में रखने लायक नहीं होती ठीक उसी प्रकार स्वेच्छाचारी, गुरुजन-विद्वेषी और चारित्र-भ्रष्ट अविनीत शिष्य भी संघ आदि में स्थान देने योग्य नही होता। इसलिए उक्त गाथा में पुरुष-लिङ्ग का प्रयोग न करते हुए **'सुणी—शुनी'** यह स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग किया गया है, जिसका तात्पर्य अतीव जघन्य अर्थ का प्रकाश करना है तथा शुनी के साथ पूतिकर्णी आदि जो विशेषण दिए गए है वे उसे अपने संसर्ग से पृथक् रखने में ही चरितार्थ होते है।

इसके अतिरिक्त **"सव्वसो"** मे निन्दार्थ सूचक 'शस' प्रत्यय का उपयोग किया गया है उसने तो उक्त भाव की अभिव्यक्ति में चार चाद ही लगा दिए है। तात्पर्य यह है कि अविनीत शिष्य उस शुनी के समान त्याग देने योग्य है जिसके पीप और रुधिर आदि बह रहे है। यथा पीप और रुधिरादि बहने के कारण से शुनी का संसर्ग त्याज्य है, ऐसे ही दुःशीलादि अवगुणों के निमित्त से अविनीत शिष्य का सम्बन्ध भी किसी प्रकार से उपादेय नहीं होता।

दुष्ट पुरुष सद्गुणों का परित्याग कर अवगुणों में किस प्रकार से रमण करता है, इस रहस्य को निम्नलिखित गाथा में दिखाया गया है—

कणकुण्डगं चइत्ता णं विट्ठं भुंजइ सूयरो ।
एवं सीलं चइत्ता णं, दुस्सीले रमई मिए ॥ ५ ॥

कणकुण्डकं त्यक्त्वा खलु, विष्ठां भुंक्ते शूकरः ।
एवं शीलं त्यक्त्वा खलु, दुःशीले रमते मृगः ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—सूयरो—शूकर, **कणकुंडगं**—कण अर्थात् चावलो के पात्र को, **चइत्ताणं**—त्याग कर, **विट्ठं**—विष्ठा को, **भुंजइ**—खाता है, **एवं**—इसी प्रकार, **मिए**—मृग के समान अज्ञानी, **सीलं**—शील को, **चइत्ताणं**—त्याग करके, **दुस्सीले**—दुराचार में, **रमई**—रमण करता है।

मूलार्थ—जिस प्रकार चावलों के पात्र को छोड़कर शूकर विष्ठा ही खाता है उसी प्रकार मृग के समान अज्ञानी जीव शुद्ध आचार का परित्याग करके दुराचार में रमण करता है।

टीका—जैसे शूकर भक्षण-योग्य स्वादिष्ट चावलो से भरे हुए कुंड का परित्याग करके केवल विष्ठा के आहार से ही अपने शरीर को पुष्ट करता है, ठीक उसी प्रकार मृग की भांति बोध-रहित अज्ञानी जीव शास्त्र-विहित और साधु-जनानुमोदित सदाचार का परित्याग करके शिष्ट-जन-विगर्हित कुत्सित आचार मे ही प्रवृत्त होता है। यहां गाथा में 'मृग' शब्द का प्रयोग मूर्खता के अर्थ-ज्ञापन के

लिए किया गया है। तात्पर्य यह है कि जैसे मूर्खता के कारण मृग गीत आदि में मूर्च्छित होकर अपने निकटवर्ती मृत्यु के भय को नहीं देख पाता, इसी प्रकार अविनीत आत्मा अर्थात् जीव दुर्गति के भय की उपेक्षा करता हुआ दुराचार में ही रम जाता है। "मृग" शब्द "जंगली पशु" के लिये भी प्रयुक्त होता है।

जैसे शूकर उत्तम और पुष्टि के देने वाले चावल आदि भोज्य पदार्थों की उपेक्षा करके विष्ठा आदि निकृष्टतम पदार्थों के सेवन में ही दत्तचित्त रहता है, ऐसे ही अविनीत आत्मा ज्ञान-दर्शन और चारित्र आदि सद्गुणों की आराधना का परित्याग करके अधमतम विषय-विकारों में ही अहर्निश रमण करता है। यहां पर ग्रन्थकार ने सदाचार को चावलों और कुत्सित आचार को विष्ठा से उपमित किया है, अतः अविनीत पुरुष को शूकर का सादृश्य देना ठीक ही है, जिससे कि सुज्ञ पुरुष दुराचार को विष्ठा के समान समझकर त्याग दे और सदाचार में रत होने का निरन्तर अभ्यास करें।

इस उपदेश के श्रवण के अनन्तर जिज्ञासु का जो कर्त्तव्य है, उसका प्रतिपादन निम्नलिखित गाथा में किया गया है—

सुणियाऽभावं साणस्स, सूयरस्स नरस्स य ।
विणए ठवेज्ज अप्पाणं, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥ ६ ॥

श्रुत्वाऽभावं शुन्याः, शूकरस्य नरस्य च ।
विनये स्थापयेदात्मानम्, इच्छन् हितमात्मनः ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—**सुणिया**—सुन करके, **अभावं**—बुरे फल को, **साणस्स**—कुतिया का, **सूयरस्स**—शूकर का, **य**—और, **नरस्स**—पुरुष का, **विणए**—विनय मे, **ठवेज्ज**—स्थापना करे, **अप्पाणं**—आत्मा को, **इच्छन्तो**—चाहता हुआ, **हियं**—हित, **अप्पणो**—आत्मा का।

मूलार्थ—इस लोक तथा परलोक में अपने हित को चाहने वाला पुरुष कुतिया, सूअर और असम्बद्धप्रलापी मनुष्य के कुत्सित फल को सुनकर अपनी आत्मा को विनय धर्म के अनुष्ठान में स्थापित करे—लगाए।

टीका—रुधिर, पूय-स्राव-युक्त शुनी अर्थात् कुतिया, विष्ठाभोजी शूकर और आचार-भ्रष्ट स्वेच्छाचारी पुरुष ये किसी स्थान पर भी सत्कार के पात्र नहीं बनते, बल्कि हर एक स्थान पर इनका तिरस्कार ही होता है। इनके विगर्हित आचरण ही इनकी इस दुर्दशा के कारण होते है। इस प्रकार कुत्सित आचरणों की हीन-फलता का विचार करके साधु पुरुष इनसे सदा पराङ्मुख रहकर अपने आत्मा को सदाचार-युक्त विनय-धर्म मे ही स्थित करने का प्रयत्न करे। इसी मे उसका ऐहिक तथा पारलौकिक हित है। यथा विनय से ज्ञान, ज्ञान से दर्शन, दर्शन से चारित्र, चारित्र से मोक्ष और मोक्ष से निराबाध अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार विनय-धर्म मे ही आत्मा के असीम सुख का मूल निहित है। यहा पर गाथा मे जो "अभाव" शब्द आया है, उसमें नञ् समास कुत्सा के अर्थ में है

और वह अशुभ फल के अर्थ का सूचक है जो कि अविनीत पुरुष के लिए उपयुक्त ही है।

तथा 'साणस्स' शब्द जो कि षष्ठी विभक्ति 'शुन्यः' स्त्रीलिंग के स्थान में पुरुषलिग से निर्देश किया गया है, वह प्राकृत के बाहुल्य नियम के अनुसार किया गया है। प्राकृत में लिंग और विभक्ति-व्यत्यय की बहुलता प्रायः रहती ही है।

अब विनय के विषय में शास्त्रकार कहते हैं—

तम्हा विणयमेसिज्जा, सीलं पडिलभेज्जओ ।
बुद्धपुत्त नियागट्ठी, न निक्कसिज्जइ कण्हुई ॥ ७ ॥

तस्माद् विनयमेषयेत्, शीलं प्रतिलभेत यतः ।
बुद्धपुत्रो नियागार्थी, न निष्कास्यते कुतश्चित् ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—**तम्हा**—इसलिए, **विणयं**—विनय को, **एसिज्जा**—करे, **जओ**—जिससे, **सीलं**—आचार को, **पडिलभेज्जओ**—प्राप्त करे, **नियागट्ठी**—नियाग—मोक्ष को चाहने वाला, **बुद्धपुत्त**—आचार्य पुत्र, **कण्हुई**—किसी स्थान से भी, **न**—नहीं, **निक्कसिज्जइ**—निकाला जाता।

मूलार्थ—इसलिए भव्य पुरुष विनय का आचरण करे, जिससे कि उसे आचार की प्राप्ति हो, मोक्ष का अभिलाषी वह बुद्ध-पुत्र—प्रबुद्ध—आचार्य का शिष्य किसी स्थान से भी नहीं निकाला जाता।

टीका—सर्व प्रकार के सद्गुणों का आदि स्रोत विनय है, विनय के अनुष्ठान से ही शीलादि सदाचार की प्राप्ति होती है। विनीत शिष्य तत्त्ववेत्ता आचार्यों के समक्ष पुत्र के समान प्रिय बन जाता है। उसकी मोक्ष सम्बन्धी अभिलाषा उसे हर एक स्थिति और स्थान में आदर का पात्र बना देती है। इसलिए विनय-धर्म का आराधन करने वाला कभी और किसी दशा में भी तिरस्कार का पात्र नहीं बनता। अधिक क्या कहे, विनय धर्म साधु-जीवन का प्राण है।

यहा पर अर्थात् बुद्ध नाम तत्त्ववेत्ता आचार्य का है और पुत्र शब्द शिष्य का बोधक है। आचार्य अथवा गुरुजनो की आज्ञा के अनुकूल बर्ताव करने वाला शिष्य भी उनके निकट पुत्र ही है। शास्त्रकारो ने पुत्र और शिष्य में किसी प्रकार का भी अन्तर नही माना, इसलिये आचार्य और शिष्य इन पदो का प्रयोग न करके उसके स्थान मे 'बुद्धपुत्र' शब्द का ही प्रयोग ग्रन्थकार ने किया है जिससे कि शिष्य और पुत्र मे अभेद का बोध बड़ी सरलता से हो सके।

यहा पर 'नियागार्थी' शब्द का अर्थ मोक्ष की इच्छा रखने वाला मुमुक्षु है, जैसे कि **'नितरां यागः पूजा यस्मिन् स नियागो मोक्षस्तदर्थी'** इस व्युत्पत्ति के द्वारा सिद्ध होता है। ''एषयेत्'' इस क्रियापद का जो ''कुर्यात्''—करे, अर्थ किया गया है वह **'अनेकार्था धातवो भवन्ति'** इस व्यापक नियम के आधार पर है।

विनय के अनुष्ठान की विधि—

विनय का आचरण किस प्रकार करना चाहिए, यह नीचे फरमाते हैं—

निस्सन्ते सियाऽमुहरी, बुद्धाणं अन्तिए सया ।
अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए ॥ ८ ॥

निःशान्तः स्यादमुखरिः, बुद्धानामन्तिके सदा ।
अर्थयुक्तानि शिक्षेत, निरर्थानि तु वर्जयेत् ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—**निस्सन्ते**—अतिशान्त, **सिया**—होवे, **अमुहरी**—असम्बद्धभाषी न होवे, **बुद्धाणं**—आचार्यो के, **अंतिए**—समीप में, **सया**—सदा, **अट्ठजुत्ताणि**—अर्थ-युक्त पदों को, **सिक्खिज्जा**—सीखे, **निरट्ठाणि**—निरर्थक बातो को, **उ**—वितर्क से, **वज्जए**—त्याग दे।

मूलार्थ—शिष्य स्वभाव से सदा शान्ति रखे, असम्बद्ध भाषण का परित्याग कर दे, सदा गुरुजनों के समीप में ही रहकर अर्थ-युक्त पदों का ग्रहण करे और निरर्थक बातों पर विचार करना छोड़ दे।

टीका—विनयशील शिष्य का धर्म है कि वह सदा शान्त रहे, कभी क्रोध न करे, बिना विचार किए कभी न बोले, आचार्यो के समीप रहकर परमार्थ साधक तात्त्विक पदार्थो की शिक्षा ग्रहण करे और परमार्थ-शून्य पदार्थो के जानने के निमित्त अपने अमूल्य समय को न खोए।

यहा पर इतना और भी समझ लेना चाहिए कि मूल गाथा मे अर्थयुक्त पद के ग्रहण और निरर्थक पद के त्याग का कथन किया गया है। सो यहा पर अर्थयुक्त सार्थक पद से तो परमार्थ-विधायक आगमादि धर्मशास्त्रो का ग्रहण है और निरर्थक पद से केवल लौकिक अर्थ के साधक वात्स्यायनादि रचित काम-सूत्रादि ग्रन्थो के ग्रहण से तात्पर्य है, अर्थात् गाथा में आया हुआ "**अट्ठजुत्ताणि**" पद सामान्य शास्त्र का बोधक है। इसलिए मुमुक्षु साधक को केवल परमार्थ विषय से सम्बन्ध रखने वाले अध्यात्म-शास्त्रों का ही गुरुजनो के निकट रहकर स्वाध्याय करने का उपदेश किया गया है और केवल ऐहिक विषयों का वर्णन करने वाले लौकिक ग्रन्थों के स्वाध्याय में समय-यापन करने का निषेध है, क्योकि मुमुक्षु पुरुष के लिए इनमे जानने योग्य कोई महत्व का विषय नहीं है। वास्तव में देखा जाए तो कोई भी पदार्थ या शास्त्र स्वयं मे सार्थक अथवा निरर्थक नहीं होता। पदार्थो की सप्रयोजनता और प्रयोजनशून्यता तो विचार करके अपने निजी भाव और योग्यता पर निर्भर है। कही-कहीं सम्यग्दृष्टि-विवेकशील व्यक्ति द्वारा ग्रहण किया गया मिथ्या-दर्शन-शास्त्र भी सम्यग्दर्शन-शास्त्र हो जाता है और मिथ्यादृष्टि-विवेकशून्य, विचार विहीन द्वारा परिगृहीत सम्यग्दर्शन शास्त्र भी मिथ्यादर्शन-शास्त्र बन जाता है एव भाव के अनुसार ही कही पर आश्रव भी संवर का स्थान ग्रहण कर लेता है और सवर आश्रव हो जाता है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए मूल गाथा मे "उ" 'तु' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है विवेक-गम्य। तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु पुरुष का जिससे अपना अभीष्ट सिद्ध हो उसी शास्त्र का वह पठन-पाठन करे और जिसके पठन-पाठन से

उसका अपना कोई प्रयोजन फलीभूत न हो सके उसके अध्ययन में वह अपने अमूल्य समय को न खोए।

पदार्थ-शिक्षण-प्रकार—

अब गुरुजनों के समीप बैठकर जिस विधि से पदार्थों को ग्रहण करना विनीत शिष्य के लिए उचित है उसका वर्णन निम्नलिखित गाथा में किया जाता है, यथा—

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा, खंतिं सेविज्ज पण्डिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए॥ ६॥

अनुशासितो न कुप्येत्, क्षांतिं सेवेत पण्डितः।
क्षुद्रैः सह संसर्गं, हासं क्रीडां च वर्जयेत्॥ ६॥

पदार्थान्वयः—अणुसासिओ—शिक्षित करने पर, न **कुप्पेज्जा**—कोप न करे, **खंतिं**—क्षमा को, **सेविज्ज**—सेवन करे, **पण्डिए**—पंडित, **खुड्डेहिं**—क्षुद्रो—पतित आचार वालों के, **सह**—साथ, **संसग्गिं**—संसर्ग, **हासं**—हास्य, च—और, **कीडं**—क्रीडा, **वज्जए**—छोड़ देवे।

मूलार्थ—पण्डित जन—विनयशील शिष्य गुरुओं के द्वारा शिक्षा—ताड़ना मिलने पर भी क्रोध न करे, किन्तु क्षमा का सेवन करे तथा क्षुद्र जनों का संसर्ग और उनसे हास्य क्रीडादि न करे।

टीका—बुद्धिमान शिष्य के लिए यही उचित है और इसी में उसकी भलाई है कि गुरुजनों के द्वारा सीखे हुए पाठ को प्रमादवश यदि वह भूल जाए और भूल जाने से अशुद्ध पढ़ने लग जाए तथा यह देखकर यदि गुरु महाराज उसको कोमल या कठोर शब्दों के द्वारा ताड़ना करें तो गुरुजनों की इस हित-शिक्षा रूप ताड़ना के उत्तर में वह उन पर किसी प्रकार का क्रोध न करके अपने आपको अविनीत न बनाए और न अपने आत्मा मे किसी प्रकार की ग्लानि को स्थान दे, किन्तु हित-बुद्धि से दी गई गुरुजनों की इस समुचित शिक्षा को बड़ी नम्रता से और शान्तिपूर्वक ग्रहण करके अपनी भूल को सुधारने का प्रयत्न करे तथा बाल-जनों—अज्ञानियों—मूढ़ो और पतित जनों के सहवास में कभी न आए और न उनसे किसी प्रकार का हास्य तथा क्रीड़ादि व्यापार करे, क्योंकि उनके संसर्ग में आने से अपनी अन्तर्मुख आत्मवृत्ति में शिथिलता आने की सम्भावना रहती है। इसलिए जिन पतित व्यक्तियों के साथ हास्य-क्रीड़ादि द्वारा अधिक सहवास में आने से धर्मपथ से भ्रष्ट होने की आशंका हो, उनका सहवास दूर से ही त्याग देना उचित है।

यहां पर शिष्य को प्रमाद करने के कारण गुरुजनों द्वारा दी गई ताड़ना रूप शिक्षा के उत्तर में उन पर कुपित न होने का जो उपदेश दिया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि क्रोध से विद्या और बुद्धि का नाश हो जाता है तथा क्रोधी पुरुष की विद्या कभी सफल नही होती, इसलिए विनीत शिष्य को उचित है कि वह क्रोध से अपनी आत्मा को सदा अलग रखे तथा हास्य, क्रीड़ा और जघन्य पुरुषों का

संसर्ग भी विद्या की प्राप्ति में विघ्न रूप ही है, इसीलिए विनीत शिष्य को इनका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

गुरुजनों का उपदेश

मा य चण्डालियं कासी, बहुयं मा य आलवे ।
कालेण य अहिज्जित्ता, तओ झाएज्ज एगओ ॥ १० ॥

मा च चण्डालीकं कार्षीः, बहुकं मा चालपेत् ।
कालेन चाधीत्य, ततो ध्यायेदेककः ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—हे शिष्य !, **मा**—मत, **य**—समुच्चय, **चण्डालियं**—क्रोध के वशीभूत होकर झूठ, **कासी**—बोले, **य**—और, **मा**—मत, **बहुयं**—बहुत, **आलवे**—बोले, **य**—और, **कालेण**—काल के प्रमाण के अनुसार, **अहिज्जित्ता**—पढ़कर, **तओ**—उसके पश्चात्, **झाएज्ज**—ध्यान कर, **एगओ**—एक होकर।

मूलार्थ—हे शिष्य ! क्रोध के वशीभूत होकर तू झूठ मत बोल और बहुत मत बोल, किन्तु काल के अनुसार अध्ययन करने के पश्चात् एक होकर उसका ध्यान कर।

टीकाः—गुरु शिष्य को उपदेश करते है कि वह क्रोध और लोभ आदि के वशीभूत होकर कभी झूठ न बोले, क्योकि मृषावाद का आचरण साधु के लिए हर प्रकार से निन्दनीय है। झूठ बोलने से मनुष्य सभी के अविश्वास का पात्र बन जाता है, इसलिए असत्य भाषण का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

बिना प्रयोजन के अधिक बोलना भी किसी प्रकार से उचित नही होता, क्योकि अधिक बोलने से ध्यान में, अध्ययन और अध्यापन मे विघ्न पड़ता है तथा अधिक बोलने से क्लेश और बहिर्मुखता बढ़ती है। इसलिए बिना प्रयोजन प्रमाण से अधिक, अमर्यादित भाषण कभी नही करना चा, अर्थात् दिवस मे प्रथम भाग मे पढ़कर उसके पश्चात् द्रव्य और भाव से एकाकी होकर जो अधीत विषय है उसका चिन्तन करना चाहिए। द्रव्य से अकेला होने का अभिप्राय है स्त्री, पशु और नपुंसकादि से रहित स्थान मे बैठना और भाव से राग-द्वेषादि से रहित होना है। तात्पर्य यह है कि दिवस के आद्य भाग मे गुरुजनो से शास्त्र पढ़कर बाद मे द्वेष-रहित होकर एकान्त स्थान में बैठकर उस पढ़े हुए पाठ का चिन्तन करना चाहिए।

इस गाथा मे अकृत्य का त्याग और कृत्य के सेवन का उपदेश दिया गया है जो कि मुमुक्षु के लिए परम हितकर है। तथा 'वद्' धातु के स्थान मे 'कृ' धातु के प्रयोग से जो काम चलाया है, वह '**धातूनामनेकार्थत्वात्**' इस नियम के आधार पर है।

यदि क्रोधादि के वशीभूत होकर शिष्य कभी झूठ बोल दे, तो फिर उसका क्या कर्त्तव्य है, इस विषय का निम्नलिखित गाथा मे वर्णन किया गया है—

आहच्च चण्डालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइवि।
कडं कडे त्ति भासेज्जा, अकडं नो कडे त्ति य ॥ ११ ॥

आहत्य चण्डालीकं कृत्वा, न निन्हुवीत कदापि च।
कृतं कृतमिति भाषेत, अकृतं नो कृतमिति च ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—**आहच्च**—कदाचित्, **चंडालियं कट्टु**—क्रोध के वशीभूत होकर असत्य बोल दे उसे, **न निण्हविज्ज**—न छिपावे, **कयाइवि**—कदाचित् भी, **कडं**—किए हुए को, **कडे**—किया है, **त्ति**—इस प्रकार, **य**— और, **अकडं**—नहीं किये हुए को, **नो**—नही, **कडे**—किया है, **त्ति**—इस प्रकार, **भासेज्जा**—भाषण करे।

मूलार्थ—कदाचित् क्रोध के वशीभूत होकर शिष्य ने असत्य भाषण कर दिया हो तो गुरुजनों के पूछने पर उसे कदाचित् भी छिपाए नहीं, किया हो तो कह दे कि मैंने किया है और यदि न किया हो तो कह दे कि मैंने नहीं किया है।

टीका—क्रोध, लोभादि के वशीभूत होकर कदाचित् असत्य भाषण का हो जाना कोई अस्वाभाविक बात नही है, ऐसा प्रायः हो ही जाता है, क्योंकि विवेकी पुरुष भी कभी क्रोध अथवा लोभादि के वश मे आकर झूठ बोलने के लिए बाध्य हो जाता है, परन्तु ऐसा होने पर भी विनीत शिष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह उसे छिपाने की कोशिश कदापि न करे, गुरुजनों द्वारा पूछने अथवा न पूछने पर तथा किसी अन्य व्यक्ति के देखने अथवा न देखने पर भी वह उसे गुप्त न रखे। यदि उसने असत्य भाषण किया है तो स्पष्ट शब्दो मे कह दे कि मैने किया है और यदि उसने असत्य न बोला हो तो कह दे कि मैने असत्य नहीं बोला है। तात्पर्य यह है कि किसी भी समय क्रोधादि कषायो के वश में हो जाने पर भी शिष्य अपनी सत्यनिष्ठा से न गिरे। इसी आचरण मे उसके आत्मिक सद्गुणों का उज्ज्वल विकास है। इसके विपरीत जो व्यक्ति अपने से होने वाले असद् भाषण को लज्जा, भय आदि के कारण छिपाने का प्रयत्न करता है वह तो मायावी बनकर अपनी आत्मा को और भी अधिक कलुषित करता है। इसलिए वही साधक शूरवीर है जो कि किसी बलवान् निमित्त से हो जाने वाले अपने अपराध की स्वीकृति मे जरा भी संकोच नहीं करता, यही इस गाथा का तात्पर्य है।

गुरुजनों के उपदेशानुसार शिष्य की प्रवृत्ति और निवृत्ति किस प्रकार से होनी चाहिए, अब इस बात का वर्णन नीचे की गाथा में किया जाता है—

मा गलियस्सेव कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो ।
कसं व दट्ठुमाइण्णे, पावगं परिवज्जए ॥ १२ ॥

मा गलिताश्व इव कशं, वचनमिच्छेत् पुनः पुनः ।
कशमिव दृष्ट्वाऽऽकीर्णः, पापकं परिवर्जयेत् ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—**कसं**—चाबुक को, **गलियस्सेव**—गलियार अर्थात् अड़ियल घोड़े की तरह, **वयणं**—गुरुओं के वचन को, **मा**—न, **इच्छे**—चाहे, **कसं**—चाबुक को, **दट्ठुं**—देखकर, **व**—जैसे, **आइण्णे**—विनयवान् घोड़ा, **पावगं**—दुष्ट मार्ग को छोड़ देता है तद्वत्, **परिवज्जए**—छोड़ देवे।

मूलार्थ—जैसे दुष्ट घोड़ा चाबुक को बार-बार चाहता है, वैसे ही विनीत शिष्य गुरुओं के वचनों को बार-बार न चाहे, किन्तु जैसे विनीत घोड़ा चाबुक को देखकर ही बुरे मार्ग को छोड़ देता है उसी प्रकार विनयशील शिष्य भी गुरुजनों की दृष्टि आदि को देखकर ही अपनी दुष्ट प्रवृत्तियों को छोड़ दे।

टीका—अड़ियल घोड़ा अपने स्वामी की इच्छानुसार सीधे मार्ग पर न चलने के कारण बार-बार चाबुक की मार खाता है और विनीत घोड़ा चाबुक को देखते ही अपने स्वामी की इच्छानुसार सुमार्ग अर्थात् अभीष्ट मार्ग की ओर चलने लगता है, इसी प्रकार विनीत शिष्य को चाहिए कि वह कुमार्गगामी उस दुष्ट घोड़े की तरह अपने गुरुजनों को बार-बार उपदेश देने के लिए बाध्य न करे, किन्तु सुमार्गगामी उस विनीत घोड़े की तरह अपने गुरुजनों की भाव-सूचक अग-सचालनादि रूप मूक चेष्टाओं से ही अपनी दुष्ट प्रवृत्तियो को सुधार ले, इसी में उसके विनय-धर्म की शोभा है।

इस गाथा मे उपमा अलकार का चित्र बड़ी ही सुन्दरता से खीचा गया है। जैसे विनीत घोड़ा अपने स्वामी के आदेशानुसार चलने से अभीष्ट स्थान पर पहुंच जाता है, उसी प्रकार गुरुजनों की आज्ञा का पालन करता हुआ विनयशील शिष्य भी अपने अभीष्ट स्थान—मोक्ष-मन्दिर तक पहुच जाता है। यहा पर घोड़े के समान शिष्य, चाबुक के समान वचन और मार्ग के समान मोक्ष-मार्ग को समझना चाहिए तथा दुष्ट घोड़े के सदृश तो कुशिष्य है और विनीत घोड़े के समान सुशिष्य को समझे। इसके सिवाय अविनीत शिष्य के लिए चाबुक के आघात के समान तो गुरुजनो के आदेश रूप बार-बार वचन हैं और विनीत शिष्य के लिए चाबुक के देखने के समान उनकी भावसूचक अंग-चेष्टाए है।

साराश यह है कि जैसे सुशील घोड़ा अपने स्वामी के आदेश का पालन करता हुआ स्वयं सुखी रहकर अपने स्वामी को भी सुख पहुंचाता है, इसी प्रकार गुरुजनों के उपदेशानुसार चलने वाला विनीत शिष्य भी अपनी आत्मा में एक विलक्षण सुख का अनुभव करता हुआ अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति से गुरुजनो को भी प्रसन्न कर लेता है।

अब विनीत और अविनीत शिष्य के गुण-दोषो का विचार निम्नलिखित गाथा मे वर्णन किया जाता है—

अणासवा थूलवया कुसीला, मिउंपि चण्डं पकरंति सीसा।
चित्ताणुया लहुदक्खोववेया, पसायए ते हु दुरासयंपि ॥ १३ ॥

अनाश्रवाः स्थूलवचसः कुशीलाः; मृदुमपि चण्डं प्रकुर्वन्ति शिष्याः।
चित्तानुगाः लघुदाक्ष्योपपेताः प्रसादयन्ति ते खलु दुराशयमपि ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—अणासवा—वचन के न मानने वाले, **थूलवया**—बिना विचारे बोलने वाले, **कुसीला**—कुत्सित आचार वाले, **सीसा**—शिष्य, **मिउंपि**—कोमल स्वभाव वाले गुरु को भी, **चंडं**—क्रोधी, **पकरंति**—बना देते है। गुरु के, **चित्ताणुया**—चित्त के अनुसार चलने वाले, **लहु**—शीघ्र कार्य करने वाले, **दक्ख**—चतुर, **उववेया**—गुणों से युक्त, **पसायए**—प्रसन्न करते है, **ते**—वे शिष्य, **हु**—फिर, **दुरासयंपि**—अति क्रोधी गुरु को भी।

मूलार्थ—गुरु के वचनों को न मानने वाले, बिना विचारे बोलने वाले, खोटे आचार वाले कुशिष्य कोमल स्वभाव वाले गुरु को भी क्रोधी बना देते हैं और जो गुरु के चित्त के अनुसार चलने वाले, शीघ्र कार्य करने वाले चतुर शिष्य हैं वे क्रोधी गुरु को भी प्रसन्न कर लेते हैं।

टीका—इस गाथा में अविनीत और विनयशील शिष्य के आचरणो का गुरुजनों के चित्त पर जो प्रभाव पड़ता है उसी का दिग्दर्शन कराया गया है। जिनकी गुरुओं के वचनो पर आस्था नहीं है और जो बिना विचार किए बोलते है तथा कुत्सित आचरण रखते है, ऐसे कुशिष्य भद्र प्रकृति वाले गुरुजनो को भी क्रोध करने के लिए विवश कर देते है, क्योंकि बिना विचार किए बोलने वाले और बार-बार मना करने पर भी अपनी कुप्रवृत्तियों को न बदलने वाले शिष्य के प्रतिकूल व्यवहार को देखकर शान्त गुरु को भी क्रोध आ जाना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। इसके विपरीत गुरुजनों की इच्छानुसार आचरण करने वाले, उनके वचनो पर आस्था रखने वाले, उनके इशारे पर ही अविलम्ब रूप से कार्य करने वाले परम चतुर शिष्य कठिन प्रकृति वाले क्रोधी गुरु को भी सरल और शान्त बना देने में सिद्धहस्त होते है। बड़ी कठिनता से क्रोध का त्याग करने वाले गुरु को सरल और शान्त बना देने मे ही विनीत शिष्य की योग्यता का अधिक महत्त्व है। इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि शिष्य के आचरणों का अच्छा या बुरा प्रभाव गुरुजनों के चित्त पर अवश्य पड़ता है।

इसके अतिरिक्त इस गाथा के भाव का बारहवी गाथा से भी मेल खाता है। जैसे दुष्ट घोड़ा अपनी कुचेष्टाओं से स्वामी के शान्त स्वभाव में भी विकृति पैदा करके उसे अशान्त बना देता है, इसी प्रकार अयोग्य शिष्य के प्रतिकूल व्यवहार से सदा शान्त रहने वाले गुरुजन भी क्रोध में आकर अशान्त बन जाने के लिए विवश हो जाते है तथा चतुर और विनीत शिष्य विनीत घोड़े की तरह अपने गुरुजनों को लुभाते है, अर्थात् जैसे सुशील घोड़ा अपने स्वामी के कठिन हृदय को भी अपने भद्र आचरण से अपनी ओर खींच लेता है, इसी प्रकार बुद्धिमान् शिष्य भी अपने कठोर हृदयी गुरु के चित्त में बैठकर उसे सदा के लिए सरल और शान्त बना देता है।

शास्त्रकारों का विनीत शिष्य के लिए यह उपदेश है कि वह अपने गुरुजनों के चित्त को सदा प्रसन्न रखने का प्रयत्न करे, अपनी सम्पूर्ण चर्या को वह गुरु के चित्त के अनुकूल रखे और भूलकर भी वह ऐसा कोई प्रतिकूल आचरण न करे, जिससे कि गुरुजनों के अन्तःकरण में किसी प्रकार का आघात पहुंचे। इसी में उसके शिष्यभाव की सार्थकता है। विनीत शिष्य के विशुद्ध आचरणों का

प्रभाव गुरुजनों के अतिरिक्त उसके निकटवर्ती अन्य व्यक्तियों पर भी पड़ता है। इस कारण अन्य व्यक्तियों के जीवन में भी आशातीत परिवर्तन हो जाता है। इसलिए अविनीतता का परित्याग करके विनयशील बनना ही मुमुक्षु के जीवन का प्रधान लक्ष्य है।

अब गुरुजनों के चित्तानुवर्ती होने की विधि बताते हैं—

नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए ।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा, धारेज्जा पियमप्पियं ॥ १४ ॥

नापृष्टो व्यागृणीयात् किंचित्, पृष्टो वा नालीकं वदेत्।
क्रोधमसत्यं कुर्यात्, धारयेत् प्रियमप्रियम् ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—**अपुट्ठो**—बिना बोलाये, **किंचि**—किंचित्मात्र भी, **न**—न, **वागरे**—बोले, **वा**—अथवा, **पुट्ठो**—पूछने पर, **अलियं**—झूठ, **न वए**—न बोले, **कोहं**—क्रोध को, **असच्चं**—असत्य-निष्फल, **कुव्वेज्जा**—करे, **पियं**—प्रिय वचन और, **अप्पियं**—अप्रिय वचन को, **धारेज्जा**—धारण करे।

मूलार्थ—शिष्य को चाहिए कि वह बिना बुलाए थोड़ा भी न बोले और बोलने पर झूठ कभी न बोले, क्रोध को निष्फल बना दे तथा प्रिय और अप्रिय वचनों को बिना राग-द्वेष के धारण करे।

टीका—इस गाथा मे शिष्य के लिए यह शिक्षा दी गई है कि वह बिना बोलाए थोड़ा-सा भी न बोले और यदि किसी बात पर उसे बोलाया जाए तो वह झूठ कभी न बोले। गुरुजनों के किन्ही तिरस्कारयुक्त वचनों को सुनकर वह अपने मन में क्रोध न लाए। यदि किसी कारणवशात् क्रोध आ भी जाए तो उसे क्रियान्वित न होने दे, अर्थात् क्रोध के कटु फल का विचार करते हुए उसे निष्फल बना दे। क्योंकि क्रोध से मन में परिताप पैदा होता है, क्रोध से उद्वेग की वृद्धि होती है, क्रोध वैर का हेतु है तथा क्रोध से सुगति का नाश और दुर्गति की प्राप्ति होती है, इसलिए क्रोध सर्वथा हेय है। इसी प्रकार साधक मान, माया और लोभ आदि कषायो को भी उक्त विचार-सरणि से निष्फल बनाने का प्रयत्न करे। जिस प्रकार विचार-प्रवण अन्तर्मुख-वृत्ति से क्रोध आदि कषायो को निष्फल बनाया जा सकता है उसी प्रकार अपनी शान्त धारणा से समता को ग्रहण करता हुआ साधक राग-द्वेष से रहित होने का प्रयत्न करे। जिसके अन्तःकरण मे समता-देवी का साम्राज्य होता है, उसके लिये निन्दा और स्तुति दोनों समान कक्षा मे आ जाते है। वह अपने विषय मे किसी के स्तुति-युक्त वचनों को सुनकर प्रसन्न नही होता और निन्दा-सूचक शब्दो से किसी पर द्वेष नही करता।

इसके अतिरिक्त विनीत शिष्य का दूसरा कर्त्तव्य यह बताया गया है कि वह गुरुजनो के प्रिय अथवा अप्रिय वचनो को सुनकर मन मे किसी प्रकार की प्रसन्नता अथवा क्षुब्धता पैदा न करे, किन्तु उनके प्रिय तथा अप्रिय वचनों को अपने लिए नितान्त हितकारी समझकर उनको अपने शान्त हृदय में स्थान दे। तात्पर्य यह कि गुरुजनो के प्रिय तथा अप्रिय बर्ताव में किसी प्रकार का अन्तर न समझता हुआ साधक

अपने लिए दोनों को ही परम हितकर समझे, यही उसकी विनयशीलता की सच्ची कसौटी है।

यहां पर इतना और स्मरण रखना चाहिए कि उक्त गाथा मे "शिष्य को बिना बुलाए कभी बोलना न चाहिए" यह उपदेश केवल उत्सर्ग-मार्ग को लेकर दिया गया है, परन्तु अपवाद-मार्ग में तो जिस विषय पर बोलने से अपने गुरुजनों का महत्त्व बढ़ता हो और जो भाषण धर्म-वृद्धि में अधिक सहायक हो तथा जिस भाषण से किसी संदिग्ध धार्मिक तत्त्व की अधिक स्पष्टता होती हो, ऐसे स्थान में तो बिना पूछे भी वार्तालाप करने की शास्त्रों में मनाही नहीं की गई है, प्रत्युत शिष्टजनों तथा शास्त्र-प्रेमियों की दृष्टि में तो यह भाषण और भी अधिक महत्त्व का स्थान रखता है।

आत्म-दमन और उसका फल—

क्रोध आदि कषायों की निष्फलता आत्मा के दमन पर आधारित है, इसलिए अब उसी का वर्णन किया जाता है—

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥ १५ ॥

आत्मा चैव दमितव्यः, आत्मैव खलु दुर्दमः ।
आत्मा दान्तः सुखी भवति, अस्मिंल्लोके परत्र च ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—**अप्पा**—आत्मा, **च**—पुनः, **एव**—निश्चय ही, **दमेयव्वो**—दमन करना चाहिए, **अप्पा**—आत्मा, **हु**—ही, **खलु**—निश्चय से, **दुद्दमो**—दुर्जय है, **अप्पा दंतो**—दमन किया हुआ आत्मा, **सुही**—सुखी, **होइ**—होता है, **अस्सिं**—इस, **लोए**—लोक मे, **य**—और, **परत्थ**—परलोक मे।

मूलार्थ—सर्वप्रथम अपनी आत्मा का ही दमन करना चाहिए, क्योंकि आत्मा ही दुर्जेय है, यह मनुष्य इस लोक और परलोक में आत्मा के दमन से ही सुखी होता है।

टीका—यहां पर शास्त्रकार को आत्मा शब्द से मन और इन्द्रियों का ग्रहण अभीष्ट है, इसलिए इन्द्रियों और मन के दमन को ही आत्म-दमन कहा गया है। आत्मा में राग-द्वेषादि के जो भाव पैदा होते हैं, उनका कारण भी विषयोन्मुख मन और चक्षुरादि इन्द्रिया ही है। इन्हीं के वशीभूत होकर यह आत्मा उन्मार्ग पर चलने लग पड़ता है, इसलिए सब से पहले मुमुक्षु जीव को इन्हीं का दमन करना चाहिए और इन्हीं को वश में लाने का प्रयत्न करना चाहिए यही आत्म-दमन है। इसी को दूसरे शब्दो में आत्म-स्वाधीनता कहते है। आत्मा के दमन से अथवा यो कहिए कि इन्द्रियो के निग्रह से यह जीव इस लोक तथा परलोक दोनों में ही आनन्द-सुख का भागी होता है। आत्म-संयमी अथवा इन्द्रिय-निग्रही पुरुष की मनुष्य तो क्या देवता आदि भी पूजा करते हैं और परलोक—स्वर्ग तथा मोक्ष का सुख तो आत्म-दमन के बिना असम्भव ही है। इसलिए ऐहिक तथा पारलौकिक सुख के अभिलाषी साधक को सबसे प्रथम आत्म-दमन अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह करने का प्रयत्न करना चाहिए। आत्म-दमन अथवा

मनोनिग्रह के बिना आत्मसुख की बात तो दूर रही संसार का भी कोई पूर्ण सुख इस जीव को प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि अदान्तात्मा इन्द्रियों के वशीभूत होने से सदा पराधीनता की बेड़ियों से जकड़ा ही रहता है। इसलिए उसके सुख-साधन भी परिणाम में दुःख के हेतु बन जाते है, अतः इन्द्रियों के वश मे होना दुःख है, अथवा पराधीनता है और उनको अपने वश मे करना सुख और स्वाधीनता है। यद्यपि आत्मा के सर्व प्रकार के 'अभ्युदय मन्दिर' की आधार-शिला इन्द्रिय-दमन अथवा मनोनिग्रह ही है, तथापि इन्द्रियों अथवा मन का दमन करना कोई साधारण सी बात नहीं है। इसके समान दुःसाध्य कार्य लोक मे दूसरा कोई नही है। वे महापुरुष धन्य है जिन्होने अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में कर रखा है। आत्म-निग्रह जैसे दुष्कर कार्य की सिद्धि करने वाला सहस्रों व्यक्तियों मे कोई विरला ही महानुभाव निकलता है। इसलिए सर्वतोभावेन आत्म-दमन की ओर ही विनीत शिष्य की प्रवृत्ति होनी चाहिए। इसी मे उसका कल्याण निहित है।

यहा पर इतना और समझ लेना चाहिए कि गाथा मे 'हु' शब्द 'एव' के अर्थ मे और 'खलु' अव्यय हेत्वर्थक है।

आत्म-दमन का उपाय—

अब आत्म-दमन में मुमुक्षु पुरुष की क्या भावना होनी चाहिए इस विषय को प्रदर्शित करते है—

वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य ।
माऽहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहिं य ॥ १६ ॥

वर मयात्मा दान्तः, संयमेन तपसा च ।
माऽह परैर्दमितः, वन्धनैर्वधैश्च ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—**वरं**—अच्छा हुआ, **मे**—मैने, **संजमेण**—संयम से, **य**—और, **तवेण**—तप से, **अप्पा दंतो**—आत्मा का दमन किया है, **अहं**—मुझे, **परेहिं**—औरों के द्वारा, **बंधणेहिं**—बन्धनो, **य**—और, **वहेहि**—वधो से, **दम्मंतो**—दमन करवाना, **मा**—मत हो।

मूलार्थ—अच्छा हुआ जो कि मैंने संयम और तप के द्वारा स्वय ही अपनी आत्मा का दमन कर लिया है, वध और बन्धनों के द्वारा औरों से आत्म-दमन करवाना मुझे उचित नही है।

टीका—इस गाथा मे जो कुछ लिखा गया है उसका भाव यह है कि द्वादश विध तप और पचविध आश्रव-निरोध रूप सयम के अनुष्ठान से जो आत्म-निग्रह (मन और इन्द्रियो पर पूरा नियन्त्रण करना) किया गया है, वही सच्चा आत्म-दमन है और इसी से आध्यात्मिक शान्ति की प्राप्ति हो सकती है, क्योकि इससे मन और इन्द्रियो की स्वच्छन्दता सर्वथा नष्ट हो जाती है। मन और इन्द्रियां विनीत अनुचरो की भाति संयमी आत्मा की आज्ञा के विरुद्ध जरा भी इधर-उधर नही होने पाती।

सयमी पुरुष का मन रासायनिक विधि के द्वारा पक्ष-छेदन किए हुए पारद की तरह अपनी

नैसर्गिक चंचलता को सदा के लिए छोड़ देता है। मन के स्थिर होने पर उसकी आज्ञा में चलने वाली इन्द्रियां भी अपने स्वेच्छाचार को त्याग देने के लिए विवश हो जाती हैं। इस प्रकार मन और इन्द्रियों की चंचलता विषयोन्मुख प्रवृत्ति के नष्ट हो जाने से तन्मूलक आत्मा की राग-द्वेषात्मक प्रवृतियां भी रुक जाती हैं, उनमें स्थिरता, समता और उज्ज्वलता का प्रवेश हो जाता है। इससे संयमी आत्मा उन्मार्गगामी बनने के स्थान पर केवल सन्मार्ग का ही उत्तरोत्तर अनुसरण करता चला जाता है। इसलिए संयम और तप के द्वारा ही सच्चा आत्म-दमन, अथवा इन्द्रिय-निग्रह हो सकता है।

इसके विपरीत बल-पूर्वक जो इन्द्रियों का निग्रह किया जाता है, वह वास्तव में आत्म-निग्रह नहीं है, क्योंकि उसमे मन की स्वाभाविक विकृति—चचलता मे किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता, इसीलिए इसमे आत्मिक शान्ति का सर्वथा अभाव रहता है। वध—ताड़ना और बन्धन के द्वारा मनुष्य की शारीरिक चेष्टाएं कदाचित् रुक सकती हैं, किन्तु उसकी आभ्यन्तर की मानसिक वृत्ति पर इन बन्धनादिकों का कोई असर नहीं होता। इसलिए वध-बन्धनादि के द्वारा किया गया आत्म-दमन सर्वथा निष्प्रयोजन और निर्जीव मूर्ति के समान है। उससे न तो इन्द्रियो का निग्रह ही होता है और न आत्मा की राग-द्वेषात्मक भाव-परिणति में ही कोई अन्तर पड़ता है।

उक्त गाथा में 'दमित' शब्द का स्थानापन्न जो 'दम्मंतो' शब्द है, उसका प्रयोग आर्ष ही समझना चाहिए।

अब शास्त्रकार विनयाचार के विषय में लिखते हैं—

पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा ।
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइ वि ॥ १७ ॥

प्रत्यनीकं च बुद्धानां, वाचाऽथवा कर्मणा ।
आविर्वा यदि वा रहसि, नैव कुर्यात् कदापि च ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः—**च**—और, **बुद्धाणं**—आचार्यों की, **पडिणीयं**—प्रतिकूलता, **वाया**—वचन से, **अदुव**—अथवा, **कम्मुणा**—कर्म से, **आवी**—प्रत्यक्ष, **वा**—अथवा, **जइ वा**—यदि फिर, **रहस्से**—एकान्त में, **नेव**—नहीं, **कुज्जा**—करे, **कयाइ वि**—कदाचित् भी।

मूलार्थ—योग्य शिष्य लोगों के समक्ष अथवा एकान्त में मन, वचन और शरीर से आचार्यों के प्रतिकूल आचरण कदाचित् भी न करे।

टीका—शिष्य को उचित है कि वह अपने आचार्यों एवं गुरुजनों की लोगों के समक्ष और परोक्ष में भी मन, वचन और काया इन तीनो के द्वारा कभी अविनय न करे। जैसे—

आचार्यों पर आन्तरिक प्रेम न रखना मानसिक अविनय है। वचनों के द्वारा उनकी भर्त्सना करना वाचिक अविनय है। यथा—'तुम क्या जानते हो ?' तथा लोगों में उनके विरुद्ध बोलते हुए यह कहना कि 'मैंने तो इनको पढ़ाया हुआ है' इत्यादि तथा गुरुजनों के आसन आदि को उनकी आज्ञा के

बिना स्पर्श करना, उनके निजी उपकरणों की आशातना करना आदि कायिक अविनय कहलाता है। सारांश यह है कि शिष्य अपने गुरुजनो—आचार्यो के प्रतिकूल मन, वाणी और शरीर से ऐसा कोई भी आचरण न करे जिससे कि आचार्यों के मन मे उसके प्रति किसी भी प्रकार का असद्भाव पैदा हो।

गाथा में आये हुए 'बुद्ध' शब्द का अर्थ तत्त्ववेत्ता आचार्य और गुरु हैं, उनका अविनय कदापि न करना चाहिए।

अब केवल कायिक अविनय का वर्णन करते हैं—

न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं, सयणे नो पडिस्सुणे ॥ १८ ॥

न पक्षतो न पुरतः, नैव कृत्यानां पृष्ठतः।
न युञ्जीतोरुणोरुं, शयने नो प्रतिशृणुयात् ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—किच्चाणं—आचार्यो के, न—न, **पक्खओ**—पक्ष से—पार्श्व भाग से, **न पुरओ**—न आगे से, **नेव**—न ही, **पिट्ठओ**—पीठ करके बैठे, **न जुंजे**—न जोड़े, **ऊरुणा**—घुटने से, **ऊरुं**—घुटना, **सयणे**—शय्या में बैठा हुआ, **नो पडिस्सुणे**—गुरु के वाक्य को न सुने।

मूलार्थ—आचार्यों के अवयवों के साथ अपने अवयव जोड़कर न बैठे, न आगे बैठे, न पीठ करके बैठे और न ही उनके घुटने के साथ घुटने जोड़ कर बैठे तथा शय्या में बैठा-बैठा ही उनकी वाणी को न सुने।

टीका—क्योंकि आगे बैठने से गुरुजनो के वन्दनार्थ आने वालो को उनके दर्शन मे बाधा पहुचने की आशका रहती है। गुरुजनो की ओर पीठ करके भी न बैठे, ऐसा करना तो प्रत्यक्ष ही अविनय है और आचार्यों के घुटने के साथ घुटना जोड़कर भी न बैठना चाहिए, क्योकि इससे देखने वालो के मन मे असद्भाव पैदा होने की सम्भावना रहती है और गुरुजनो के महत्त्व मे भी न्यूनता आती है। इसके सिवाय अपनी शय्या मे पड़े रहकर ही गुरुओं के वचन को सुनने और सुनकर उत्तर देने की चेष्टा न करे, किन्तु उनके वचनो को सुनकर उसी समय अपनी शय्या से उठे और गुरुजनो के समीप आकर उनकी वाणी को सुने और बड़े विनीत भाव से उनके आदेश का पालन करे।

अब इसी विषय में फिर कहते है—

नेव पल्हत्थियं कुज्जा, पक्खपिण्डं च संजए।
पाए पसारिए वावि, न चिट्ठे गुरुणन्तिए ॥ १९ ॥

नैव पर्यस्तिकां कुर्यात्, पक्षपिण्डं च संयतः।
पादौ प्रसार्य वापि, न तिष्ठेद् गुरुणामन्तिके ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः—पल्हत्थियं—पर्यस्तिका—जंघा के ऊपर वस्त्र वेष्टन रूप पाल, **नेव**—न, **कुज्जा** करे, **च**—तथा, **पक्खपिंडं**—दोनों भुजाओं को जंघाओं पर रखकर न बैठे, **संजए**—संयत, **पाए**—पांव, **पसारिए**—पसार करके, **वा**—अथवा, **वि**—और भी अविनयसूचक आसन आदि से, **गुरुणन्तिए**—गुरुओं के समीप, **न चिट्ठे**—न बैठे।

मूलार्थ—शिष्य गुरुओं के समीप पर्यस्तिका—जंघा के ऊपर वस्त्र वेष्टन रूप पाल—करके न बैठे, अथवा अपनी दोनों भुजाओं को जांघों पर रखकर न बैठे तथा पांव पसार कर न बैठे और संयत शिष्य इसी प्रकार के और भी अविनय सूचक आसनादि से गुरुओं के निकट न बैठे।

टीका—इस गाथा में शरीर के द्वारा होने वाले गुरुजनों के अविनय का दिग्दर्शन कराया गया है। शास्त्रकार शिष्य की उन शारीरिक चेष्टाओं का निषेध करते हैं जिनके द्वारा गुरुजनों का अपमान सूचित हो, इसलिए शिष्य को अपने गुरुजनों के समक्ष पर्यस्तिका करके बैठने, भुजाओं से अपनी जांघों को वेष्टित करके बैठने और गुरुओं के आगे पैर फैलाकर बैठने आदि का निषेध किया गया है, क्योंकि ये सभी व्यापार गुरुजनो की अवज्ञा के सूचक हैं, अतः शिष्य को इन सब का परित्याग कर देना चाहिए। यहां पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि इस अशिष्ट व्यवहार का उपदेश केवल दीक्षित शिष्य के लिए ही नही, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को गुरुजनो के समक्ष इस प्रकार के अशिष्ट व्यवहार का त्याग करना उचित है।

यदि इस सारी गाथा के भाव का संक्षेप में वर्णन करें तो इतना ही है कि गुरुजनों के समीप जिस आसन से बैठने पर उनका अविनय सूचित हो और सभा आदि में जिस आसन के द्वारा अपनी अयोग्यता साबित हो, उस आसन का मुमुक्षु व्यक्ति परित्याग कर दे।

यद्यपि योगाभ्यास मे ध्यान-साधना के अनेक आसन है और उनमें उक्त प्रकार के (जिनका गुरुओं के समीप मे निषेध किया गया है, आसन भी निर्दिष्ट किए गए हैं, परन्तु यह विषय अलग और एकान्त स्थान से सम्बन्ध रखता है, इसका गुरुजनों के समीप बैठने से कोई सम्बन्ध नहीं समझना चाहिए। गुरुओं के समीप तो उसी आसन से बैठना चाहिए जो कि शास्त्र-सम्मत्त और सभ्य व्यक्तियों द्वारा अनुमोदित हो तथा जिससे गुरुजनों की किसी तरह भी अवज्ञा न होने पाए।

अब वाणी के द्वारा होने वाले अविनय का निषेध करते हुए कहते हैं—

आयरिएहिं वाहित्तो, तुसिणीओ न कयाइवि ।
पसायपेही नियागट्ठी, उवचिट्ठे गुरुं सया ॥ २० ॥

आचार्यैर्व्याहृतः, तूष्णीको न कदापि च ।
प्रसादप्रेक्षी नियागार्थी, उपतिष्ठेद् गुरुं सदा ॥ २० ॥

पदार्थान्वय :—आयरिएहिं—आचार्यों के द्वारा, **वाहितो**—बुलाया हुआ, **तुसिणीओ**—मौन वृत्ति

के साथ, **न कयाइवि**—कदाचित् भी न होवे, **पसायपेही**—प्रसादप्रेक्षी, **नियागट्ठी**—मोक्ष की इच्छा रखने वाला—शिष्य, **गुरुं**—गुरु के पास, **सया**—सदा, **उवचिट्ठे**—ठहरे।

मूलार्थ—आचार्यों के द्वारा बुलाए जाने पर शिष्य कदाचित् भी मौन का अवलम्बन न करे और गुरुओं की प्रसन्नता तथा उनके द्वारा मोक्ष की अभिलाषा रखता हुआ सदा उनके समीप ही रहे।

टीका—इस गाथा में आचार्यों के समक्ष होने वाली वाग्विनय के स्वरूप का संक्षिप्त वर्णन बड़ी ही सुंदरता से किया गया है। गुरुजनों के बुलाने पर शिष्य को कभी मौन नहीं रहना चाहिए, क्योंकि मौनावलम्बन से गुरुओं के वचन का अनादर होता है, जो किसी प्रकार से भी मर्यादा के अनुरूप नहीं माना जा सकता है। विनयशील शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह गुरुजनो के बुलाने पर झट से उनके पास आकर समुचित शब्दो में उनसे अपने लिए अनुष्ठेय कार्य की आज्ञा मागे और इस बात के लिए अपना परम सौभाग्य समझे कि गुरु महाराज ने अपने पास बैठे हुए अन्य शिष्यो को छोड़कर अमुक सेवा के निमित्त मुझे ही बुलाया है, यह उनकी मेरे ऊपर अनन्य कृपा का सूचक है। इस प्रकार मोक्षाभिलाषी शिष्य गुरुजनो की प्रसन्नता का विचार करता हुआ सदा उनके समीप रहने मे ही अपने को अधिक पुण्यशाली समझे।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

आलवन्ते लवन्ते वा, न निसीएज्ज कयाइ वि।
चइऊणमासणं धीरो, जओ जत्तं पडिस्सुणे ॥ २१ ॥

आलपति लपति वा, न निषीदेत् कदापि च।
त्यक्त्वासनं धीरः, यतो युक्तं प्रतिश्रृणुयात् ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः—आलवन्ते—एक बार बुलाने पर, **वा**—अथवा, **लवंते**—बार-बार बुलाने पर, **न निसीएज्ज**—बैठा ही न रहे, **कयाइ वि**—कदाचित् भी, **आसणं**—आसन को, **चइऊण**—छोड़ करके, **धीरो**—बुद्धिमान्, **जओ**—जिससे, **जत्तं**—यत्नवान् होता हुआ—गुरु के वचन को, **पडिस्सुणे**—स्वीकार करे।

मूलार्थ—गुरु के द्वारा एक बार बुलाने पर अथवा बार-बार बुलाने पर शिष्य कदाचित् भी बैठा न रहे, किन्तु बुद्धिमान शिष्य आसन को छोड़कर यत्न के साथ गुरुओं के वचन को सुने।

टीका—शिष्य का यह धर्म है कि गुरुओं के द्वारा एक बार अथवा एक से अधिक बार बुलाने पर भी वह अपने आसन पर ही न बैठा रहे, किन्तु गुरुओं की आवाज को सुनते ही झट अपने आसन को छोड़कर उनके पास आकर उनके वचनों को सुने और तदनुकूल आचरण करे।

तात्पर्य यह कि गुरु द्वारा बार-बार बुलाने से आलस्य और प्रमाद के वशीभूत होकर किसी भी समय उनके वचनो की अवहेलना न करे, इसी में योग्य शिष्य की बुद्धिमत्ता और विनय-धर्म की उज्ज्वलता है।

गाथा में 'कयाइवि' पद इसलिए दिया गया है कि विनीत शिष्य रोगादि की अवस्था में भी गुरुजनों के वचनों का अनादर न करे। यहां 'आलवंते' शब्द में 'आ' उपसर्ग ईषत् अर्थ का बोधक है, जिसका तात्पर्य यह है कि गुरुजनो के थोड़ा-सा बोलने पर भी उनके वचन को शीघ्रता से ग्रहण करने का प्रयत्न करे, किन्तु उनके वचन की उपेक्षा कदापि न करे।

अब शास्त्रकार फिर इसी विषय का पुनः वर्णन करते हुए कहते हैं—

आसणगओ न पुच्छेज्जा, नेव सेज्जागओ कयाइवि।

आगम्मुक्कुडुओ सन्तो, पुच्छिज्जा पंजलीउडो॥ २२॥

आसनगतो न पृच्छेत्, नैव शय्यागतः कदापि च।

आगम्योत्कुटुकः सन्, पृच्छेत् प्रांजलिपुटः॥ २२॥

पदार्थान्वयः—आसणगओ—आसन पर बैठा हुआ, **न पुच्छेज्जा**—न पूछे, **कयाइवि**—कदाचित् भी, **सेज्जागओ**—शय्या पर बैठा हुआ, **नेव**—न पूछे, **आगम्म**—आकर के, **उक्कुडुओ संतो**—आसन को छोड़ता हुआ, **पंजलीउडो**—हाथो को जोड़कर, **पुच्छिज्जा**—पूछे।

मूलार्थ—शिष्य को चाहिए कि वह आसन पर बैठा हुआ गुरुजनों से कुछ न पूछे तथा शय्या पर बैठा हुआ भी न पूछे, आसन को छोड़कर गुरुओं के पास आकर हाथ जोड़कर (सूत्रादि का अर्थ एवं सेवा की आज्ञा के विषय में) पूछे।

टीका—इस गाथा में शिष्य की अध्ययन-कालीन विनय-चर्या का उल्लेख किया गया है। शिष्य को यदि अपने किसी पाठ्य विषय मे कोई सन्देह हो तो उसकी निवृत्ति के लिए वह अपने गुरुजनों से किस प्रकार विनय-युक्त होकर पूछे तथा किस प्रकार पूछने से गुरुओं का अविनय नहीं होता है, इसी भाव को उक्त गाथा मे व्यक्त किया गया है। शिष्य को यदि कोई बात गुरुओं से पूछनी हो तो वह अपने आसन पर ही बैठा हुआ न पूछे और शय्या पर पड़ा हुआ भी वह अपने गुरुजनों से किसी प्रकार का वार्तालाप न करे, किन्तु अपने आसन आदि का त्याग करके ही गुरुजनो के समीप बद्धांजलि होकर अपने सन्देह को पूछे। आसन अथवा शय्या पर बैठे हुए पूछने पर शिष्य का औद्धत्य प्रकट होता है। इससे एक तो गुरुजनों का अपमान सूचित होता है और दूसरे शिष्य के विनय-धर्म पर लांछन लगता है। इसलिए विनीत शिष्य का यह धर्म है कि वह गुरुजनों से जो कुछ भी पूछे उसमे किसी प्रकार की अविनीतता का समावेश न होने पाए, इस बात की पूरी सावधानी रखे।

गाथा में जो 'उक्कडुओ' शब्द आया है, उसका सस्कृत में 'उत्कुटुकः' रूप बनता है जिसका अर्थ है मुक्तासन। इसके अतिरिक्त गुरुजनों की अपेक्षा अधिक ज्ञान रखने वाला शिष्य भी उस गुरुजनों की सेवा-भक्ति का कभी परित्याग न करे, यह भी उक्त गाथा का फलितार्थ है।

गुरुजनों का कर्त्तव्य

उक्त प्रकार के विनयाचार से युक्त शिष्य के प्रति गुरुजनों का क्या कर्त्तव्य होना चाहिए, अब

इस विषय का वर्णन निम्नलिखित गाथा में किया गया है—

एवं विणयजुत्तस्स, सुत्तं अत्थं च तदुभयं ।
पुच्छमाणस्स सीसस्स, वागरिज्ज जहासुयं ॥ २३ ॥

एवं विनययुक्तस्य, सूत्रमर्थञ्च, तदुभयम् ।
पृच्छतः शिष्यस्य, व्यागृणीयाद् यथाश्रुतम् ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः—एवं—इस प्रकार, **विणयजुत्तस्स**—विनय-युक्त, **सीसस्स**—शिष्य को, **सुत्तं**—सूत्र, **च**—और, **अत्थं**—अर्थ, **तदुभयं**—सूत्र और अर्थ दोनो को, **पुच्छमाणस्स**—पूछने वाले को, **जहासुयं**—जैसे सुना है, **वागरिज्ज**—कहे।

मूलार्थ—इस प्रकार विनययुक्त-शिष्य के पूछने पर गुरु सूत्र, अर्थ और सूत्र एवं अर्थ दोनों को गुरु परम्परा से जैसे सुना है उसी प्रकार कहे।

टीका—विनयाचार का जो स्वरूप पहले वर्णित किया गया है उसके अनुकूल आचरण रखने वाला शिष्य यदि गुरुओं के समीप आकर सूत्र के विषय मे या अर्थ के विषय मे अथवा दोनो के विषय में श्रद्धापूर्वक कुछ पूछे तो गुरुजनो का कर्त्तव्य है कि वे बिना किसी सकोच के गुरु-परम्परा द्वारा प्राप्त किए हुए सूत्रार्थ को उसे यथार्थ रूप मे बताए अर्थात् गुरुजनो ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो से जिस प्रकार की सूत्र और उसके अर्थ की धारणा की हुई है उसी को शिष्य के प्रति बताएं। इससे श्रुतज्ञान की सफलता और चिरस्थायित्व बना रहता है, अन्यथा श्रुतज्ञान के विकृत हो जाने की सम्भावना रहती है, अतः परम्परागत आम्नाय की रक्षा करना भी योग्य गुरुओं और शिष्यो का पालनीय कर्त्तव्य है।

अब सूत्रकार वाग्विनय के विषय में कहते हैं—

मुसं परिहरे भिक्खू, न य ओहारिणि वए ।
भासादोसं परिहरे, मायं च वज्जए सया ॥ २४ ॥

मृषां परिहरेद्, भिक्षुः, न चावधारिणिं वदेत् ।
भाषादोषं परिहरेत् मायां च वर्जयेत् सदा ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः—**मुसं**—झूठ को, **भिक्खू**—साधु, **परिहरे**—त्याग दे, **च**—और, **ओहारिणिं**—निश्चयात्मक भाषा को, न—न, **वए**—कहे, **भासादोसं**—भाषा के दोष को, **परिहरे**—दूर करे, च—और, **मायं**—माया को, **सया**—सदा ही, **वज्जए**—त्याग दे।

मूलार्थ—साधु झूठ को त्याग दे और निश्चयात्मक भाषा को न बोले, भाषा के दोष को भी छोड़ दे और माया अर्थात् कपट को सदा के लिए त्याग दे।

टीका—इस गाथा मे वचन की शुद्धि के लिए वचनगत दोषो के त्याग का आदेश दिया गया है।

यथा—साधु कभी मिथ्या भाषण न करे तथा निश्चयात्मक भाषा और दुष्ट भाषा का कभी भी व्यवहार न करे एवं छल-कपट युक्त वचनों का सदा के लिए परित्याग कर दे। मिथ्या भाषण, निश्चयात्मक भाषण, सावद्य भाषण और छल-कपटमय भाषण ये सब सत्य के आचार मे विघ्नरूप दोष हैं, इसलिए सत्यनिष्ठ भिक्षु के लिए इनका सर्वथा त्याग ही उचित है, क्योंकि इनके त्याग के बिना वाणी में कभी विशुद्धता नहीं आती। वाणी की विशुद्धि अर्थात् निर्दोषता ही वस्तुतः वाग्विनय है। अतः विनय-धर्म मे प्रवृत्त भिक्षु सदा निर्दोष भाषा का ही व्यवहार करे। भाषागत दोषों में मिथ्या भाषण—झूठ बोलना सबसे बड़ा दोष है। निश्चयात्मक भाषण (जैसे मैं यह कार्य आज ही अवश्य करूंगा, ऐसा वचन) कहने की साधु को इसलिए मनाही की गई है कि समय-समय पर अनेक विघ्न उपस्थित होते जाते है, कौन जाने, कहा हुआ वचन पूरा भी हो सकेगा या नहीं, इसलिए भिक्षु को भविष्य में होने वाले कार्यों के विषय मे कभी निश्चयात्मक वचन नहीं कहना चाहिए। एवं सावद्य भाषा (अशुद्ध भाषा, दोषयुक्त भाषा) के व्यवहार से भी साधु की सत्यनिष्ठा मे विकार उत्पन्न करने के साथ-साथ आत्मा मे भी कलुषितता पैदा करता है। तात्पर्य यह है कि ये सब दोष, वाणी-विषयक विनयाचार के पूर्ण विरोधी है, अत- विनयशील भिक्षु इनका अपनी वाणी में कभी समावेश न होने दे, इसी मे उसका श्रेय है।

अब फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा ॥ २५ ॥

न लपेत् पृष्टः सावद्यं, न निरर्थं न मर्मकम् ।
आत्मार्थं परार्थं वा, उभयस्यान्तरेण वा ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः—पुट्ठो—पूछा हुआ, **सावज्जं**—सावद्य वचन को, **न लवेज्ज**—न बोले, **न निरट्ठं**—न निरर्थक वचन बोले, **न मम्मयं**—न मर्मयुक्त वचन जोले, **अप्पणट्ठा**—अपने लिए, **वा**—अथवा, **परट्ठा**—पर के लिए, **उभयस्स**—दोनों के लिए, **वा**—अथवा, **अंतरेण**—बिना प्रयोजन के न बोले।

मूलार्थ—पूछने पर भी सावद्य वचन न बोले, निरर्थक वचन न बोले, मर्मयुक्त वचन न बोले, अपने लिए एवं दूसरों के लिए तथा दोनों के लिए, और बिना प्रयोजन के भी न बोले।

टीका—इस गाथा में साधु के लिए वचन-गुप्ति के संरक्षण का उपदेश दिया गया है। साधु ऐसी भाषा का कभी व्यवहार न करे जो सावद्य अर्थात् दोषयुक्त हो तथा इस प्रकार की भाषा भी न बोले जिसके बोलने से कोई भी अर्थ सिद्ध न होता हो और दूसरों के मर्म को प्रकट करने वाली भाषा का भी व्यवहार न करे, क्योंकि मर्मयुक्त भाषा के बोलने से कभी-कभी बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते है। अनेक बार तो मृत्यु तक की नौबत आ जाती है। इसके लिए सावद्य भाषा, निरर्थक भाषा और मर्म-युक्त भाषा का अपने तथा दूसरो के लिए भी विचारशील साधु कभी व्यवहार न करे।

सारांश यह है कि तत्त्व का जिज्ञासु साधु पुरुष संयत भाषा का व्यवहार करता हुआ सदा सत्य,

सार्थक, हित और मित बोलने का ही प्रयत्न करे जिससे अपना और दूसरो का कभी अहित न हो। इसी में साधक की—शिष्य की आध्यात्मिक उत्क्रान्ति निहित है।

यहां पर वृत्तिकार ने 'अन्तरेण' का अर्थ 'प्रयोजन बिना' यही किया है।

संसर्गज दोषों के परिहार का उपदेश—

पूर्व की गाथाओं में आत्मगत दोषों के त्याग का उपदेश दिया गया है, अब संसर्गज दोषों के त्याग के विषय में कहते हैं—

समरेसु अगारेसु, सन्धीसु य महापहे ।
एगो एगित्थिए सद्धिं नेव चिट्ठे न संलवे ॥ २६ ॥

समरेषु अगारेषु, सन्धिषु च महापथे ।
एक एकस्त्रिया सार्धं, नैव तिष्ठेन्न संलपेत् ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—समरेसु—फूस की झोपड़ी मे, **अगारेसु**—घरो मे, **सन्धीसु**—दो घरों की सन्धियो मे, **य**—और, **महापहे**—राजमार्ग मे, **एगो**—अकेला साधु, **एगित्थिए**—अकेली स्त्री के, **सद्धिं**—साथ, **नेव चिट्ठे**—न खड़ा होवे और, **न संलवे**—न बोले।

मूलार्थ—खरकुटी में, घरों में, घरों की सन्धियों में और राजमार्ग में अकेला साधु अकेली स्त्री के साथ न खड़ा हो और न ही उसके साथ बातचीत करे।

टीका—इस गाथा में ससर्ग-जन्य दोषों के आगमन-भय से साधु को स्त्रीजनो के परिचय मे आने का निषेध किया गया है, क्योकि साधु यदि स्त्री-समुदाय के परिचय मे आएगा तो उसके लिए अवश्य किसी-न-किसी अपवाद का भागी बनने की आशंका रहेगी। अधिक नही तो जनता मे तो उसके लिए अवश्य थोड़ा बहुत असद्भाव पैदा हो जाएगा, अत· साधुपुरुष को चाहिए कि वह येन केन प्रकारेण स्त्रीजनो के ससर्ग से अपने आप को अलग रखने का प्रयत्न करे।

इसी विषय को सूत्रकार कहते है कि कोई एकाकी साधु किसी अकेली स्त्री के साथ निम्नलिखित स्थानो मे न तो कभी खड़ा हो और न किसी स्त्री के साथ किसी प्रकार का सभाषण करे—जहा पर विशेष अन्धकार हो ऐसे स्थानो मे, शून्य घरो में और जहां पर घरो की सन्धिया मिलती हो ऐसे स्थलो मे तथा राजमार्ग मे अकेला साधु अकेली स्त्री के परिचय मे कभी भी न आए, क्योकि इन उपर्युक्त स्थानो में साधु का स्त्री के साथ परिचय मे आना जनता मे अवश्य ही सन्देह का कारण बन जाता है, इसलिए इन उक्त स्थानो मे तो स्त्री के परिचय मे सयमी पुरुष कभी न आए।

यहा पर इतना और स्मरण रखना चाहिए कि सूत्रकार ने इन शंकित स्थानो में स्त्री-परिचय का जो सयमी पुरुष के लिए निषेध किया है वह उसके ब्रह्मचर्य व्रत को निर्दोष और उसकी कीर्ति को उज्ज्वल रखने के निमित्त ही किया है।

उक्त गाथा मे जो '**समर**' शब्द दिया गया है, उसका अर्थ चूर्णीकार ने 'लोहारशाला' किया है।

यह अर्थ भी उपयुक्त ही प्रतीत होता है, क्योंकि काम कर चुकने के पश्चात् वह स्थान भी प्रायः शून्य ही हो जाता है। ग्रामों में तो आज भी इसके उदाहरण मौजूद है।

भूल हो जाने पर गुरुजनों के द्वारा दी गई शिक्षा को विनयशील शिष्य किस प्रकार ग्रहण करे, अब इस विषय का वर्णन करते हैं—

जं मे बुद्धाऽणुसासन्ति, सीएण फरुसेण वा ।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥ २७ ॥

यन्मां बुद्धा अनुशासन्ति, शीतेन परुषेण वा ।
मम लाभ इति प्रेक्ष्य, प्रयतस्तत् प्रतिश्रृणुयात् ॥ २७ ॥

पदार्थान्वयः—**जं**—जो, **मे**—मुझे, **बुद्धा**—आचार्य, **अणुसासंति**—शिक्षा देते है, **सीएण**—शीतल वचनों से, **वा**—अथवा, **फरुसेण**—कठोर वाक्यों से वह, **मम**—मेरे, **लाभो**—लाभ के लिए ही है, **त्ति**—इस प्रकार, **पेहाए**—विचार करके, **पयओ**—प्रयत्न से युक्त, **तं**—उसको, **पडिस्सुणे**—स्वीकार करे।

मूलार्थ—आचार्य महाराज मेरे को कोमल अथवा कठोर वाक्यों से जो शिक्षा देते हैं, वह सब मेरे लाभ के लिए है, इस प्रकार से विचार करता हुआ शिष्य प्रयत्नपूर्वक गुरुजनों की शिक्षा को ग्रहण करे।

टीका—उक्त गाथा के भाव का सारांश यह है कि किसी प्रकार की भूल हो जाने पर उसके सुधार के निमित्त गुरुजन यदि किसी प्रकार की शिक्षा देने में प्रवृत्त हों तथा उस शिक्षा-प्रवृत्ति में यदि वे कोमल अथवा कठोर वाक्यो का भी प्रयोग करे तो शिष्य को उचित है कि वह गुरुजनो के इस उपदेश को अपने लिए परम हितकारी समझकर श्रद्धापूर्वक उसे स्वीकार करे। तात्पर्य यह है कि गुरुजनो की हित-शिक्षा की किसी रूप में भी अवहेलना न करे। सयमी पुरुष गुरुओं की शिक्षा पर विश्वास रखता हुआ मोक्षमार्ग का अधिकारी बनने के साथ-साथ धर्म के मर्म का भी ज्ञाता हो जाता है तथा बहुश्रुत हो जाने से स्थविर पद को भी प्राप्त कर लेता है। इसलिए गुरुजनों की हित-शिक्षा में अनेक प्रकार के प्रशस्त लाभ निहित है, यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए।

अब शिष्य की पात्रता के अनुसार गुरुजनों की शिक्षा का जो प्रभाव होता है, उसके विषय में कहते है—

अणुसासणमोवायं, दुक्कडस्स य चोयणं ।
हियं तं मण्णई पण्णो, वेसं होइ असाहुणो ॥ २८ ॥

अनुशासनमौपायं दुष्कृतस्य च नोदनम् ।
हितं तन्मन्यते प्राज्ञः द्वैष्यं भवत्यसाधोः ॥ २८ ॥

पदार्थान्वयः—अणुसासणं—अनुशासन, **उवायं**—उपाय-युक्त, **य**—और, **दुक्कडस्स**—पाप का, **चोयणं**— निवारक होता है, **हियं**—हितरूप, **तं**—उसको, **पण्णो**—बुद्धिमान्, **मण्णई**—मानता है, **असाहुणो**—असाधु के लिए वह अनुशासन, **वेसं**—द्वेष का कारण, **होइ**—होता है।

मूलार्थ—गुरुजनों का पाप को दूर करने वाला उपाय-युक्त हित-रूप अनुशासन बुद्धिमान् के लिए तो हित का कारण होता है और असाधु पुरुष के लिए वही अनुशासन द्वेष का हेतु बन जाता है।

टीका—इस गाथा मे गुरुजनो के अनुशासन को विनीत और अविनीत शिष्य किस रूप में ग्रहण करते है इस विषय को कुछ स्पष्ट किया है। यद्यपि गुरुजनो की शिक्षा में विनीत और अविनीत दोनों ही शिष्यो के प्रति किसी प्रकार का भेद-भाव नही है, तथापि ग्रहण करने वाले पात्र के अनुसार उसमे भिन्नता आ जाती है। जिस प्रकार एक ही सरोवर से जल ग्रहण करने वाले गौ और साप उस पिये हुए जल की अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार परिणमन करते हैं, इसी प्रकार गुरुजनों से प्राप्त शिक्षा को विनीत और विनय-रहित शिष्य भी अपने-अपने स्वभाव के अनुसार ही उसे ग्रहण करते है एवं वह पान किया हुआ जल जैसे गाय में दुग्ध रूप मे परिणत होता है और सर्प में वह जल विष के रूप में परिणत हो जाता है, ऐसे ही पापो को दूर करने वाला गुरुजनो का अनुशासन बुद्धिमान् विनीत शिष्य के लिए तो परम हित के देने वाला होता है और असाधु अर्थात् अविनीत शिष्य के लिए वह द्वेष का कारण बन जाता है एवं जिस प्रकार बुद्धिमान शिष्य मे गुरुजनों का उक्त अनुशासन उत्तरोत्तर विनय-धर्म मे उत्कर्ष पैदा करने वाला होता है, उसी प्रकार असाधु-अयोग्य शिष्य मे उसका द्वेषरूप विपरीत परिणमन उत्तरोत्तर अविनय-बुद्धि का पुष्ट साधन बन जाता है। इसलिए अनुशासन-कर्त्ता गुरुजनो को शिक्षा देते समय शिष्य-समुदाय की पात्रता-अपात्रता का अवश्य विचार कर लेना चाहिए, ताकि उनके अनुशासन मे किसी प्रकार की विपरीतता न आने पाए, क्योंकि कुपात्र मे डाला हुआ हित शिक्षारूप दुग्धामृत भी विकृति भाव को प्राप्त होकर विष के तुल्य हानिकारक हो जाता है। यहां पर 'हित' शब्द में ऐहिक और पारलौकिक दोनो प्रकार के हितो को ग्रहण किया गया है।

अब इसी विषय को और भी स्पष्ट किया जाता है—

हियं विगयभया बुद्धा, फरुसंपि अणुसासणं ।
वेसं तं होइ मूढाणं, खन्तिसोहिकरं पयं ॥ २६ ॥

हितं विगतभया बुद्धाः, परुषमप्यनुशासनम् ।
द्वैष्यं तद् भवति मूढानां, क्षान्तिशुद्धिकरं पदम् ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—**विगयभया**—भय-रहित, **बुद्धा**—तत्त्ववेत्ता पुरुष, **फरुसंपि**—कठोर भी, **अणुसासणं**—अनुशासन को, **हियं**—हित रूप मानते है, **तं**—वह अनुशासन, **मूढाणं**—मूर्खो के लिए, **वेसं होइ**—द्वेष का कारण बन जाता है जो, **खंति**—क्षमा, **सोहिकरं**—और शुद्धि के करने वाला, **पयं**—पद है।

मूलार्थ—सप्तविध भय-रहित बुद्धिमान् शिष्य गुरुजनों के कठोर शासन को भी अपने लिए हितकर मानते हैं, परन्तु मूर्खजनों के लिए वही शासन द्वेष का कारण बन जाता है, जोकि क्षान्ति और आत्म-शुद्धि का स्थान है।

टीका—इस गाथा में भी पहली गाथा की भांति मूर्ख और बुद्धिमान शिष्य की योग्यता को परखने का उपदेश दिया गया है। विनयधर्म की आराधना में सतत प्रवृत्ति रखने वाले बुद्धिमान् शिष्य तो अपने गुरुजनों के कठोर शासन को भी अपने हित का साधक समझते हैं और उस शासन से अपने में आत्म-शुद्धि और क्षमा आदि सद्गुणों को प्राप्त करते हैं, परन्तु मूर्खजनों के लिए वही शासन द्वेष का कारण बन जाता है। इसके प्रभाव से वे अपने में प्रसुप्त द्वेष रूप दावानल को और भी अधिक प्रदीप्त करते हुए अपने आत्मा को अधिक मलिन और क्रोध का आगार बना लेते हैं। इसमें गुरुजनों का तो अणुमात्र भी दोष नही, वे तो कृपा-बुद्धि से सब को हितशिक्षा ही देते है, परन्तु ग्रहण करने वालों के हृदय स्थान के संसर्ग से उसमें जो विषमता पैदा होती है उसी का ही यह प्रभाव है कि बुद्धिमान् शिष्य तो उससे लाभ उठाते हैं और मूर्ख हानि का अनुभव करते हैं।

अब फिर विनयाचार के विषय में कहते हैं—

आसणे उवचिट्ठेज्जा, अणुच्चे अकुए थिरे ।
अप्पुट्ठाई, निरुट्ठाई, निसीएज्जप्पकुक्कुए ॥ ३० ॥

आसने उपतिष्ठेत्, अनुच्चे अकुचे स्थिरे ।
अल्पोत्थायी निरुत्थायी, निषीदेदल्पकुक्कुचः ॥ ३० ॥

पदार्थान्वयः—**आसणे**—आसन पर, **उवचिट्ठेज्जा**—बैठे, **अणुच्चे**—जो ऊंचा नहीं है, **अकुए**—अस्पन्दमान, **थिरे**—स्थिर है, **अप्पुट्ठाई**—थोड़ा उठने वाला, **निरुट्ठाई**—बिना प्रयोजन न उठने वाला, **अप्प**—थोड़ी, **कुक्कुए**—हस्तादि की चेष्टा से, **निसीएज्ज**—बैठे।

मूलार्थ—शिष्य चेष्टा-रहित होकर ऐसे आसन पर बैठे जो गुरु से ऊंचा न हो, स्थिर हो, चलायमान न हो और उक्त प्रकार के आसन पर बैठा हुआ भी बिना प्रयोजन उठे नहीं तथा प्रयोजन होने पर भी थोड़ा उठे।

टीका—इस गाथा में शिष्य का आसन-सम्बन्धी विनयाचार किस प्रकार का होना चाहिए, इस बात की चर्चा की गई है। गुरुजनो की अपेक्षा शिष्य का आसन सदैव नीचा ही होना चाहिए, अर्थात् विनीत शिष्य जिस पीठादि आसन पर बैठे वह आसन गुरुओं के आसन से आकारादि में न्यून हो, स्थिर हो और चलायमान न हो तथा उस आसन पर स्थिरतापूर्वक बैठे और बिना प्रयोजन उस आसन से न उठे एवं प्रयोजन होने पर भी बहुत कम उठे। इन सब बातों का तात्पर्य यह है कि शिष्य में अविनीतता और बहिर्मुखता न आने पाए। यदि गुरुओं की अपेक्षा शिष्य ऊंचे आसन पर बैठेगा तो इसमें उसकी उद्धतता प्रकट होगी और अस्थिर, चचल आसन पर बैठने से उसकी समाधि में अन्तर पड़ेगा एवं स्थिरचित्त होकर

आसन पर न बैठने तथा बैठे हुए हाथ, पैर हिलाने से बहिर्मुखता के बढ़ने की आशंका रहती है, परन्तु इसके विपरीत स्थिर आसन पर समाहित चित्त होकर बैठने से उस शिष्य के ज्ञान-ध्यान में वृद्धि होगी, जिसका फल उसके लिए तथा देखने वाले दूसरों के लिए भी हितकर ही होगा।

इसलिए योग्य शिष्य को उचित है कि वह अपने गुरुजनों की अपेक्षा ऊंचे आसन पर न बैठे तथा गुरुओं की अपेक्षा अधिक सुन्दर और मूल्यवान् वस्त्रों को न पहने। तात्पर्य यह है कि योग्य शिष्य द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से गुरुजनो की अपेक्षा अपने को लघुता मे रखे, ताकि वह विनयाचार की सम्यक् आराधना से प्रभुता के उच्च सिंहासन पर विराजमान होने के योग्य बन जाए।

अब सूत्रकार एषणा समिति के विषय में कहते हैं—

कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे ।
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ॥ ३१ ॥

कालेन निष्क्रमेद् भिक्षुः, कालेन च प्रतिक्रमेत् ।
अकालं च विवर्ज्य, काले कालं समाचरेत् ॥ ३१ ॥

पदार्थान्वयः—**भिक्खू**—भिक्षु—साधु, **कालेण**—समय होने पर, **निक्खमे**—भिक्षा के लिए जाए, य—और, **कालेण**—समय पर, **पडिक्कमे**—आ जाए, **च**—पुन., **अकालं**—असमय को, **विवज्जित्ता**—त्याग कर, **काले**—समय पर, **कालं**—प्रतिलेखनादि का जो कार्य है उसका, **समायरे**—आचरण करे।

मूलार्थ—साधु समय पर भिक्षादि के लिए जाए और समय पर वापस आ जाए तथा असमय को त्यागकर नियत समय पर प्रतिलेखनादि क्रियाओं का आचरण करे।

टीका—इस गाथा मे साधु की धार्मिक क्रियाओं के नियत समय-विभाग की सूचना दी गई है, अर्थात् साधु के लिए जिस समय पर जिस क्रिया के अनुष्ठान की आज्ञा शास्त्र मे दी गई है उसको उसी समय पर नियत रूप से करना चाहिए। यथा—भिक्षा का समय होते ही साधु अपने निवासस्थान अर्थात् उपाश्रय आदि से भिक्षा आदि लाने के लिए निकले और भिक्षा लेकर नियत समय पर ही उपाश्रय मे वापिस आ जाए तथा प्रतिक्रमण, प्रतिलेखना आदि अन्य धार्मिक कृत्यों को भी विचार-शील साधु समय पर ही करे, समय का अतिक्रमण करके अर्थात् असमय मे कोई भी कृत्य न करे। प्रत्येक मनुष्य की जीवनचर्या का समय के साथ बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है, जो लोग अपने जीवन के कार्य-विभाग का उपयोग ठीक समय के अनुसार करते है, उनका जीवन सुखी और सुव्यवस्थित होने के अतिरिक्त दूसरो के लिए आदर्श भी होता है।

समय एक बड़ी ही बहुमूल्य वस्तु है, इसके सदुपयोग पर ही जीवन की उत्कृष्टता निर्भर है। जो लोग मनुष्य-जन्म पाकर भी समय का सदुपयोग नहीं करते, अर्थात् इसको यो ही व्यर्थ खो देते हैं, वे वस्तुतः आत्मघाती है, उनको अन्त मे इतना पश्चात्ताप करना पड़ता है कि उसकी कल्पना भी नहीं हो

सकती और साधु-जीवन तो साधारण मनुष्य-जीवन की अपेक्षा बहुत ही अधिक उत्कर्षता को लिए हुए है, परन्तु उस उत्कर्षता की मूल भित्ति अधिकांश समय के सदुपयोग पर ही अवलम्बित है। साधुचर्या में तो जीवन का एक-एक समय भी चिन्तामणि रत्न के समान अत्यन्त दुर्लभ है। इसलिए साधु को जहां तक हो सके बड़ी सावधानी से अपने धार्मिक कृत्यों का यथासमय अनुष्ठान करना चाहिए। जो साधु प्रमादवश समय को व्यर्थ खो देते है, उनका अधःपतन अवश्यंभावी है। अतः समय को कभी भी व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिए।

यहां पर इतना और भी ध्यान में रख लेना चाहिए कि किसी भी कार्य को सरल और सुव्यवस्थित बनाने के लिए कालक्रम अथवा समय-विभाग की बड़ी आवश्यकता है। समय का विभाग किए बिना कोई भी कार्य सुचारू रूप से पूर्ण नहीं हो सकता। इसी विचार से शास्त्रकारो ने साधु-जीवन में भी आचरणीय धार्मिक कृत्यों का कालक्रम समय-विभाग नियत कर दिया है, ताकि उसकी प्रतिदिन की धार्मिक क्रिया मे किसी प्रकार की अव्यवस्था न होने पाए।

अब एषणा समिति के विषय में कुछ और नियमों का वर्णन किया जाता है—

परिवाडीए न चिट्ठेज्जा, भिक्खू दत्तेसणं चरे।
पडिरूवेण एसित्ता, मियं कालेण भक्खए ॥ ३२ ॥

परिपाट्यां न तिष्ठेत्, भिक्षुर्दत्तैषणां चरेत् ।
प्रतिरूपेणैषयित्वा, मितं कालेन भक्षयेत् ॥ ३२ ॥

पदार्थान्वयः—**परिवाडीए**—पक्ति में, न **चिट्ठेज्जा**—न खड़ा होवे, **भिक्खू**—भिक्षु, **दत्तेसणं**—दिया हुआ, एषणीय, **चरे**—ग्रहण करे, **पडिरूवेण**—साधु के वेष से, **एसित्ता**—गवेषणा करके, **मियं**—प्रमाण-पूर्वक, **कालेण**—शास्त्रोक्त काल मे, **भक्खए**—आहार करे।

मूलार्थ—साधु पंक्ति—जीमनवार में जाकर खड़ा न हो किन्तु गृहस्थ द्वारा दिए हुए, एषणीय-शुद्ध आहार को ग्रहण करे और साधु के वेष से गवेषणा करके शास्त्रोक्त काल में प्रमाण-पूर्वक आहार करे।

टीका—इस गाथा में साधु की भिक्षाचर्या से सम्बन्ध रखने वाली बहुत-सी जानने योग्य बातो का उल्लेख किया गया है। जहा पर प्रीतिभोज अथवा विवाह आदि अन्य किसी निमित्त से जीमनवार किया गया हो ऐसे स्थान पर साधु को आहार के लिए कदापि न जाना चाहिए, क्योंकि ऐसे स्थान पर भिक्षा के निमित्त जाकर खड़ा होना साधु के लिए अप्रीति—असद्भाव का कारण बन जाता है। अतः ऐसे स्थान से साधु कभी भिक्षा न लाए, किन्तु गृहस्थ का दिया हुआ निर्दोष आहार ही साधु को ग्रहण करना चाहिए, परन्तु वह निर्दोष आहार भी साधु को तभी कल्पता है जबकि उसने उस आहार को अपने वेष में शास्त्र-विहित काष्ठमय पात्र मे ग्रहण किया हो। अन्य वेष से ग्रहण किया हुआ आहार साधु के उपयोग में नहीं आ सकता।

इसका अभिप्राय यह है कि साधु के लिए भिक्षा लेने और आहार करने मे जिन काष्ठमय पात्रो का विधान शास्त्रकारों ने किया है उन्ही में साधु भिक्षा ले सकता है और उन्हीं में आहार कर सकता है, परन्तु गृहस्थ के किसी पात्र में दिया हुआ आहार न तो वह ले सकता है और न उस पात्र में आहार कर सकता है। इसलिए साधु अपने ही पात्र मे आहार—भिक्षान्न ग्रहण करे और उसी में भक्षण करे। अन्यमतावलम्बी साधुओं की तरह न तो गृहस्थ के घर मे अथवा पात्र में उसे भिक्षा लेनी कल्पती है और न उसमें साधु को भक्षण करने की शास्त्र मे आज्ञा है। इस प्रकार स्ववेष से ग्रहण किया हुआ आहार भी साधु को विधिपूर्वक ही भक्षण करना चाहिए एव वह आहार भी गवेषणा-पूर्वक लाया हुआ होना चाहिए, अर्थात् किसी एक ही सद्गृहस्थ के घर से नहीं, किन्तु अनेक गृहस्थों के घरों से लाया हुआ हो। केवल एक ही घर से लाई हुई भिक्षा भी साधु के उपयोग में नहीं आ सकती, इसलिए साधु को अनेक घरो से ही थोड़ा-थोड़ा निर्दोष आहार लाने की शास्त्रों मे आज्ञा दी गई है।

शास्त्र-विहित मर्यादा के अनुसार भिक्षा लाकर उसको भक्षण करते समय प्रथम वह **'नमो अरिहंताणं'** इत्यादि नमस्कारमत्र का उच्चारण करे। फिर न तो अधिक शीघ्रता से ओर न अधिक मन्दता से उसका भक्षण करे, किन्तु काल की मर्यादा के अनुसार मध्यम-मार्ग का अनुसरण करता हुआ भक्षण करे और वह भी उस परिमाण तक भक्षण करे कि जिससे उसके स्वाध्याय और धर्मध्यान मे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो, अर्थात् वह मर्यादित भोजन ही ग्रहण करे।

इसके अतिरिक्त आहार की किसी प्रकार की प्रशसा और निन्दा करने का भी साधु के लिए शास्त्रो मे निषेध किया गया है। इसलिए आहार मे किसी प्रकार के गुण-दोष की उद्भावना भी साधु को नहीं करना चाहिए। साराश यह है कि विधिपूर्वक लाया हुआ और विधिपूर्वक भक्षण किया हुआ भिक्षान्न साधु-जीवन के निर्वाह मे सहायक बनता हुआ किसी प्रकार के पाप-कर्म के बन्ध का कारण नही बनता।

अब शास्त्रकार इसी विषय में कुछ और ज्ञातव्य बातो का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

नाइदूरमणासन्ने, नन्नेसिं चक्खुफासओ ।
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा, लंघित्ता तं नइक्कमे ॥ ३३ ॥

नातिदूरमनासन्नः, नान्येषां चक्षुस्पर्शतः ।
एकस्तिष्ठेद् भक्तार्थ, लङ्घयित्वा तं नातिक्रमेत् ॥ ३३ ॥

पदार्थान्वयः—नाइदूरं—न अति दूर मे, **अणासन्ने**—न अति समीप मे, **नन्नेसिं**—न औरो के, **चक्खुफासओ**—चक्षु-स्पर्श मे, **भत्तट्ठा**—आहार के लिए, **एगो**—अकेला, **चिट्ठेज्जा**—खड़ा होवे, **लंघित्ता**—उल्लघन करके, **तं**—उस अन्य भिक्षु को, **न इक्कमे**—घर मे न जाए।

मूलार्थ—यदि घर में पहले किसी अन्य भिक्षु ने प्रवेश किया हुआ हो तो साधु उस भिक्षु के न तो अति दूर मे और न अति समीप में तथा न उसके नेत्रों के सामने ही खड़ा हो और उसको उल्लंघन करके भी घर में न जाए।

टीका—किसी वृद्ध अथवा आतुर साधु के निमित्त भिक्षा या औषध आदि लेने के लिए साधु यदि किसी गृहस्थ के घर में प्रवेश करे और वहा पर उससे पहले यदि कोई और भिक्षु खड़ा हो तथा औषध आदि आवश्यक वस्तु का उसी घर में योग हो तो साधु उसका उल्लघन करके आगे न बढ़े, किन्तु किसी एकान्त स्थान में जाकर खड़ा हो जाए जहां से कि वह उस भिक्षु के न तो बहुत निकट मे हो और न ही बहुत दूरी पर हो, एवं उस भिक्षु तथा घर के अन्य लोगों की आखो के सामने भी जाकर खड़ा न हो। जब वह भिक्षु भिक्षा लेकर चला जाए तो फिर वहां से आहार अथवा औषध आदि आवश्यक वस्तुओं को ग्रहण करे। पहले से घर में आए हुए भिक्षु के उल्लंघन करने और उसके समीप में जाकर खड़े होने से उक्त भिक्षु के मन में स्पर्द्धा पैदा होने के अतिरिक्त घर के लोगों में भी अप्रीति के भाव उत्पन्न होने की आशका रहती है, इसलिए ऐसे आचरण की शास्त्रो में साधु के लिए मनाही कर दी गई है।

इस गाथा में **'नाइदूरं'** यह सप्तमी के स्थान मे प्रथमा विभक्ति का प्रयोग आर्ष होने से समझना और **'फासओ—स्पर्शतः'** मे तस् प्रत्यय सप्तमी विभक्ति के अर्थ में है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार से किसी आगन्तुक भिक्षु और भिक्षा देने वाले सद्गृहस्थ के मन में किसी प्रकार की अप्रीति उत्पन्न न हो और शासन की भी किसी प्रकार की अवहेलना न हो, उसी प्रकार से भिक्षा करना उचित है।

अब फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं—

नाइउच्चेव नीए वा, नासन्ने नाइदूरओ ।
फासुयं परकडं पिण्डं, पडिगाहिज्ज संजए ॥ ३४ ॥

नात्युच्चैव नीचैर्वा, नासन्ने नातिदूरतः ।
प्रासुकं परकृतं पिण्डं, प्रतिगृह्णीयात् संयतः ॥ ३४ ॥

पदार्थान्वयः—**नाइ**—न अति, **उच्चेव**—ऊंचे से ही, **वा**—अथवा, **न नीए**—न नीचे से, **नासन्ने**—न समीप से, **नाइदूरओ**—न अति दूर से, **फासुयं**—अचित-निर्जीव, **परकडं**—दूसरो के लिए बनाया हुआ, **पिंडं**—आहार, **संजए**—सयमी—साधु, **पडिगाहिज्ज**—ग्रहण करे।

मूलार्थ—संयमशील साधु गृहस्थ के घर में जाकर दूसरों के निमित्त से बनाए गए अचित्त-आहार को ग्रहण करे, परन्तु वह आहार ऊंचे स्थान से व नीचे स्थान से तथा अति समीप और अति दूर से न दिया गया हो।

टीका—इस गाथा में साधु के लिए निर्दोष आहार लेने की विधि का वर्णन किया गया है। यदि सयमशील साधु भिक्षा के निमित्त किसी गृहस्थ के घर में जाए और वह गृहस्थ ऊपर चौबारे में से उसके पात्र में भिक्षा डाले तो साधु न ले, क्योंकि ऊपर से डाली हुई भिक्षा मे एक तो यतना नहीं रहती, उसके इधर-उधर गिर जाने का भी भय रहता है और दूसरे उस पर पूर्णतया दृष्टि न पड़ने से

उसकी सदोषता और निर्दोषता का भी साधु को परिज्ञान नही हो पाता।

इसी प्रकार तहखाने आदि नीचे के स्थानों से दिए गए आहार को भी साधु ग्रहण न करे, क्योंकि वहां पर भी गहन अन्धकार होने के कारण साधु की दृष्टि का सुगमता से प्रवेश नहीं हो सकता। अत्यन्त समीप और दूर से आहार लेने पर भी अधिक राग और घृणा के उत्पन्न होने की आशंका रहती है, इसलिए संयमशील साधु को उचित है कि वह देख-भाल कर उसी आहार को ग्रहण करे जो कि उसके निमित्त से न बनाया गया हो, तथा अचित हो और चौबारे तथा तहखाने आदि ऊंचे-नीचे स्थानो से न फैंका गया हो और साथ में वह बिना मागे न दिया गया हो।

इस प्रकार से विधिपूर्वक आहार लेने वाला साधु ही अपने सयम को सुव्यवस्थित रख सकता है और गृहस्थों के घरो से लिए गए इस आहार से अपने शरीर का पोषण करता हुआ भी वह किसी प्रकार से पाप-कर्म का बन्धन नही करता।

यहा पर स्थान की ऊंचाई और नीचाई का उल्लेख द्रव्य और भाव दोनो की दृष्टि से किया गया है। द्रव्य तो चन्द्रशाला—चौबारा आदि है और भाव से लब्धि का ग्रहण है। तात्पर्य यह कि 'मै लब्धि सम्पन्न हू' इस बात का साधु गर्व न करे।

द्रव्य से नीचा स्थान तहखाना आदि है और भाव से नीचता तथा दीनता-सूचक गद्‌गद् वचनों का प्रयोग करना है। तात्पर्य यह है कि आहार के निमित्त साधु किसी प्रकार की दीनता का अवलम्बन न करे। यहा पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि आहार लेने की जो यह विधि शास्त्र मे वर्णन की गई है, इसका प्रयोजन केवल साधु-धर्म का संरक्षणमात्र है।

अब पिंडैषणा के बाद ग्रासैषणा का वर्णन किया जाता है—

अप्पपाणेऽप्पबीयम्मि, पडिच्छन्नम्मि संवुडे ।
समयं संजए भुंजे, जयं अपरिसाडियं ॥ ३५ ॥

अल्पप्राणेऽल्पबीजे, प्रतिच्छन्ने संवृते ।
समकं संयतो भुञ्जीत, यतमपरिशाटितम् ॥ ३५ ॥

पदार्थान्वयः—**अप्पपाणेऽप्पबीयम्मि**—अल्प प्राणी और अल्प बीज वाले, **पडिच्छन्नम्मि**—चारो ओर से ढके हुए, **संवुडे**—दोनो ओर दीवारों से सवृत स्थान में, **समयं**—अपने समान, **संजए**—साधु के साथ, **भुंजे**—आहार करे, **जयं**—यत्न से, **अपरिसाडियं**—भूमि पर न गिराता हुआ।

मूलार्थ—साधु अल्प प्राणों और अल्प बीज वाले चारों ओर से ढके हुए तथा दोनों तरफ भित्ति आदि से घिरे हुए उपाश्रय आदि स्थान में अपने समान साधुओं के साथ बैठकर यतना से भूमि पर न गिराता हुआ आहार करे।

टीका—साधु शास्त्र-विधि के अनुसार निर्दोष आहार लाकर कैसे स्थान मे और किनके साथ

बैठकर उसको भक्षण करे, इत्यादि नियमों की चर्चा उक्त गाथा मे की गई है। संयमशील साधु को अपने समान आचार रखने वाले साधुओं के साथ एक स्थान में बैठकर भोजन करने की शास्त्र मे आज्ञा दी गई है तथा पृथ्वी पर न गिरे इस प्रकार यतना से आहार करना चाहिए। जिस स्थान मे आहार किया जाए, वह स्थान भी द्वीन्द्रिय आदि जीवों से रहित हो तथा धान्य आदि भी उसमें न उगे हुए हों। इसके अतिरिक्त वह स्थान ऊपर से ढका हुआ हो और चारों तरफ से दीवारों आदि से घिरा हुआ हो।

तात्पर्य यह है कि आहार करने के लिए जो स्थान हो वह सब प्रकार से साफ और स्वच्छ हो तथा चारों ओर से घिरा हुआ और ऊपर से ढका हुआ होना चाहिए ताकि भोजन करते समय किसी आगन्तुक बुभुक्षित व्यक्ति की वहां पर दृष्टि न पड़े। साधु अकेला भी आहार न करे, ऐसा करने से साधु में स्वार्थ-वृत्ति की मात्रा के बढ़ने का भय रहता है। यत्न-पूर्वक आहार के करने से कीट-पतग आदि सूक्ष्म जीवो की विराधना से बचना तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है। इसलिए परिमार्जित और संवृतस्थान मे सहचारी साधुओं के साथ यतना पूर्वक किया गया आहार संयमशील साधु के लिए नि:सन्देह उसके सात्विक भाव की जागृति मे सहायक होता है।

बहुत से साधको का यह स्वभाव होता है कि वे भोजन करते समय अनेक प्रकार की इधर-उधर की बातो मे प्रवृत्त हो जाते है, परन्तु उनका यह व्यवहार शास्त्र-सम्मत और साधुजनानुमोदित नहीं है, इसलिए विवेकशील पुरुष को भोजन के समय मे अपनी वाणी को सर्वथा संयत रखना चाहिए।

इसी विषय को अब और स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया जा रहा है—

सुक्कडित्ति सुपक्कित्ति, सुच्छिन्ने सुहडे मडे ।
सुणिट्ठिए सुलट्ठित्ति, सावज्जं वज्जए मुणी ॥ ३६ ॥

सुकृतमिति सुपक्वमिति, सुच्छिन्नं सुहृतं मृतम् ।
सुनिष्ठितं सुलष्टमिति, सावद्यं वर्जयेन्मुनिः ॥ ३६ ॥

पदार्थान्वय :—**सुक्कडिति**—अच्छा किया, इस प्रकार का भाषण करना, **सुपक्कित्ति**—अच्छा पकाया हुआ है, इस प्रकार कहना, **सुच्छिन्ने**—अच्छा छेदन किया हुआ, **सुहडे**—अच्छा हरण किया है, **मडे**—अच्छा मरण हुआ, **सुणिट्ठिए**—अच्छा रस उत्पन्न हुआ, **सुलट्ठित्ति**—यह बहुत मनोहर है इस प्रकार के, **सावज्जं**—सावद्य—पापयुक्त वचनो को, **मुणी**—मुनि—साधु, **वज्जए**—छोड़ दे।

मूलार्थ—भोजन करते समय व्रतशील साधु—अच्छा किया, अच्छा पकाया, अच्छा छेदन किया, अच्छा हुआ जो इसका कड़वापन हरा गया, अच्छा मर गया, इसमें अच्छा रस उत्पन्न हो गया, यह बहुत ही मनोहर है—इस प्रकार के सावद्य-पापयुक्त वचनों को त्याग दे।

टीका—इस गाथा में साधु को भोजन करते समय व्यर्थ के वचनों और सावद्य वचनों के परित्याग का आदेश दिया गया है। यह भोजन बहुत अच्छा बना हुआ है, यह पदार्थ बहुत सुन्दर रीति

से पकाया गया है, यह शाक बड़ी ही बुद्धिमानी से काटकर बनाया गया है, इस शाक का कड़वापन अच्छी तरह से दूर हो गया है, इन सत्तुओं ने तो सारे ही घी को पी लिया है, इस पदार्थ में तो अब बहुत ही उत्तम रस उत्पन्न हो गया है और यह चावल तो बहुत ही स्वादिष्ट है—इस प्रकार के सावद्य शब्दो का भोजन के समय विवेकशील मुनि कभी उच्चारण न करे। इस प्रकार के भाषण से आत्मा में मलिन संस्कारो की उत्पत्ति और राग-द्वेष के भाव पैदा होने के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के लाभ की सभावना नहीं है, अत साधु पुरुष इस प्रकार की शब्द-रचना का सर्वथा त्याग कर दे।

यदि साधु को बोलना ही अभीष्ट हो तो इस साधु ने शास्त्रो का बहुत अच्छा मनन किया है, इसके वचन और विज्ञान आदि सद्गुण बहुत ही परिपक्व हैं, यह महात्मा निःसन्देह प्रशंसा के योग्य हैं, क्योंकि इन्होंने स्नेह के बन्धनो को बिल्कुल ही तोड़ दिया है, इसने पडित-मरण प्राप्त किया है, यह बहुत ही अच्छा किया है और इसकी साधु-चर्या बड़ी ही उज्ज्वल तथा प्रभावपूर्ण है—इस प्रकार के साधुजनोचित शब्दों का व्यवहार करे।

दशवैकालिक सूत्र के वृत्तिकार ने उक्त गाथा का इस प्रकार से अर्थ किया है—

भोजन करते समय साधु इस प्रकार के सावद्य वचनों का उच्चारण न करे। यथा—इसने अच्छी सभा की है, सहस्रपाकादि तेल अच्छी रीति से पकाये गए है, वन आदि का छेदन अच्छा किया गया है, अच्छा हुआ जो इस दुष्ट का धन हरा गया, वह शत्रु मर गया सो अच्छा हुआ, इसको अपने धन का बहुत गर्व था, सो इस धन के नाश से इसका भी नाश हो गया, यह बहुत अच्छा हुआ, यह कन्या बड़ी ही सुन्दर है, अब इसका यदि किसी योग्य वर से विवाह कर दिया जाए तो बहुत अच्छा हो, क्योंकि वह अब वरने के योग्य है, इत्यादि।

उक्त प्रकार के सावद्य वचनो के स्थान मे साधु निम्नलिखित निरवद्य—निष्पाप वचनो का प्रयोग करे। यथा—इसने गुरुजनो की अच्छी सेवा की है, इसका ब्रह्मचर्य बहुत ही परिपक्व है, इसने स्नेह का बन्धन तोड़ दिया है, इसने शिष्य के क्रोध को हर लिया है, उसने पंडित-मरण से अच्छी मृत्यु प्राप्त कर ली है। यह अप्रमत्त सयम मे पूर्णतया सुनिष्ठित है और इस साधु की क्रिया बहुत ही सुन्दर है इत्यादि।

विनीत और विनयरहित शिष्य को शिक्षा देने में गुरु को जो फल प्राप्त होता है, अब उस के विषय में कहते है—

रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए ।
बालं सम्मइ सासंतो, गलियस्सं व वाहए ॥ ३७ ॥

रमते पण्डितान् शासन् हयं भद्रमिव वाहकः ।
बालं श्राम्यति शासन् गलिताश्वमिव वाहकः ॥ ३७ ॥

पदार्थान्वय :—**पंडिए**—पंडितो को, **सासं**—शिक्षित करता हुआ गुरु, **रमए**—आनन्दित होता है,

भद्दं—भद्र, **हयं**—घोड़े, **व**—की तरह, **वाहए**—वाहक, **बालं**—मूर्ख को, **सासंतो**—शिक्षित करता हुआ, **सम्मइ**—कष्ट पाता है, **गलियस्सं**—दुष्ट घोड़े, **व**—की तरह, **वाहए**—वाहक।

मूलार्थ—गुरु पण्डित शिष्यों पर शासन करता हुआ इस प्रकार से आनन्द को प्राप्त होता है जैसे उत्तम घोड़े पर शासन करने वाला वाहक, और मूर्ख शिष्यों को शिक्षा देता हुआ गुरु ऐसे कष्ट पाता है जैसे दुष्ट घोड़े का शिक्षक अर्थात् वाहक।

टीका—विनयशील शिष्य को शिक्षा देने से गुरुजनों को किस प्रकार के सुन्दर फल की प्राप्ति होती है और अविनीत शिष्य के शासन से उन्हें किस प्रकार के कुफल का अनुभव करना पड़ता है, इस विषय का सरल और दुष्ट स्वभाव के अश्व के दृष्टान्त से शास्त्रकार ने बहुत ही उत्तमता से विवेचन किया है।

जिस प्रकार सरल प्रकृति का घोड़ा थोड़े में ही अपने वाहक की शिक्षा को ग्रहण करके उसकी आज्ञा के अनुसार चलकर उसे आनन्द देने लगता है, इसी प्रकार विनीत शिष्य भी अपने गुरुजनों की शिक्षा को संकेतमात्र से ही ग्रहण करके उनकी मनोवृत्ति के अनुसार चलता हुआ गुरुजनों के असीम आनन्द का हेतु बन जाता है। जिस प्रकार दुष्ट घोड़ा अपने शिक्षक के शासन को न मानकर अपनी कुचेष्टाओं से सुख के बदले उन्हे कष्ट पहुंचाने का कारण बनता है, ठीक इसी प्रकार अविनीत शिष्य को शिक्षा देने से विपरीत परिणाम का अनुभव भी गुरुजनों को करना ही पड़ता है। जिस प्रकार दुष्ट घोड़ा स्वय दुखी होता हुआ अपने शासक को भी दुख में डाल देता है, इसी प्रकार मूर्ख शिष्य गुरुजनो की शिक्षा को विपरीत रूप मे ग्रहण करके स्वयं कलुषित होता हुआ गुरुजनों को भी कष्ट पहुंचाने मे कुछ कसर नहीं रखता। इसलिए शासन करते समय गुरुजनों को सबसे पहले योग्यायोग्य शिष्य का विचार अवश्य कर लेना चाहिए।

यहां पर भले घोड़े के समान तो विनीत शिष्य है और दुष्ट घोड़े के सदृश विनय-रहित कुशिष्य को समझना चाहिए। इस गाथा में 'व' शब्द सदृश अर्थ का बोध करने वाले 'इव' अव्यय के स्थान पर प्रयुक्त किया गया है।

यहा पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि ग्रन्थ के इस अध्याय मे इससे पहले भी इसी प्रकार के विषय में अश्व की उपमा दी जा चुकी है, अब पुनः उसके उल्लेख करने का तात्पर्य यह है कि शास्त्र मे अश्व को एक बहुमूल्य रत्न के समान माना गया है, इसलिए उसका पुनः उल्लेख हुआ है।

मूर्ख शिष्य के हृदय पर गुरुओं की शिक्षा का कैसा प्रभाव पड़ता है तथा उसको वह किस रूप में समझता है, अब इस विषय में कुछ प्रकाश डाला जाता है—

खड्डुया मे चवेडा मे, अक्कोसा य वहा य मे।
कल्लाणमणुसासन्तो, पावदिट्ठित्ति मन्नई ॥ ३८ ॥

खड्डुका मे चपेटा मे, अक्रोशाश्च वधाश्च मे ।
कल्याणमनुशिष्यमाणः, पापदृष्टिरिति मन्यते ॥ ३८ ॥

पदार्थान्वयः—**मे**—मुझे, **खड्डुया**—ठोकरे मारते है, **मे**—मेरे, **चवेडा**—चांटे मारते हैं, **य**—और, **मे**—मुझे, **अक्कोसा**—कोसते हैं, **य**—और, **मे**—मुझे, **वहा**—मारते है, **कल्लाणं**—कल्याण रूप, **अणुसासन्तो**—अनुशासन को, **पावदिट्ठि**—पापदृष्टि, **त्ति**—इस प्रकार, **मन्नई**—मानता है।

मूलार्थ—गुरु मेरे को ठोकरें मारते हैं, चांटे मारते है और मुझे कोसते तथा मारते हैं, पाप-दृष्टि शिष्य गुरुजनों के हित-शासन को इस प्रकार मानता है।

टीका—जिस प्रकार साप को पिलाया हुआ गोदुग्ध भी विष के रूप में परिणत हो जाता है, इसी प्रकार मूर्ख शिष्य को दी गई हितशिक्षा का भी भयकर ही परिणाम निकलता है। गुरुजनों का सहज कठोर शासन तो केवल शिष्य के हित और सुधार के लिए होता है, परन्तु अविनीत मूर्ख शिष्य तो उसे केवल द्वेषमूलक कठोर दंड समझने लगता है और गुरुओं के हित-वचन को भी अहित रूप समझकर उन पर क्रोध करने लगता है, तथा नाना प्रकार के उपालम्भो से उन्हे दूषित करने की चेष्टा करने लगता है। यथा—ये कैसे गुरु बने बैठे है, ये तो मुझे चांटे मारते है और रात-दिन मुझे कोसते है, एव मुझे मारने को तैयार रहते है, इत्यादि।

यद्यपि गुरुजनो का शासन तो मेघ-जल के समान सबको समान रूप से शान्ति देने वाला और इस लोक तथा परलोक दोनो मे ही कल्याणकारी है, तथापि मूर्ख शिष्य उसको उलटा अपने लिए अहितकारक ही समझता हुआ गुरुजनों से द्वेष करके उनसे विपरीत आचरण करने लगता है।

अत गुरुजनो को भी उचित है कि वे शिक्षा देने से पहले शिष्य की योग्यता की परीक्षा अवश्य कर लिया करे, ताकि उनका शासन विफल न हो।

अब शास्त्रकार इसी विषय में कुछ अन्य जानने योग्य बातों का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

पुत्तो मे भाय नाइ त्ति, साहू कल्लाण मन्नई ।
पावदिट्ठी उ अप्पाणं, सासं दासि त्ति मन्नई ॥ ३९ ॥

पुत्रो मे भ्राता ज्ञातिरिति, साधुः कल्याणं मन्यते ।
पापदृष्टिस्त्वात्मानं शिष्यमाणो दास इति मन्यते ॥ ३९ ॥

पदार्थान्वयः—**मे**—मुझे, **पुत्तो**—पुत्र के समान, **भाय**—भ्राता के समान, **नाइ**—ज्ञाति बन्धु के समान, **त्ति**—इस प्रकार, **साहू**—साधु—विनयवान्, **कल्लाण**—गुरुओं के शिक्षण को कल्याण रूप, **मन्नई**—मानता है, **उ**—फिर, **पावदिट्ठी**—खोटी बुद्धि वाला उस, **सासं**—शासन को, **अप्पाणं**—अपने आत्मा के लिए, **दासि**—दास की, **त्ति**—तरह, **मन्नई**—मानता है।

मूलार्थ—विनीत शिष्य तो गुरुजनों के शासन को पुत्र, भ्राता और ज्ञाति अर्थात् सम्बन्धी जनों

को दिए गए शिक्षण के समान हितकारी समझता है और पापदृष्टि अर्थात् मूर्ख शिष्य उसी हित-शिक्षण को अपने लिए दास की शिक्षा के तुल्य मानता है।

टीका—संसार में दृष्टिभेद ही सब जगह पर काम कर रहा है। आज संसार में जितनी भी विषमता देखी जाती है उसका कारण दृष्टि-भेद अथवा अध्यवसाय-भेद है। वस्तु एक अथवा समान होने पर भी रुचि-भेद या दृष्टिभेद उसे भिन्न-भिन्न रूपों में उपस्थित कर देता है। इसीलिए जो बात एक के लिए रुचिप्रद होती है, दूसरा उससे घृणा करता है। यही दशा शास्त्रों के उत्तम उपदेश और गुरुजनों के भेद-भाव से रहित अनुशासन की है। शास्त्रों का सदुपदेश यद्यपि सबके लिए समान होता है तथापि बहुत से व्यक्ति तो उसको कल्याणप्रद और उन्नतिसाधक समझते हुए उत्तम आचरण द्वारा उससे लाभ उठाते है तथा बहुत से ऐसे सज्जन भी है जो उक्त शास्त्रीय उपदेश को आत्मा के अधःपतन का कारण समझते हुए उससे कोसो दूर भागते है। इसका कारण सिवाय अध्यवसाय अथवा दृष्टिभेद के और कुछ नहीं है। गुरुजनो के सदुपदेश अथवा शिक्षण की भी ठीक यही दशा है। उनकी हित-शिक्षा बिना किसी भेद-भाव को लिए हुए सारे शिष्य-समुदाय के लिए समान कोटि की होती है, परन्तु पात्र-भेद से वह भी उत्तम और अधम फल देने वाली हो जाती है। विनीत शिष्य तो उनके अनुशासन को परम कल्याण के देने वाला समझता है और पापदृष्टि-अविनीत शिष्य की दृष्टि मे वह अनुशासन एक प्रकार की साधु-जन-विगर्हित भर्त्सनामात्र है। मूल गाथा में न्यूनाधिक शब्दों द्वारा इसी भाव को व्यक्त किया गया है।

बुद्धिमान शिष्य तो गुरुजनो के सहज कठोर शासन को भी पुत्र, भ्राता और सम्बन्धी जनों के शासन-समान हितकर समझता है और अविनीत शिष्य उसे दास को दी जाने वाली कठोर शिक्षा के समान अहितकर समझता है। इस समस्त कथन का अभिप्राय यह है कि गुरुजनों के शासन करने पर बुद्धिमान् शिष्य अपने मन मे विचार करता है कि पिता हित-बुद्धि से ही पुत्र को शिक्षा देता है, भाई इसीलिए भाई को समझाने-बुझाने की चेष्टा करता है कि भाई के लिए उसके हृदय में स्नेह-सरिता की ऊर्मिया लहरा रही है। एक सम्बन्धी का अपने दूसरे सम्बन्धी को बोध देना भी उसके आन्तरिक स्नेह का ही द्योतक है। इसी प्रकार गुरुजनो का जो मेरे लिए यह सहज कठोर शासन है इसमें भी गुरुदेव की कृपामयी हित-कामना ही काम कर रही है। इसलिए गुरुजन जो कुछ भी कहते सुनते है, वह सब कुछ मेरे ही भले के लिए है, इसमें इनका स्वार्थ कुछ भी नहीं है। ऐसा विचार कर वह बुद्धिमान् शिष्य गुरुजनों की इच्छा के अनुकूल आचरण करता हुआ अपने आत्मा को मोक्ष-मार्ग का दृढ़ पथिक बना लेता है। जो पापदृष्टि—मूर्ख शिष्य है, उसका विचार उससे सर्वथा विपरीत होता है। वह गुरुजनों के शासन को हितकर एव कल्याणप्रद समझने के बदले उसको एक निकृष्ट प्रकार की भर्त्सना मानता है। उसके हृदय पर गुरुजनो के अनुशासन का विपरीत प्रभाव पड़ने से वह अपनी आत्मा में इस प्रकार का कुविचार उत्पन्न करता है कि इन गुरुओं का अब मेरे ऊपर बिल्कुल स्नेह नहीं रहा। ये तो स्नेह के बदले मेरे ऊपर अब द्वेष ही रखने लग गए है। इसलिए ये रात-दिन मेरे को कोसते रहते है। मेरे साथ

इनका जो व्यवहार है, वह बहुत ही तुच्छ है। इनकी दृष्टि में मै एक तुच्छ दास के तुल्य हूं। जैसे कठोर हृदय वाले मालिक को अपने नौकर पर दया नहीं आती, इसीलिए वह उसके जरा से अपराध पर भी आपे से बाहर होकर उसकी कठोर ताड़ना करने लग जाता है, इसी प्रकार इनको भी मेरे ऊपर किसी प्रकार की करुणा नहीं है। इनकी कठोर शिक्षा अब मुझसे सहन नहीं हो सकती। इस प्रकार की विपरीत भावनाओं से वह मूर्ख शिष्य अपनी आत्मा को मलिन करता हुआ उसे सन्मार्ग की ओर ले जाने के बदले कुमार्ग का ही यात्री बना देता है।

यहां पर भी विचार-भेद अथवा दृष्टि-भेद ही काम कर रहा है। विनीत शिष्य ने गुरुजनों के शासन में काम करने वाली हित-कामना का परिज्ञान नही होता है। इसलिए फलश्रुति में भी विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। विनीत को तो वह शिक्षा मोक्षमार्ग का पथिक बना देती है और अविनीत के लिए वह भारी कर्मबन्ध का हेतु बना देती है, यही अध्यवसाय मनोगत विचार-भेद की विचित्रता है।

अब शास्त्रकार विनीत शिष्य के अन्य उत्तम कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

न कोवए आयरियं, अप्पाणं पि न कोवए ।
बुद्धोवघाई न सिया, न सिया तोत्तगवेसए ॥ ४० ॥

न कोपयेदाचार्यम्, आत्मानमपि न कोपयेत् ।
बुद्धोपघाती न स्यात्, न स्यात् तोत्रगवेषकः ॥ ४० ॥

पदार्थान्वयः—आयरियं—आचार्य पर, **न कोवए**—क्रोध न करे, **अप्पाणं पि**—अपनी आत्मा पर भी, **न कोवए**—क्रोध न करे, **बुद्धोवघाई**—बुद्धो का घात करने वाला, **न सिया**—न होवे, **तोत्तगवेसए**—छिद्रो का गवेषक, **न सिया**—न होवे।

मूलार्थ—आचार्य पर क्रोध न करे, अपनी आत्मा पर भी क्रोध न लाए, तत्त्ववेत्ताओं का घातक न हो और छिद्रों अर्थात् दोषों को देखने वाला भी न हो।

टीका—जैसा कि ऊपर बताया गया है सभी पुरुष एक ही प्रकृति तथा विचारो के नही होते। अनेक शिष्यों को दी गई शिक्षा तो अज्ञानता के कारण शान्ति के बदले क्रोध की उत्पत्ति का हेतु बन जाती है, इसलिए अनेक मूढ़ शिष्य तो शिक्षा देने वाले गुरुजनो पर ही क्रुद्ध हो जाते हैं और क्रोध में आकर मनुष्य कितने और किस प्रकार के अनर्थ कर बैठता है यह सब को भली भांति विदित ही है, इसके लिए किसी उदाहरण की आवश्यकता नही है। अतः गुरुजनो की सेवा में रहने वाले बुद्धिमान शिष्य को क्रोध और उससे होने वाले अनर्थों को अपने पास तक भी फटकने न देना चाहिए, इसी मे उसका श्रेय है। बस इसी विषय को ऊपर दी गई मूल गाथा मे स्पष्ट करने का स्तुत्य प्रयत्न किया गया है।

विनयाचार मे प्रवृत्त होने वाले बुद्धिमान् शिष्य के लिए उचित है कि गुरुजनों द्वारा कठोर शासन करने पर भी वह उनके ऊपर क्रोध न लाए। इसके सिवाय वह अपने आत्मा पर भी कुपित न हो,

अर्थात् गुरुजनों के शासन से आत्मा में ग्लानि लाता हुआ 'इससे तो मर जाना ही अच्छा है', इस प्रकार का अनिष्ट विचार न करे तथा क्रोध के वशीभूत होकर गुरुजनों के घात का भी मन में सकल्प न करे तथा उनके छिद्रों का अन्वेषण भी न करे। इसका तात्पर्य यह है कि बहुत से बुद्धिहीन शिष्य गुरुजनों की शिक्षा से चिढ़कर उनके घात करने के कुविचार तक मन में लाने लगते है। उनकी दुर्भावनाओं में यह समाया हुआ होता है कि अच्छा हो यदि ये मर जाए, नहीं तो जब तक ये जीवित रहेंगे तब तक इसी प्रकार की अट-संट शिक्षा देते रहेंगे। इनके मर जाने से 'न होगा बास न बजेगी बांसुरी' वाली कहावत चरितार्थ हो जाएगी।

छिद्रान्वेषण भी क्रोध की ही एक अवान्तर शाखा प्रतिशाखा है। गुरुजनों पर असद्भाव रखने वाले अविनीत शिष्य उनकी शिक्षा का उनसे बदला लेने के विचार से उनके किसी ने किसी छिद्र अर्थात् दोष एवं कमी की तलाश मे रहते है। उनके मन में रात-दिन यही दुर्भावना चक्कर काटती रहती है कि इनकी भी अगर मुझे गुप्त कमजोरी मिल जाए तो मै भी जनता में इनका भांडा फोड़ करके ही दम लू, ताकि आगे को इन्हे किसी प्रकार की शिक्षा करने का साहस न हो सके।

इस सारे कथन का वास्तविक अभिप्राय यह है कि विनीत शिष्य को इस प्रकार के अनाचरणीय विचारो और आचारों को किसी समय में भी अपने पुनीत हृदय में स्थान न देना चाहिए। बुद्धिमान् शिष्य के आचार-विनय की शोभा तो इसी में है कि वह अपने गुरुजनो को किसी समय भी अप्रसन्न न होने दे, इसी मे उसके आत्म-ज्ञान की उज्ज्वलता और समाहित-दृष्टि का विकास निहित है।

अब गुरुजनों की प्रसन्नता के लिए विनीत शिष्य का जो कर्तव्य है उसका उल्लेख करते हैं।

आयरियं कुवियं नच्चा, पत्तिएण पसायए ।
विज्झवेज्ज पंजलीउडो, वएज्ज न पुणुत्ति य ॥ ४१ ॥

आचार्यं कुपितं ज्ञात्वा, प्रातिकेन[1] प्रसादयेत् ।
विध्यापयेत् प्राञ्जलिपुटः वदेन्न पुनरिति च ॥ ४१ ॥

पदार्थान्वयः—आयरियं—आचार्य को, **कुवियं**—कुपित हुआ, **नच्चा**—जानकर, **पत्तिएण**—प्रत्ययकारी—विश्वास योग्य वचनों से, **पसायए**—प्रसन्न करे और, **पंजलीउडो**—हाथ जोड़कर, **विज्झवेज्ज**—उनकी क्रोध रूप अग्नि को उपशान्त करे, **य**—और, **वएज्ज**—कहे, **न पुणुत्ति**—फिर इस प्रकार न करूंगा।

मूलार्थ—आचार्य महाराज को कुपित हुआ जानकर विनीत शिष्य प्रतीतिकारक अर्थात् विश्वास-योग्य वचनों से उन्हें प्रसन्न करे और उनकी क्रोध रूप अग्नि-ज्वाला को शीतल वचनों से शान्त करे तथा दोनों हाथ जोड़कर कहे कि 'मैं फिर भविर्ष्य में ऐसा कभी न करूंगा।'

---

१ प्रीत्या इत्यपि छाया ग्रन्थान्तरे।

टीका—यदि गुरुजन—आचार्य, उपाध्याय और स्थविर साधु आदि किसी कारण वश असन्तुष्ट अथवा कुपित हो जाएं तो विनयशील बुद्धिमान् शिष्य का यह धर्म है कि वह उन्हें अनुनय-विनय आदि हर प्रकार से सन्तुष्ट एवं प्रसन्न करने का प्रयत्न करे, क्योकि गुरुजनो की तुष्टि और शान्ति से ही शिष्य के ज्ञान-ध्यान और समाधि की स्थिरता रह सकती है। इसलिए आचार्य महाराज यदि कुपित हो जाएं तो शिष्य को चाहिए कि बड़ी नम्रता से विश्वास और प्रीतिजनक शब्दो द्वारा उन्हें प्रसन्न करता हुआ उनकी क्रोध रूप अग्नि-ज्वाला को उपशान्त करने का प्रयत्न करे और दोनों हाथ जोड़कर उनके चरणो में प्रार्थना करे कि "भगवन्! आप बड़े कृपालु है और मै आपकी कृपा का तुच्छ पात्र हूं तथा आप मेरे सदा पूज्य है। मै आपका सदा अनुचर हूं। मुझे मेरे इस अज्ञात अपराध के लिए क्षमा प्रदान करें। भविष्य मे मै जिस कार्य से आपको असन्तोष पैदा हो ऐसा आचरण कभी नही करूंगा।" इस प्रकार के हार्दिक विनयाचार से गुरुजनो की फिर से प्रसन्नता प्राप्त कर लेने वाला शिष्य निःसन्देह आसन्नभवी—निकट-ससारी हो जाता है, क्योकि आचार-सम्पन्न गुरुजनों की कृपा में भी कुछ कम चमत्कार नही है।

अब विनयाचार विषयक कुछ अन्य ज्ञातव्य बातों का उल्लेख किया जाता है—

धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धेहायरियं सया ।
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छइ ॥ ४२ ॥

धर्मार्जितं च व्यवहारं, बुद्धैराचरितं सदा ।
तमाचरन् व्यवहारं, गर्हा नाभिगच्छति ॥ ४२ ॥

पदार्थान्वयंः—**धम्मज्जियं**—धर्म से उत्पन्न हुआ, **च**—और, **सया**—सदा, **बुद्धेहायरियं**—तत्त्ववेत्ता आचार्यों द्वारा आचरण किया गया जो, **ववहारं**—व्यवहार है, **तं**—उस, **ववहारं**—व्यवहार को, **आयरंतो**—आचरण मे लाता हुआ, **गरहं**—निन्दा को, **नाभिगच्छइ**—प्राप्त नही होता।

मूलार्थ—जो व्यवहार धर्म से उत्पन्न हुआ है और तत्त्ववेत्ता आचार्यो ने जिसका आचरण किया है उस व्यवहार को आचरण में लाने वाला पुरुष संसार में कभी निन्दा को प्राप्त नहीं होता।

टीका—इस गाथा मे विनयशील मुमुक्षु जनो को परम्परागत शुद्ध व्यवहार के अनुष्ठान करने का आदेश दिया गया है। जो व्यक्ति शास्त्रो मे वर्णित किए गए और प्राचीन ऋषियों द्वारा आचरण मे लाए गए व्यवहार-मार्ग का अनुसरण करता है वह ससार मे कभी भी निन्दा का पात्र नही बनता। इसके विपरीत स्वेच्छा-कल्पित व्यवहार का अनुष्ठान साधु-पुरुषो मे अवश्य गर्हित समझा जाता है और समझा जाना चाहिए। इसलिए भद्र-पुरुषो को सदा शास्त्रविहित परम्परागत व्यवहार का ही पालन करना चाहिए। परम्परागत शुद्ध व्यवहार की उत्पत्ति का मूल क्षमा आदि दशविध यति-धर्म मे है, इसीलिए इसको धर्मार्जित (धर्म से एकत्रित किया गया, धर्म से उत्पन्न किया गया) कहते हैं और धर्म-प्राण पूर्वाचार्यो ने भी इसी हेतु से इसको आचार-मार्ग मे लाने का प्रयत्न किया है। इसलिए उक्त

गाथा में शास्त्रकार कहते है जो व्यवहार धर्म से अर्जित किया है और तत्त्ववेत्ता आचार्यों ने जिसका स्वयं आचरण किया है ऐसे शुद्ध व्यवहार का पालन करने वाला साधक कभी निन्दा या अपयश का भागी नहीं बनता।

इससे सिद्ध हुआ कि इसके विरुद्ध स्वेच्छा-कल्पित व्यवहार का आचरण करने वाला इस लोक में अवश्य निन्दा का पात्र बनेगा जो कि इष्ट नहीं है।

इस प्रकार शुद्ध व्यवहार को ग्रहण करके शिष्य का गुरुजनों के प्रति जो कर्त्तव्य है, अब उसकी चर्चा की जाती है—

मणोगयं वक्कगयं, जाणित्ताऽऽयरियस्स उ ।
तं परिगिज्झ वायाए, कम्मुणा उववायए ॥ ४३ ॥

मनोगतं वाक्यगतं, ज्ञात्वाऽऽचार्यस्य तु ।
तं परिगृह्य वाचा, कर्मणोपपादयेत् ॥ ४३ ॥

पदार्थान्वयः—मणोगयं—मन के भाव, **वक्कगयं**—वचन के भाव, उ—अर्थात् काय के भाव, **आयरियस्स**—आचार्य के, **जाणित्ता**—जान करके, तं—उस भाव को, **वायाए**—वाणी से, **परिगिज्झ**—ग्रहण करके, **कम्मुणा**—कार्य से, **उववायए**—पूर्ण करे।

मूलार्थ—आचार्य के मन, वचन और काय के भावों को जानकर वचनों द्वारा स्वीकार करके उनको शरीर द्वारा पूर्ण करे।

टीका—विनय-धर्म की आराधना में प्रवृत्त होने वाले मेधावी साधक का गुरु-चरणों में किस प्रकार का अनुराग होना चाहिए, इस बात का दिग्दर्शन उक्त गाथा मे कराया गया है। भावसूचक अग-प्रत्यग संचालन रूप किसी भी चेष्टा से आचार्यों—गुरुजनो के मन, वाणी और शरीरगत भावों को समझकर विनीत शिष्य उन्हें वाणी में लाता हुआ आचरण में लाकर उसे पूर्ण करने का प्रयत्न करे। इसका तात्पर्य यह है कि योग्य शिष्य गुरुजनों के वचन और आदेश की प्रतीक्षा न करता हुआ जहां तक हो सके अपनी योग्यता और विनीतता का परिचय दे कि गुरुओं की किसी मूक चेष्टा से ही उनके मनोगत भावो को समझकर उनकी पूर्ति के लिए शीघ्र प्रयासशील बने। यह उसकी योग्यता और गुरुचरणानुरक्ति की परीक्षा के लिए एक उत्तम कसौटी है। इसके अतिरिक्त यहा पर इतना और स्मरण रखना चाहिए कि गुरुजनो की विनय पर बार-बार जो इतना बल दिया गया है उसका मुख्य प्रयोजन विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति है। गुरुचरणों की आराधना के बिना शिष्य की अन्तरात्मा मे ज्ञान-ज्योति का प्रदीप्त होना सुकर तो क्या बहुत दुष्कर ही समझना चाहिए, अतः ज्ञानामृत के पिपासु शिष्य का यही धर्म है कि अपने आप को गुरुचरणों में समर्पित कर दे, ताकि उसका अक्षय सुख प्राप्ति का मार्ग नितान्त सरल बन सके।

अब विनय-धर्म में निपुणता प्राप्त किए हुए शिष्य के लक्षण कहते हैं—

वित्ते अचोइए निच्चं, खिप्पं हवइ सुचोइए ।
जहोवइट्ठं सुकयं, किच्चाइं कुव्वई सया ॥ ४४ ॥

वित्तोऽनोदितो नित्यं, क्षिप्रं भवति सुनोदितः ।
यथोपदिष्टं सुकृतं, कृत्यानि कुरुते सदा ॥ ४४ ॥

पदार्थान्वयः—**वित्ते**—विनीत, **अचोइए**—बिना प्रेरणा किए, **निच्चं**—सदा, **खिप्पं**—शीघ्र, **हवइ**—होता है, **सुचोइए**—सुप्रेरित, **जहा**—जैसे, **उवइट्ठं**—कहा है, **सुकयं**—अच्छा किया, **किच्चाइं**—कार्यो को, **सया**—सदा, **कुव्वई**—करता रहे।

मूलार्थ—विनयवान् शिष्य बिना प्रेरणा किया हुआ प्रेरणा किए हुए की तरह शीघ्र कार्यकारी हो और गुरुओं के उपदेश के अनुसार ही सदा कार्यों को करता रहे।

टीका—इस गाथा मे विनीत शिष्य की निपुणता के सम्बन्ध मे उसके कर्त्तव्य का वर्णन किया गया है। विनयशील शिष्य का यह धर्म है कि वह गुरुजनो की प्रेरणा प्राप्त न होने पर भी प्रेरणा किए गए की भाति बड़ी शीघ्रता से कार्य का सम्पादन करे और करने योग्य हर एक कार्य को बड़ी निष्ठा से करे और गुरुजनों द्वारा उसे कहकर न करवाना पड़े, किन्तु उनके उपदेश के अनुसार उस कार्य को उनकी प्रेरणा के बिना ही इस खूबी और शीघ्रता से करे जिससे कि गुरुजनो को उसकी प्रशंसा करने के लिए विवश होना पड़े।

साराश यह है कि विनीत शिष्य अपनी कार्य-दक्षता से भी गुरुजनो की प्रसन्नता के सम्पादन मे किसी प्रकार की कसर बाकी न रखे, यही उसके विनय-धर्म के अनुशीलन का सुखद सार है।

उपसंहार—

नच्चा नमइ मेहावी, लोए कित्ती से जायए ।
हवइ किच्चाणं सरणं, भूयाणं जगई जहा ॥ ४५ ॥

ज्ञात्वा नमति मेधावी, लोके कीर्तिस्तस्य जायते ।
भवति कृत्यानां शरणं, भूतानां जगती यथा ॥ ४५ ॥

पदार्थान्वय:—**नच्चा**—जान करके, **मेहावी**—बुद्धिमान्, **नमइ**—नम्र होता है, **लोए**—लोक मे, **से**—उसकी, **कित्ती**—कीर्ति, **जायए**—होती है, **किच्चाणं**—कृत्यो का, **सरणं**—शरणभूत, **हवइ**—होता है, **भूयाण**—वनस्पति आदि भूतो का, **जगई**—पृथ्वी, **जहा**—जैसे शरण है।

मूलार्थ—विनय के स्वरूप को जानकर बुद्धिमान् शिष्य विनम्र हो जाता है, लोक में उसकी कीर्ति होती है, वनस्पति आदि भूतों का शरण अर्थात्-आश्रय जैसे पृथ्वी है, इसी प्रकार समस्त कार्यों का वह शरणभूत-आश्रय स्वरूप बन जाता है।

टीका—इस गाथा में विनय-धर्म की फलश्रुति का उल्लेख किया गया है। विनय-धर्म का पहला गुण तो यह है कि उसके अनुष्ठान से नम्रता की प्राप्ति होती है, क्योकि विनीत पुरुष का सबसे पहला आचार नम्रता है। अविनीत के पास तो विनम्रता फटकने भी नहीं पाती। विनय धर्म के आचरण का दूसरा फल कीर्ति है। विनयधर्म का सेवन करने वाले की कीर्ति लोक में इस प्रकार फैलती है कि एक दिन समस्त ससार मे उसका आधिपत्य हो जाता है। विनयधर्म का इससे भी अधिक यह प्रभाव है कि उसका अनुष्ठान करने वाला मनुष्य आचरणीय समस्त कार्यों का आश्रयदाता बन जाता है। जिस प्रकार वृक्ष आदि समस्त सजीव प्राणियों को आश्रय देने वाली पृथ्वी है, उसी प्रकार विनयाचार-निष्ठ पुरुष भी अपने आचार्यो तथा आचरणीय कार्यों की सफलता में एक अपूर्व सहारा है।

विनय-धर्म समस्त धर्मो की भूल भित्ति है। विनयाचार समस्त आचारों का मूल स्रोत है। इसके धारण से, इसके आचरण से आत्मा में जिस ज्ञान-ज्योति का उदय होता है और शान्ति के प्रशान्त महासागर मे जिस प्रकार की डुबकी लगती है तथा अन्तरात्मा मे अप्रमत्तता की जो मस्ती संचरित होती है उसका यथार्थ तो क्या, साधारण वर्णन भी इस मूक लेखनी की सामर्थ्य से सर्वथा बाहर है, इसलिए विनय-धर्म की महिमा अपार है।

इस गाथा मे विनय-धर्म के सम्बन्ध में उल्लेखनीय मुख्य तीन बातें कही गई है—(१) विनय-धर्म का अधिकारी (२) विनय-धर्म का फल (३) और विनय-धर्म का प्रभाव। इसका अधिकारी तो बुद्धिमान् पुरुष है, फल विनम्रता और दिगन्तव्यापिनी विश्व-विश्रुत कीर्ति की प्राप्ति है तथा आचरणीय समस्त कार्यो को आश्रय देना अथवा आत्मा में समस्त कार्यों के सम्पादन की शक्ति का प्रादुर्भाव होना इसका प्रभाव है।

इस सारे वक्तव्य का सारांश यह है कि विनयधर्म एक ऐसा धर्म है जिससे मोक्ष-मन्दिर के कण्टकाकीर्ण विकटमार्ग को निष्कण्टक और सरलतर बनाने मे अधिक-से-अधिक सहायता मिल सकती है, अत मुमुक्षु पुरुष के लिए इसका आचरण करना कितना आवश्यक है इसके कहने की अब कोई आवश्यकता शेष नही रहती।

गुरुजनों की प्रसन्नता प्राप्त करने वाले विनीत शिष्य के सम्बन्ध में अब अन्य ज्ञातव्य विषय का उल्लेख किया जाता है—

पुज्जा जस्स पसीयंति, संबुद्धा पुव्वसंथुया ।
पसन्ना लाभइस्संति, विउलं अट्ठियं सुयं ॥ ४६ ॥

पूज्या यस्य प्रसीदन्ति, संबुद्धाः पूर्वसंस्तुताः ।
प्रसन्ना लाभयिष्यन्ति, विपुलमार्थिकं श्रुतम् ॥ ४६ ॥

पदार्थान्वयः—**पुज्जा**—पूज्य—आचार्य, **जस्स**—जिस पर, **पसीयंति**—प्रसन्न होते है, **संबुद्धा**—जो तत्ववेत्ता है, **पुव्वसंथुया**—पढ़ने से पूर्व जिनकी स्तुति की गई है, **पसन्ना**—प्रसन्न होकर,

लाभइस्संति—लाभ देंगे, **विउलं**—विस्तार पूर्वक, **अट्ठियं**—अर्थ और, **सुयं**—श्रुत का।

मूलार्थ—पढ़ने से पूर्व जिनकी स्तुति की गई है ऐसे तत्त्ववेत्ता पूज्य आचार्य जिस पर प्रसन्न हैं, ऐसे शिष्य को वे प्रसन्नता पूर्वक बहुत विस्तृत अर्थ और श्रुत का लाभ देंगे।

टीका—अर्थ-सहित आगमादि श्रुत-ज्ञान की प्राप्ति का आधार केवल पूज्य गुरुजनों की प्रसन्नता है। उनकी प्रसन्नता के बिना श्रुत-ज्ञान की न तो प्राप्ति ही हो सकती है और न वह सफल ही हो सकता है, इसलिए तत्त्व-जिज्ञासु आगमाभ्यासी शिष्य को सबसे पहले यही उचित है कि वह जिस तरह भी हो सके अपने पूज्य गुरुजनो की प्रसन्नता प्राप्त करने का उद्योग करे। गुरुजनों की प्रसन्नता से दुर्लभ श्रुत-ज्ञान की प्राप्ति और उसकी सफलता अवश्यभावी है। प्रसन्न-हृदय गुरुजन अपने विनीत शिष्य को श्रुत-ज्ञान का अलभ्य लाभ देने में जरा भी संकोच नहीं करते और गुरुजनों द्वारा प्रसन्नता-पूर्वक दिया हुआ श्रुत-ज्ञान शिष्य के लिए अधिक लाभप्रद होता है, क्योंकि प्रसन्न हुए गुरुजन अपने विनीत शिष्य के सामने आगमादि श्रुत-ज्ञान के किसी भी गुप्त रहस्य को छिपाकर नही रखते, अपितु उनके आगमादि श्रुत के अध्यापन मे तत्त्वबोध सम्बन्धी अधिक स्पष्टता, अर्थ-विषयक अधिक मार्मिक विस्तार और ज्ञान-प्राप्ति के विषय मे अधिक साफल्य का होना अनिवार्य है। बस, इसी रहस्य का व्यक्तीकरण कुछ न्यूनाधिक शब्दो मे उक्त गाथा मे किया गया है। तात्पर्य यह है कि बुद्धिमान् शिष्य पढ़ने से पूर्व तत्त्ववेत्ता आचार्यो को स्तुति आदि के द्वारा प्रसन्न करे। छद्मस्थो को स्तुति आदि से प्रसन्नताः प्रायः हो ही जाती है। फिर प्रसन्न हुए गुरुजन उस शिष्य को अधिक विस्तार वाले अर्थ—मोक्ष पदार्थ और आगमादि श्रुत-विद्या का अवश्य लाभ देते है।

साराश यह कि आगमादि श्रुतज्ञान की प्राप्ति का मूल साधन पूज्य आचार्यो की प्रसन्नता है, अत उसी का सपादन करना चाहिए। वास्तव मे तत्त्ववेत्ता गुरुजन एक प्रकार की कामधेनु गाय है। उनको प्रसन्न करने से ही श्रुतज्ञान रूप दुग्धामृत की प्राप्ति होती है एव उनकी जितनी अधिक प्रसन्नता होगी उतना ही अधिक दुग्धामृत उनसे प्राप्त हो सकेगा। इसलिए कामधेनु रूप गुरुजनो की अधिक-से-अधिक सेवा-भक्ति करके उनसे अधिक-से-अधिक श्रुतज्ञान का लाभ प्राप्त करने का उद्योग करना चाहिए।

अब विनय की ऐहिक फलश्रुति का उल्लेख किया जाता है—

स पुज्जसत्थे सुविणीयसंसए, मणोरुई चिट्ठइ कम्मसंपया ।
तवो समायारि-समाहिसंवुडे, महज्जुई पंच वयाइं पालिया ॥ ४७ ॥

स पूज्यशास्त्रः सुविनीतसंशयः, मनोरुचिस्तिष्ठति कर्मसंपदा ।
तपः समाचारी-समाधिसंवृतः, महाद्युतिः पंच व्रतानि पालयित्वा ॥ ४७ ॥

पदार्थान्वयः—**स**—वह शिष्य, **पुज्जसत्थे**—पूज्य शास्त्र, **सुविणीयसंसए**—सर्वथा सन्देह-रहित, **मणोरुई**—गुरुजनों के मन की रुचि और, **कम्मसंपया**—दशविध कर्मसम्पदा में, **चिट्ठइ**—ठहरता है,

तवो समायारि—तप समाचारी, **समाहि**—समाधि, **संवुडे**—संवृत—आश्रव से रहित, **पंचवयाइं**—पांच व्रतों को, **पालिया**—पालन करके, **महज्जुई**—महाद्युति वाला होता है।

मूलार्थ—वह विनीत शिष्य जो पूज्य-शास्त्र और सर्व प्रकार के संशयों से रहित है, मनोरुचि और कर्म-सम्पदा में रहता है तथा तप-समाचारी और समाधियुक्त आश्रव से रहित, पांच महाव्रतों का पालन करके महान् प्रकाश वाला हो जाता है।

टीका—इस गाथा में विनय-धर्म के महत्त्व की चर्चा बड़ी सुन्दर शब्दावली में की गई है। विनय-धर्म की इससे अधिक और क्या महिमा हो सकती है कि उसके उपासक को जनता पूज्यशास्त्र की उपाधि से अलंकृत करती है, अर्थात् उसका अध्ययन किया शास्त्र औरों की अपेक्षा अधिक पूज्य समझा जाता है तथा उसके श्रुत-ज्ञान को अन्य सर्व साधारण की अपेक्षा अधिक परिष्कृत, असंदिग्ध और आदरणीय माना जाता है, क्योंकि उसने गुरु-चरणों मे रहकर विनय-धर्म की सतत आराधना करते हुए श्रुत का सम्यक् अध्ययन किया है और गुरुजनो की मनःरुचि के अनुसार सदैव आचरण करने से उस विनीत शिष्य को 'मनोरुचि' भी कहते हैं तथा वह शिष्य जो कि इस समय पूज्य-शास्त्र और विगत-सशय माना जा रहा है—अधीतागम अथवा सर्वप्रिय होने के कारण सदा गुरु-चरणो मे निवास करता है। आवश्यकीय आदि दशांग समाचारी[1] उसकी कर्मसम्पदा—कर्मसम्पत्ति है तथा तप समाचारी[2] बाह्य और आभ्यन्तर तप के अनुष्ठान करने में भी वह पूर्ण निपुण होता है एव समाधि-युक्त और आश्रव-रहित होकर पाच महाव्रतों का यथावत् पालन करके वह विनीत शिष्य लोक में एक अद्वितीय तेजस्वी हो जाता है एव गुरुजनों से विनयपूर्वक अध्ययन किया हुआ शास्त्र ही पूज्य और उनसे विनय-पूर्वक प्राप्त किया श्रुतज्ञान ही सन्देह-रहित होता है। इन्ही दो बातों को स्पष्ट करने के लिए उक्त गाथा में 'सु शब्द' का प्रयोग किया गया है। तथा श्रुत का पूर्णतया अध्ययन कर चुकने के बाद भी गुरुजनों के निकट रहने का शिष्य को जो आदेश दिया गया है उसका प्रयोजन केवल स्वेच्छाचार का निरोध करना है। इसके अतिरिक्त कर्म-सम्पदा में स्थित रहने की आज्ञा करने का अभिप्राय सूत्रकार का यह है कि केवल ज्ञानमात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति नही होती, किन्तु उसके साथ क्रिया—शुद्ध आचार की भी आवश्यकता है और कर्मसम्पदा के साथ जो तप-समाचारी का उल्लेख किया गया है उसका तात्पर्य यह है कि क्रिया के साथ तपोऽनुष्ठान की भी नितान्त आवश्यकता है, परन्तु तप का अनुष्ठान भी चित्त की समाधि के बिना व्यर्थ है। इसलिए गाथा में समाधियुक्त होने का आदेश दिया गया है और समाधि के लिए प्रथम आश्रव-द्वारो का निरोध करके सवृत होना आवश्यक है, अत. सवृत का उल्लेख किया गया है, परन्तु आश्रवों का निरोध भी तभी शक्य है जब कि पांच महाव्रतो का यथावत् पालन किया जाए। अत. पांच महाव्रतो के अनुष्ठान से आश्रव-द्वारों का निरोध करना और आश्रव-निरोध से सवर की प्राप्ति करना, संवर से समाधि की उपलब्धि और समाधि से

१ इसका वर्णन इसी सूत्र के २६वें अध्ययन में देखे।

२ इसका वर्णन इसी सूत्र के ३०वें अध्ययन मे किया गया है।

तपोऽनुष्ठान की प्राप्ति एवं तपोऽनुष्ठान से कर्म-सम्पदा में स्थिति होती है। इस प्रकार कर्म और ज्ञान की निर्मलता से आत्मा मे अद्वितीय तेज की प्राप्ति होती है जिसका अन्तिम परिणाम मोक्ष है।

इसके अतिरिक्त गाथा में आए हुए 'कर्मसम्पदा' और 'महाद्युति' इन दोनों शब्दों के पीछे 'भवति' क्रिया का अध्याहार कर लेना चाहिए।

विनय के प्रत्यक्ष फल

स देव-गंधव्व-मणुस्सपूइए, चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं ।
सिद्धे वा हवइ सासए, देवे वा अप्परए महिड्ढिए ॥ ४८ ॥
त्ति बेमि

इति विणयसुयं नाम पढमं अज्झयणं समत्तं ॥ १ ॥

स देव गन्धर्व मनुष्यपूजितः, त्यक्त्वा देहं मलपंकपूर्वकम् ।
सिद्धो वा भवति शाश्वतः, देवो वाल्परजो महर्द्धिकः ॥ ४८ ॥
इति ब्रवीमि।

इति विनयश्रुतं नाम प्रथममध्ययनं संपूर्णम् ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—**स**—वह विनयवान् शिष्य, **देवगंधव्वमणुस्सपूइए**—देव, गन्धर्व और मनुष्यो द्वारा पूजित, **चइत्तु**—त्याग करके, **देहं**—शरीर को, **मलपंकपुव्वयं**—मलपक-युक्त को, **वा**—अथवा, **सासए**—शाश्वत, **सिद्धे**—सिद्ध, **हवइ**—होता है, **वा**—अथवा, **अप्परए**—अल्प कर्म-रज वाला, **महिड्ढिए**—महाऋद्धि वाला, **देव**—देव होता है, **त्ति**—इस प्रकार, **बेमि**—मै कहता हू।

मूलार्थ—वह विनयशील शिष्य देव, गन्धर्व और मनुष्यादि से पूजित होता हुआ मलपंक-युक्त—शुक्र-शोणित-युक्त शरीर को त्यागकर या तो शाश्वत सिद्ध हो जाता है अथवा अल्प-कर्म-रज वाला और महासमृद्धि वाला देव हो जाता है।

टीका—विनय-धर्म की यह प्रत्यक्ष महिमा है कि उसके आराधक को साधारण मनुष्य की तो क्या कहे, वैमानिक, ज्योतिषी आदि देव, व्यन्तर और भवनपति आदि देवता गन्धर्व तथा चक्रवर्ती आदि उत्तम पुरुष भी पूजते तथा सम्मानित करते है। विनय-धर्म की आराधना के प्रभाव से वह मल-मूत्र और पूय-रुधिर आदि से युक्त इस दृश्यमान शरीर का परित्याग करके सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करता हुआ शाश्वत—सदा रहने वाले सिद्धपद—मोक्षपद को प्राप्त करता है और यदि उसके कुछ कर्म शेष रह जाएं तो वह अपने में स्वल्पतर मोहनीयकर्म को रखता हुआ लवसप्तम आदि महा समृद्धियों वाला देव बनता है।

यहा पर विनय-धर्म की फलश्रुति का वर्णन करते हुए उसके ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के विशिष्ट फल का प्रतिपादन किया गया है। देव, गन्धर्व और उच्चकोटि के मनुष्यों द्वारा सम्मानित

होना यह उसका महत्वपूर्ण ऐहिक फल है और शरीर त्याग करने के पश्चात् देव-गति तथा अजर-अमर पद की प्राप्ति उसका पारलौकिक चमत्कार है।

इसके अतिरिक्त यहां पर एक साधारण सी यह शंका रह जाती है कि विनय-धर्म का आराधक जब कि देवों द्वारा पूजित होता है, तब फिर साथ मे उसको मनुष्यों के द्वारा भी पूजित बताना कुछ युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि देवो की अपेक्षा मनुष्य हीन कोटि में माने जाते हैं। अत एव उनकी अपेक्षा ये अपूज्य हैं। फिर इनको एक ही समान कोटि में रखना किस प्रकार युक्ति-युक्त माना जाए? इस शंका का समाधान यह है कि देव, गन्धर्वादि के द्वारा विनीत पुरुष का सम्मानित होना तो केवल आगम-सिद्ध अथवा केवली-दृष्ट ही है, परन्तु चक्रवर्ती आदि उत्तम पुरुषो के द्वारा होने वाले पूजा-सत्कार को देखने का सौभाग्य तो हम जैसे साधारण व्यक्तियो को कदाचित् प्राप्त हो सकता है, इसलिए उक्त गाथा में जो 'मनुष्य' शब्द का प्रयोग किया गया है, वह बिल्कुल अर्थसंगत है।

इसके अतिरिक्त एक सन्देह और बाकी रह जाता है, वह यह कि किसी घाती कर्म के कुछ शेष रह जाने पर विनयोपासक सिद्धगति को प्राप्त न करके उच्च देव-गति को ही प्राप्त हुआ अर्थात् देव बन गया तो फिर वह देव स्वल्प-कर्म व स्वल्परति वाला होने के साथ महासमृद्धि वाला भी हो यह कैसे सगत हो सकता है? परन्तु यह सन्देह सर्वथा अज्ञानमूलक है, क्योकि यह कोई नियम नहीं है कि घाती कर्मो की न्यूनता के साथ समृद्धि की भी न्यूनता हो। लवसप्तम और कल्पातीत देवो मे समृद्धि का उत्कर्ष और घाती कर्मों की स्वल्पता ये दोनो बाते मौजूद होती हैं। इन देवो का मोहनीय कर्म उदय नही होता, किन्तु उपशम होता है। इसलिए ये उपशान्त मोह वाले कहलाते है, परन्तु इसके साथ ही ये महासमृद्धि वाले भी है। अत उक्त प्रकार का सन्देह व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त सिद्ध पद के साथ जो 'शाश्वत' विशेषण दिया गया है, वह सिद्धगति—मोक्षगति को नित्य प्रतिपादन करने के लिए दिया गया है। तात्पर्य यह है कि मुक्तात्मा की पुनरावृत्ति नही होती। आज कल के बहुत से स्वल्पबुद्धि वाले पुरुष मोक्ष से नियत समय के बाद आत्मा का वापस ससार में आना भी मानते है, परन्तु उनका यह कथन कितना उपयुक्त है तथा उनकी इस भ्रान्त कल्पना मे कितना सार है, इसका विस्तृत निरूपण अन्यत्र किया गया है।

'त्ति बेमि' (इस प्रकार मै कहता हू)—यहा पर **'इति'** शब्द समाप्ति अर्थ का बोधक है और **'ब्रवीमि'** का अर्थ है कि मै गणधरादि के उपदेश सुनकर ऐसा कहता हू, अर्थात् सुधर्मा स्वामी अपने जम्बू स्वामी आदि शिष्यो से कहते है कि मैने जैसे तीर्थंकर भगवान महावीर से विनय-धर्म का स्वरूप सुना है, उसी प्रकार मैं तुमको कहता हूं। इसमें मैंने अपनी निजी कल्पना से कुछ नहीं कहा है।

विनयश्रुत अध्ययन संपूर्ण

□□

अह दुइअं परीसहज्झयणं

अथ द्वितीयं परीषहाध्ययनम्

अब परीषह नाम के दूसरे अध्ययन का आरम्भ किया जाता है। इसके आरम्भ की उपपत्ति इस प्रकार है—पहले अध्ययन मे विनय-धर्म का स्वरूप विस्तारपूर्वक निरूपण कर दिया गया है। अब इसमे शंका होती है कि क्या विनय का आचरण स्वस्थ दशा मे ही करना उचित है, अथवा परीषह की अवस्था में भी? इसका उत्तर यह है कि विनय-धर्म का सेवन दोनों ही अवस्थाओं मे आवश्यक है। जब ऐसा है तब तो परीषह का स्वरूप और उनकी संख्या का ज्ञान होना भी अनिवार्य है। इसलिए परीषह अध्ययन का आरम्भ किया जाता है।

परीषह—इस शब्द का सामान्य अर्थ चारो ओर से आने वाले कष्टों को समता-पूर्वक सहन करना है। सक्षेप में इन परीषहो की संख्या बाईस है। इन्ही के स्वरूप का विस्तृत वर्णन इस दूसरे अध्ययन मे किया गया है जिसकी प्रारम्भिक गाथा यह है—

परीषहों का सामान्य परिचय—

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—

इह खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया। जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय, भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा ॥ १ ॥

श्रुतं मया आयुष्मन्! तेन भगवता एवमाख्यातम्—

इह खलु द्वाविंशतिः परीषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः।

यान् भिक्षुः श्रुत्वा, ज्ञात्वा, जित्वाऽभिभूय भिक्षाचर्यायां परिव्रजन् स्पृष्टो नो विनिहन्येत् ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—श्री सुधर्मा स्वामी श्री जम्बू स्वामी से कहते है—**आउसं**—हे आयुष्मन्! **सुयं मे**—मैने सुना है, **तेणं**—उस जगत्प्रसिद्ध, **भगवया**—भगवान् ने, **एवं**—इस प्रकार, **अक्खायं**—प्रतिपादन किया है, **इह**—इस जिनशासन में, **खलु**—निश्चय से, **बावीसं**—बाईस,

परीसहा—परीषह—कष्ट, **समणेणं**—श्रमण, **भगवया**—भगवान्, **महावीरेणं**—महावीर, **कासवेणं**—कश्यपगोत्रीय ने, **पवेइया**—बताये हैं, **जे**—जिनको, **भिक्खू**—साधु, **सुच्चा**—सुन करके, **नच्चा**—जान करके, **जिच्चा**—परिचित हो करके, **अभिभूय**—उन्हे जीत करके, **भिक्खायरियाए**—भिक्षाचरी में, **परिव्वयंतो**—परिव्रजन करता हुआ, **पुट्ठो**—स्पर्शित हुआ, **नो विनिहन्नेज्जा**—सयम-मार्ग से भ्रष्ट न हो।

मूलार्थ—श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन्! मैंने सुना है कि उस जगत्प्रसिद्ध भगवान् ने इस प्रकार से प्रतिपादन किया है कि इस जिनशासन में २२ परीषह हैं जो कश्यपगोत्रीय भगवान महावीर ने बताये हैं, जिनको साधु सुन करके, जान करके, उनसे परिचित हो करके, उनके सामर्थ्य को जीत करके भिक्षाचरी में घूमते हुए उनका स्पर्श होने पर भी संयम-मार्ग से भ्रष्ट न हो।

टीका—श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से परीषहों का वर्णन करते हुए, वर्ण्य विषय को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए अपनी श्रुति-परम्परा का भी उल्लेख करते हैं। यथा—आयुष्मन्! मैने सुना है कि उन जगत्प्रसिद्ध सर्वैश्वर्य-सम्पन्न भगवान् ने इस रीति ये प्रतिपादन किया है।

शंका—किस स्थान पर प्रतिपादन किया है?

समाधान—इस प्रवचन मे प्रतिपादन किया है कि कश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने २२ परीषह बताए है।

शंका—भगवान् ने स्वय बताए है या किसी से सुनकर?

समाधान—किसी से सुनकर नहीं, किन्तु अपने केवल-ज्ञान मे देखकर इनका प्रतिपादन किया है। साधु मुनिराज इन परीषहों को अपने गुरुजनो के मुख से सुन करके यथावत् जान करके, पुनः-पुन. अभ्यास के द्वारा इनसे परिचित होकर और इनके सामर्थ्य को नष्ट करके अपने चारित्र मे—स्वीकृत नियमो मे दृढ़ रहने का प्रयत्न करे, किन्तु भिक्षाचरी मे घूमते हुए—भिक्षा के निमित्त परिभ्रमण करते हुए साधु को दैवयोग से यदि कोई परीषह—कष्ट आ जाए तो वह दृढ़ता और समता से उसका सामना करे और उस पर विजय प्राप्त करने की कोशिश करे, वह परीषहों से डर कर अपने सयम-मार्ग से भ्रष्ट होने की गर्हित चेष्टा कदापि न करे। यहा पर परीषहो के आगमन में जो भिक्षाचरी का उल्लेख किया गया है, उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि भिक्षार्थ घूमते समय प्रायः किसी न किसी परीषह का उदय हो ही जाता है, यथा—'**भिक्खायरियाए बावीसं परीसहा उईरिज्जंति**' अर्थात् भिक्षाचरी में २२ परीषह उदय मे आ जाते है, इसलिए परीषह के आ जाने पर भी विवेकी पुरुष अपने चारित्र-पथ से कभी विचलित न होए।

मूल गाथा में आये हुए '**आउसं**—आयुष्मन्' शब्द का 'देहली-दीपन्याय' से भगवान् और शिष्य दोनों के साथ सम्बन्ध किया जा सकता है। एवं '**परीषहाः**' शब्द अध्याहृत 'सन्ति' क्रिया का कर्त्ता है और '**खलु**' शब्द को वृत्तिकार अलंकारार्थक मानते है।

शिष्य का परीषहों के विषय में प्रश्न—

कयरे खलु ते बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया? जे भिक्खू सुच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय, भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा ॥ २ ॥

कतरे खलु ते द्वाविंशतिः परीषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः? यान् भिक्षु श्रुत्वा, ज्ञात्वा, जित्वा अभिभूय भिक्षाचर्यायां परिव्रजन् स्पृष्टो न विनिहन्येत् ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—कयरे—कौन से, **खलु**—निश्चय से, **ते**—वे, **बावीसं**—बाईस, **परीसहा**—परीषह है जो, **समणेणं**—श्रमण, **भगवया**—भगवान्, **महावीरेणं**—महावीर, **कासवेणं**—कश्यपगोत्रीय ने, **पवेइया**—बताए है, **जे**—जिनको, **सुच्चा**—सुन करके, **नच्चा**—जान करके, **जिच्चा**—जीत करके—अभ्यास करके, **अभिभूय**—उनकी शक्ति को जीत करके, **भिक्खायरियाए**—भिक्षाचरी में, **परिव्वयतो**—घूमते हुए, **पुट्ठो**—स्पर्शित होने पर, **नो विनिहन्नेज्जा**—संयम-मार्ग से न गिरे।

मूलार्थ—वे कौन से बाईस परीषह हैं जो कि कश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर ने प्रतिपादन किए है? जिनको साधु सुन करके, जान करके, अभ्यास करके और उनकी शक्ति को जीत करके सहन करे, यदि भिक्षाचरी में घूमते हुए को इनका स्पर्श हो जाए तो वह अपने संयम से न गिरे।

टीका—इस वाक्यसमुदाय की व्याख्या पहले ही कर दी गई है। अब दोबारा व्याख्या करना सर्वथा अनावश्यक है। प्राकृत भाषा की अथवा सूत्र-ग्रन्थों की यह शैली है कि प्रश्न मे उन सब वाक्यो को फिर से दोहराया जाए, इसलिए प्रश्न मे वे सब पद फिर से दोहराए गए है। अस्तु, यहा पर श्रमण शब्द का अर्थ तपस्वी है और साथ मे श्रमण शब्द के उल्लेख से यह भी ध्वनित किया गया है कि वास्तव मे ज्ञान-प्राप्ति श्रवण से ही हो सकती है तथा ज्ञान की परिपक्वता के लिए सतत अभ्यास की जरूरत है। इसलिए अभ्यास के द्वारा परीषहो पर विजय प्राप्त करके अपने सयम को दृढ़ बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

शिष्य के प्रश्न का उत्तर—

इमे खलु ते बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया। जे भिक्खू सुच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा ॥ ३ ॥

इमे खलु ते द्वाविशतिः परीषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः। यान् भिक्षुः श्रुत्वा, ज्ञात्वा, जित्वा, अभिभूय, भिक्षाचर्यायां परिव्रजन् स्पृष्टो नो विनिहन्येत् ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—इमे—ये, **खलु**—निश्चय, **ते**—वे, **बावीसं**—बाईस, **परीसहा**—परीषह, **समणेणं**—श्रमण, **भगवया**—भगवान्, **महावीरेणं**—महावीर ने, **कासवेणं**—कश्यपगोत्रीय ने,

पवेइया—प्रतिपादन किए हैं, **जे**—जिनको, **भिक्खू**—साधु, **सुच्चा**—श्रवण करके, **नच्चा**—जान करके, **जिच्चा**—परिचित करके, **अभिभूय**—उनकी शक्ति को जीत करके, **भिक्खायरियाए**— भिक्षाचरी मे, **परिव्वयंतो**—घूमते हुए, **पुट्ठो**—स्पर्शित हुआ, **नो विनिहन्नेज्जा**—सयम-मार्ग से पतित न हो।

मूलार्थ—अब आगे कहे जाने वाले २२ परीषह ये हैं, जिनका प्रतिपादन कश्यप गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर ने किया है, जिनको सुनकर, जानकर, परिचित होकर और उनकी सामर्थ्य को नष्ट करके संयम में स्थित होता हुआ साधु भिक्षाचरी में घूमते हुए किसी परीषह के स्पर्श से संयम-मार्ग का परित्याग न करे।

टीका—जिस प्रकार प्रश्न करते समय सम्पूर्ण पाठ का उच्चारण किया गया था उसी प्रकार उत्तर की इस गाथा मे भी उसका सम्पूर्ण पाठ देना कोई पुनरुक्ति नहीं है, किन्तु प्राकृत प्रवचन की यही शैली है कि उसमें पठित पाठ का प्रश्न और उत्तर में अनेक बार उच्चारण किया जाता है, जिससे कि स्वाध्याय में तो पुण्य की अभिवृद्धि हो और अर्थों के परिज्ञान मे सुगमता रहे।

इसके अतिरिक्त **'कासवेणं'**—काश्यप—लिखने का प्रयोजन भगवान् महावीर स्वामी को क्षत्रिय कुल के कश्यप गोत्र मे उत्पन्न होना प्रमाणित करना है। कश्यप यह क्षत्रियों का प्रधान गोत्र माना गया है।

यहा सूत्रगत **'पवेइया'**—**प्रवेदिताः**—का भावार्थ यह है कि भगवान् ने परीषहों का प्रतिपादन अपने स्वतन्त्र ज्ञान द्वारा स्वय किया है, किसी अन्य से सुनकर नहीं किया, क्योंकि वे केवलज्ञानी, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे, उनका ज्ञान किसी अन्य ज्ञान के अधीन नहीं था। वे स्वतन्त्र ज्ञान के अधिपति थे, उनके स्वतन्त्र ज्ञान मे भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालीन विश्व के सारे पदार्थ करतलामलकवत् भासमान होते थे। केवलज्ञान की यह महिमा है कि उससे कोई भी भाव तिरोहित नहीं रहता। केवलज्ञान ही एक स्वतंत्र ज्ञान है, उसके अतिरिक्त मति, श्रुति, अवधि और मनःपर्यव ये चारो ज्ञान परतन्त्र अथवा छद्मस्थिक कहे जाते है।

भगवान् ने मुनि को सहन करने योग्य बाईस परीषह बताए हैं। उनके नामों का अनुक्रम से उल्लेख इस प्रकार है—

तं जहा—१ दिगिंछापरीसहे, २ पिवासापरीसहे, ३ सीयपरीसहे, ४ उसिणपरीसहे, ५ दंस-मसयपरीसहे, ६ अचेलपरीसहे ७ अरइपरीसहे, ८ इत्थीपरीसहे, ९ चरियापरीसहे, १० निसीहियापरीसहे, ११ सिज्जापरीसहे, १२ अक्कोसपरीसहे, १३ वहपरीसहे, १४ जायणापरीसहे, १५ अलाभपरीसहे १६ रोगपरीसहे, १७ तणफासपरीसहे, १८ जल्लपरीसहे, १९ सक्कारपुरक्कार परीसहे, २० पन्नापरीसहे, २१ अन्नाण-परीसहे, २२ दंसणपरीसहे ॥ ४ ॥

ते यथा—१. क्षुधापरीषहः, २. पिपासापरीषहः, ३. शीतपरीषहः, ४. उष्णपरीषहः, ५ दंश-मशकपरीषहः, ६. अचैलपरीषहः, ७. अरतिपरीषहः, ८. स्त्रीपरीषहः, ९. चर्यापरीषहः, १०. नैषेधिकीपरीषहः, ११. शय्यापरीषहः, १२. आक्रोशपरीषहः, १३. वधपरीषहः, १४. याचना-परीषहः, १५. अलाभपरीषहः, १६. रोगपरीषहः, १७. तृणस्पर्शपरीषहः, १८. जल्ल-परीषहः, १९. सत्कार-पुरस्कारपरीषहः, २०. प्रज्ञापरीषहः, २१. अज्ञानपरीषहः, २२. दर्शन-परीषहः ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—दिगिंछापरीसहे—भूख का परीषह, **पिवासापरीषहे**—तृषा का परीषह, **सीय-परीसहे**—शीत का परीषह, **उसिणपरीसहे**—उष्णता का परीषह, **दंसमसयपरीसहे**—दंश-मशक परीषह, **अचेलपरीसहे**—अवस्त्र का परीषह, **अरइपरीसहे**—अरति का परिषह, **इत्थीपरीसहे**—स्त्री का परीषह, **चरियापरीसहे**—चर्या का परीषह, **निसीहियापरीसहे**—बैठने का परीषह, **सेज्जापरीसहे**—शय्या का परीषह, **अक्कोसपरीसहे**—आक्रोश का परीषह, **वहपरीसहे**—वध का परीषह, **जायणापरीसहे**—याचना का परीषह, **अलाभपरीसहे**—अलाभ का परीषह, **रोगपरीसहे**—रोग का परीषह, **तणफासपरीसहे**—तृण के स्पर्श का परीषह, **जल्लपरीसहे**—प्रस्वेद का परीषह, **सक्कारपुरक्कार-परीसहे**—सत्कार-पुरस्कार का परीषह, **पन्नापरीसहे**—बुद्धि का परीषह, **अन्नाणपरीसहे**—अज्ञान का परीषह, **दंसणपरीसहे**—दर्शन का परीषह।

मूलार्थ—जैसे कि क्षुधा-परीषह, तृषा-परीषह, शीत-परीषह, उष्ण-परीषह, दंशमशक परीषह, अवस्त्र-परीषह, अरति-परीषह, स्त्री-परीषह, चर्या-परीषह, नैषेधिकी-परीषह, शय्या-परीषह, आक्रोश-परीषह, वध-परीषह, याचना-परीषह, अलाभ-परीषह, रोग-परीषह, तृणस्पर्श-परीषह, प्रस्वेद-परीषह, सत्कार-पुरस्कार-परीषह, प्रज्ञा-परीषह, अज्ञान-परीषह और दर्शन-परीषह, ये बाईस परीषह हैं।

टीका—ये २२ परीषह साधु-जीवन के परखने की कसौटी है। इनको सहन करने मे ही मुनि-जीवन की सार्थकता है, इसलिए वीतराग देव के द्वारा निर्दिष्ट किए हुए त्याग-प्रधान साधु मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति को इन उक्त परीषहो पर विजय प्राप्त करके अपने संयम को दृढ़तर बनाए रखना चाहिए। ये परीषह साधु-चर्या मे जिस अनुक्रम से उत्पन्न होते है, उसी अनुक्रम से इन के नामो का निर्देश किया गया है।

यहां इतना और स्मरण रखना चाहिए कि पहले क्षुधा-परीषह, इसके नामनिर्देश मे जो **'दिगिच्छा'** शब्द का प्रयोग किया गया है, वह देशीप्राकृत के नियमानुसार किया गया है। देशीप्राकृत में क्षुधा का पर्यायवाची शब्द 'दिगिछा' माना गया है। प्राकृत शब्दो के तज्ज, तत्सम और देशी ये तीन भेद माने गए है। जो शब्द संस्कृत शब्दो से उत्पन्न होते है वे 'तज्ज' कहे जाते है। जैसे-धर्म से 'धम्म' बना। संस्कृत शब्दों के साथ समानता रखने वाले शब्दो की 'तत्सम' सज्ञा है, जैसे—अहिसा, मगल आदि शब्द हैं और देशी प्राकृत के रूप मे तो अनेक प्रकार के होते है। उन्हीं में से एक क्षुधावाची 'दिगिंछा' शब्द भी है।

अपि च **'परीत्ति सर्वप्रकारेण सह्यते इति परीषहः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो सर्व प्रकार से सहन किया जाए उसको परीषह कहते है तथा स्वाध्याय-भूमि वा श्मशान-भूमि को नैषेधिकी कहा जाता है। उपाश्रय को शय्या, याञ्चा को जायणा, वस्तु के स्वरूप को स्वयं जान लेने का नाम प्रज्ञा और ज्ञान के अभाव को अज्ञान तथा सम्यक्त्व का नाम दर्शन है।

परीषहों का सामान्य वर्णन—

परीसहाणं पविभत्ती, कासवेणं पवेइया ।
तं भे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥ १ ॥

परीषहाणां प्रविभक्तिः, काश्यपेन प्रवेदिता ।
तां भवतामुदाहरिष्यामि, आनुपूर्व्या श्रृणुत मे ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—परीसहाणं—परीषहों का, **पविभत्ती**—जो विभाग, **कासवेणं**—काश्यप ने—प्रभु महावीर ने, **पवेइया**—बताया है, **तं**—उसको, **भे**—आपके प्रति, **उदाहरिस्सामि**—प्रतिपादन करूंगा, **आणुपुव्विं**—अनुक्रम से, **मे**—मुझ से, **सुणेह**—सुने।

मूलार्थ—कश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर स्वामी ने परीषहों का जो-जो विभाग प्रतिपादन किया है, उसको मै आपके प्रति कहूंगा, आप मुझसे उसको श्रवण करें।

टीका—बाईस परीषहो के नामो का निर्देश ऊपर किया जा चुका है। अब उनके स्वरूप का वर्णन करना शेष रहता है जो कि नीचे किया जाएगा। यद्यपि 'काश्यप' शब्द सामान्यतया भगवान् ऋषभ देव का वाचक है, परन्तु वृत्तिकार ने यहां पर 'काश्यप' शब्द से भगवान् महावीर स्वामी का ग्रहण किया है, क्योंकि वे ही इस समय के शासनपति है। प्राकृत भाषा मे सभी विभक्तियों के स्थान मे प्राय **'भे'** का आदेश किया जाता है, इसलिए **'भे'** का **भवताम्** अर्थ करने मे किसी प्रकार की भी आपत्ति नही है।

इसके अतिरिक्त **'उदाहरिस्सामि'** इस भविष्यत्कालीन क्रिया के प्रयोग से (जैसे कि इस अध्ययन मे प्रारम्भिक गाथा की व्याख्या में बताया जा चुका है) कि परीषहों के स्वरूप को यथार्थ रूप में प्रतिपादन करने की अपनी असमर्थता दिखाना ही सूत्रकर्त्ता को अभिप्रेत है, क्योकि सर्वज्ञभाषित पदार्थ का यथावत् रूप से प्रतिपादन करना छद्मस्थ की शक्ति से सर्वथा बाहर हुआ करता है। वे तो अपनी परिमित शक्ति के अनुसार ही पदार्थ का वर्णन कर सकते है। कोई भी व्याख्याता अथवा उपदेशक जब तक अपने प्रतिपाद्य विषय का जिसकी व्याख्या करना या उपदेश देना उसे अभीष्ट है, यदि वह पहले ही उसका नाम-निर्देश नहीं कर देता तो पाठको व श्रोताओं को उसके पढ़ने और श्रवण करने में उत्कट रुचि पैदा नही होती और न ही वे सुगमता से उस विषय को धारण कर सकते है। इसलिए व्याख्याता अथवा वक्ता का यह सबसे पहला कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपने प्रतिपाद्य विषय का व्याख्यान अथवा निरूपण करने से पहले उसके नाम का निर्देश कर दे। बस, इसी आशय

से उक्त गाथा में परीषहों के स्वरूप वर्णन के प्रस्ताव मे सर्वप्रथम उसके नाम और विषय का उल्लेख किया गया है।

(१) क्षुधा-परीषह—

दिगिंछापरिगए देहे, तवस्सी भिक्खु थामवं ।
न छिंदे न छिंदावए, न पए न पयावए ॥ २ ॥

क्षुधापरिगते देहे, तपस्वी भिक्षुः स्थामवान् ।
न छिद्यात् न छेदयेत् न पचेत् न पाचयेत् ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—दिगिछापरिगए—क्षुधा से व्याप्त, **देहे**—शरीर में, तवस्सी—तपस्वी, **भिक्खु**—साधु, **थामवं**—बलवान् हो, **न छिंदे**—फलादि को न छेदे, **न छिंदावए**—और दूसरों से न छिदवाये, **न पए**—स्वय न पकावे, **न पयावए**—न औरो से पकवाए।

मूलार्थ—शरीर में क्षुधा के अत्यन्त व्याप्त होने पर भी तपस्वी साधु अपने संयम में बलवान् रहे, अर्थात् क्षुधा को सहन करे, किन्तु क्षुधा की निवृत्ति के लिए फलादि को स्वयं न छेदे और न दूसरों से उनका छेदन कराए तथा उनको न स्वयं पकाए और न ही दूसरो से पकवाए।

टीका—अन्य कष्टो की अपेक्षा क्षुधा का कष्ट अधिक बलवान् है। इसको समतापूर्वक सहन करना कोई मामूली सी बात नही है। शास्त्रकारो ने भी साधु के उक्त बाईस परीषहो में क्षुधा-परीषह को प्रथम स्थान इसी हेतु से दिया है कि यह अन्य परीषहों की अपेक्षा दुर्जेय है। इसलिए सयमशील साधु को क्षुधा को समता-पूर्वक बिना किसी प्रकार का आर्त्तध्यान किए हुए सहन कर लेना मानो पिपासा आदि अन्य परीषहो पर बड़ी सुगमता से विजय प्राप्त कर लेने की एक प्रकार की बलवती आरम्भिक तैयारी करना है। अत· क्षुधा के अधिक-से-अधिक परिणाम मे व्याप्त होने पर भी दृढ़ संयमी साधु उसको समता-पूर्वक सहन करने की ही अपने आत्मा में विशिष्ट शक्ति सम्पादन करे और क्षुधा के व्याप्त होने पर उसकी निवृत्ति के लिए स्वत· ही बिना किसी प्रकार का आरम्भ किए कही से एषणीय प्रासुक आहार—निर्दोष शुद्ध भिक्षा यदि मिल जाए तो उसका तो वह उपयोग कर सकता है, परन्तु जंगलो मे उत्पन्न हुए वृक्षों के कच्चे अथवा पक्के सचित्त फलो से तथा इसी प्रकार के आधाकर्मी दूषित आहार से शरीर-व्याप्त क्षुधा की उस तीव्र अग्निज्वाला को शान्त करने के लिए पापमय प्रयत्न कदापि न करे।

इसका भावार्थ यह है कि साधु को सचित वस्तु के स्पर्श तक का जब शास्त्रो मे निषेध किया गया है, तब उनके भक्षण का तो सयमशील को मन में विचार तक भी नही लाना चाहिए, इसी में उसके निर्दोष सयम की दृढ़ता और परिपक्वता है। इसीलिए उक्त गाथा में वृक्षों के कच्चे अथवा पक्के फलो को स्वय तोड़ने व दूसरो से तुड़वाने तथा उनके छेदन करने और दूसरो से छेदन करवाने एव टूटे हुए उन सचित्त फलो अथवा अन्य खाद्य पदार्थों को स्वय पकाने या दूसरो से पकवाने का सयमशील साधु के लिए स्पष्ट निषेध किया गया है।

इसके अतिरिक्त उक्त प्रकार के आचरण का अनुमोदन करना भी संयमवान् साधु के लिए त्याज्य है। क्षुधा की शान्ति के निमित्त खाद्य वस्तुओं को मूल्य देकर लाना, अथवा दूसरों से मंगवाना तथा ऐसा आचरण करने वालों का अनुमोदन करना भी वीतराग-मार्ग मे प्रवृत्ति रखने वाले साधु वर्ग के लिए निन्द्य है।

इससे सिद्ध हुआ कि जिस विधि से जिन पदार्थों के ग्रहण करने की साधु के लिए वीतराग देव के धर्म में आज्ञा नहीं है, उन पदार्थों से साधु अपनी तीव्र क्षुधा को शान्त करने के बदले उसको पूर्ण समता से सहन करता हुआ अपनी साधु-चर्या पर अटल रूप से खड़ा रहने का स्तुत्य प्रयत्न करे। यही उसकी क्षुधा-परीषह पर सर्वतोभावेन विजय है, जिसे कि पिपासा आदि अन्य परीषहों के लिए एक प्रकार की चुनौती—चेतावनी समझना चाहिए।

इसके अतिरिक्त इस गाथा के भावार्थ पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने से यह बात भी भली भान्ति समझ में आ जाती है कि उस समय के मुनि लोग प्रायः वनो मे ही निवास किया करते थे। वनो में फल आदि की सुलभता प्रायः होती ही है, किन्तु मुनि के लिए उनके तोड़ने या तुड़वाने आदि का निषेध किया गया है। अन्यथा वह फल आदि का तोड़ना व तुड़वाना उपपन्न ही नहीं हो सकता। इसीलिए मुनिजनों के निवास-स्थान को भी स्पष्ट नहीं तो अर्द्ध स्पष्ट शब्दों में तो अवश्य प्रतिपादन कर दिया गया है तथा साधु के नवकोटि प्रत्याख्यान—मन, वाणी और शरीर से, करना, कराना और अनुमोदन करना रूप की झलक भी उक्त गाथा के भावार्थ में किसी-न-किसी रूप में दृष्टिगोचर हो रही है।

अब इसी विषय में जानने योग्य कुछ अन्य बातें बताते हैं—

काली-पव्वंगसंकासे, किसे धमणिसंतए ।
मायन्ने असणपाणस्स, अदीणमणसो चरे ॥ ३ ॥

काली पर्वाङ्गसंकाशः, कृशो धमनि-संततः ।
मात्रज्ञोऽशनपानयोः, अदीनमनाश्चरेत् ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—कालीपव्वंगसंकासे—काक-पर्वांग के समान, **किसे**—कृश, **धमणिसंतए**—धमनी जाल है, **मायन्ने**—प्रमाण के जानने वाला, **असण-पाणस्स**—अन्न-जल के, **अदीणमणसो**—अदीन मन होकर, **चरे**—सयम-मार्ग मे विचरे।

मूलार्थ—काक-जंघा के समान शरीर यदि कृश भी हो गया हो तो भी अन्न और पान के प्रमाण का जानने वाला साधु अदीन मन से संयम-मार्ग में विचरे।

टीका—तपोऽनुष्ठान से जिसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया है, अर्थात् काक-जघा—एक प्रकार की वनस्पति-बूटी है, जिसके पर्व तो स्थूल होते है और मध्य का भाग बहुत सूक्ष्म होता है—उसी के समान जिसके शरीर के अंगोपांग हो गए हों, शरीर में केवल नसों का समूह ही दिखाई देता हो ऐसे

अस्थि-पंजरमय नितान्त कृश शरीर वाला साधु भी अदीन होकर बड़ी दृढ़ता से संयम-मार्ग में विचरण करे।

इसका भावार्थ यह है कि यदि साधु को उसके ग्रहण करने योग्य शुद्ध आहार भिक्षा में न मिले तो वह उसके लिए किसी प्रकार की दीनता-सूचक लालसा को प्रकट न करे, किन्तु क्षुधा के उस असहनीय कष्ट को भी समतापूर्वक सहन कर ले और यदि उसको प्रासुक एषणीय आहार की योगवाही कहीं से मिल भी जाए तो उसकी सरसता पर वह अपने आत्मा को मूर्च्छित न करे, तथा प्रमाण से अधिक भोजन करने की भी इच्छा न करे। तात्पर्य यह है कि क्षुधा की तीव्रता में भी साधु अपनी वृत्ति के विरुद्ध आहार की लालसा कदापि न करे।

यहा पर इतना और भी अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि जिस प्रकार आगम-विहित संयम-मार्ग में यथावत् प्रवृत्ति रखने वाला साधु शरीर के अन्दर क्षुधा की तीव्रतर अग्नि-ज्वाला के धधकने पर भी साधुजन- विगर्हित सचित आहार-भोजन से उसकी निवृत्ति की कभी आकाक्षा नही करता, उसी प्रकार सद्गृहस्थो को भी चाहिए कि वे भी मास आदि अभक्ष्य पदार्थो को कभी अगीकार न करें। धर्मात्मा पुरुषो का इसी में गौरव है कि वे बड़ी-से-बड़ी आपत्ति के समय मे भी अपने कर्त्तव्य से कभी भ्रष्ट न हो, क्योकि धर्म ही एक ऐसा तत्व है जो कि परलोक मे भी साथ देने वाला है, अन्य सब कुछ तो यही पर रह जाने वाली सामग्री है। साधु पुरुषों की भान्ति गृहस्थो को भी अपने गृहीत नियमों के अनुष्ठान मे पूर्णतया सावधान रहना चाहिए।

अपि च—देश विरति और सर्वविरति (गृहस्थ और साधु) के नियमो को लेकर परीषहों के सहन मे यद्यपि कुछ न्यूनाधिकता आ जाती है, परन्तु यह सब कुछ विशेष करके भावना की तारतम्यता पर अवलम्बित है। उदाहरण के रूप मे—अम्बड़ सन्यासी के सात सौ शिष्यो ने सचित जल का त्याग न होने पर भी, अदत्तादान—अदत्त बिना दिए हुए आदान-ग्रहण करना अर्थात् चोरी का त्याग होने के कारण अनशन द्वारा अपने प्राण तो छोड़ दिए, परन्तु अदत्त होने से उस जल का ग्रहण नही किया तथा धन्ना अनगार ने अभिग्रह-पूर्वक आहार-परीषह का सहन अन्त तक किया, इसी प्रकार अन्य परीषहो के विषय मे भी समझ लेना चाहिए।

(२) तृषा-परीषह

तओ पुट्ठो पिवासाए, दोगुंछी लज्जसंजए ।
सीओदगं न सेविज्जा, वियडस्सेसणं चरे ॥ ४ ॥

ततः स्पृष्टः पिपासया, जुगुप्सी लज्जा-सयतः ।
शीतोदक न सेवेत्, विकृतस्यैषणां चरेत् ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**तओ**—उसके पीछे, **पुट्ठो**—स्पर्शित हुआ, **पिवासाए**—पिपासा से, **दोगुंछी**—घृणा करने वाला, **लज्ज-संजए**—लज्जा वाला साधु, **सीओदगं**—शीतोदक का, **न सेविज्जा**—सेवन न करे, **वियडस्स**—विकृत अर्थात् अचित् जल की, **एसणं**—तलाश के लिए, **चरे**—विचरे।

मूलार्थ—क्षुधा के पीछे पिपासा से स्पृष्ट होने पर दुराचार से घृणा करने वाला साधु शीतोदक अर्थात् सचित जल का सेवन कदापि न करे, किन्तु प्रासुक-एषणीय जल के लिए गृहस्थों के घरों में भ्रमण करे।

टीका—क्षुधा के बाद अब तृषा-परीषह का वर्णन किया जाता है। उक्त गाथा का भावार्थ यह है कि अत्यन्त तृषा युक्त होने पर भी अनाचार अर्थात् शास्त्र-विरुद्ध आचार से घृणा करने वाला संयमशील साधु उस अत्यन्त बढ़ी हुई तृषा की शांति के निमित्त सचित्त जल—जिसका कि स्पर्श करना भी निषिद्ध है—का भी प्रयोग न करे, किन्तु गृहस्थों के घरों में अनायास प्राप्त हुए प्रासुक अर्थात् अचित्त जल से ही उस तृषा को शान्त करने का प्रयत्न करे।

साधु के लिए अविकृत (सचित्त, सजीव) जल का ग्रहण सर्वथा निषिद्ध है इसलिए विकृत—शस्त्रादि के आघात से अथवा अग्नि आदि के स्पर्श से विकृति को प्राप्त होकर जो अचित्त निर्जीव हो गया हो—उस जल का ही वह सदा प्रयोग करे। जो जल अपनी काय से तथा अन्य कारणो—शस्त्रो आदि द्वारा विकृत—अन्य रस को प्राप्त हो गया हो, उसे विकृत या प्रासुक अथवा अचित्त कहते है। गाथा में आया हुआ **'एषणं'** शब्द का प्रयोग चतुर्थी के अर्थ में द्वितीया है।

अब इसी विषय की पुष्टि के लिए कुछ और बातें बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

छिन्नावाएसु पंथेसु, आउरे सुपिवासिए ।
परिसुक्कमुहाऽदीणे, तं तितिक्खे परीसहं ॥ ५ ॥

छिन्नापातेषु पथिषु, आतुरः सुपिपासितः ।
परिशुष्कमुखोऽदीनः, तं तितिक्षेत् परीषहम् ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—**छिन्नावाएसु**—लोगों के आगमन से रहित, **पंथेसु**—मार्गों में, **आउरे**—आकुल, **सुपिवासिए**—अतितृषा से, **परिसुक्कमुह**—सूखा हुआ मुख होने पर भी, **अदीणे**—दीनता से रहित, तं—उस पिपासा, **परीसहं**—परीषह को, **तितिक्खे**—सहन करे।

मूलार्थ—गरमी के कारण लोगों के आगमन से रहित मार्ग में अतितृषा से आकुल और परिशुष्क मुख होने पर भी साधु अदीन मन से पिपासा के इस परीषह अर्थात् कष्ट को सहन करे।

टीका—दोपहर के समय अत्यन्त धूप पड़ने के कारण जिन मार्गों में लोगों का आवागमन रुक गया हो और विहार करता हुआ साधु यदि उन मार्गो में चला जाए एवं वहां पर अत्यंत तृषा लगने के कारण उसका मुख सूखने लगे और चित्त व्याकुल हो जाए तो ऐसी दशा में भी संयमशील साधु सचित्त जल का कभी प्रयोग न करे, किन्तु तृषा के इस बढ़े हुए कष्ट को अदीनता से समतापूर्वक सहन ही करे। यही उसकी साधु-वृत्ति का अमूल्य भूषण है।

यहां पर आतुर—आकुल शब्द मन और शरीर दोनों के साथ सम्बन्ध रखता है और 'सु' उपसर्ग अतिशय अर्थ का ज्ञापक है।

भूख और प्यास के कारण जिस साधु का शरीर अतिकृश हो गया हो, उसको शीत की बाधा विशेष रूप से उत्पन्न हो जाती है, अतः आगामी गाथा में शीत-परीषह का वर्णन किया जाता है।

(३) शीत परीषह—

चरंतं विरयं लूहं, सीयं फुसइ एगया ।
नाइवेलं मुणी गच्छे, सोच्चा णं जिणसासणं ॥ ६ ॥

चरन्तं विरतं रूक्षं, शीतं स्पृशति एकदा ।
नातिवेलं मुनिर्गच्छेत्, श्रुत्वा जिनशासनम् ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—**चरंतं**—ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए, **विरयं**—सावद्य कर्मों से निवृत्त, **लूहं**—रूक्ष वृत्ति वाले भिक्षु को, **सीयं**—शीत, **एगया**—किसी समय, **फुसइ**—स्पर्श करता है, **अइवेलं**—स्वाध्याय के समय का अतिक्रमण करके, **मुणी**—साधु, **न गच्छे**—स्थानान्तर मे न जाए, **सोच्चा**—सुन करके, **णं**—वाक्यालंकार मे आता है, **जिणसासणं**—जिन भगवान के शासन को।

मूलार्थ—सावद्य प्रवृत्ति के त्यागी और रूक्ष वृत्ति वाले साधु को ग्रामानुग्राम विचरते हुए यदि कही पर शीत का स्पर्श हो—शीत का कष्ट उत्पन्न हो जाए, तो वह स्वाध्याय के समय का उल्लंघन करके स्थानान्तर में जहां पर जाने से शीत की बाधा न हो सके जाने का प्रयत्न न करे, किन्तु जिनशासन-वीतरागदेव की शिक्षा को सुनकर शीत के परीषह को सहन ही करे।

टीका—धर्मोपदेश अथवा सयम-निर्वाहार्थ क्रमश ग्रामो मे विचरते हुए अथवा मोक्ष-मार्ग पर चलते हुए साधु को कही-न-कही पर शीत की बाधा का उपस्थित होना कोई आश्चर्य की बात नही है, क्योकि अग्नि आदि को जलाकर तापने अथवा जलती हुई अग्नि के पास जाकर तापने का तो वीतराग देव के सयम-प्रधान धर्म के मार्ग पर चलने वाले साधु के लिए सर्वथा निषेध है, अत यदि किसी स्थान पर साधु के लिए शीत की बाधा उपस्थित हो जाए तो साधु अपने स्वाध्याय के समय की अवहेलना करके शीत की निवृत्ति के लिए किसी अन्य स्थान में जाने की कोशिश न करे, किन्तु भगवान की साधु-धर्म सम्बन्धी शिक्षा का विचार करता हुआ उस असह्य शीत-परीषह के सहन करने मे ही अपने दृढ़तर सयम का परिचय दे।

यहा पर 'रूक्ष' शब्द का सम्बन्ध स्निग्ध भोजन और तैलाभ्यग दोनो के त्याग से ही है। तब 'रूक्ष वृत्ति वाला' इस वाक्य का अर्थ हुआ कि जो स्निग्ध भोजन का त्यागी हो और तैल आदि के मर्दन का जिसने त्याग किया हो ऐसी वृत्ति वाला साधु।

अब फिर इसी विषय में कहा जाता है—

न मे निवारणं अत्थि, छवित्ताणं न विज्जइ ।
अहं तु अग्गिं सेवामि, इइ भिक्खू न चिंतए ॥ ७ ॥

न मे निवारणमस्ति, छविस्त्राणं न विद्यते ।
अहं तु अग्निं सेवे, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—**न**—नहीं, **मे**—मेरे लिए, **निवारणं**—कोई शीतनिवारक स्थान, **अत्थि**—है, **छवित्ताणं**—शरीर-रक्षक कम्बल आदि भी, **न विज्जइ**—नहीं है, **अहं**—मैं, **तु**—फिर, **अग्गिं**—अग्नि का, **सेवामि**—सेवन करूं, **इइ**—इस प्रकार, **भिक्खू**—साधु, **न चिंतए**—चिंतन न करे।

मूलार्थ—मेरे पास शीत से रक्षा करने वाला स्थान नहीं है और शीत से शरीर की रक्षा करने योग्य वस्त्र भी नहीं हैं, तो फिर मैं अग्नि का ही सेवन करूं, इस प्रकार का चिन्तन भिक्षु कदापि न करे।

टीका—इस गाथा में शास्त्रकार साधु के लिए अग्नि के तापने का निषेध करते हैं। यदि साधु के पास शीत-निवारण की कोई सामग्री—स्थान व वस्त्र आदि भी न हों तब भी साधु को अग्नि-ताप आदि से शीत की निवृत्ति करना उचित नहीं है। साधु को सचित्त पदार्थ के स्पर्श करने का सर्वथा निषेध है और अग्नि भी शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार सचित्त वस्तु है, क्योंकि वह अग्नि सचित्त—सजीव अर्थात् अग्निकाय के जीवों का ही एक पिंडमात्र है। इसलिए किसी शीतनिवारक स्थान के न होने पर और शीत से रक्षा करने वाले कम्बल आदि वस्त्र का सयोग न होने पर भी साधु अग्नि का स्पर्श न करे और शीत की उस असह्य वेदना को शान्ति-पूर्वक समता रखकर सहन कर ले, किन्तु शीत से परिभूत होकर कोई अग्नि सेवनादि ऐसी क्रिया आचरण मे न लाए जिसका कि साधु के लिए शास्त्रकारो ने सर्वथा निषेध किया है। शीत-परीषह को सहन करते हुए साधु नारकी जीवो की दुखमयी यातनाओं और पशुओं की सदैव काल की नग्नता का ध्यान करता हुआ अपने आपको बलवान् बनाने का प्रयत्न करे, यही इस गाथा का सार है।

(४) उष्णपरीषह—

उसिणं परियावेणं, परिदाहेण तज्जिए ।
घिंसु वा परियावेणं, सायं नो परिदेवए ॥ ८ ॥

उष्णपरितापेन, परिदाहेन तर्जितः ।
ग्रीष्मे वा परितापेन, सातं नो परिदेवेत ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—**उसिणं**—गर्मी के, **परियावेणं**—परिताप से, **परिदाहेण**—सर्व प्रकार के दाह से, **तज्जिए**—पीड़ित हुआ, **घिंसु**—ग्रीष्म ऋतु के, **वा**—अथवा शरत् आदि के, **परियावेणं**—परिताप से पीड़ित हुआ, **सायं**—साता, **नो परिदेवए**—कब प्राप्त होगी, इत्यादि विचार न करे।

मूलार्थ—गर्मी के परिताप के कारण सब प्रकार के दाह से पीड़ित हुआ अथवा ग्रीष्म और शरद ऋतु आदि के कष्ट से खेद को प्राप्त हुआ साधु साता के लिए आर्त्त-ध्यान न करे, अर्थात् मुझे कब शान्ति प्राप्त होगी, ऐसा विचार न करे।

टीका—इस गाथा में उष्ण-परीषह के उपस्थित होने पर साधु को आर्त्त-ध्यान करने का निषेध किया गया है। किसी उष्ण-भूमि शिला आदि के स्पर्श से अथवा शरीर के मल, स्वेद आदि या तृषा और उष्ण वायु-जन्य दाह से पीड़ित हुआ एवं ग्रीष्मादि के उष्ण परिताप से तर्जित हुआ साधु अपनी सुख-शान्ति के लिए चिन्ता न करे, अर्थात् मुझे कब शान्ति मिलेगी, इस समय उष्ण परिताप के कारण जो असह्य कष्ट हो रहा है वह कब शान्त होगा इत्यादि दीनतासूचक वचनों द्वारा उक्त परीषह के सहने में अपनी कायरता का परिचय न दे। इस गाथा का सक्षेप में इतना ही भावार्थ है कि जब कभी साधु को उष्णता-जन्य परिताप के कष्ट का सामना करना पड़ जाए तो वह उस परिताप से व्याकुल होने पर अपने मन मे किसी प्रकार की आकुलता न लाए, किन्तु उस कष्ट को बड़े धैर्य से सहन करने का प्रयत्न करे। शान्ति-पूर्वक कष्ट सहन करने पर दो लाभ होते है—एक तो कष्ट की निवृत्ति हो जाती है और दूसरे कर्मों की निर्जरा भी होती है। इसलिए संयमशील साधु को गर्मी के परिताप में भी अपनी सहनशीलता को दृढ़तर बनाए रखना चाहिए।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

उण्हाहितत्तो मेहावी, सिणाणं नो वि पत्थए।
गायं नो परिसिंचेज्जा, न वीएज्जा य अप्पयं ॥ ९ ॥

उष्णाभितप्तो मेधावी, स्नानं नापि प्रार्थयेत् ।
गात्रं नो परिसिंचेत्, न वीजयेच्चात्मानम् ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः—**उण्हाहि**—उष्णता से, **तत्तो**—तप्त-पीड़ित, **मेहावी**—बुद्धिमान, **सिणाणं**—स्नान की, **वि**—कभी भी, **नो पत्थए**—इच्छा न करे, **गायं**—शरीर को, **नो परिसिचेज्जा**—जल के छींटो से सिंचन न करे, **य**—और, **अप्पयं**—अपने आपको, **न वीएज्जा**—पखा भी न करे।

मूलार्थ—बुद्धिमान् साधु उष्णता के परिताप से संतप्त होने पर भी स्नान की इच्छा न करे और शरीर पर जल के छींटे भी न दे तथा अपने आपको पखा भी न करे।

टीका—इस गाथा मे बढ़ी हुई उष्णता के कारण शरीर मे उत्पन्न होने वाले परिताप की निवृत्ति के जितने भी बाह्य साधन है, उन सब के उपयोग का साधु के लिए निषेध किया गया है। अत्यन्त गर्मी लगने पर भी उसकी निवृत्ति के लिए साधु स्नान न करे, शरीर पर जल के छींटे न दे और पखे को जल से तर करके उससे हवा न करे तथा पंखे को यूं भी न झुलाए, किन्तु उपस्थित हुए गर्मी के इस कष्ट को समता-पूर्वक सहन करके ही पराजित करे।

स्नान के दो भेद है, देश-स्नान और सर्व-स्नान। केवल हाथ-मुह आदि धोकर बस कर देने का नाम देश-स्नान है और सिर से लेकर पाव तक शरीर को धोना सर्व-स्नान कहलाता है। साधु के लिए दोनो प्रकार के स्नान त्याज्य है तथा जलबिन्दुओं का शरीर पर छीटना और पखे से हवा करना, यह भी

निषिद्ध है। इसलिए गर्मी के ताप से अपने आत्मा मे अणुमात्र भी आकुलता को स्थान न देते हुए उस ताप को समतापूर्वक सहन करना ही साधु-चर्या की सच्ची कसौटी है।

(५) दंश-मशक-परीषह

ग्रीष्म ऋतु के बाद वर्षा ऋतु का आगमन होता है, यह एक प्राकृतिक नियम है और वर्षा ऋतु में डांस—मच्छरों आदि की अधिकता प्रायः हो ही जाती है, अतः अब दंश-मशक नाम के परीषह का वर्णन करते हैं—

पुट्ठो य दंसमसएहिं, समरेव महामुणी ।
नागो संगामसीसे वा, सूरो अभिहणे परं ॥ १० ॥

स्पृष्टश्च दंशमशकैः सम एव महामुनिः ।
नागः सग्रामशीर्षे इव, शूरोऽभिहन्यात् परम् ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—**पुट्ठो**—स्पर्शित हुआ, **य**—पाद-पूरणार्थ मे, **दंसमसएहिं**—डांस—मच्छरों से, **समरेव**—समभाव वाला, **महामुणी**—महामुनि, **नागो**—हाथी, **संगामसीसे**—सग्राम के मस्तक में, **वा**—जैसे, **सूरो**—शूरवीर, **परं**—अन्य को, **अभिहणे**—जीतता है।

मूलार्थ—दंश-मशक आदि जंतुओं का स्पर्श होने पर भी महामुनि समभाव में रहे और जैसे हस्ती सग्राम में आगे होकर शत्रुओं को जीतता है उसी प्रकार साधु भी परीषहों पर विजय प्राप्त करे।

टीका—दंश-मशक आदि जीवो के द्वारा सताए जाने पर भी साधु अपने समता-परिणाम मे ही स्थित रहे, जिस प्रकार संग्राम मे आगे होकर हस्ती अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है, इसी प्रकार सयमशील मुनि भी परीषह-सग्राम मे अपूर्व सहन-शीलता दिखाता हुआ अपनी सर्वतोभावी विजय का परिचय दे।

चातुर्मास—वर्षाऋतु मे काटने वाले दंश-मशक आदि जंतुओं का बहुत उपद्रव होता है, और उनसे बचने के लिए अनेक प्रकार के यत्न किए जाते है, परतु साधु के लिए केवल एक ही उपाय है, वह यह कि साधु समभाव से इन जीवो द्वारा दिए गए कष्टो को दृढ़ता पूर्वक सहन करे, इसी मे उसकी शूरवीरता है।

यहा पर गाथा मे जो '**समरेव**' पद दिया गया है, इसमे रेफ को प्राकृत की शैली के अनुसार अलाक्षणिक समझना चाहिए। वास्तव में शब्द तो 'सम एव' ही है, तथा 'समरेव' शब्द मे भी 'समर इव' इस प्रकार का विग्रह करने से सन्धि द्वारा काम चल सकता है, तब इसका अर्थ हुआ कि 'समर इव'—संग्राम की तरह।

फिर '**वा**' शब्द जो कि इस गाथा में आया है, वह भी 'इव' के अर्थ का ही बोधक है। ऐसा ही वृत्तिकार लिखते है—'**वा शब्दस्येवार्थास्यात्र सम्बन्धात्**'। तथा 'इव' शब्द का नाग और शूर दोनों के साथ सम्बन्ध करने से अन्य अर्थ की कल्पना भी की जा सकती है। तथाहि—जैसे हस्ती संग्रामभूमि में

बाण—शर आदि के तीव्र प्रहारो की कुछ भी परवाह न करता हुआ अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है और जैसे एक शूरवीर पुरुष रण में अपने शत्रुओं को पराजित कर देता है, उसी प्रकार मुनि भी दंश-मशक आदि जीवों के परीषह में विजयशील बने।

अब फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

न संतसे न वारेज्जा, मणं पि न पओसए ।
उवेहे न हणे पाणे, भुंजंते मंससोणियं ॥ ११ ॥

न संत्रसेत् न वारयेत्, मनोऽपि न प्रदूषयेत् ।
उपेक्षेत न हन्यात्प्राणिनः, भुञ्जानान्मांसशोणितम् ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—**न संतसे**—दंश-मशक आदि को त्रास न दे, **न वारेज्जा**—न हटाए, **मणं पि**—मन से भी, **न पओसए**—द्वेष न करे, **उवेहे**—उदासीन भाव से रहे, **पाणे**—प्राणियों को, **न हणे**—न मारे, **भुंजंते**—खाते हुए, **मंससोणियं**—मांस और रुधिर को।

मूलार्थ—रुधिर और मांस को खाते हुए भी मच्छर, डांस मक्खी आदि विषैले जंतुओं को साधु न हटाए, उनके द्वारा काटे जाने पर भी उनको किसी प्रकार का त्रास न दे। मन से भी उन पर किसी प्रकार का द्वेष न करे तथा उनके प्राणों का विघात न करे, किन्तु उनके इस व्यवहार को उपेक्षावृत्ति से देखे।

टीका—इस गाथा में मच्छर-मक्खी आदि जन्तुओं के प्रतिकार का साधु के लिए निषेध किया गया है, अर्थात् यदि डांस-मच्छर आदि जतु साधु के शरीर को काटे और उसे कष्ट दे तो साधु उनका किसी प्रकार से भी प्रतिकार न करे। उनको रुधिर चूसते और मास खाते हुए भी उन्हें न तो किसी प्रकार का त्रास दे और न हटाए तथा न क्रोध में आकर उनके प्राणों का हनन करे, किन्तु उनको यथारुचि अपना काम स्वतन्त्रता-पूर्वक करने दे तथा उनके द्वारा प्राप्त होने वाले शारीरिक कष्ट को चुपचाप समता-पूर्वक सहन करने का अभिनन्दनीय उद्योग करे।

इस प्रकार का वीर-जनोचित आचरण करने से साधु के हृदय में राग-द्वेष के भावों की कमी होकर उनके स्थान पर समता के विशुद्ध भावो की धारा बहने लगेगी जिससे कि उसकी आन्तरिक कलुषता धुल जाएगी और उसके स्थान मे शुद्ध सात्विक भावों का पूर्ण रूप से विकास हो सकेगा।

इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि जिस समय साधु के शरीर को डास और मच्छर आदि जन्तुओं के उपद्रव का सामना करना पड़े, उस समय वह उनका किसी प्रकार से भी प्रतिकार न करे, किन्तु उनके भयानक उपद्रव को वह उपेक्षा की दृष्टि से देखता हुआ मन में यह सोचे कि जो यह डास-मच्छर आदि जीव मेरे शरीर को अत्यन्त असह्य कष्ट दे रहे है, उसके सहन करने मे ही मेरा कल्याण है। यह शरीर जिसे ये खाते है वह तो वास्तव मे मैं नही हूं, मै तो आत्मा हूं, उसके भक्षण की तो इनमें सामर्थ्य ही नहीं है तथा इनको हटाने से इनके आहार में अन्तराय पड़ेगा और इनको मारने

अथवा त्रास देने से मेरी अहिंसक वृत्ति में बाधा आएगी, अतः इनकी जो इच्छा हो वह करते रहें। मुझे तो इन जीवों की प्रवृत्ति को उपेक्षा दृष्टि से देखते हुए अपने आपको उसके सहन करने के लिए ही सर्वदा प्रस्तुत रखना चाहिए, इसी में मेरी सर्वतोभावी विजय है।

(६) अचेल-परीषह—

साधक को दंस-मशकादि के उपद्रव से बचने के लिए वस्त्र आदि की गवेषणा करनी पड़ती है, क्योंकि वस्त्रादि के ओढ़ने पर इनका उपद्रव बहुत कम हो जाता है, इसलिए अब अचेल-परीषह का वर्णन किया जा रहा है—

परिजुण्णेहिं वत्थेहिं, होक्खामि त्ति अचेलए ।
अदुवा सचेले होक्खामि, इइ भिक्खू न चिंतए ॥ १२ ॥

परिजीर्णैर्वस्त्रैः, भविष्यामीत्यचेलकः ।
अथवा सचेलको भविष्यामि, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—परिजुण्णेहिं—सर्व प्रकार से जीर्ण, **वत्थेहिं**—वस्त्रों से मै, **अचेलए**—अचेलक—वस्त्र-रहित, **होक्खामि**—हो जाऊगा, **त्ति**—इस प्रकार का चिन्तन भिक्षु न करे, **अदुवा**—अथवा, **सचेले**—वस्त्र-युक्त, **होक्खामि**—हो जाऊंगा, **इइ**—इस प्रकार भी, **भिक्खू**—साधु, **न चितए**—चिन्तन न करे।

मूलार्थ—वस्त्रों के सर्व प्रकार से जीर्ण हो जाने पर मैं वस्त्र-रहित हो जाऊंगा इस प्रकार का अथवा 'वस्त्रों से युक्त हो जाऊंगा' इस प्रकार भी साधु कभी चिन्तन न करे।

टीका—इस गाथा में साधु के लिए वस्त्रो के विषय मे भी किसी प्रकार के ममत्व को रखने का निषेध किया गया है। संयमशील साधु के लिए शास्त्रकार यह आज्ञा देते है कि साधु अपने वस्त्रो के सर्वथा जीर्ण हो जाने पर भी यह विचार कभी न करे कि 'अब तो मै वस्त्रो से रहित हो जाऊंगा। अब मुझे और वस्त्र कहां से मिलेंगे तथा अब मै इन जीर्ण वस्त्रों का परित्याग करके नए वस्त्र पहनूगा, अर्थात् मेरे इन फटे हुए पुराने वस्त्रो को देख कर कोई-न-कोई सद्‌गृहस्थ मुझे नए वस्त्र दे ही देगा, इस प्रकार का चिन्तन भी न करे।'

तात्पर्य यह है कि इस प्रकार का चिन्तन साधु के लिए हर्ष एवं शोक की उत्पत्ति का कारण बनता है और हर्ष-शोक के निमित्त से मोहनीय कर्म का विशेष बन्ध होता है जो कि किसी प्रकार से भी साधु के लिए इष्ट नहीं है, अतः सयमशील साधु को उचित है कि वह वस्त्रो के मिलने पर किसी प्रकार का हर्ष न करे और न मिलने पर किसी प्रकार के शोक मे मग्न न हो, किन्तु दोनों ही दशाओं में अपने आपको समता में रखने का प्रयत्न करे।

वस्त्रो से यद्यपि शरीर की रक्षा के द्वारा संयम के निर्वाह मे भी कुछ न्यूनाधिक सहायता मिलती है, तथापि संयम का वास्तविक निर्वाह तो आत्मा के निजी समभाव के परिणामो पर ही निर्भर है, अतः

साधु को वस्त्रादि के लिए किसी प्रकार के हर्ष या शोक को अपने हृदय में कभी स्थान नहीं देना चाहिए।

अब उक्त विषय को और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

एगयाऽचेलए होइ, सचेले यावि एगया ।
एयं धम्मं हियं नच्चा, नाणी नो परिदेवए ॥ १३ ॥

एकदाऽचेलको भवति, सचेलश्चापि एकदा ।
एनं धर्मं हितं ज्ञात्वा, ज्ञानी नो परिदेवेत ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—**एगया**—किसी समय, **अचेलए**—वस्त्र-रहित, **होइ**—होता है, **एगया**—किसी समय, **सचेले यावि**—वस्त्र-युक्त भी हो जाता है, **एयं**—इस, **धम्मं**—धर्म को, **हियं**—हितरूप, **नच्चा**—जान करके, **नाणी**—ज्ञानी, **नो परिदेवए**—खेद को प्राप्त न हो।

मूलार्थ—किसी समय अर्थात् जिनकल्पी आदि अवस्था मे तो साधक वस्त्र-रहित हो जाता है और किसी समय अर्थात् स्थविर-कल्पी अवस्था में वस्त्र-युक्त हो जाता है, अतः इन दोनों ही प्रकार के धर्मों को हित-कारक समझकर ज्ञानी साधु कभी खेद को प्राप्त न हो।

टीका—यहा पर गाथा मे साधु के जिनकल्प और स्थविरकल्प इन दोनों प्रकार की अवस्थाओं को समान माना गया है, अर्थात् दोनो ही धर्म आत्महित के साधक और मुमुक्षु पुरुष के लिए यथाशक्ति उपादेय है। साधक किसी समय अर्थात् जिनकल्पी अवस्था में सर्वथा वस्त्रो के अभाव से वा वस्त्रो के अधिक जीर्ण होने से वस्त्र रहित हो जाता है तथा कभी स्थविर-कल्प अवस्था मे वस्त्रयुक्त भी हो जाता है, अत इन दोनों ही आचारो को हितरूप जानकर विवेकी पुरुष को कभी खिन्नचित्त नहीं होना चाहिए, क्योकि जिनकल्प और स्थविरकल्प ये दोनो ही साधु के लिए शास्त्र-विहित धर्म अर्थात् आचार है, दोनो ही से आत्मा की हितसाधना भली-भान्ति हो सकती है।

प्रथम कल्प मे प्रमाद-रहित होकर विचरने वाले साधु के लिए तो प्रत्युपेक्षणादि क्रियाओं के अनुष्ठान की भी स्वल्पता होती है और वह लघुभूत—विश्वास-जन्य तप के सम्मुख इन्द्रियो का निग्रह करने वाला होता है।

दूसरे स्थविर-कल्प मे वह आरम्भ, समारम्भ आदि की सावद्य क्रियाओं से सर्वथा रहित होकर अपने सयम की वृद्धि करता हुआ और भी अनेक आत्माओं को सयम मे स्थिर करने का निमित्त बनता है। इसके अतिरिक्त भगवान् के साधु-धर्म की वश-परम्परा का सूत्रपात भी इसी स्थविरकल्पी के हाथ से ही होता है, इसलिए ये दोनो ही आचार शास्त्र मर्यादा के अनुकूल है और परमहित के देने वाले है।

साराश यह है कि अचेलक अथवा सचेलक अवस्था में भी गुणो की ही प्रधानता रहेगी, अत- केवल द्रव्य की ओर दृष्टि न रखते हुए भाव-शुद्धि की ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योकि धर्म वस्त्रों के रखने अथवा उतार देने मे नहीं है, धर्म तो आत्मा के विशुद्धतर भावो में निहित है।

इस गाथा का संक्षेप में इतना भाव और समझ लेना चाहिए कि यदि कभी वस्त्रादि के अभाव से शीत आदि की अधिक बाधा होने की सम्भावना में साधु इस प्रकार के दीन और दुर्बल विचारो से अपने आत्मा को पराजित न करे कि यदि मुझे शीत ने सताया तो फिर मै किस की शरण मे जाऊंगा, अर्थात् किस के अवलम्बन से मैं इस कष्ट से मुक्त हो सकूंगा। किन्तु बलवान् एवं सहिष्णु बनकर संभाव्य आगन्तुक शीत-बाधा का सहर्ष स्वागत करने के लिए ही साधु उद्यत रहे, यही उसकी 'अचेल-परीषह' पर विजय है।

(७) अरति-परीषह—

वस्त्रादि के अभाव से शीत आदि की बाधा का उपस्थित होना अनिवार्य है और किसी प्रकार के कष्ट से अरति का उत्पन्न होना भी अवश्यंभावी है, इसलिए अब सातवें अरति नाम के परीषह का वर्णन करते हैं—

गामाणुगामं रीयंतं, अणगारं अकिंचणं ।
अरई अणुप्पवेसेज्जा, तं तितिक्खे परीसहं ॥ १४ ॥

ग्रामानुग्रामं रीयमाणं, अनगारमकिंचनम् ।
अरतिरनुप्रविशेत्, तं तितिक्षेत् परीषहम् ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—**गामाणुगामं**—ग्राम-प्रतिग्राम में, **रीयंतं**—विचरते हुए, **अकिंचणं**—अकिंचन, **अणगारं**—साधु को, **अरई**—चिन्ता, **अणुप्पवेसेज्जा**—प्रवेश कर तो, **तं**—उस, **परीसहं**—परीषह को, **तितिक्खे**—सहन करे।

मूलार्थ—ग्राम-प्रतिग्राम में विचरते हुए अकिंचन साधु के मन में यदि कोई चिन्ता उत्पन्न हो जाए तो उसे उस चिन्ता-जय परीषह को समतापूर्वक सहन करना चाहिए।

टीका—किसी ग्राम-मार्ग में जाते हुए यदि मार्ग में कोई और ही ग्राम आ जाए तो उसे अनुग्राम कहते है। सो ग्रामानुग्राम में विचरते हुए अकिंचन वृत्ति वाले साधु के हृदय मे यदि किसी आगन्तुक कारण से किसी भी प्रकार की चिन्ता उपस्थित हो जाए तो संयमशील साधु को उचित है कि वह उस चिन्ता से व्याकुल न बने, किन्तु धैर्य और विचार-पूर्वक उस चिन्ता अर्थात् अरति को दूर करके मन को स्थिर और स्वस्थ बनाने का प्रयत्न करे। जबकि विवेकशील साधु को जीवन-मरण इन दोनो मे ही एक प्रकार के परिवर्तन के सिवाय और कुछ दृष्टिगोचर ही नहीं होता तो फिर चिन्ता किस बात की?

अब इसी विषय में और जानने योग्य बातें कहते हैं—

अरइं पिट्ठओ किच्चा, विरए आयरक्खिए ।
धम्मारामे निरारम्भे, उवसन्ते मुणी चरे ॥ १५ ॥

अरतिं पृष्ठतः कृत्वा, विरत आत्मरक्षितः ।
धर्मारामे निरारम्भः, उपशान्तो मुनिश्चरेत् ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—**अरइं**—अरति को, **पिट्ठओ**—पीठ पीछे, **किच्चा**—करके, **विरए**—हिंसा आदि से रहित, **आयरक्खिए**—आत्मा की रक्षा करने वाला, **धम्मारामे**—धर्म में रमण करने वाला, **निरारंभे**—आरम्भ से रहित, **उवसंते**—उपशान्त, **मुणी**—साधु, **चरे**—संयम-मार्ग में विचरे।

मूलार्थः—चिन्ता की ओर पीठ करके, हिंसादि दोषों से रहित होकर, आत्मा का रक्षक और धर्म में रमण करने वाला आरम्भ से रहित और कषायों में उपशांत होकर विवेकशील मुनि संयम-मार्ग में विचरण करे।

टीका—चिन्ता धर्म के आराधन मे अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित करने वाली है, अतः सयममार्ग मे विचरने वाले मुनि को इसे कभी अपने सम्मुख नही आने देना चाहिए। हिसा आदि पांच प्रकार के सावद्य व्यापार भी धर्माचरण के पूर्ण घातक है, अतः संयमशील साधु को इनसे भी सर्वथा अलग रहना चाहिए। इन्हीं सावद्य व्यापारो के त्याग से साधु 'विरति' कहलाने के योग्य और आत्मा की यथार्थ रक्षा करने में समर्थ हो सकता है।

साधु पुरुष को पतन की ओर ले जाने वाले जितने भी दोष है, उन सबका मूल कारण आरम्भ समारम्भ ही है, अतः त्यागशील यति को इस आरम्भ-समारम्भ से सदा ही दूर रहना चाहिए, तभी वह धर्म-रूप वाटिका में रमण कर सकता है एव क्रोध आदि कषायों की विद्यमानता में आत्मा को कभी शान्ति का लाभ नहीं हो सकता, इसलिए विचारशील मुनि को कषायो से मुक्त होकर आत्मा मे परम शान्ति को स्थापन करने मे ही दत्तावधान होना चाहिए। इस प्रकार से सयम-मार्ग मे प्रस्थान करने वाला मुनि कभी भी अरति से परिव्याप्त नही हो सकता।

(८) स्त्री-परीषह—

चिन्तायुक्त मनुष्य के मन में कभी-कभी काम-वासना के जागने की भी सम्भावना हो सकती है, इसलिए अब आठवां स्त्री-परीषह कहा जाता है—

संगो एस मणुस्साणं, जाओ लोगम्मि इत्थिओ ।
जस्स एया परिन्नाया, सुकडं तस्स सामण्णं ॥ १६ ॥

संग एष मनुष्याणां, या लोके स्त्रियः ।
येनैताः परिज्ञाताः, सुकृतं तस्य श्रामण्यम् ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—**संगो**—संग, **एस**—यह, **मणुस्साणं**—मनुष्यो का, **जाओ**—जो, **लोगम्मि**—लोक मे, **इत्थिओ**—स्त्रियां है, **जस्स**—जिसने, **एया**—इनका सग, **परिन्नाया**—ज्ञानपूर्वक त्याग दिया है, **तस्स**—उसने, **सुकडं**—अच्छा किया, **सामण्णं**—श्रमण-भाव को।

मूलार्थ—लोक में पुरुषों का स्त्रियों के साथ जो संसर्ग है, उस स्त्री-संसर्ग का जिस संयमी पुरुष

ने ज्ञान-पूर्वक परित्याग कर दिया है उसकी साधुता सफल है।

टीका—जैसे श्लेष्मा के साथ मक्षिकाओं का सम्बन्ध है, ठीक उसी प्रकार इस लोक में पुरुषों का स्त्रियों के साथ सम्बन्ध है। जैसे श्लेष्मा की कुत्सित स्निग्धता मक्षिकाओं को अपनी ओर खींच लेती है, उसी प्रकार स्त्रियों के हाव-भाव पुरुष का आकर्षण कर लेते हैं। जैसे मक्षिकाएं उस श्लेष्मा में फंस जाती है उसी प्रकार कामी पुरुष भी स्त्रियों के हाव-भाव, रूप एवं मायाजाल में फंसे बिना नहीं रह सकते।

जिस मुमुक्षु पुरुष ने सोच-समझकर स्त्रियों के अनर्थकारी संसर्ग का पूर्ण रूप से परित्याग कर दिया है, उसी का संयम सुन्दर और निर्मल है, क्योंकि काम-वासना के सम्बन्ध से ही प्रायः सावद्य अर्थात् पापाचरणमय कार्यों में प्रवत्ति होती है, इसलिए वीतराग देव के मार्ग पर चलने वाले साधु पुरुषों के लिए स्त्री-संसर्ग सदैव त्याज्य कहा गया है। उनको तो इनका ससर्ग-श्लेष्मा की भांति सर्वथा कुत्सित और दुर्गन्ध-युक्त ही समझना चाहिए।

यहां पर तृतीया विभक्ति के 'येन-तेन' अर्थ मे ही 'यस्य-तस्य' के रूप में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

अब फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

एयमादाय मेहावी, पंकभूयाओ इत्थिओ ।
नो ताहिं विणिहन्नेज्जा, चरेज्जऽत्तगवेसए ॥ १७ ॥

एवमादाय मेधावी, पंकभूताः स्त्रियः ।
नो ताभिर्विनिहन्यात् चरेदात्मगवेषकः ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः—**एयं**—इस प्रकार, **आदाय**—ग्रहण करके, **मेहावी**—बुद्धिमान्, **पंकभूयाओ**—कीचड़ के समान, **इत्थिओ**—स्त्रियां है, **ताहिं**—उन स्त्रियो से, **नो विणिहन्नेज्जा**—हनन न होवे, **चरेज्ज**—सयम-मार्ग पर विचरण करे, **अत्तगवेसए**—आत्मा को खोजने वाला।

मूलार्थः—बुद्धिमान् पुरुष 'ये स्त्रियां कीचड़ के समान हैं' ऐसा जानकर इन स्त्रियों के द्वारा अपने आपका हनन न करे, किन्तु आत्म-गवेषी बनकर दृढ़ता-पूर्वक अपने मार्ग में ही विचरण करे।

टीका—संयमी पुरुष के लिए स्त्रियो के संसर्ग में रहने से अनेक प्रकार के अनर्थों की संभावना रहती है। साधु पुरुषों के संयम-रत्न को चुराने में स्त्रियो से बढ़कर दूसरा कोई चतुर नहीं है। इनके मायाजाल में फंसने वाला साधु अपने संयम-व्रत से सदा के लिए हाथ धो बैठता है। जैसे कीचड़ में फंस जाने वाला पुरुष कभी अलिप्त नहीं निकल सकता, इसी प्रकार स्त्रीरूप कीचड़ के संसर्ग में आने वाले संयमशील साधु के सयम-व्रत में भी किसी प्रकार के लाछन के लगने की अवश्य ही संभावना बनी रहती है। इसलिए संयम मार्ग पर चलने वाला साधु इन बातों के अनर्थकारी परिणामों पर विचार करता हुआ स्त्री-संसर्ग से अपने आपको सदैव दूर रखने का प्रयत्न करे।

इसी प्रकार वीतराग देव के संयम-मार्ग पर चलने वाली साध्वी स्त्री सदा पुरुषों के संसर्ग को त्याज्य समझे।

यहां पर इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि मुमुक्षु पुरुष को उसके संयम-मार्ग से भ्रष्ट करने वाली कुत्सित काम-वासनाएं ही है, अतः काम-वासनाओं को प्रबुद्ध करने वाले जितने भी कारण हैं, उन सबका ही संसर्ग सयमी पुरुष के लिए त्याज्य है, अतः कामी पुरुषों का सहवास और कामोद्दीपक साहित्य आदि का वाचन आदि कार्यो को भी विवेकशील साधु कभी आचरण में न लाए।

उक्त गाथा मे जो 'आत्म-गवेषक' पद दिया है उसका यही तात्पर्य है, क्योंकि पूर्णतया ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किए बिना आत्मा की गवेषणा (आत्मा के दर्शन) नहीं हो सकते। इसलिए मोक्षपथ गामी साधु पुरुष को उचित है कि वह स्त्रीजनों को कीचड़ अर्थात् दलदल के समान फंसाने वाली और मोक्ष-मार्ग में विघ्न समझकर उनके ससर्ग का सर्वथा त्याग कर दे, न कि उनमें फंसकर अपने आत्मा का हनन कर दे, अर्थात् इनके सग से कभी अपने मार्ग से भ्रष्ट होकर अपने आपका विनाश न कर बैठे।

साराश यह है कि आत्म-गवेषी साधु स्त्री-जनो के ससर्ग से सदैव दूर रहकर अपने संयम-व्रत की आराधना मे ही सदा दृढ़तापूर्वक विचरण करे, यही उसकी सर्वतोभावी विजय है।

(९) चर्या -परीषह

यह तो अनुभव सिद्ध बात है कि उक्त परीषह के आने की सम्भावना प्रायः एक ही स्थान मे अधिक निवास करने से शक्य हो सकती है, अतः अब चर्या नाम के नौवें परीषह का वर्णन किया जाता है—

एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे ।
गामे वा नगरे वावि, निगमे वा रायहाणिए ॥ १८ ॥

एक एव चरेल्लाढः, अभिभूय परीषहान् ।
ग्रामे वा नगरे वाऽपि, निगमे वा राजधान्याम् ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—**एग एव**—अकेला ही, **चरे**—विचरे, **लाढे**—प्रासुक आहार से निर्वाह करने वाला, **अभिभूय**—जीत करके, **परीसहे**—परीषहो को, **गामे**—ग्राम में, **वा**—अथवा, **नगरे**—नगर मे, **वा**—अथवा, **निगमे**—वणिक्-स्थान में, **वा**—अथवा, **रायहाणिए**—राजधानी मे, **वि**—अपि अर्थात् मडपादि मे।

मूलार्थ—साधु अकेला ही प्रासुक आहार से निर्वाह करता हुआ ग्राम, नगर, वणिक्-स्थान और राजधानी आदि स्थानों में विचरण करे।

टीका—इस गाथा मे साधु को एक स्थान मे बैठे न रहकर सदा विचरते रहने का आदेश दिया गया है। केवल प्रासुक आहार से निर्वाह करने वाला विवेकशील साधु रागादि से रहित होकर अकेला

ही ग्राम-नगर आदि में नियमपूर्वक विचरण करता रहे और विहार में किसी से किसी प्रकार की भी सहायता की आकांक्षा न करे, किन्तु किसी भी ग्राम नगर आदि में अनासक्त होकर विहार करे। इसी से उक्त परीषह पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

यहां पर गाथा में जो 'लाढ' शब्द है, वह प्रथमान्त है और अध्याहृत मुनिपद का विशेषण है, इसलिए वृत्तिकार ने इसका यही अर्थ किया है कि—**'लाढयति'—यापयति आत्मानम् एषणीयाहारेणेति लाढो, देश्यत्वात् प्रशस्यः'** जो प्रासुक आहार से निर्वाह करता है उसे लाढ कहते है। यद्यपि आम्नाय-प्रसिद्ध एक देश-विशेष का नाम भी 'लाढ' है, जिसमें कर्मभोग के लिए भगवान् महावीर विचरण करते रहे है, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में इसका 'प्रासुक' आहार-पानी से निर्वाह करने वाला संयमी साधु अर्थ ही अभीष्ट है।

अब फिर इसी विषय में कहते है—

असमाणे चरे भिक्खू, नेव कुज्जा परिग्गहं ।
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिएओ परिव्वए ॥ १६ ॥

असमानश्चरेद् भिक्षुः, नैव कुर्यात् परिग्रहम् ।
असंसक्तो गृहस्थैः, अनिकेतः परिव्रजेत् ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—असमाणे—अहकार से रहित होकर, **चरे**—विचरण करे, **भिक्खू**—साधु, **नेव**—नही, **कुज्जा**—करे, **परिग्गहं**—परिग्रह की, **असंसत्तो**—असंसक्त, **गिहत्थेहिं**—गृहस्थो से, **अणिएओ**—घर से रहित होकर, **परिव्वए**—परिभ्रमण करे।

मूलार्थ—साधु सदा अहंकार से रहित होकर विचरे, किसी प्रकार के परिग्रह का संचय न करे। गृहस्थों में आसक्त न हो और किसी प्रकार के घर-बार को न रखता हुआ सदा देश-भ्रमण करता रहे।

टीका—इस गाथा में साधु को निस्सग होकर देश-विदेश मे विचरने की आज्ञा दी गई है। किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति ममत्व न रखकर और किसी प्रकार के स्थान का बन्ध न रखकर केवल शरीर-यात्रा और धर्म-प्रचारार्थ ही साधु को भ्रमण करना चाहिए। किसी स्थान अथवा व्यक्ति या वस्तु विशेष पर ममत्व हो जाने से साधु न तो अपने सयम में ही दृढ़ रह सकता है और न ही उससे किसी प्रकार का उपकार ही हो सकता है, इसलिए संयमशील साधु के लिए उचित है कि वह किसी वस्तु या व्यक्ति में आसक्त न हो, किसी प्रकार का परिग्रह-विशेष न रखे और किसी प्रकार का स्थान भी न बनाए, किन्तु असग होकर सदा विचरण करे।

उक्त गाथा में जो साधु के लिए **'अणिएओ'** कहा है, उसका यही तात्पर्य है कि साधु कहीं स्थान बनाकर न बैठे, अर्थात् मठधारी न बने।

गाथा में आए हुए प्रथम 'असमानः' पद का अन्त की '**परिव्रजेत्**' क्रिया के साथ सम्बन्ध करके उसका '**न समानः असमानः**' अर्थात् जो अन्यतीर्थी साधु के समान न हो, ऐसा अर्थ भी सूत्रकार को अभिप्रेत है। इसका अभिप्राय यह है—जैसे बहुधा अन्य मतानुयायी साधु मुनि और परिव्राजक कहाते हुए भी अनेक मठों के स्वामी बन जाते है और स्थान आदि रखते हुए ही देश-विदेश में नाना प्रकार के द्रव्यादि के लाभ के लिए विचरण करते है। सयमशील साधु इस प्रकार का कभी आचरण न करे, क्योंकि उसने वीतराग देव के त्याग प्रधान सयम-मार्ग को अपनाया हुआ है। आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार से सासारिक पदार्थों का त्याग ही साधु-जीवन का मुख्य उद्देश्य है। इसके लिए उसे सबसे प्रथम अभिमान से रहित होना, परिग्रह का त्यागी होना और सर्व प्रकार के कुत्सित संग से सर्वथा दूर रहना परम आवश्यक है। इस प्रकार सयम में दृढ़ रहकर आयु-पर्यन्त साधु को विचरते रहना चाहिए।

(१०) नैषेधिकी परीषह

जिस प्रकार जीवन-पर्यन्त साधु को चर्यापरीषह के सहन करने की शास्त्रकारों ने आज्ञा दी है, उसी प्रकार नैषेधिकी परीषह के लिए भी आज्ञा दी है, अतः अब नैषेधिकी नाम के दसवें परीषह के विषय में कहते हैं—

सुसाणे सुन्नागारे वा, रुक्खमूले व एगओ ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं ॥ २० ॥

श्मशाने शून्यागारे वा, वृक्षमूले वा एककः ।
अकुक्कुचः निषीदेत्, न च वित्रासयेत् परम् ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः—**सुसाणे**—श्मशान मे, **वा**—अथवा, **सुन्नागारे**—शून्य घर मे, **वा**—अथवा, **रुक्खमूले**—वृक्ष के मूल में, **एगओ**—अकेला ही, **अकुक्कुओ**—कुचेष्टाओं से रहित, **निसीएज्जा**—बैठे, **न** —नही, **य**—और, **परं**—परजीवों को, **वित्तासए**—त्रास देवे।

मूलार्थ—साधु श्मशान में, शून्य घर में या वृक्ष के मूल में किसी प्रकार की भी कुचेष्टा को न करता हुआ राग-द्वेष से रहित होकर अकेला ही बैठे और किसी प्रकार से भी अन्य जीवों को त्रास न दे।

टीका—इस गाथा में साधु को हर प्रकार से अपने आपको सयत रखने का उपदेश दिया गया है, श्मशानभूमि में, शून्य मन्दिर में अथवा किसी वृक्ष के मूल में, अर्थात् किसी भी एकान्त स्थान में राग-द्वेष से रहित होकर अकेला बैठा हुआ साधु किसी प्रकार की कोई कुचेष्टा न करे और न किसी जीव को त्रास दे, क्योंकि ऐसा करने से एक तो मानसिक चंचलता की वृद्धि होती है, और दूसरे उसकी अहिसक वृत्ति मे भी बाधा पड़ने की सम्भावना बनी रहती है। क्योंकि जीवों को त्रास देना भी उनकी एक प्रकार की विराधना ही है। इसीलिए उक्त निर्जन प्रदेशो में बैठा हुआ साधु समाधि-युक्त होकर आत्म-चिन्तन मे ही प्रवृत्त रहे और किसी प्रकार की कुचेष्टा से असमाहित होकर क्षुद्र जीवों की विराधना का भागी कदापि न बने।

गाथा में श्मशान भूमि आदि का जो उल्लेख किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि संयमशील साधुओं के लिए प्रायः ऐसे ही स्थानों में निवास करना उनकी संयम रक्षा के लिए उपयोगी होता है। ।

इसी विषय पर फिर कहते हैं—

तत्थ से चिट्ठमाणस्स, उवसग्गाभिधारए ।
संकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठित्ता अन्नमासणं ॥ २१ ॥

तत्र तस्य तिष्ठतः, उपसर्गानभिधारयेत् ।
शंकाभीतो न गच्छेत्, उत्थायान्यदासनम् ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः—**तत्थ**—उन स्थानों में, **से**—उसके, **चिट्ठमाणस्स**—बैठे हुए को, **उवसग्गा**—उपसर्गों को, **अभिधारए**—सहन करे, **संकाभीओ**—शकाओं से भयभीत होकर, **उट्ठित्ता**—उठ करके, **अन्नं**—अन्य, **आसणं**—आसन पर, **न गच्छेज्जा**—न जाए।

मूलार्थ—उपर्युक्त स्थानों में बैठे हुए साधु को यदि कोई उपसर्ग आ जाए तो साधु उसको सहन करे, किन्तु किसी प्रकार की शंका से भयभीत होकर वहां से उठकर अन्य स्थान पर न जाए।

टीका—श्मशान आदि निर्जन स्थानो में बैठे हुए ध्यानारूढ साधु को यदि किसी देव आदि का उपसर्ग उत्पन्न हो जाए तो ध्यान मग्न मुनि को उचित है कि वह उन उपसर्गों से भयभीत हो वहां से उठकर किसी अन्य स्थान मे चले जाने का संकल्प न करे, किन्तु दृढ़ता-पूर्वक उन उपसर्ग आदि को सहन करे और समता-पूर्वक उनका सामना करके उन पर विजय प्राप्त करे। यदि उपसर्ग आदि के भय से डरकर साधु अपने आसन से चलायमान हो जाए तो उसके स्वाध्याय और ध्यान आदि कृत्यो मे बड़े भारी विघ्न आने की सम्भावना हो जाती है। विवेकशील साधु को उचित है कि किसी उपसर्ग के आने पर वह और भी दृढ़ता से अपने ध्यानादि में स्थिर रहने का प्रयत्न करे तथा उन उपसर्गो को अपनी परीक्षा का समय समझकर उनको तुच्छ समझता हुआ उन पर विजय प्राप्त करे, इसी मे उसके सयम की दृढ़ता और उज्ज्वलता है। संयम मे दृढ़ रहने वाले मुनि के आगे सर्व प्रकार की सिद्धियां हाथ जोड़े खड़ी रहती है, इसलिए ध्यानारूढ़ मुनि किसी भी उपसर्ग से भयभीत न हो।

(११) शय्या-परीषह

नैषेधिकी के बाद जब साधु स्वाध्याय के निमित्त बस्ती में आता है तो उस समय प्रायः उसको शय्या-परीषह का सामना करना पड़ जाता है, इसलिए अब ग्यारहवें शय्या-परीषह का वर्णन करते हैं—

उच्चावयाहिं सेज्जाहिं, तवस्सी भिक्खु थामवं ।
नाइवेलं विहन्निज्जा, पावदिट्ठी विहन्नई ॥ २२ ॥

उच्चावचाभिः शय्याभिः तपस्वी भिक्षुः स्थामवान् ।
नातिवेलं विहन्यात्, पापदृष्टिर्विहन्यति ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः—**उच्चावयाहिं**—ऊंची व नीची, **सेज्जाहिं**—शय्याओं से, **तवस्सी**—तप करने वाला, **भिक्खु**—साधु, **थामवं**—शक्तिसम्पन्न हो, **अइवेलं**—समय का अतिक्रमण, **न**—न, **विहन्निज्जा**—करे, **पावदिट्ठी**—पापदृष्टि साधु, **विहन्नई**—समय का उल्लंघन कर देता है।

मूलार्थ—ऊंची-नीची शय्या आदि से साधु अपने स्वाध्याय आदि के समय का उल्लंघन न करे, अपितु तपस्वी साधु उक्त परीषह के सहन करने में अपने आपको शक्तिशाली बनाए, पापदृष्टि साधु ही समय का उल्लंघन कर देता है।

टीका—शय्या का ऊंचापन शीत आदि का निवारक होता है और उसका नीचा होना शीत की बाधा का कारण है, परन्तु तपस्वी साधु किसी भी प्रकार की शय्या के उपलब्ध होने पर अपने आपको शीतादि के सहन में समर्थ बनाता हुआ अपने स्वाध्याय के लिए नियत समय का कभी उल्लंघन नहीं करता। पापदृष्टि साधु ही शय्या आदि की अनुकूलता को ढूंढता हुआ अपने स्वाध्याय के अमूल्य समय को यो ही व्यर्थ मे खो देता है, इसलिए संयमशील साधु को चाहिए कि वह ऊची-नीची शय्या आदि के विचार को सर्वथा छोड़ता हुआ अपने स्वाध्याय के समय-विभाग को कभी हाथ से न जाने दे। तात्पर्य यह है कि शीत-उष्ण आदि के बचाव मे अपने स्वाध्याय के समय को कभी न खोए, किन्तु शय्या आदि की कुछ भी परवाह न करता हुआ अपने स्वाध्याय मे ही सदा रत रहे।

यहां पर इतना और स्मरण रखना चाहिए कि उक्त गाथा में शय्या के सम्बन्ध मे जो ऊंच-नीच शब्द का प्रयोग किया गया है, वह द्रव्य और भाव दोनो प्रकार से समझ लेना चाहिए। द्रव्य से ऊचे प्रासाद आदि और भाव से इच्छानुकूल स्थान है। इसी प्रकार नीच शय्या के विषय मे भी जान लेना चाहिए।

साराश यह है कि कैसा भी स्थान प्राप्त हो तथा कैसी भी शीत आदि की बाधा उपस्थित हो, परन्तु यतनाशील साधु अपने स्वाध्याय के नियम मे किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित न होने दे।

इच्छानुकूल शय्या के प्राप्त न होने पर साधु को क्या करना चाहिए, अब इस विषय में और भी कहते हैं—

पइरिक्कुवस्सयं लद्धुं, कल्लाणमदुव पावयं ।
किमेगरायं करिस्सइ, एवं तत्थऽहियासए ॥ २३ ॥

प्रतिरिक्तमुपाश्रयं लब्ध्वा, कल्याणमथवा पापकम् ।
किमेकरात्रं करिष्यति, एवं तत्राधिसहेत ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः—**पइरिक्क**—स्त्री-पशु-नपुसक से रहित, **उवस्सयं**—उपाश्रय, **लद्धुं**—प्राप्त करके, **कल्लाणं**—सुन्दर, **अदुव**—अथवा, **पावयं**—पापरूप—उपाश्रय, **किं**—क्या, **एगरायं**—एक रात्रि प्रमाण काल मे, **करिस्सइ**—करेगा, **एवं**—इस प्रकार, **तत्थ**—वहा पर, **अहियासए**—सुख-दुःख को सहन करे।

मूलार्थ—स्त्री-पशु-नपुंसक से रहित कल्याणकारी उपाश्रय को प्राप्त करके अथवा पापरूप उपाश्रय में ठहर कर साधु इस प्रकार का विचार करे कि यह उपाश्रय-स्थल एक रात्रि में मेरा क्या कर लेगा, ऐसा विचार करके वहां पर होने वाले शीत आदि के कष्ट को शांतिपूर्वक सहन करे।

टीका—साधु-वृत्ति के अनुकूल स्त्री, पशु और नपुसक आदि से रहित जो उपाश्रय है, वह चाहे सुन्दर है, चाहे असुन्दर है, परन्तु इच्छा के अनुकूल नहीं है उसके मिल जाने पर उस समय साधु यह विचार करे कि एक रात्रि में यह उपाश्रय मेरा क्या बिगाड़ कर लेगा, इसलिए इसमें जो कुछ भी सुख अथवा दुख मुझे उपस्थित होगा उसे शान्ति-पूर्वक सहन करना ही मेरा परम धर्म है। ऐसा विचार करता हुआ साधु अपने सयम में ही दृढ़ रहने का प्रयत्न करे, किन्तु मन में किसी प्रकार की दीनता अथवा शोक सन्ताप न करे।

यहां पर उपाश्रय के लिए 'कल्याण' शब्द का प्रयोग किया गया है, इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि यदि नवीन, सुन्दर और अलंकृत उपाश्रय मिल जाए तो उसके मिलने से साधु अपने मन मे किसी प्रकार का हर्ष न करे और धूलिधूसरित तृणयुक्त, अति पुराना मिल जाए तो भी मन में किसी प्रकार का शोक उत्पन्न न करे, किन्तु जैसा भी मिल जाए उसी में सन्तोष मानता हुआ उसमें रहने पर आने वाले सभी उपसर्गों को समता-पूर्वक सहन करने में ही अपने संयम की दृढ़ता का परिचय दे।

इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में जो 'एक रात्रि निवास' का उल्लेख है, वह जिनकल्पी की अपेक्षा से है, स्थविरकल्पी तो एक से अधिक रात्रि भी रह सकता है, अथवा विहार-काल मे स्थविर कल्पी के लिए भी इच्छानुकूल स्थान न मिलने से एक रात्रि की कल्पना युक्तिसंगत प्रतीत होती है।

(१२) आक्रोश-परीषह

शय्यापरीषह के पश्चात् अब बारहवे आक्रोश-परीषह का वर्णन करते हैं—

अक्कोसेज्जा परे॰ भिक्खुं, न तेसिं पडिसंजले ।
सरिसो होइ बालाणं, तम्हा भिक्खू न संजले ॥ २४ ॥

आक्रोशेत् परो भिक्षुं न तस्मै प्रतिसंज्वलेत् ।
सदृशो भवति बालानां, तस्माद् भिक्षुर्न संज्वलेत् ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः—**परे**—दूसरा कोई, **भिक्खुं**—साधु को, **अक्कोसेज्जा**—आक्रोश करे, **तेसिं**—उसके ऊपर, **न पडिसंजले**—क्रोध न करे, क्योंकि, **बालाणं**—मूर्खों के, **सरिसो**—समान, **होइ**—होता है, **तम्हा**—इसलिए, **भिक्खू**—साधु, **न संजले**—क्रोध न करे।

मूलार्थ—कोई पुरुष साधु की निन्दा करे तो साधु उसके ऊपर क्रोध न करे, क्योंकि वह मूर्खों के समान हो जाता है, इसलिए अपने को कोसने वाले पर भी साधु कभी क्रोध न करे।

टीका—यदि कोई अन्य पुरुष साधु की निन्दा भी करने लगे, उसे कोसने भी लगे तो साधु को उसके ऊपर कभी क्रोध नहीं करना चाहिए, अपितु उसे शान्तिपूर्वक सहन कर लेना चाहिए। इस

कथन का अभिप्राय यह है कि किसी साधु पुरुष को कोसना—उसकी निन्दा करना, केवल मूर्खता का काम है। मूर्ख लोग ही इस प्रकार का जघन्य आचरण किया करते हैं। परन्तु साधु भी यदि उनके इस कुत्सित व्यवहार को देखकर अपनी शान्ति की मर्यादा को भंग करता हुआ उन पर क्रोध करने लग जाए, तो वह भी उनके समान ही मूर्खों की पक्ति मे गिना जाने लगेगा। इसलिए साधु पुरुष कभी भी क्रोध के आवेश में न आए, किन्तु कोसने वाले अन्य पुरुषों की मूर्खता को उपेक्षा की दृष्टि से देखता हुआ अपने समभाव मे ही स्थिर रहने का प्रयत्न करे।

इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि यदि कोई क्षुद्र व्यक्ति साधु की भर्त्सना करने लगे तो साधु को उस पर दया दर्शाते हुए सर्वथा शान्त रहना चाहिए और उसे विचार करना चाहिए कि यदि मेरे में कोई दोष है, तब तो यह सत्य कह रहा है फिर इस पर क्रोध कैसा? और यदि यह मिथ्या ही मेरी निन्दा कर रहा है, तब यह अपने किए कर्म का फल स्वय ही भोग लेगा, फिर मै इस पर क्रोध करके अपनी आत्मा को क्यो मलिन करूं? इत्यादि विचार-परम्परा द्वारा अपने मन में आए हुए क्रोध के आवेश को शान्त करे, किन्तु अपनी आत्मा को क्रोध के वशीभूत कभी न होने दे, इसी में उसकी विजय है।

यहा पर आक्रोश शब्द का अर्थ असभ्य भाषा का व्यवहार करना है, जैसे—इसको धिक्कार है, यह तो यो ही सिर मुडाए फिरता है, इत्यादि।

इस गाथा मे विभक्ति का व्यत्यय प्राकृत के सुप्रसिद्ध नियम से जानना। यथा—'तस्मै' के स्थान मे षष्ठ्यन्त 'तेसि' और भिक्षु के स्थान पर 'भिक्खु' प्रथमान्त पद का प्रयोग है।

तिरस्कार करने वाले पुरुष के सम्बन्ध में संयमशील साधु का किस प्रकार का व्यवहार होना चाहिए, अब इस विषय पर और भी कहते हैं—

सोच्चा णं फरुसा भासा, दारुणा गामकण्टगा ।
तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसी करे ॥ २५ ॥

श्रुत्वा खलु परुषा भाषाः, दारुणा ग्रामकण्टकाः ।
तूष्णीक उपेक्षेत, न ता मनसि कुर्यात् ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः—**सोच्चा**—सुन करके, **णं**—वाक्यालकार मे है, **फरुसा**—कठिन, **भासा**—भाषा, **दारुणा**—कठोर, **गामकंटगा**—ग्रामकंटक, **तुसिणीओ**—मौनभाव, **उवेहेज्जा**—धारण करे किन्तु, **ताओ**—उन भाषाओं के बोलने वालो पर, **मणसी**—मन से भी, **न करे**—द्वेषादि न करे।

मूलार्थ—दूसरों की इन्द्रियरूप ग्राम को दारुण और कंटक के समान चुभने वाली अति कठोर भाषा को सुनकर भी साधु मौन ही रहे, किन्तु उन कठोर शब्द बोलने वालों पर वचन से तो क्या मन से भी द्वेष न करे।

टीका—किसी व्यक्ति द्वारा कहे गए अति कठोर—दारुण और चुभने वाले शब्दों को सुनकर

साधु उनकी ओर ध्यान न दे, किन्तु उपेक्षा ही कर दे तथा कठोर शब्दों के द्वारा बोलने पर भी साधु सदा मौन ही धारण किए रहे। एवं कठोर शब्द कहने वाले व्यक्ति के ऊपर किसी प्रकार का मानसिक द्वेष न करे, किन्तु अपने समभाव में स्थित रह कर आत्म-कल्याण की ओर ही ध्यान रखे। इसी से वह आक्रोश नाम के परीषह पर विजय प्राप्त कर सकता है, अन्यथा कठोर शब्द कहने वाले पर क्रोध करने से आत्मा में कषाय की वृद्धि से मलिनता के बढ़ने की ही अधिक संभावना रहती है। इसलिए साधु पुरुष को वाणी द्वारा अपकार करने वाले पर भी उपकार की ही भावना रखनी आवश्यक है।

(१३) वध-परीषह

जब कोई क्षुद्र व्यक्ति कोसने आदि से तृप्त नहीं होता, अर्थात् इतने पर भी उसके मन को विश्राम नहीं मिलता, तब वह मारने-पीटने पर उतारू हो जाता है, इसलिए अब वध नाम के १३वें परीषह का वर्णन किया जाता है—

हओ न संजले भिक्खू, मणं पि न पओसए।
तितिक्खं परमं नच्चा, भिक्खू धम्मं विचिंतए॥ २६॥

हतो न संज्वलेद् भिक्षुः, मनोऽपि न प्रद्वेषयेत्।
तितिक्षां परमां ज्ञात्वा, भिक्षुर्धर्मं विचिन्तयेत्॥ २६॥

पदार्थान्वयः—**हओ**—मारा हुआ, **भिक्खू**—साधु, **न संजले**—क्रोध न करे, **मणंपि**—मन को भी, **न पओसए**—उसके निमित्त से दूषित न करे, **तितिक्खं**—क्षमा को, **परमं**—उत्कृष्ट, **नच्चा**—जान करके, **भिक्खू**—मुनि, **धम्मं**—धर्म का, **विचिंतए**—चिन्तन करे।

मूलार्थ—मार खाया हुआ साधु मारने वाले पर क्रोध न करे, सूक्ष्म क्रोध से भी मन को दूषित न करे, किन्तु क्षमा को उत्कृष्ट जानकर अपने मुनि-धर्म का ही चिन्तन करे।

टीका—इस गाथा में संयमशील साधु को पूर्णरूप से शान्त रहने का उपदेश दिया गया है, अर्थात् यदि कोई मूर्ख पुरुष साधु को दडादि से भी ताड़न करे, तो साधु वाणी से तो क्या, मन से भी उस मारने वाले का अनिष्ट चिन्तन न करे, इसी में उसके उत्कृष्ट क्षमा धर्म के आचरण का महत्त्व है। क्षमा ही साधु का सर्वोपरि आचरणीय धर्म है, इसलिए वीतराग देव के धर्म मे आरूढ़ होने वाले मुनि को दूसरों के असभ्य और कुत्सित बर्ताव को भी बड़े शान्त भाव से सहन कर लेना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि किसी दुष्ट पुरुष के जघन्य व्यवहार से साधु को अपने धर्म से विचलित नहीं होना चाहिए, क्योकि ऐसे समय मे ही साधु की क्षमावृत्ति और सहनशीलता की परीक्षा होती है। यदि इस प्रकार के परीषह—कष्ट के उपस्थित होने पर साधु अपने क्षमा-धर्म से विचलित हो जाए तो उसकी उत्कृष्ट साधु-चर्या दूषित हो जाती है और उक्त परीषह पर विजय प्राप्त करने के बदले वह स्वयं पराजित हो जाता है, इसलिए ऐसे समय पर साधु को अपने क्षमा-धर्म से अणुमात्र भी विचलित नहीं होना चाहिए, यही उसकी दृढ़ साधुनिष्ठा की सच्ची कसौटी है।

यहां पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि जिस प्रकार शास्त्रकार ने साधु को अपने मुनिधर्म में दृढ़ रहने का आदेश दिया है, उसी प्रकार उपलक्षणतया **'गिहिधम्मं विचिंतए'** के अनुसार गृहस्थ को भी अपने निजी कर्त्तव्य में पूर्णतया सावधान रहने का उपदेश दिया गया है। तात्पर्य यह है कि आपत्तियों के आ जाने पर श्रावक सदैव केवलि-भाषित धर्म का चिन्तन करे, अपने सत्य और सन्तोष रूप धर्म का पालन करे, और शास्त्र-विहित अपने धर्म का विचार करे, क्योंकि शास्त्र-विहित मर्यादा के अनुसार अपने धर्म का पालन करना साधु और गृहस्थ दोनों का समान कर्त्तव्य है।

अब इसी विषय को प्रकारान्तर से कहते हैं—

समणं संजयं दंतं, हणिज्जा कोइ कत्थई ।
नत्थि जीवस्स नासु त्ति, एवं पेहेज्ज संजए ॥ २७ ॥

श्रमणं संयतं दान्तं, हन्यात् कोऽपि कुत्रचित् ।
नास्ति जीवस्य नाश इति, एवं प्रेक्षेत संयतः ॥ २७ ॥

पदार्थान्वयः—समणं—श्रमण, **संजयं**—संयत, **दान्तं**—दन्त को, **कोइ**—कोई, **कत्थई**—किसी स्थान पर भी, **हणिज्जा**—मारे, **जीवस्स**—जीव का, **नासु**—नाश, **नत्थि**—नही होता, **एवं**—इस प्रकार, **संजए**—साधु, **पेहेज्ज**—विचार करे, **त्ति**—इति पादपूर्ति के लिए।

मूलार्थ—इन्द्रियों का दमन करने वाले संयमशील साधु को यदि किसी स्थान पर कोई मारे तो वह साधु इस प्रकार का विचार कर शान्त भाव से रहे कि 'जीव का तो कभी नाश होता ही नहीं और यह जो शरीर है, वह तो वास्तव में मेरा है ही नही।'

टीका—सर्व प्रकार के आरम्भ-समारम्भ के त्यागी सयमशील परम तपस्वी साधु को यदि कोई अनार्य दुष्ट पुरुष ताड़ना करने के अलावा किसी स्थान पर वध करने के लिए भी उद्यत हो जाए तो साधु मुनिराज उसके प्रतिकार करने का कभी संकल्प न करे, किन्तु उसके इस अति नीच एव जघन्यतम व्यवहार को देखकर अपने उत्कृष्ट मुनि-धर्म मे स्थिर रहकर शान्त भाव से विचारे कि वह व्यक्ति मेरे ज्ञानस्वरूप आत्मा का तो किसी प्रकार भी विनाश नही कर सकता, यह तो केवल जड़ शरीर को ही हानि पहुचा सकता है। यह शरीर वास्तव में मेरा है ही नही और न इसने सदा रहना ही है, किसी-न-किसी निमित्त से इसका विनाश अवश्यंभावी है। सम्भव है इसी व्यक्ति के द्वारा इस विनश्वर शरीर का अन्त होना हो, फिर इसमें चिन्ता और शोक किस बात का? एक न एक दिन तो इसका अन्त होकर ही रहना है। इस प्रकार से मुनिधर्मोचित आचार की विशुद्ध भावना से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ साधु उक्त वध-परीषह को दृढ़ता-पूर्वक सहन करे।

यहा पर गाथा में जो **'संजयं'** पद दिया गया है, उसका अर्थ निरन्तर यत्न करने वाला है। जो साधक निरन्तर यत्न करने वाला होगा, वही सम्यक् प्रकार से परीषहों को सहन करने वाला भी हो सकेगा, प्रस्तुत गाथा का यही अर्थ ध्वनित होता है।

'जीव का नाश नहीं होता,' इस कथन से आत्मा को अजर और अमर बताते हुए उत्पत्ति और विनाश को शरीर का धर्म बताया गया है, जिससे कि वध-परीषह की उपस्थिति में मुनि को आत्मा के यथार्थ-स्वरूप का बराबर भान रहे और वह वध-परीषह पर विजय प्राप्त करने में सफल हो, जैसे कि स्वनाम-धन्य श्री गजसुकुमार और प्रदेशी राजा सफल हुए थे।

(१४) याचना-परीषह

वध-परीषह के अनन्तर फिर याचना-परीषह सम्भाव्य होता है, इसलिए अब याचना नाम के चौदहवें परीषह का वर्णन किया जाता है—

दुक्करं खलु भो! निच्चं, अणगारस्स भिक्खुणो ।
सव्वं से जाइयं होइ, नत्थि किंचि अजाइयं ॥ २८ ॥

दुष्करं खलु भो! नित्यं, अनगारस्य भिक्षोः ।
सर्वं तस्य याचितं भवति, नास्ति किंचिदयाचितम् ॥ २८ ॥

पदार्थान्वयः—**भो**—हे साधक-वर्ग! **दुक्करं**—दुष्कर है, **खलु**—निश्चय ही, **निच्चं**—सदा, **अणगारस्स**—अनगार, **भिक्खुणो**—साधु को, **सव्वं**—सब, **से**—उसका, **जाइयं**—मागा हुआ, **होइ**—है, **नत्थि**—नहीं, **किंचि**—किचिन्मात्र, **अजाइयं**—बिना मागा हुआ।

मूलार्थ—हे साधक-वर्ग! साधु का आचार बड़ा ही दुष्कर है, उसके उपकरण आदि सभी वस्तुएं मांगी हुई हैं, मांगे हुए के बिना उसके पास कुछ भी नहीं है।

टीका—इस गाथा में साधु-चर्या में होने वाली निरन्तर याचना के द्वारा उसकी साधुचर्या की दुष्करता का वर्णन किया गया है। साधुवृत्ति इसलिए दुष्कर है कि उसमे याञ्चावृत्ति आयु-पर्यन्त बराबर बनी रहती है। साधु के पास सयम-निर्वाहार्थ जितने भी वस्त्र, पात्र आदि उपकरण है, वे सब गृहस्थो से मांगे हुए होते है, बिना मागी उसके पास एक भी वस्तु नही होती। यह याञ्चावृत्ति उसके साथ जीवन-पर्यन्त लगी रहती है। इसी पराधीनता को लेकर साधु-धर्म का अनुष्ठान दुष्कर माना गया है। इसका अभिप्राय यह है कि सयम-निर्वाह के लिए प्रतिदिन अथवा कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर नितान्त उपयोगी पदार्थ की याचना करने मे साधु किसी प्रकार की लज्जा अथवा संकोच न करे।

अब फिर इसी विषय का स्पष्टीकरण करते हुए कहते है—

गोयरग्गपविट्ठस्स, पाणी नो सुप्पसारए ।
सेओ अगारवासु त्ति, इइ भिक्खू न चिंतए ॥ २९ ॥

गोचराग्रप्रविष्टस्य, पाणिः न सुप्रसार्यः ।
श्रेयानगारवास इति, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥ २९ ॥

पदार्थान्वयः—**गोयरग्गपविट्ठस्स**—भिक्षाचरी में प्रवेश किए हुए का, **पाणी**—हाथ, **नो**—नहीं,

सुप्पसारए—सुखपूर्वक पसारा जाता अतएव, **सेओ**—श्रेय है, **अगारवासु**—घर में रहना, **त्ति**—पादपूरणार्थक है, **इइ**—इस प्रकार, **भिक्खू**—साधु, **न चिंतए**—चिन्तन न करे।

मूलार्थ—भिक्षा के निमित्त गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ भिक्षु इस प्रकार का चिन्तन कभी न करे कि इन लोगों के घरों में प्रतिदिन हाथ पसारने की अपेक्षा तो घर में रहना ही अच्छा है।

टीका—इस गाथा मे साधु के लिए साधु-धर्मोचित भिक्षावृत्ति मे ग्लानि न करने का आदेश दिया गया है। वीतराग देव के धर्म मे प्रविष्ट हुए संयमशील साधु का शास्त्र-विहित यही धर्म है कि वह अपनी उदरपूर्ति के निमित्त किसी भी प्रकार के आरम्भ में प्रवृत्त न हो, किन्तु साधुजनानुमोदित भिक्षावृत्ति से निर्दोष आहार का ग्रहण करता हुआ ही वह अपने संयम का यथावत् पालन करे, इसी में उसके मुनिधर्म की विशिष्टता है। इसलिए भिक्षा के निमित्त किसी परिचित अथवा अपरिचित गृहस्थ के घर में प्रवेश करता हुआ साधु मन में यह कभी विचार न करे कि इन लोगो के सामने नित्यप्रति भिक्षा के लिए हाथ पसारना तो कुछ उचित प्रतीत नहीं होता, इसकी अपेक्षा तो घर मे रहकर न्यायपूर्वक हाथ से कमाकर खाना कहीं अधिक अच्छा है।

इसका तात्पर्य यह है कि साधु को इस प्रकार के विचारो से अलग रखने का जो शास्त्रों मे विधान है उसके दो हेतु हैं, एक तो साधु-चर्या में होने वाली सावद्य प्रवृत्ति का निषेध और उसकी निष्पाप प्रवृत्ति की रक्षा। दूसरे सुपात्रदान से गृहस्थो पर होने वाले उपकार की स्थिरता और मुनिधर्म के उज्ज्वल आचार की प्रतिष्ठा। इन दो कारणो से साधु को अपने मुनिजनोचित याञ्चारूप कार्य से कभी भी ग्लानि नही करनी चाहिए।

गृहस्थ के प्रवृत्ति-धर्म का परित्याग करके सर्वथा निवृत्ति-मार्ग का अनुसरण करने वाला साधु यदि भिक्षा-वृत्ति के सकोच से पुन· गृही बनने का संकल्प करे तो उसके निवृत्ति-मार्ग का कुछ भी मूल्य नहीं रह जाता और जिस आरम्भ-मूलक सावद्य प्रवृत्ति के त्याग की उसने प्रतिज्ञा की है, वह भी सर्वथा नि·सार और अर्थशून्य हो जाती है तथा त्याग-प्रधान साधुवृत्ति का भी सर्वथा उच्छेद हो जाता है, इसलिए किसी भी गृहस्थ को किसी प्रकार का कष्ट पहुंचाए बिना भ्रमर की तरह भिक्षावृत्ति करके केवल शुद्ध आहार के द्वारा अपने प्राणों का पोषण करने वाला साधु सयम मे दृढ़ रहता हुआ स्वयं भी तैरता है और भिक्षा देने वाले गृहस्थो को भी तार देता है। अतः सर्वविरति—सर्वत्यागी साधु को भिक्षावृत्ति में कभी संकोच नहीं करना चाहिए, यह तो उसका शास्त्र-विहित शुद्ध आचार है।

(१५) अलाभ-परीषह

भिक्षा मांगने पर यदि भिक्षा न मिले तो फिर अलाभ-परीषह की उपस्थिति हो जाती है। इसलिए अब पन्द्रहवें अलाभ-परीषह का वर्णन किया जाता है—

परेसु घासमेसेज्जा, भोयणे परिणिट्ठिए ।
लद्धे पिण्डे अलद्धे वा, नाणुतप्पेज्ज पंडिए ॥ ३० ॥

परेषु ग्रासमेषयेत् भोजने परिनिष्ठिते ।
लब्धे पिण्डे अलब्धे वा, नानुतप्येत पण्डितः ॥ ३० ॥

पदार्थान्वयः—**परेसु**—गृहस्थों के घरों में, **घासं**—आहार की, **एसेज्जा**—गवेषणा करे, **भोयणे**—भोजन, **परिणिट्ठिए**—निष्पन्न होने पर, **लद्धे पिंडे**—आहार के मिलने पर, **वा**—अथवा, **अलद्धे**—न मिलने पर, **पंडिए**—पंडित पुरुष, **नाणुतप्पेज्ज**—पश्चात्ताप न करे।

मूलार्थ—गृहस्थों के घरों में भोजन तैयार हो जाने पर साधु भिक्षा के लिए जाए, परन्तु वहां से आहार मिलने पर हर्ष और न मिलने पर विवेकशील साधक मन में किसी प्रकार का शोक न करे।

टीका—इस गाथा में साधु को समय पर भिक्षा के लिए जाने का तथा भिक्षा की प्राप्ति में हर्ष और अप्राप्ति में विषाद के त्याग का उपदेश दिया गया है। संयमशील साधु को उचित है कि वह समय पर ही गृहस्थों के घरों मे गोचरी के लिए जाए। समय से पहले जाने पर सभव है कि रागवशात् गृहस्थ साधु के निमित्त किसी सावद्य क्रिया में प्रवृत्त हो जाए और बाद मे जाने पर किसी अमुक प्रकार के अपवाद की सम्भावना का होना भी कोई अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता। इसलिए साधु को समय पर ही आहार के लिए जाना चाहिए। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए उक्त गाथा में 'परिणिट्ठिए'—परिनिष्ठित' शब्द का प्रयोग किया गया है।

समय पर जाने से यदि साधु को अच्छा आहार मिल जाए तो वह उसको प्राप्त कर मन में किसी प्रकार की प्रसन्नता प्रकट न करे और न ही इस बात पर गर्व करे कि इस प्रकार का जो अच्छा आहार मुझ को मिला है यह मेरे पुण्य का प्रभाव है तथा आहार के न मिलने पर अथवा अच्छे स्वादिष्ट भोजन के न मिलने पर मन में किसी प्रकार का विषाद न करे, किन्तु समय पर जैसा भी स्निग्ध-रुक्ष मिल जाए उसे ही उदरपूर्ति के निमित्त ग्रहण करके अपने संयम का निर्वाह करे। साधु के लिए तो आहार का अच्छापन उसकी प्रासुकता—निर्दोषता पर ही अवलम्बित है। तात्पर्य यह है कि उत्तम आहार वही है जो कि प्रासुक—निर्दोष हो और अप्रासुक आहार वह है जो कि आधाकर्म आदि दोषों से युक्त है। फिर चाहे वह कितना ही सुन्दर और स्वादिष्ट क्यों न हो, परन्तु साधु के लिए कदापि ग्राह्य नहीं है।

अस्तु, समय पर जाने से भी यदि आहार की प्राप्ति न हो सके तो साधु को उस समय पर क्या विचार करना चाहिए, अब इस विषय का वर्णन किया जाता है—

अज्जेवाहं न लब्भामि, अवि लाभो सुए सिया ।
जो एवं पडिसंचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए ॥ ३१ ॥

अद्यैवाहं न लभे, अपि लाभः श्वः स्यात् ।
य एवं प्रतिसमीक्षेत, अलाभस्तं न तर्जयेत् ॥ ३१ ॥

पदार्थान्वयः—**अज्जेव**—आज ही, **अहं**—मुझे, **न लब्भामि**—आहार नहीं मिला है तो, **अवि**—सम्भव है कि, **सुए**—कल दिन, **लाभो**—लाभ, **सिया**—हो जाए, **जो**—जो साधु, **एवं**—इस

प्रकार, **पडिसंचिक्खे**—विचार करता है, तं—उसको, **अलाभो**—अलाभ-परीषह, **न तज्जए**—पीड़ित नहीं करता।

मूलार्थ—"आज मुझे आहार नहीं मिला, सम्भव है कल को मिल जाए" जो साधु इस प्रकार का विचार करता है उसको अलाभ-परीषह कष्ट नहीं देता।

टीका—इस गाथा में बताया गया है कि साधु आहार के न मिलने पर भी किसी प्रकार की दीनता का अनुभव न करे, किन्तु आशावादी बनता हुआ अपने संयम में दृढ़ रहने का प्रयत्न करे।

अपनी साधुवृत्ति के अनुसार समय पर भिक्षा के लिए जाने पर भी साधु को यदि कहीं से निर्दोष—शुद्ध आहार की प्राप्ति न हो सके तो वह मन मे किसी प्रकार से उदास न हो, किन्तु धैर्य और स्थिरतापूर्वक इस भाव को मन मे रखता हुआ कि आज अगर मुझे आहार नहीं मिला तो न सही, कल मिल जाएगा, कल न सही परसो मिल जाएगा—वापस आ जाए। इस प्रकार का विचार रखने वाला साधु उक्त अलाभ-परीषह से कभी कष्ट नहीं पाता।

इस सारे कथन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि साधु को आहार के न मिलने पर अथवा पर्याप्त न मिलने पर अपने मन मे किसी प्रकार की चिन्ताजनक ग्लानि उत्पन्न नहीं करनी चाहिए, किन्तु यथालाभ मे सन्तुष्ट रहकर अपने आत्मा को संयम में दृढ़ रखने का ही प्रयत्न करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि आहार के मिल जाने अथवा न मिलने पर भी साधु के शुद्ध परिणामों में किसी प्रकार का अन्तर नही आना चाहिए, इसी में उसके त्याग और व्रत की सार्थकता है तथा आहार आदि अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति का होना अथवा उसके लिए प्रयत्न करने पर भी उसका न मिलना, यह सब कुछ अपने पूर्व कर्मों के नियम पर ही अवलम्बित है, इसलिए यदि लाभान्तराय कर्म के उदय से आज आहार नहीं मिला तो कल उसके टूटने पर मिल जाएगा। इत्यादि विचार-विमर्श से अपनी आत्मा को सन्तुष्ट और प्रसन्न रखने वाला साधु अलाभ-परीषह से कभी भी अपनी आत्मा को पराजित नही कर सकता।

(१६) रोग-परीषह

यदि अलाभ-परीषह के उदय से स्वल्पतर अनिष्ट आहारादि की प्राप्ति हो तो उसके निरन्तर सेवन से रोगादि के उत्पन्न होने की अधिक सम्भावना हो जाती है, इसीलिए अब सोलहवें रोग-परीषह का वर्णन किया जाता है—

नच्चा उप्पइयं दुक्खं, वेयणाए दुहट्टिए ।
अदीणो थावए पन्नं, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥ ३२ ॥

ज्ञात्वोत्पतितं दुःखं, वेदनया दुःखार्दितः ।
अदीनः स्थापयेत् प्रज्ञां, स्पृष्टस्तत्राधिसहेत ॥ ३२ ॥

पदार्थान्वयः—**नच्चा**—जान करके, **उप्पइयं**—उत्पन्न हुए, **दुक्खं**—दुख को, **वेयणाए**—वेदना

से, **दुहट्टिए**—दुखी हुआ, **अदीणो**—दीनता-रहित, **पन्नं**—प्रज्ञा, **थावए**—स्थापन करे, **पुट्ठो**—स्पर्शित हुए रोगादि के तब, **तत्थ**—वहां, **अहियासए**—दुख को सहन करे।

मूलार्थ—उत्पन्न हुए दुख को जानकर वेदना से दुःखी हुआ साधु अपनी आत्मा में दीनता-रहित बुद्धि को स्थापित करे और स्पर्शित होने वाले दुख को समता-पूर्वक सहन करे।

टीका—इस गाथा में ज्वर आदि रोग-जन्य असह्य वेदना को साधु समतापूर्वक सहन करे और उसकी भयंकर वेदना से किसी प्रकार की विह्वलता को धारण न करे, इस बात की चर्चा की गई है। साधु को यदि कोई ज्वर आदि रोग हो जाए अथवा उसके शरीर में कोई तीव्र वेदना-युक्त व्रण व शोथ आदि किसी भयंकर रोग की उत्पत्ति हो जाए तो संयमशील साधु को चाहिए कि इस दीनताजन्य वेदना में अपनी बुद्धि को स्थिर रखने का प्रयत्न करे तथा व्रण आदि से जन्य वेदना से एकदम घबरा न उठे, किन्तु वेदना को अपने पूर्व कर्मों का विपाक समझकर उसे धैर्य-पूर्वक सहन करे। इसी प्रकार के सात्विक आचरण से रोग-परीषह पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इस आत्मा ने अनादिकाल से ही अनेक बार अनेक प्रकार के कर्म-जन्य शारीरिक और मानसिक कष्टों का अनुभव किया है और करता है तथा वर्तमान समय मे जो कष्ट उत्पन्न हो रहा है उसका कारण भी असातावेदनीय कर्म का उदय है। इसलिए संसार में इस जीव को जितनी-जितनी भी दुख-परम्परा का अनुभव करना पड़ता है, वह सब इसके अपने ही उपार्जन किए हुए अशुभ कर्मों का विशेष परिणाम है। अतः रोगादिजन्य वेदना को अवश्य भोक्तव्य समझकर सयमशील साधु इससे कभी व्याकुल न हो, किन्तु समता-पूर्वक सहन करने का प्रयत्न करे, इसी मे उसके संयम की दृढ़ता और उज्ज्वलता है। इसी आशय से उक्त गाथा में **'अदीनःस्थापयेत् प्रज्ञां'** यह पाठ दिया गया है, जिसका तात्पर्य जैसा कि ऊपर बताया गया है यही है कि शरीर मे कैसा भी भयंकर रोग उत्पन्न हो जाए तो भी साधु उस समय किसी प्रकार की व्याकुलता को धारण न करे, किन्तु आलोचना आदि के द्वारा अपनी आत्मा की विशुद्धि करने का ही प्रयत्न करे तथा कर्मजन्य परिस्थिति की पर्यालोचना करता हुआ इन रोगादि को अपना उपकारी जाने एवं इन रोगादि को जरा और मृत्यु का आमन्त्रण समझकर उसके लिए सावधान रहने की कोशिश करे, यही इस गाथा में साधु के लिए शिक्षा दी गई है।

अब रोगादि की वृद्धि हो जाने पर औषधि आदि के विषय में कुछ जानने योग्य बातें कहते हैं—

तेगिच्छं नाभिनंदेज्जा, संचिक्खऽत्तगवेसए ।
एवं खु तस्स सामण्णं, जं न कुज्जा न कारवे ॥ ३३ ॥

चिकित्सां नाभिनन्देत्, संतिष्ठेदात्मगवेषकः ।
एवं खलु तस्य श्रामण्यं, यन्न कुर्यात् न कारयेत् ॥ ३३ ॥

पदार्थान्वयः—**तेगिच्छं**—चिकित्सा—रोग के प्रतिकार का, **नाभिनंदेज्जा**—अनुमोदन न करे, **संचिक्ख**—समाधि में रहे, **अत्तगवेसए**—आत्मा की गवेषणा करने वाला, **एवं**—यह, **खु**—निश्चय,

तस्स—उसका, **सामण्णं**—साधु भाव है, **जं**—जो, **न कुज्जा**—रोगादि का प्रतिकार न स्वयं करे और, **न कारवे**—न दूसरों से कराए।

मूलार्थ—आत्मा की गवेषणा करने वाला साधु रोगादि की चिकित्सा का कभी अनुमोदन न करे, किन्तु समाधि में रहता हुआ किसी औषधि के द्वारा न तो स्वयं उसका प्रतिकार करने का यत्न करे और न दूसरों से कराए, यही उसका साधु-भाव है, अर्थात् इसी में उसकी साधुता का महत्त्व है।

टीका—रोग आदि की वृद्धि होने पर साधु किसी प्रकार की चिकित्सा का अनुमोदन भी न करे, तात्पर्य यह कि रोगादि के प्रतिकार के लिए वह किसी औषधि आदि का सेवन करने का प्रयत्न न करे, किन्तु इस रोगादि को कर्म-जन्य समझकर समता-पूर्वक रोगो को भोग लेने में ही अपनी आत्मा का कल्याण समझे। चिकित्सा-शास्त्र में स्वयं निपुण होने पर भी वह न तो स्वयं किसी प्रकार की चिकित्सा का आरम्भ करे और न किसी दूसरे से अपनी चिकित्सा कराने का प्रयत्न करे, अपितु समभाव में स्थित रहकर उक्त रोगादिजन्य कष्टों को भोग लेने मे ही अपनी आत्मदृढ़ता का परिचय दे। इसी में उसके श्रामण्य—साधुभाव का महत्व है, इसी में उसकी साधुवृत्ति की विशिष्टता है।

तात्पर्य यह कि रोगादि के निमित्त उपस्थित होने वाले कष्ट की निवृत्ति के लिए साधु किसी प्रकार की चिकित्सा की लालसा मे न पड़े, किन्तु शान्तिपूर्वक उस कष्ट को भोग के द्वारा ही समाप्त करने का यत्न करे।

यहां पर इतना स्मरण अवश्य रखना चाहिए कि शास्त्रकार ने रोगादि की भयकर अवस्था मे भी साधु को औषधि आदि के उपचार का जो निषेध किया है, वह उत्सर्ग-मार्ग है और यह केवल जिनकल्पी साधु की अपेक्षा से प्रतिपादन किया गया है। अपवाद-मार्ग मे जिनकल्पी के अतिरिक्त स्थविरकल्पी साधु को तो रोगादि की उपस्थिति मे औषधि आदि के ग्रहण का निषेध नहीं है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि स्थविरकल्पी साधु यदि अधिक बीमार हो जाए तो उसकी चिकित्सा के लिए साधुवृत्ति के अनुसार निरवद्य औषधि का प्रयोग अल्पपरिमाण में कराया जा सकता है, इसके लिए अपवाद मार्ग में किसी प्रकार का निषेध नही है। यदि स्थविर-कल्पी साधु के शरीर में उत्पन्न होने वाले रोगादि की निवृत्ति के लिए किसी प्रकार की निरवद्य औषधि का उपचार भी त्याग दिया जाए तो संसार मे निन्दा के होने की अधिक सम्भावना रहती है। देखने वाले अदीर्घदर्शी अन्य लोग रोगी साधु का किसी प्रकार भी चिकित्सा द्वारा उपचार होते न देखकर कह उठेगे कि ये लोग अपने आपको अहिसक और दयालु कहलाते हुए भी एक रुग्ण साधु के साथ कितनी निर्दयता का व्यवहार कर रहे है जो कि उसको औषधि तक भी नहीं देते। इसलिए साधु की वृत्ति के अनुरूप रुग्ण साधु की औषधि आदि के द्वारा चिकित्सा करने में किसी प्रकार का दोष नहीं है, परन्तु ऐसी अवस्था मे भी जो साधु अपने रोग की सहसा निवृत्ति के लिए किसी प्रकार की चिकित्सा की अपेक्षा नही करता, किन्तु अपने ऊपर आने वाले रोगादि-जन्य कष्टों को प्रसन्नता से सहन करता हुआ अपने आत्म-परिणामों में किसी

प्रकार की विषमता को नहीं आने देता उस तपस्वी का श्रामण्य-साधुता अधिक उज्ज्वल और प्रशंसनीय है, यही इस गाथा का स्पष्ट अभिप्राय है।

वही सच्चा साधु है जो कि रोगादि की निवृत्ति के लिए औषधि-बल की अपेक्षा अपने आत्मबल को ही प्राधान्य दे रहा है और उसी आत्मबल के द्वारा उसकी निवृत्ति का इच्छुक है।

(१७) तृण स्पर्श-परीषह

रोगादि से पीड़ित हुआ साधु तृणादि में शयन करता हुआ तृणादि के स्पर्श से उत्पन्न परीषह का अनुभव करने लगता है, इसलिए अब सतरहवें तृण-स्पर्श नाम के परीषह का उल्लेख किया जाता है—

अचेलगस्स लूहस्स, संजयस्स तवस्सिणो ।
तणेसु सयमाणस्स, हुज्जा गाय-विराहणा ॥ ३४ ॥

अचेलकस्य रूक्षस्य, संयतस्य तपस्विनः ।
तृणेषु शयानस्य, भवेद् गात्र-विराधना ॥ ३४ ॥

पदार्थान्वयः—अचेलगस्स—वस्त्र से रहित, **लूहस्स**—रूक्षवृत्ति वाले, **संजयस्स**—संयत, **तवस्सिणो**—तपस्वी को, **तणेसु**—तृणों में, **सयमाणस्स**—शयन करते समय, **गाय-विराहणा**—शरीर की विराधना, **हुज्जा**—होती है।

मूलार्थ—वस्त्र से रहित और रूक्ष वृत्ति वाले तपस्वी साधु के शरीर को तृणों पर शयन करते समय पीड़ा होती है।

टीका—इस गाथा में वस्त्र-रहित और रूक्ष-वृत्ति वाले तपस्वी मुनि के तृण आदि पर बैठने व सोने पर जिस तृण-स्पर्श-जन्य कष्ट का उल्लेख किया गया है वह सब जिन-कल्प को लक्ष्य मे रखकर ही किया गया है, क्योकि तृण-कण्टक आदि से उत्पन्न सम्पूर्ण परीषह प्रायः उन्ही को हुआ करते हैं। इसी दृष्टि से प्रस्तुत गाथा में उसके लिए '**अचेलगस्स**'—वस्त्ररहित यह विशेषण दिया गया है, क्योंकि जो वस्त्र रखने वाले साधु है, उनको तो तृणादि के स्पर्शजन्य परीषह सर्व प्रकार से उपस्थित ही नही हो सकते, अर्थात् वस्त्र वालों को तृणादि का स्पर्श सर्वतोभाव से बाधाकारक नहीं हो सकता।

रूक्ष-वृत्ति के लिखने का अभिप्राय यह है कि जो साधक रूक्ष-वृत्ति वाला नहीं है, वह तृणादि के ऊपर शयन भी नहीं करता एवं गाथा में दिया गया '**असंयत**' शब्द असंयतों—असंयमियों को अपने से पृथक् कर रहा है, क्योंकि जो असंयत—गृहस्थ है, वे तो शुष्क-हरित—सूखे और हरे सभी प्रकार के तृणों का ग्रहण कर सकते हैं, इसलिए उनके लिए गात्र-विराधना के अनुभव की सम्भावना प्रतीत नहीं होती।

इसका तात्पर्य यह है कि उक्त गाथा में जो कुछ लिखा गया है वह सब जिन-कल्पी साधक को लक्ष्य में रखकर लिखा गया है और जो स्थविर-कल्पी साधक हैं वे तो शास्त्र की आज्ञा के अनुसार

संयम-निर्वाहार्थ अल्पतर वस्त्र रखते हुए इस परीषह को सहन करते हैं, क्योंकि उनके पास पर्याप्त वस्त्र नहीं होते है तथा जो होते भी हैं वे भी बहुत जीर्ण-शीर्ण होते है, इसलिए उनको भी न्यूनाधिक अंशों में तृणादि-जन्य परीषह को अवश्य सहन करना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त सूत्र की उक्त गाथा के पर्यालोचन से यह ध्वनि भी स्पष्ट निकल रही है कि अपवाद-मार्ग में भी संयमशील मुनि को जीर्ण और स्वल्पतर वस्त्रों के रखने का ही आदेश है। जब कि सयमशील मुनि को अपने शरीर के ऊपर किसी प्रकार का ममत्व ही नही तो फिर वस्त्रों की अधिक आवश्यकता का प्रश्न ही कहा रहा? अत· अपवाद-मार्ग में प्रवृत्त होते हुए भी उत्सर्ग मार्ग के लक्ष्य को कभी भूलना नहीं चाहिए।

अब फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

आयवस्स निवाएणं, अउला हवइ वेयणा ।
एवं नच्चा न सेवंति, तंतुजं तणतज्जिया ॥ ३५ ॥

आतपस्य निपातेन, अतुला भवति वेदना ।
एवं ज्ञात्वा न सेवन्ते, तंतुजं तृणतर्जिताः ॥ ३५ ॥

पदार्थान्वयः—आयवस्स—आतप के, **निवाएणं**—निपात से, **अउला**—बहुत, **वेयणा**—वेदना, **हवइ**—होती है, **एवं**—इस प्रकार, **नच्चा**—जानकर, **न सेवंति**—सेवन नही करते, **तंतुजं**—वस्त्र को, **तणतज्जिया**—तृणो से पीड़ित हुए।

मूलार्थ—आतप अर्थात् गर्मी के पड़ने से बड़ी भारी वेदना उत्पन्न हो जाती है, ऐसा जानकर तृणों से पीड़ित होने पर भी मुनि वस्त्र आदि का सेवन नहीं करते।

टीका—अत्यन्त गर्मी के कारण बड़ी भारी वेदना उत्पन्न हो जाती है यह जानकर भी सयमशील मुनि वस्त्रो का ग्रहण नहीं करते, किन्तु तृणों से पीडित होते है, क्योकि वे जानते है कि इस प्रकार की वेदना को सहन करने से ही कर्मो का क्षय होगा, इसीलिए वे वस्त्रो का ग्रहण नही करते और परीषहो को ही हर्ष-पूर्वक सहन करने के लिए उद्यत रहते है। विचारशील साधु इस बात को खूब जानते है कि इस प्रकार के संयोगज कष्ट नरको की उन भयंकर यातनाओं के आगे कुछ भी मूल्य नहीं रखते जो वेदनाए इस आत्मा ने कई बार अनुभव की है। इस सहनशीलता मे ही कर्मों की निर्जरा निहित है, जिससे भविष्य में इस आत्मा के लिए विकास की पूरी सम्भावना रहती है। इस प्रकार के विचारो से तृण-स्पर्श-जन्य परीषह को शान्तिपूर्वक सहन करने मे ही वे महात्मा पुरुष अपना अधिक लाभ समझते है और इसीलिए वे किसी प्रकार के कष्ट के उपस्थित होने पर भी अपने निश्चय पर अटल रहते है एव शूरवीरो की भान्ति उन कष्टो को सहन करते है।

यहां पर इतना और स्मरण रखना चाहिए कि गाथा मे आए हुए 'आतप' शब्द का देहलीदीप-न्याय से ग्रीष्म और शरद् इन दोनों ऋतुओं के आतपो का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिप्रेत

है, क्योंकि जिनके पास वस्त्र नहीं उनके लिए दोनों ही ऋतुएं कष्टदायक हैं। इसी हेतु से वृत्तिकार लिखते हैं कि—

'जिनकल्पापेक्षं चैतत् स्थविरास्तु सापेक्षसंयमत्वाद् वस्त्रादि सेवन्तेऽपि'—

यह सूत्र जिनकल्पी साधु की अपेक्षा से कहा गया है और स्थविरकल्पी साधु तो प्रमाणपूर्वक अपेक्षित वस्त्रो का सेवन करते ही हैं, अतः शास्त्राज्ञा के अनुसार दोनों ही कल्पों में उक्त परीषह को सहन करने का विधान है।

इस सारे कथन का सारांश केवल इतना ही है कि उक्त परीषह को समतापूर्वक सहन करना चाहिए और उक्त परीषह से घबराकर अपने ग्रहण किए हुए साधु-व्रत में किसी प्रकार की भी त्रुटि नही आने देनी चाहिए।

(१८) जल्ल-परीषह

तृणों के स्पर्श से और गर्मी के पड़ने से शरीर का मलिन हो जाना एक स्वाभाविक बात है, इसलिए तृण-स्पर्श-परीषह के बाद अब जल्ल अर्थात् प्रस्वेद नाम के अठारहवें परीषह का वर्णन किया जाता है—

किलिन्नगाए मेहावी, पंकेण व रएण वा ।
घिंसु वा परितावेणं, सायं नो परिदेवए ॥ ३६ ॥

क्लिन्नगात्रो मेधावी, पंकेन वा रजसा वा ।
ग्रीष्मे वा परितापेन, सातं नो परिदेवेत ॥ ३६ ॥

पदार्थान्वयः—**किलिन्नगाए**—प्रस्वेद से भीगे हुए गात्र अर्थात् शरीर का, **मेहावी**—बुद्धिमान्, **पंकेण**—कीचड़ से, **व**—अथवा, **रएण**—रज से, **वा**—परस्पर, **घिंसु**—ग्रीष्म के, **वा**—अथवा, **परितावेणं**—परिताप से, **सायं**—साता—सुख की, **नो परिदेवए**—इच्छा न करे।

मूलार्थ—पसीने के कारण शरीर गीला हो गया हो अथवा कीचड़ लिपे जैसा हो गया हो तथा रज से एवं ग्रीष्म तथा शरद् ऋतु के परिताप से शरीर पर मल जम गया हो तो भी बुद्धिमान् साधु सुख की इच्छा न करे।

टीका—ग्रीष्म और शरद् ऋतु मे होने वाले परिताप के कारण शरीर मे अधिक प्रस्वेद आ गया हो और उसी के कारण शरीर भीग गया हो तथा उस पर रज के पड़ने से वह कीचड़ लिपे जैसा बन गया हो तो भी बुद्धिमान साधु उस समय सुख की अभिलाषा न करे, अर्थात् यह शरीर पर कीचड़ जैसा बना हुआ मल कब दूर होगा, और कब मुझे सुख की प्राप्ति होगी, इस प्रकार की व्यक्त अथवा अव्यक्त भावना को अपनी अन्तरात्मा मे कभी स्थान न दे, क्योंकि जिसने शरीर का ममत्व ही त्याग दिया है उसके लिए फिर शरीर पर मल हो तो क्या? और प्रस्वेद हो तो क्या? इसमें तो साधु को किसी भी प्रकार का भय नहीं, उसने तो शरीर के श्रृंगार का प्रथम से ही त्याग कर रखा है। इसलिए

विचारशील साधु को चाहिए कि वह शरीर के ऊपर की मल-शुद्धि का अथवा मल के जमने पर होने वाले सहज कष्ट का मन में जरा भी विचार न करे और न उसके त्याग से किसी प्रकार के क्षणिक सुख-विशेष की इच्छा करे।

इससे यह बात भली भांति सिद्ध होती है कि जिन मुनियों ने संसार से अपना सम्बन्ध सर्वथा तोड़ लिया है और गृहस्थों के भी संसर्ग में जो नही आते तथा जिनको जन्म-मरण का भी भय नहीं रहा, वे मुनिजन भयंकर से भयंकर परीषह के उपस्थित होने पर भी अपने निश्चय से कभी विचलित नहीं होते। उनका मन सुमेरु की तरह सदा अटल रहता है, उनकी इस अखण्ड दृढ़ता के प्रताप से लौकिक सिद्धियां उनके सामने हाथ जोड़े उपस्थित रहती है। जिनका मन अभी चचल है और जो परीषहो के भय के कारण भयभीत हो जाते हैं तथा जिनमें आत्म-विश्वास की अपूर्णता है, वे ज्ञान और उसके फल से सदा ही वंचित रह जाते है। सारांश यह है कि गर्मी के अधिक परिताप से शरीर मे कितना भी ताप-जन्य कष्ट बढ़ जाए तो भी संयमशील साधु अपनी साधु-धारणा से चलायमान न हो।

शरीर के मल-युक्त हो जाने के पश्चात् साधु का जो कर्त्तव्य है, अब उसके विषय में कुछ उल्लेख किया जाता है—

वेएज्ज निज्जरापेही, आरियं धम्मऽणुत्तरं ।
जाव सरीरभेओत्ति, जल्लं काएण धारए ॥ ३७ ॥

वेदयेन्निर्जराप्रेक्षी आर्यं धर्ममनुत्तरम् ।
यावच्छरीरभेद इति, जल्लं कायेन धारयेत् ॥ ३७ ॥

पदार्थान्वयः—**वेएज्ज**—सहन करे, **निज्जरापेही**—निर्जरा को देखने वाला, **आरियं धम्मं**—आर्य-धर्म, **अणुत्तरं**—प्रधान है, **जाव**—जब तक, **सरीरभेओ**—शरीर का भेद होता हो, **त्ति**—इस प्रकार तब तक, **जल्लं**—प्रस्वेद को, **काएण**—शरीर पर, **धारए**—धारण करे।

मूलार्थ—कर्मों की निर्जरा को देखने वाला साधु मल-परीषह को शांतिपूर्वक सहन करे और जब तक चारित्र-धर्म है और जब तक शरीर का भेद नहीं हो जाता तब तक शरीर में प्रस्वेद को धारण करे।

टीका—प्रस्वेद आदि के कारण साधु के शरीर पर अगर मल जम गया हो तो निर्जरा की अपेक्षा रखने वाला साधु उसके कष्ट को सुख-पूर्वक सहन करे, क्योंकि इस प्रकार के कष्टो को भली प्रकार सहन करने से ही कर्मों का शीघ्र क्षय होता है, अतः जिसने श्रुत और चारित्र रूप श्रेष्ठतम आर्य धर्म का अनुसरण किया है ऐसा साधु जब तक शरीर का भेद—स्थिति है, तब तक उस प्रस्वेदजन्य मल को वह शातिपूर्वक धारण किये रहे।

इस कथन का अभिप्राय यह है कि जिन मुनिजनों का शरीर शीतोष्ण और आतपादि से खिन्न हो

रहा है, भूख और प्यास से व्याकुल हैं तथा रज और मल से अवगुंठित हैं, वे महात्मा जन सम्यक्-ज्ञान के न होने से अकाम निर्जरा तो करते हैं, परन्तु मोक्ष के लिए उनको किसी गुण-विशेष की प्राप्ति नहीं होती तथा जो समदर्शी साधु उक्त प्रकार के परीषहों को ज्ञान-पूर्वक सहन करते हुए अपने शरीर की वैसी दशा बना लेते हैं, वे महाकर्मों की निर्जरा करके निःसन्देह सम्यक् ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं जो कि साक्षात् या परम्परया मोक्ष का साधन है। इसलिए ऐसे समय पर साधु शरीर सम्बन्धी मल को धोने की अभिलाषा न करे और न ही मल आदि को दूर करने का प्रयत्न करे। यह शरीर तो हजार बार धोने पर भी शुद्ध नहीं हो सकता। इसके नव द्वार तो सदा चलते ही रहते है, किन्तु इस पर से ममत्व को हटाकर केवल आत्म-चिन्तन में ही मग्न रहने का प्रयत्न करे, इसी मे उसका सर्वतोमुखी कल्याण निहित है।

यहां पर यह भी अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि यह सब कुछ उत्सर्ग-मार्ग में विधान किया गया है। अपवाद-मार्ग में तो स्थविरादि के लिए जैसा शास्त्रकारों ने आदेश दिया है उसके अनुसार आचरण करे, उसके विरुद्ध आचरण करने का कभी साहस न करे। जैसे कि निशीथ सूत्र में कहा गया है कि—

नीरोगी—रोग-रहित साधु यदि औषध का सेवन करे तो उसको प्रायश्चित करना पड़ता है। इससे सिद्ध हुआ कि रोग-युक्त साधु आवश्यकता पड़ने पर औषधि ले सकता है, इसमें उसको कोई दोष नहीं लगता। इसी प्रकार सब जगह पर जान लेना चाहिए।

(१६) सत्कार-परीषह

मल-युक्त साधु यदि किसी अन्य शुद्धिधर्म वाले साधु का सत्कार होते देखकर मन में यह इच्छा करे कि इसी प्रकार से मेरा सत्कार भी होना चाहिए, ऐसी दशा में मुनि को सत्कार-पुरस्कार परीषह उत्पन्न हो जाता है, इसलिए अब उन्नीसवें सत्कार-परीषह का वर्णन करते हैं—

अभिवायणमब्भुट्ठाणं, सामी कुज्जा निमंतणं ।
जे ताइं पडिसेवन्ति, न तेसिं पीहए मुणी ॥ ३८ ॥

अभिवादनमभ्युत्थानं, स्वामी कुर्यान्निमन्त्रणम् ।
ये तानि प्रतिसेवन्ते, न तेभ्यः स्पृहयेन्मुनिः ॥ ३८ ॥

पदार्थान्वयः—**अभिवायणं**—अभिवादन, **अब्भुट्ठाणं**—सम्मुख उठना, **सामी**—राजा आदि, **निमंतणं**—निमन्त्रण, **कुज्जा**—करे, **जे**—जो, **ताइं**—उनको, **पडिसेवंति**—सेवन करते है, **तेसिं**—उनकी इस महिमा को, **मुणी**—साधु, **न पीहए**—प्राप्त करने की इच्छा न करे।

मूलार्थ—किसी अन्य मतानुयायी साधु का राजा आदि प्रतिष्ठित व्यक्तियों के द्वारा अभिवादन, नमस्कार, अभ्युत्थान होने पर—सामने उठकर खड़े होने पर, निमन्त्रण—भोजन आदि के लिए घर में बुलाने पर और अन्य सेवा-सुश्रूषा आदि रूप प्रतिष्ठा को देखकर संयम-शील साधु उसकी कभी स्पर्धा न करे, अर्थात् इस प्रकार के सत्कार को पाने की कभी इच्छा न करे।

टीका—इस गाथा में साधु के लिए सभी प्रकार के पूजा-सत्कार की अभिलाषा न करने का आदेश दिया गया है। संसार में साधु कहलाने वाले ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जिनका राजा-महाराजा आदि अनेक प्रतिष्ठित व्यक्ति उनकी योग्यता से बढ़कर सत्कार करते हैं, उनको अपने घरों में बुलाते हैं, आने पर उनका अभ्युत्थान द्वारा स्वागत करते हैं तथा द्रव्यादि से भी उनकी सेवा-सुश्रूषा करने में किसी प्रकार की कमी नहीं रखते। उन व्यक्तियों की ऐसी प्रतिष्ठा को देखकर वीतरागदेव के मार्ग के अनुयायी साधु को उस स्वागत-सत्कार की ओर कभी ललचाना न चाहिए, अर्थात् संसार में मेरा भी इसी प्रकार का सत्कार होना चाहिए, मुझे भी इसी प्रकार लोग माने, इत्यादि विचारों को संयमशील साधु कभी भी अपने अन्तःकरण मे स्थान न दे।

मुनि का धर्म तो सर्व प्रकार की लौकिक वासनाओं से सर्वथा मुक्त होना है और जो इस प्रकार के सत्कार की इच्छा के जाल में फंसा हुआ है, वह वास्तव में मुनि ही नहीं है। मुनि लोग तो एकान्त सेवी और आत्मापेक्षी होते हैं। उनको जो वन्दन-नमस्कार करता है, वह तो अपने कर्मों की निर्जरा अवश्य करता है, परन्तु सच्चे मुनिजन बड़े लोगो द्वारा होने वाले सत्कार की कभी इच्छा नहीं रखते।

यहां इतना और भी स्मरण रहे कि जो व्यक्ति संसार मे स्व-वृत्ति के प्रतिकूल होकर पूजा जाता है, उसका किसी समय अपमान भी अवश्यंभावी होता है, इसलिए वीतरागदेव के धर्म मे दीक्षित होने वाले मुनि का यह धर्म है कि वह किसी के द्वारा पूजा-सत्कार की कभी इच्छा न करे, क्योकि इससे उसकी आत्मा का अधःपतन ही होता है, उन्नति कदापि नही होती।

अब पुनः इसी विषय की चर्चा करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

अणुक्कसाई अप्पिच्छे, अन्नाएसी अलोलुए ।
रसेसु नाणुगिज्झेज्जा, नाणुतप्पेज्ज पन्नवं ॥ ३९ ॥

अणुकषायी अल्पेच्छः, अज्ञातैषी अलोलुपः ।
रसेषु नानुगृध्येत्, नानुतप्येत प्रज्ञावान् ॥ ३९ ॥

पदार्थान्वयः—अणुक्कसाई—अल्प कषायो वाला, **अप्पिच्छे**—अल्प इच्छा वाला, **अन्नाएसी**—अज्ञात कुलों मे से भिक्षा ग्रहण करने वाला, **अलोलुए**—लोलुपता से रहित, **रसेसु**—रसों मे, **नाणुगिज्झेज्जा**—आसक्ति न करे, **पन्नवं**—प्रज्ञावान् साधक, **नाणुतप्पेज्ज**—अनुताप न करे।

मूलार्थ—अल्प कषायों वाला, अल्प इच्छा वाला, लोलुपता से रहित और अज्ञात कुलों में भिक्षा ग्रहण करने वाला बुद्धिमान् साधु न तो कभी रसों में मूर्च्छित हो—आसक्त हो और न ही उनको पाने की कभी आशा करे।

टीका—वीतरागदेव के धर्म पर चलने वाले साधु का धर्म है कि सबसे पहले वह स्वल्पकषायी हो, अर्थात् उसमें क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषाय बहुत ही न्यून परिमाण में हों तथा उसकी इच्छाए बहुत ही स्वल्प हों। उसको अपने धर्मोपकरणो मे भी किसी प्रकार का ममत्व नहीं

रखना चाहिए और उसकी भिक्षावृत्ति भी अपनी जाति और परिचित लोगों को छोड़कर अन्य समुदायों में होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त वह रस-गृद्धि अर्थात् रसासक्ति का भी सर्वथा त्यागी हो। भोजन-सम्बन्धी सुन्दर और रसयुक्त पदार्थों का वह अभिलाषी न हो। इतने ऊंचे त्याग वाले बुद्धिमान् साधु को किसी व्यक्ति के विशेष प्रकार के मान-सत्कार को देखकर उस सत्कार की तनिक भी मन में अभिलाषा नहीं लानी चाहिए।

यह बात यद्यपि सत्य है कि बड़े-बड़े त्यागी और संयमी पुरुषो को भी कभी-कभी मान-सत्कार की भूख सताने लग जाती है, वे सम्मान-सत्कार के समक्ष सभी पदार्थो को तुच्छ समझने लगते हैं। यद्यपि उनका उन्होंने त्याग कर रखा होता है, फिर भी मान-बड़ाई का मन से त्याग करना उनके लिए कठिन हो जाता है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि त्याग-प्रधान धर्म के अनुयायी भिक्षु को अन्य कषायों के त्याग की भांति मान-कषाय का भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। इससे बढ़कर मुनि-जीवन मे और कोई दुर्बलता नहीं कि किसी के सम्मान-सत्कार को देखकर उसकी ओर ललचाना और मन मे यह निर्बल विचार पैदा करना कि यदि मै इस सत्कार-प्राप्त साधु के धर्म में दीक्षित हुआ होता तो मुझे भी आज इन लोगों से इसी प्रकार का आदर-मान प्राप्त होता।

यहां पर गाथा में साधु के लिए प्रज्ञावान् और अल्प-कषायी ये दो विशेषण दिए गए हैं, जिनका अर्थ बुद्धिमान्, विवेकशील और न्यून कषायों वाला है। इसका तात्पर्य भी वही है जिसका कि ऊपर वर्णन किया गया है, अर्थात् जो विवेकशील और स्वल्प-कषाय वाला होगा, वह कभी भी किसी के द्वारा सत्कार-पुरस्कार की इच्छा नही करेगा तथा दूसरों के सत्कार को देखकर भी उसका विवेकशील मन उनकी ओर कभी नही ललचाएगा। इसलिए संसार के झूठे मान-सत्कार से अपने आपको अलग रखना ही सच्ची साधुता है, यही वीतरागदेव के धर्म-मार्ग पर चलने वाले मुनि का सच्चा आदर्श है।

यहां पर इतना और समझ लेना चाहिए कि ऊपर जो कुछ भी मान-सत्कार के विषय में कहा गया है, वह सब कुछ अन्वयरूप से कहा गया है और इसका व्यतिरेक रूप से अभिप्राय यह है कि मुनि का यदि कोई राजा-महाराजा आदि प्रतिष्ठित व्यक्ति भी आदर-सत्कार करे तो साधु को अपने मन में किसी प्रकार का अहंकार या आनन्द नही मनाना चाहिए, न मिलने पर उसकी आशा भी नहीं करनी चाहिए।

(२०) प्रज्ञा-परीषह

बुद्धिमान् पुरुष का सत्कार तो प्रायः होता ही है, परन्तु प्रज्ञा-विकल साधु भी किसी प्रकार की चिन्ता न करे, इसके लिए अब बीसवें प्रज्ञा-परीषह का वर्णन किया जाता है—

से नूणं मए पुव्वं, कम्माऽणाणफला कडा ।
जेणाहं नाभिजाणामि, पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥ ४० ॥

स नूनं मया पूर्वं, कर्माण्यज्ञानफलानि कृतानि ।
येनाहं नाभिजानामि, पृष्टः केनचित् क्वचित् ॥ ४० ॥

पदार्थान्वयः—**से**—अब, **नूणं**—निश्चय ही, **मए**—मैंने, **पुव्वं**—पहले, **कम्म**—कर्म, **अणाणफला**—अज्ञान फल वाले, **कडा**—किए है, **जेण**—जिन के कारण, **अहं**—मैं, **नाभिजाणामि**—नहीं जानता हूं, **पुट्ठो**—पूछा हुआ, **केणइ**—किसी के द्वारा, **कण्हुई**—किसी भी स्थान पर।

मूलार्थ—किसी के द्वारा किसी स्थान पर पूछे जाने पर प्रज्ञा-विकल साधु 'मैंने पूर्व जन्म में अज्ञान-फल वाले कर्म किए है, इसलिए मैं आपके प्रश्न का उत्तर देना नहीं जानता', अथवा प्रज्ञावान् साधु 'मैंने पूर्व-जन्म में ज्ञानफल वाले कर्म किए हैं, जिससे कि मैं आपके प्रश्न का उत्तर देना जानता हूं', ऐसा न कहे।

टीका—प्रज्ञा-परीषह दो प्रकार का प्रतिपादन किया गया है—एक अहंकार युक्त और दूसरा निन्दायुक्त। प्रज्ञा की अधिकता और अधिक अर्थ-ज्ञान से अहंकार का उत्पन्न हो जाना एक स्वाभाविक सी बात है और प्रज्ञा के अभाव में बुद्धिमान् पुरुषों के समान अपने आपको सभ्य समुदाय मे सत्कृत होने की अपेक्षा सत्कार रहित देखकर मन में चिन्ता और खेद का उत्पन्न होना भी कोई नई बात नही है। तात्पर्य यह है कि प्रज्ञावान् के लिए अहंकार और प्रज्ञाविकल के लिए चिन्ता ये दोनों ही बाते प्राय दुर्निवार-सी है। इसलिए अहंकार और निन्दा इन दोनो पर ही मुनि को विजय प्राप्त करनी चाहिए। प्रज्ञाविकल अथवा हीन-प्रज्ञ मुनि को अपनी अज्ञता पर पश्चात्ताप करने की अपेक्षा विचार द्वारा अपने आत्मा को सन्तोष देना ही अधिक श्रेयस्कर है। यथा—मैंने पूर्व जन्म मे ज्ञान प्राप्ति के प्रतिबन्धक शास्त्र-निन्दा आदि कोई ऐसे अशुभ कर्म किए हैं, जिनके फलस्वरूप मै इन व्यक्तियों के प्रश्नो का उत्तर देने का ज्ञान अपने मे नहीं रखता तथा जीव-अजीव आदि पदार्थो के यथार्थ ज्ञान से भी मै वंचित हू।

अतएव यदि कोई पुरुष मुझसे किसी स्थान पर कुछ पूछ बैठता है तो मै उस समय निरुत्तर सा हो जाता हू, परन्तु मै विवश हू, अत. अब खेद करना व्यर्थ है। यह सब कुछ मेरे ज्ञान-प्रतिबन्धक पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों के उदय का ही फल है। जैसे दिवस होने पर भी बादलो से आच्छादित हुए सूर्य का बिम्ब दिखाई नही पड़ता, इसी प्रकार मेरा ज्ञान रूपी सूर्य भी उदय में आने वाले मेरे पूर्व कृत अशुभ कर्म रूप बादलो से आच्छादित हो रहा है, इसलिए अब अपने अज्ञान की चिन्ता करना व्यर्थ है। इसकी अपेक्षा तो शान्त भाव से आत्म-चिन्तन ही मेरे लिए परम कल्याणप्रद है।

इसी प्रकार प्रज्ञावान् मुनि को भी विचार-विमर्श द्वारा अहकार के उदय को शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। यथा—मैने पूर्व जन्म मे ज्ञानप्रद शास्त्र-प्रशसा आदि किन्ही शुभ कर्मो का उपार्जन किया है, जिससे कि मै पूछने पर सब प्रकार के प्रश्नो का भली-भांति उत्तर देने की सामर्थ्य रखता हू और जीव-अजीव आदि पदार्थों का भी मुझे अच्छी तरह से बोध है, परन्तु यह सब कुछ मेरे पूर्वोपार्जित ज्ञानप्रद शुभ कर्मों का ही परिणाम है, इसमे मेरी कोई विशिष्टता नही है, अतः अपने इस प्रज्ञा-प्राबल्य का अहकार करना व्यर्थ है। जिन पुरुषों ने मेरे से भी अधिक ज्ञानप्रद पुण्य कर्मों का पूर्व जन्मों मे उपार्जन किया है, वे मेरे से भी अधिक प्रज्ञा और बुद्धि-बल रखते है, फिर अहंकार कैसा?

परन्तु ऊपर के इस वर्णन मे इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि इस वर्णन मे केवल

व्यवहार-नय का अवलम्बन किया गया है। वास्तव में तो ज्ञान की प्राप्ति कर्मों के क्षय अथवा क्षयोपशम से ही मानी गई है। जो धर्म-ज्ञान को आवृत करने वाले अर्थात् ढक देने वाले हैं, उन कर्मों के अनुष्ठान से अज्ञान की वृद्धि और उनके क्षय अथवा क्षयोपशम से ज्ञान का प्रकाश होता है। जैसे सूर्य का प्रकाश बादलों के आवरण से ढक जाता है और उनके हट जाने से पुनः प्रकाशित हो जाता है, यही दशा अज्ञान और ज्ञान की है, परन्तु यह कथन भी औपचारिकनय से ही सगत हो सकता है। वास्तव में कर्मों का फल ज्ञान नहीं है। कर्मो का फल-सादि सान्त होता है और ज्ञान सादि सान्त नहीं है, क्योंकि आत्मा ज्ञान रूप ही है, इसलिए ज्ञान अनादि-अनन्त है।

यहा पर 'से' शब्द का अर्थ 'अथ' है और वह 'उपन्यास' के अर्थ में आया हुआ है तथा दूसरे अर्थ मे '**नाभिजानामि**' शब्द में ना+अभिजानामि—ऐसी संधि करके 'नृ' शब्द से बने हुए मनुष्यवाची '**ना**' सुबन्त का भी ग्रहण किया जा सकता है, तब इसका अर्थ यह होगा कि मैं—ना—पुरुष के विषय मे जानता हू। दूसरा अर्थ है '**नाभिजानामि**', 'न' अव्यय का ग्रहण करके '**नाभिजानामि**' का 'मैं नहीं जानता, इन दोनो ही अर्थो को ग्रहण करना इस गाथा की शास्त्र-सम्मत व्याख्या है।

अब फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

अह पच्छा उइज्जंति, कम्माऽणाणफला कडा ।
एवमस्सासि अप्पाणं, नच्चा कम्मविवागयं ॥ ४१ ॥

अथ पश्चादुदेष्यन्ति, कर्माण्यज्ञानफलानि कृतानि ।
एवमाश्वासयात्मानं, ज्ञात्वा कर्मविपाककम् ॥ ४१ ॥

पदार्थान्वयः—**अह**—अथ, **पच्छा**—पश्चात्, **उइज्जंति**—उदय होंगे, **कम्मा**—कर्म, **अणाणफला**—अज्ञानफल रूप, **कडा**—किए हुए, **एवं**—इस प्रकार, **अस्सासि**—आश्वासन दे, **अप्पाणं**—अपने आप को, **नच्चा**—जान करके, **कम्मविवागयं**—कर्मों के विपाक को।

मूलार्थ—ज्ञान अथवा अज्ञान रूप फल को देने वाले मेरे किए हुए वे कर्म उदय में आएंगे ही, इस प्रकार कर्मों के विपाक को जान करके अपनी आत्मा को आश्वासन दे।

टीका—प्रज्ञा-विकल साधु को अपनी अज्ञानता के विषय मे इस प्रकार का विचार करना चाहिए कि—ज्ञान-प्रतिबन्धक जिन अशुभ कर्मो का मैने सचय किया है वे उत्तरकाल में अज्ञानफल अवश्य देंगे। मैंने पूर्व जन्म मे ऐसे ही अशुभ कर्म किए थे जिनसे कि मुझे इस जन्म में ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए अब मुझे किसी प्रकार का शोक नही करना चाहिए, किन्तु उन अशुभ कर्मो को दूर करने का ही अब यत्न करना चाहिए, जिससे कि भविष्य मे मुझे ज्ञान की प्राप्ति हो सके।

इसी तरह प्रतिभाशाली मुनि को भी अपने ज्ञानातिरेक का गर्व न करते हुए इस प्रकार का विचार करना चाहिए कि जो कर्म किए जाते है उनका फल अवश्यमेव भोगना होता है। मैने पूर्व जन्म मे ज्ञान की वृद्धि करने वाले शुभ कर्मो का अनुष्ठान किया है जिनका कि ज्ञान-प्राप्ति रूप फल मुझे मिला है, इसमें अहंकार करने की कोई आवश्यकता नही है, यह तो पूर्व जन्म के कर्मों का ही फल है इत्यादि।

इस समस्त कथन का सारांश यह है कि मुनि यदि अल्प-प्रज्ञ हो तो उसे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए और यदि वह प्रज्ञावान हो तो उसे भी किसी प्रकार का गर्व नहीं करना चाहिए, किन्तु अज्ञान और ज्ञान की इन दोनों ही दशाओं को अपने पूर्व-कृत कर्मों का विपाक समझकर शान्ति पूर्वक अपने आत्म-चिन्तन में ही निमग्न रहने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा चिन्तन करने पर ही प्रज्ञा-परीषह पर विजय प्राप्त हो सकती है।

यहां पर '**अथ**' शब्द आनन्तर्य अथवा प्रश्न के अर्थ मे आया है, एवं '**उइज्जंति**' में तिङ् व्यत्यय होने से उसका 'उदेष्यन्ति' यही अर्थ शस्त्र-सम्मत है।

(२१) अज्ञान-परीषह

प्रज्ञा—ज्ञान का विपक्षी अज्ञान है, इसलिए प्रज्ञा-परीषह के बाद अब इक्कीसवें अज्ञान-परीषह का वर्णन किया जाता है—

निरट्ठगम्मि विरओ, मेहुणाओ सुसंवुडो ।
जो सक्खं नाभिजाणामि, धम्मं कल्लाणपावगं ॥ ४२ ॥

निरर्थकमस्मि विरतः, मैथुनात्सुसंवृतः ।
यः साक्षान्नाभिजानामि, धर्मं कल्याणपापकम् ॥ ४२ ॥

पदार्थान्वयः—निरट्ठगम्मि—मै निरर्थक ही, **विरओ**—विरत हुआ हूं, **मेहुणाओ**—मैथुन से, तथा, **सुसंवुडो**—इन्द्रियो और मन के दमन से, **जो**—जो, **सक्खं**—प्रत्यक्ष, **नाभिजाणामि**—मै नहीं जान पाया हू, **धम्मं कल्लाणपावगं**—धर्म-कल्याण और पाप को।

मूलार्थ—मैने व्यर्थ ही मैथुनादि से निवृत्ति और इन्द्रियों के दमन का प्रयत्न किया है, जबकि मै अभी तक प्रत्यक्ष रूप से धर्म-कल्याण अथवा पाप को नही जान पाया हूं।

टीका—इस गाथा मे इस बात की शिक्षा दी गई है कि अल्पज्ञ कोई भी साधु अज्ञान-परीषह के वशीभूत होकर इस प्रकार का चिन्तन न करे कि—मैने तो इस त्यागवृत्ति का निरर्थक ही ढोंग रच रखा है और व्यर्थ ही मैथुनादि विषयो से मै उपरत हुआ हू तथा मेरे द्वारा इन्द्रियों और मन का दमन करना भी व्यर्थ ही है, क्योंकि मुझे आज तक इस बात का प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान नही हुआ कि धर्म क्या वस्तु है, कल्याण किसे कहते है, और पाप क्या पदार्थ है, इत्यादि। यदि धर्म के साक्षात्कार में और पुण्य तथा पाप की सच्ची परीक्षा हो जाने मे इस निवृत्ति-मार्ग का अनुसरण ही कारण है तो इतने त्याग और सयम के पश्चात् तथा इतनी तपश्चर्या के पश्चात् भी मुझे इन धर्मादि पदार्थों का अवश्य साक्षात्कार हो जाना चाहिए था, परन्तु वह आज तक नहीं हुआ। इससे सिद्ध होता है कि अज्ञानता की निवृत्ति के लिए यह त्याग कुछ मूल्य नहीं रखता और इन्द्रिय-दमन तथा ब्रह्मचर्य का पालन भी अज्ञान-निवृत्ति और ज्ञान-प्राप्ति मे किसी प्रकार की साक्षात् सहायता नहीं करते।

अल्प-प्रज्ञ साधु का इस प्रकार का विचार, उसके अज्ञान-परीषह के वशीभूत होने का फल है,

इसलिए अपनी अज्ञानता को अपने पूर्व कर्मों का विपाक समझकर साधु को इस प्रकार की हीन भावनाओं का चिन्तन कभी नहीं करना चाहिए।

अब फिर इसी विषय का स्पष्टीकरण करते हैं—

तवोवहाणमादाय, पडिमं पडिवज्जओ ।
एवंपि विहरओ मे, छउमं न नियट्टई ॥ ४३ ॥

तप उपधानमादाय, प्रतिमां प्रतिपद्यमानस्य ।
एवमपि विहरतो मे, छद्म न निवर्तते ॥ ४३ ॥

पदार्थान्वयः—तव—तप, **उवहाणं**—उपधान तप, **आदाय**—ग्रहण करके, **पडिमं**—साधु की प्रतिमा को, **पडिवज्जओ**—ग्रहण करके, **एवंपि**—इस प्रकार से भी, **विहरओ**—विचरने से, **मे**—मेरा, **छउमं**—छद्मस्थभाव, **न नियट्टई**—निवृत्त नहीं हुआ।

मूलार्थ—तपः कर्म और उपधान तप के अनुष्ठान से तथा भिक्षु की प्रतिमा को धारण करने से भी मेरा छद्मस्थ भाव अर्थात् अज्ञानता दूर नहीं हुई।

टीका—इस गाथा का भी पहली गाथा के साथ ही सम्बन्ध है। अज्ञान-परीषह के वशीभूत होकर साधु इस प्रकार का कभी चिन्तन न करे कि—मैंने भद्र-प्रतिमा, महाभद्र-प्रतिमा तथा द्वादशभेदी तप का भी अनुष्ठान किया और सूत्रोक्त-विधि के अनुसार आचम्लादि तप की भी सम्यग् आराधना की, साथ में साधु की द्वादशविध प्रतिमाओं को भी यथाविधि धारण किया और आज तक देश-विदेश में अप्रतिबद्ध विहार का भी आचरण किया, परन्तु इतने पर भी मेरी अज्ञानता दूर नही हुई। इससे विदित होता है कि इस प्रकार की सारी की सारी क्रियाएं ज्ञान-प्राप्ति में किसी भी प्रकार से उपयोगी नहीं हैं, अर्थात् इनसे ज्ञान की प्राप्ति अथवा और किसी प्रकार की लौकिक सिद्धि की आशा करना सर्वथा व्यर्थ है। यदि इस प्रकार की विकट तपश्चर्या से मेरा कोई भी अतिशय बढ़ जाता अथवा मुझे किसी भी न्यूनाधिक सिद्धि की प्राप्ति हो जाती, तब तो मुझे इस पर कुछ-न-कुछ विश्वास करने का अवसर अवश्य प्राप्त हो जाता, परन्तु मै तो इतने समय की घोर तपश्चर्या के बाद भी वैसे का वैसा ही रहा। इससे प्रतीत होता है कि यह सब कुछ कथनमात्र है, इसमें सत्यता का कोई अंश नहीं है। इत्यादि।

वास्तव मे साधु की यह धारणा, उसका यह विचार केवल अज्ञान-परीषह के वशीभूत होने का ही एक फल विशेष है, क्योंकि किसी प्रकार की लौकिक या अलौकिक सिद्धि अथवा विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति का होना कर्मो के क्षय अथवा क्षयोपशम पर निर्भर है। जब तक आवरणरूप कर्मो का क्षय अथवा क्षयोपशम नहीं होता, तब तक विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति अथवा किसी सिद्धि विशेष की प्राप्ति का होना असम्भव ही है, इसलिए साधु को अपने पूर्व-जन्मार्जित कर्मों के विपाक का विचार करते हुए अपनी अज्ञानता और साधु-वृत्ति के अनुसार किए जाने वाले तपोऽनुष्ठान के विषय में किसी प्रकार का खेद प्रकट नहीं करना चाहिए, अपितु अपने चित्त को शान्त और स्वस्थ रखकर अपनी साधु-चर्या

में दृढ़ रहते हुए इस अज्ञान-परीषह को पराजित करने का ही विशेष प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार के आचरण का किसी समय भावी परिणाम यह होगा कि उसकी अज्ञानता नष्ट हो जाएगी और ज्ञान-ज्योति का उसके हृदय में प्रकाश होगा तथा उसकी उक्त दुराशाएं आशा की ज्योति के रूप में परिणत होकर उसके वास्तविक सुख की प्राप्ति में उसकी सहायक बनेंगी, परन्तु यह सब कुछ उसकी सहनशीलता और दृढ़ निश्चय पर ही निर्भर है।

(२२) दर्शन-परीषह

अब बाईसवें दर्शन नाम के परीषह का वर्णन किया जाता है—

नत्थि नूणं परे लोए, इड्ढी वावि तवस्सिणो ।
अदुवा वंचिओ मि त्ति, इइ भिक्खू न चिंतए ॥ ४४ ॥

नास्ति नूनं परो लोकः, ऋद्धिर्वापि तपस्विनः ।
अथवा वञ्चितोऽस्मि, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥ ४४ ॥

पदार्थान्वयः—**नूणं**—निश्चय ही, **परे लोए**—परलोक, **नत्थि**—नहीं है, **वि**—पादपूर्ति में, **वा**—अथवा, **इड्ढी**—ऋद्धि की प्राप्ति, **तवस्सिणो**—तपस्वी को (नही है), **अदुवा**—अथवा, **वंचिओ मि**—मैं छला गया हू, **त्ति**—समुच्चयार्थ में, **इइ**—इस प्रकार का, **भिक्खू**—साधु, **न चिंतए**—चिन्तन न करे।

मूलार्थ—निश्चय ही परलोक नही है और न ही तपस्वी को किसी प्रकार की ऋद्धि की प्राप्ति हो सकती है, मैं तो छला गया हूं, इस प्रकार का चिन्तन साधु कभी न करे।

टीका—इस गाथा मे दर्शन नामक परीषह का वर्णन किया गया है, तत्त्वार्थ-श्रद्धान अथवा आस्तिक्य-बुद्धि का नाम दर्शन है, इससे विपरीत विचार रखने वाले व्यक्ति को दर्शन-परीषह की उपस्थिति होती है।

वास्तव में पर-लोक कोई वस्तु नही है और न ही उसकी कोई वास्तविक सत्ता है, पर-लोक की कल्पना एक युक्तिशून्य कल्पना है, इसलिए उसको स्वीकार करना केवल भ्रम और प्रमादमात्र है। जो लोग यह कहते है कि तपस्वियो को जंघाचारणादि लब्धिया प्राप्त हो जाती है यह भी उनका मिथ्या प्रलाप है एवं तपस्वी मुनियो मे जो रोगनाशक शक्तियों के उत्पन्न होने का विश्वास दिलाया जाता है, वह भी एक प्रकार का दम्भमात्र ही है। तात्पर्य यह कि ये सब कथन स्वप्नों मे देखे प्रपंच की तरह मिथ्या है, इनमे सत्यता कुछ नही। परलोक तो दृष्टिगोचर है ही नहीं, इसके अतिरिक्त मैंने अनेक तपस्वियो को देखा है, मैं उनकी घोरतर तपश्चर्याओं से परिचय प्राप्त कर चुका हूं, परन्तु उनके पास न तो कोई लब्धि ही देखी है और न ही उनके पास कोई रोगनाशक चमत्कार ही देखने में आया है। इससे सिद्ध हुआ कि यह सब कुछ कथनमात्र ही है। मैं तो सचमुच ही छला गया हूं और व्यर्थ ही इस त्यागवृत्ति वाले मुनिवेश को धारण करके केश-लुंचन आदि के द्वारा इस शरीर को घोर कष्ट पहुंचाने का प्रयास किया है। इस प्रकार के विचारों को संयमशील और प्रज्ञावान् मुनि कभी भी अपने हृदय मे आने देने का विगर्हित प्रयत्न न करे, क्योकि इस प्रकार के विचार आत्मा को उन्नति-मार्ग से गिराकर

अवनति के गढ़े में गिराने वाले हैं और आस्तिकता के देदीप्यमान सिंहासन पर से उतारकर नास्तिकता की गहरी खाई में फैंकने वाले हैं। वस्तुतः उक्त प्रकार के विचार मनुष्य को आध्यात्मिकता से पराङ्मुख करके केवल उस भौतिकता की तरफ धकेलने वाले हैं, जिसमें कि निविड़ अन्धकार के सिवाय प्रकाश का नामोनिशान भी नहीं है, इसलिए दर्शन-परीषह पर विजय प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला साधक इस प्रकार के विचारो को अपने पास कभी भी न आने दे। इसी में उसके सम्यक्त्व की उज्ज्वलता और रमणीयता है और सम्यक्त्व ही मुनिजीवन का सबसे अनूठा भूषण है।

अब यहां पर परलोक आदि की सिद्धि के विषय मे कुछ थोड़ा सा लिखा जाता है, जोकि आस्तिकवाद का प्रमाण है। परलोक, जन्मान्तरवाद, पुनर्जन्म और पुण्य-पाप की सिद्धि आत्मा के अस्तित्व पर ही अवलम्बित है। यदि शरीर के अतिरिक्त आत्मा का स्वतन्त्ररूप से अस्तित्व प्रमाणित हो जाए तो परलोक और पुण्य-पाप की सिद्धि स्वतः ही हो जाती है, इसलिए सर्व प्रथम आत्मा के अस्तित्व पर विचार करना चाहिए।

संसार मे मुख्य रूप से केवल दो ही तरह के पदार्थ देखे जाते है, एक वे जिनमें स्वतंत्र रूप से किसी प्रकार की क्रियाशक्ति या प्रयत्न नही देखा जाता और न ही वे अपने अन्दर किसी प्रकार का विशिष्ट ज्ञान ही रखते है। इसके विपरीत दूसरे प्रकार के वे पदार्थ हैं जिनमें स्वतन्त्र प्रयत्न, ज्ञान और सुख-दुख के अनुभव करने की शक्ति विद्यमान है। इनमें पहले प्रकार के पदार्थो को जड़ और दूसरे प्रकार के पदार्थो को चेतन कहा जाता है।

इससे सिद्ध हुआ कि ससार में जड़ और चेतन ये दो ही मुख्य पदार्थ है। ये दोनों ही अपने-अपने स्वाभाविक गुण-धर्मो की अपेक्षा एक दूसरे से भिन्न और स्वतन्त्र है। जड़ के गुण-धर्म उससे चेतन को और चेतन के गुण-धर्म उससे जड़ को पृथक् कर रहे हैं। इतने कथन से जड़ और चेतन इन दो पदार्थो का स्वतत्र अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

अब देखना यह है कि जो आत्मा चेतन और शरीर का अधिष्ठाता माना जाता है, उसके विषय मे हमारा अबाधित अनुभव क्या है? 'मै हूं' यह अनुभव प्रत्येक मनुष्य को होता है। इस अनुभव के लिए किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नही है। इससे 'मै' शब्द बोधित आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि तो असदिग्ध है।

अनेक तार्किकों का यह कथन है कि 'मै' शब्द से इस दृश्यमान शरीर का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योकि 'मैं सुखी हू' 'मै दुखी हूं', 'मै चलता हूं' 'मै देखता हूं', इत्यादि प्रकार के सारे ही अनुभव शरीर को ही विषय करते है, इसलिए 'मै' शब्दवाच्य आत्मा इस शरीर से पृथक् नहीं, यदि होता तो कभी उसकी उपलब्धि भी अवश्य होती।

परन्तु यह कथन सर्वथा भ्रांतिमूलक है, यदि इस शरीर को ही आत्मा मान लिया जाए तो शरीर के कई एक अवयवों के कट जाने पर भी इस 'मैं' की अनुभूति बराबर बनी रहती है, अर्थात् मैं हूं यह अनुभूति बराबर होती रहती है, वह कदापि न होनी चाहिए। तथा 'मै सुखी हूं', 'मै दुखी हूं' इस प्रकार का जो अभेद ज्ञान है वह भी भ्रांतिमूलक है, अन्यथा 'मेरा मकान', 'मेरा घर' इत्यादि प्रकार का

अनुभव, जैसे अपने से मकान और घर को स्पष्ट रूप से अलग बता रहा है, इसी प्रकार से 'मेरा हाथ', मेरा पाव इत्यादि रूपों मे हाथ और पांव को अपने से अलग करने वाली प्रतीति कदापि नहीं होनी चाहिए, परन्तु ऐसी प्रतीति होती है। इससे विदित होता है कि जैसे घर का मालिक घर नहीं हो सकता, उसी प्रकार शरीर का अधिष्ठाता भी शरीर नहीं बन सकता।

इसके अतिरिक्त इच्छा, प्रयत्न, ज्ञान और सुख-दुख के अनुभव को यदि शरीर का ही धर्म मान लिया जाए तो मृतक शरीर में भी उक्त सभी बाते दृष्टिगोचर होनी चाहिएं, परन्तु होती नहीं।

इससे सिद्ध होता है कि सुख-दुख का अनुभव करने वाली कोई चेतना-शक्ति है जो कि शरीर में रहती हुई भी उससे सर्वथा स्वतन्त्र एवं भिन्न है। शरीर में जो भी क्रियाएं होती है, जो भी प्रयत्न देखा जाता है, वह सब कुछ उसी चेतना-शक्ति की सत्ता और स्वतन्त्रता पर अवलम्बित है।

इसके अतिरिक्त अनेक तार्किक लोग यह भी कहा करते है कि शरीर में उपलब्ध होने वाली चेतनता कोई अलग पदार्थ नही है, किन्तु पृथ्वी आदि पाच भूतो के मेल से उत्पन्न होने वाली उन्ही का स्वरूपभूत एक शक्ति विशेष है। परन्तु उन महानुभावो को इस बात का भी विचार कर लेना चाहिए कि असत् से सत् की उत्पत्ति कभी नही होती और जो शक्ति प्रत्येक में नही वह समुदाय में कहां से आएगी? अगर चेतनाशक्ति को जड़ भूतो का ही एक परिणाम-विशेष मान लिया जाए तो पृथ्वी आदि प्रत्येक भूत से उसकी उपलब्धि अवश्य होनी चाहिए, परन्तु होती नहीं।

इससे सिद्ध हुआ कि चेतना-शक्ति भूतो का परिणाम नहीं, किन्तु स्वतन्त्र और सदा के लिए अपना अस्तित्व रखने वाला एक अलग पदार्थ है जो कि इस जड़ शरीर की उत्पत्ति से पहले भी विद्यमान था और उसके विनाश के बाद भी विद्यमान रहेगा और तब तक इस भौतिक शरीर के साथ बराबर सम्बन्ध रखेगा, जब तक कि वह अपने कर्म-जन्य आवरणो को दूर करके केवलज्ञान के द्वारा सिद्ध-गति को प्राप्त न हो जाए।

इस सारे विचार से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा है और वह नित्य है। इस शरीर से सम्बन्ध और कर्म के प्रभाव से जन्म-मरण की परम्परा का अनुभव करने वाला है, तथा पुण्यकर्म के अनुष्ठान से वह स्वर्गादि पुण्य-लोको को प्राप्त करता है। पाप-कर्म के आचरण से उसे नरकादि जघन्य लोकों की प्राप्ति होती है और मिश्रित कर्मों के अनुष्ठान से इस मनुष्य-लोक मे कर्म के विपाक के अनुसार मनुष्यादि की योनि को धारण करता है तथा कर्मो का साधना के द्वारा क्षय करके केवल-ज्ञान प्राप्त करता हुआ वह मोक्ष-मन्दिर में भी पहुच जाता है, जहा पर कि वह अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्य वाला होता हुआ फिर इस ससार मे कभी नही आता। यही परम सत्य है, यही परम सिद्धान्त है।

इस समस्त कथन से परलोक का अस्तित्व तो सिद्ध हो चुका। अब सिद्धियों के विषय पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। यद्यपि सम्पूर्ण रूप से सिद्धियो को प्राप्त किए हुए पुरुषों की आज उपलब्धि नहीं होती, (इसमे समय का ही अधिक प्रभाव समझना चाहिए) तथापि थोड़ी बहुत सिद्धियां रखने वाले तो आज भी कहीं-कही पर अवश्य उपलब्ध होते है। इससे यह अनुमान करना सहज है कि अतीत काल में सम्पूर्ण सिद्धियो वाले महापुरुष भी होंगे और थे। विधि और प्रयत्न की न्यूनता

अथवा विगुणता से अगर किसी पुरुष को किसी विषय में कम सफलता प्राप्त होती है तो उसका यह अर्थ कदापि न समझना चाहिए कि सफलता असम्भव है। आज भी महाविदेह क्षेत्र में पूर्ण सिद्धि रखने वाले महापुरुष विद्यमान हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तु की सत्ता का होना अलग बात है और उसका सम्पूर्ण अथवा न्यूनाधिक रूप से प्राप्त करना या न करना अलग बात है, अतः परलोक की भान्ति सिद्धियों के विषय में भी यत्नशील साधु को अटल विश्वास रखना चाहिए। अब रही वंचना या ठगने की बात, सो यह कथन सर्वथा निर्बल आत्माओं का है, बलवान आत्माएं तो इसका स्वप्न में भी संकल्प नहीं करतीं।

विषय-जन्य क्षणिक सुखों को चाहना और उनके परिणाम को न देखते हुए उनके लिए ललचाना, संयमशील व्यक्ति की इससे अधिक और क्या गिरावट हो सकती है? जिन त्यागशील व्यक्तियों ने विषय-भोगों के परिणाम की ओर दृष्टि दी है और जिन्होंने इनके दुखद परिणामो का अनुभव किया है वे तो इनकी तुच्छता की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखते। इसलिए सभी आस्तिकों ने विषय-जन्य सुख को केवल दुखरूप बताते हुए त्यागी व्यक्तियों को उससे सदा दूर रहने का ही अमृत उपदेश दिया है। इसलिए वीतराग देव के पवित्र धर्म का अनुसरण करने वाले मुनि को दर्शन-शुद्धि के विषय में किसी प्रकार भी शका न रखनी चाहिए, किन्तु ज्ञान-पूर्वक तपश्चर्या के सम्यग् अनुष्ठान से आवरणभूत कर्म-पटल का क्षय करके आत्म-दर्शन की ओर बढ़ना चाहिए, जिससे कि उक्त सारी-की-सारी शक्तिया उसमें प्रादुर्भूत होकर अपने तेजपुञ्ज से उसे मालामाल कर दें।

अब फिर उक्त विषय का ही स्पष्टीकरण करते हैं—

अभू जिणा अत्थि जिणा, अदुवावि भविस्सई ।
मुसं ते एवमाहंसु, इइ भिक्खू न चिंतए ॥ ४५ ॥

अभूवन् जिनाः सन्ति जिनाः, अथवाऽपि भविष्यन्ति ।
मृषा ते एवमाहुः, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥ ४५ ॥

पदार्थान्वयः—जिणा—जिन भगवान्, **अभू**—हुए, **जिणा अत्थि**—जिन भगवान् है, **अदुवा**—अथवा, **वि**—इसी प्रकार, **भविस्सई**—होंगे, **ते**—जो, **एवं**—इस प्रकार, **आहंसु**—कहते है, **मुसं**—वे झूठ बोलते है, **इइ**—इस प्रकार का, **भिक्खू**—साधु, **न चिन्तए**—विचार न करे।

मूलार्थ—जो लोग यह कहते हैं कि 'जिन हुए, जिन हैं और जिन होंगे,' वे झूठ बोलते हैं—इस प्रकार का मुनि कभी चिन्तन न करे।

टीका—रागादि अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाली वीर आत्मा को 'जिन' कहते हैं और उन्हीं के—अर्हन्, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, तीर्थंकर आदि दूसरे नाम है। ऐसे जिन पूर्वकाल में हुए और वर्तमान काल में महाविदेह आदि क्षेत्रों में विद्यमान है तथा भविष्य में भी होंगे। जो लोग इस प्रकार से जिनों अर्थात् तीर्थंकरों के अस्तित्व को मानते हैं वे झूठ बोलते हैं, वास्तव में उनका अस्तित्व ही नही है।

शास्त्रकार कहते है कि सयम-मार्ग का अनुसरण करने वाला मुनि इस प्रकार के विचारों को अपने हृदय मे स्थान न दे, क्योंकि जिन अर्थात् केवली भगवान् का अस्तित्व अनुमानादि प्रमाणों से स्वतः-सिद्ध है, फिर इसमे आशका का अवकाश नहीं है। परिणाम के तारतम्य की भांति ज्ञान की तारतम्यता को देखकर उसकी अन्तिम सीमा का अनुमान बड़ी सुगमता से किया जा सकता है, जैसे अणु-परिमाण की परम अवधि परमाणु है और महत्परिमाण की चरम सीमा आकाश है, इसी प्रकार ज्ञान-वृद्धि की चरम सीमा का कोई-न-कोई विश्राम-स्थान अवश्य मानना चाहिए। बस, जहां पर अथवा जिस आत्मा मे ज्ञान-वृद्धि को निरतिशय स्थान प्राप्त हो गया है, वही आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और जिन अथवा तीर्थंकर के नाम से अभिहित है। ऐसी आत्माए इस अवसर्पिणी-काल में यद्यपि अनन्तानन्त हो चुकी है, तथापि जिन आत्माओं ने इस निरतिशय ज्ञान—केवल ज्ञान को प्राप्त करके संसार में धर्म का उपदेश दिया और धर्मरूप तीर्थ की स्थापना की, वे जिन भगवान तीर्थंकर श्री ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर स्वामी तक चौबीस हुए है, जिनका कि आरम्भ से लेकर अन्त तक एक ही प्रकार का उपदेश और आदेश है। इससे जिन-केवली जेसे अस्तित्व की सिद्धि निर्विवाद है।

इस विषय में इतना और समझ लेना चाहिए कि जिस आत्मा का जितने परिमाण में कर्म-क्षय व क्षयोपशम होगा, उसको उतने ही अश मे देश-प्रत्यक्ष अथवा सर्व-प्रत्यक्ष की प्राप्ति होगी। अपने ज्ञान को अधिकाधिक निर्मल करना यह साधक के अपने वश की बात है। आत्मा स्वभाव से अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञान का भडार है। उसकी यह दर्शन और ज्ञान की अनन्त शक्ति कर्म के प्रगाढ़ पटलो से आच्छादित हो रही है। उस आवरण-शक्ति को जितने-जितने अश मे दूर किया जाएगा उतने ही अंशो मे आत्मा की ज्ञान-शँक्ति का विकास होता जाएगा। जिस समय उस पर से समस्त कर्मजन्य आवरण दूर हो जाएंगे, उस आत्मा की ज्ञान-शक्ति और दर्शन-शक्ति का पूर्ण विकास हो जाएगा, फिर ससार का ऐसा कोई भी पदार्थ न होगा जो कि उस निरावरण ज्ञान-शक्ति के समक्ष प्रत्यक्ष हुए बिना रह सके। बस, इसी का नाम सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता है, जोकि निरावृत आत्मा की पूर्ण और स्वाभाविक ऋद्धि है, इसी ज्ञानऋद्धि को प्राप्त करने वाली आत्मा का नाम 'जिन' अथवा 'केवली' भगवान् है।

इस गाथा में जैन-प्रवचन पर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखने का उपदेश दिया गया है, क्योकि जैनागमो को आप्त वचन कहा गया है। वीतरागदेव—जिनको दूसरे शब्दों मे 'जिन' कहते है—के अतिरिक्त और कोई आप्त—यथार्थवक्ता नही हो सकता, इसलिए इस पूर्वापर में अविरोध रखने वाली आप्त वाणी पर कभी अविश्वास नही करना चाहिए। जो लोग केवली और उनकी वाणी पर विश्वास नहीं करते, वे लोग वास्तव में सत्य की अवहेलना करते है, अतः सर्वज्ञ-भाषित धर्म पर आरूढ़ होने वाले मुनि को जिन भगवान् के अस्तित्व मे और उनकी वाणी की यथार्थता में कभी सन्देह नही करना चाहिए, इसी मे उसकी दर्शनशुद्धि और साधुता की प्रतिष्ठा है।

यहां पर इतना और स्मरण रखना चाहिए कि ये परीषह प्रत्येक कर्म के उदय से नही आते, किन्तु ज्ञानावरणीय, वेदनीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मो मे इन बाइस परीषहों के उदय का समावेश हो जाता है, यथा—ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान-परीषह का उदय होता है तथा अन्तराय कर्म से अलाभ। चारित्र-मोहनीय कर्म से—अरति, अचेल, स्त्री, नैषेधिकी, याचना,

सत्कार, और आक्रोश परीषह। दर्शन मोहनीय से—दर्शन, वेदनीय से—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, मल, वध, रोग, और तृण-स्पर्श परीषहों की अनुभूति होती है।

अन्त में इतना और भी याद रहे कि दर्शन-परीषह को भली-भांति सह लेने से प्रायः अन्य सभी परीषह सुगमता से सहन किए जा सकते हैं। इस बात को यदि सामान्य भाषा में कहें तो इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिसको वीतरागदेव और उसके धर्म पर पूर्ण विश्वास है, श्रद्धा है, वह पुरुष अपने ऊपर आए हुए अनेकविध संकटों को भी भली-भांति सहन कर सकता है और उन आने वाले कष्टों को अपनी अपूर्व सहनशीलता से पराजित करता हुआ अपने अभीष्ट आत्मपदार्थ को शीघ्र से शीघ्र प्राप्त करने में सफल-मनोरथ हो सकता है।

अब परीषहों का उपसंहार करते हुए सूत्रकार लिखते हैं—

एए परीसहा सव्वे, कासवेण पवेइया ।
जे भिक्खू न विहन्निज्जा, पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥ ४६ ॥

त्ति बेमि ।

इति दुइअं परीसहज्झयणं समत्तं ॥ २ ॥

एते परीषहाः सर्वेः, काश्यपेन प्रवेदिताः ।
यान् भिक्षुर्न विहन्येत्, स्पृष्टः केनाऽपि कुत्रचित् ॥ ४६ ॥

इति ब्रवीमि ।

द्वितीयं परीषहाध्ययनं समाप्तम् ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—**एए**—ये, **परीसहा**—परीषह, **सव्वे**—सब, **कासवेण**—काश्यप भगवान महावीर ने, **पवेइया**—प्रतिपादन किए है, **जे**—जिनको, **भिक्खू**—साधु (जान करके), **न विहन्निज्जा**—पतित न हो, **पुट्ठो**—स्पर्शित हुए, **केणइ**—किसी प्रकार से, **कण्हुई**—किसी स्थान पर, **त्ति**—समाप्ति सूचक, **बेमि**—मै कहता हूं।

मूलार्थ—ये सब परीषह काश्यप गोत्रीय भगवान् महावीर ने प्रतिपादन किए हैं, जब किसी प्रकार से अथवा किसी भी स्थान पर इनका स्पर्श हो तब परीषहों के स्वरूप को जानकर साधु उन से कभी भी आत्मलक्ष्य से विचलित न हो। यह सब कुछ मैंने भगवान् के उपदेश के अनुसार कहा है, इसमें मेरी निजी बुद्धि की कोई कल्पना नहीं है।

टीका—काश्यप गोत्रीय भगवान् महावीर स्वामी ने इन परीषहो का वर्णन किया है, इनको भली-भांति जानकर संयमशील साधु किसी प्रकार से, किसी स्थान में इनका स्पर्श हो जाने पर अपने संयम-मार्ग से पतित न होने पाए, किन्तु अपनी संयम-सम्बन्धी दृढ़ता से इन पर विजय प्राप्त करे। इसी उद्देश्य से इनका उल्लेख विस्तार से किया गया है। किसी भी अभीष्ट की प्राप्ति कष्टो को झेले बिना नहीं हो सकती, इसलिए परमात्म-पद-प्राप्ति की अभिलाषा रखने वाले मुनिजनो को तो इन बाईस

प्रकार के कष्टो का सामना अवश्य करना ही पड़ेगा तथा अपनी संयममयी दृढ़-धारणा से इन पर विजय भी अवश्य प्राप्त करनी होगी, अन्यथा अभीष्ट की प्राप्ति दूर से भी दूर हो जाएगी। एतदर्थ ही भगवान् ने अपने ज्ञान के अनुसार इनका वर्णन और इनके साथ शांति-पूर्वक युद्ध करने तथा इनको पराजित करके आत्मविकास करने की आज्ञा दी है, इसलिए विवेकशील साधु को इन सभी परीषहों के स्वरूप का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है, तभी वह परीषहों के आने पर अपने संयम को दृढ़ रखता हुआ अपनी सहनशीलता द्वारा उनको पराजित कर सकेगा।

इस अध्ययन मे कुल ४६ गाथाए है। उनमे से पहली गाथा के द्वारा परीषहो का विभाग बताया गया है और अतिम गाथा मे उन्ही का उपसंहार किया गया है। इस विषय के उपक्रम और उपसंहार दोनो मे ही भगवान् महावीर स्वामी के नाम का उल्लेख है। इस कथन से इस सन्दर्भ की आप्त-प्रणीतता भली-भांति सिद्ध हो जाती है। शेष ४४ गाथाओं मे परीषहो के स्वरूप का वर्णन है और प्रत्येक परीषह के वर्णन मे दो-दो गाथाए दी गई हैं। यह विषय कितना रोचक और ग्रहणीय है, इसके कथन करने की विशेष आवश्यकता नही। बुद्धिमान् जिज्ञासु पुरुष इसका स्वयं ही अनुभव कर सकते है। परीषहो के सम्बन्ध मे इतना और विचार कर लेना भी आवश्यक है कि मुनि के उद्देश्य से ही यद्यपि इनका उल्लेख किया गया है, तथापि गृहस्थ के लिए भी समय के अनुसार और अपने अधिकार के अनुसार इनका सहन करना परम आवश्यक है। यथा—अपनी स्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्री से समागम का परित्याग और स्व-स्त्री मे भी तिथि-पर्व आदि के नियम का पालन करना एव स्त्री की रुग्णावस्था मे तथा गर्भवती होने पर ब्रह्मचर्य का पालन करना और कामचेष्टा के उत्पन्न होने पर भी अपने ब्रह्मचर्य को दूषित न होने देना तथा अपनी स्वदार सन्तोषरूप प्रतिज्ञा मे दृढ़ रहना और हृदय मे दीप्त हुई कामाग्नि को शुद्ध विचारो के द्वारा शान्त करने का प्रयत्न करना, यह देशविरति श्रावक अर्थात् गृहस्थ का परीषह सहन करना है। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार अन्यान्य परीषहो के सम्बन्ध मे भी समझ लेना चाहिए।

इसके अतिरिक्त इस सूत्र की दीपिका नाम की टीका मे लिखा है कि—

"**इद हि कर्मप्रवादनामाष्टमो हि पूर्वः, तस्य सप्तदश प्राभृतं, तस्योद्धारलेशं द्वितीयध्ययन-मुत्तराध्ययनस्य**" श्री उत्तराध्ययन सूत्र का यह दूसरा अध्ययन कर्मप्रवाद नामक आठवे पूर्व के सत्तरहवें प्राभृत का लेशमात्र उद्धार है। अतः यह अध्ययन प्रत्येक मुनि के लिए मनन करने योग्य है।

'**त्ति बेमि**' का अर्थ तो प्रथम अध्ययन की समाप्ति मे लिख ही दिया गया है, उसी के अनुसार यहा पर भी समझ लेना चाहिए। यथा—श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते है कि हे शिष्य! जैसे मैने भगवान् से सुना है, वैसे ही मैं तेरे प्रति कथन करता हूं। इसमे मेरी अपनी बुद्धि की कोई कल्पना नही है।'

परीषह अध्ययन सम्पूर्ण

अह तइअं चाउरंगिज्जं अज्झयणं

अथ तृतीयं चतुरंगीयमध्ययनम्

इस ग्रन्थ के द्वितीय अध्ययन में परीषहों का वर्णन और उनके सहन करने का उपदेश दिया गया है, इन परीषहों के सहन करने में मनुष्य ही समर्थ है, परन्तु मनुष्य को भी धर्म के प्रमुख चार अंगों की प्राप्ति का होना अति कठिन है, अतएव इस तीसरे अध्ययन में चार दुर्लभ अगों का निरूपण किया जा रहा है। इन चारों अंगों के निरूपण के कारण इस अध्ययन को चतुरंगीय अध्ययन कहते हैं और उसकी आदिम गाथा इस प्रकार है—

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो ।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥ १ ॥

चत्वारि परमांगानि, दुर्लभानीह जन्तोः ।
मानुषत्वं श्रुतिः श्रद्धा, संयमे च वीर्यम् ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—**चत्तारि**—चार, **परमंगाणि**—प्रधान अंग, **दुल्लहाणि**—दुर्लभ है, **इह**—इस संसार मे, **जन्तुणो**—जीव को, **माणुसत्तं**—मनुष्यत्व, **सुई**—श्रुति—श्रवण, **सद्धा**—श्रद्धा, **य**—और, **संजमम्मि**—संयम में, **वीरियं**—वीर्य अर्थात् प्रयत्न।

मूलार्थ—संसार में इस जीव को—मनुष्यत्व, धर्म का श्रवण, श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ—इन चार अंगों की प्राप्ति का होना बहुत कठिन है।

टीका—इस ससार-चक्र मे भ्रमण करते हुए जीव को चारों अगों का उत्तरोत्तर प्राप्त होना बहुत ही कठिन है, क्योंकि ये चारो ही अग मोक्ष के साधनभूत होने से जीव के लिए बहुत ही उपकारी माने गए है। ये चारों अग इस प्रकार है—

मनुष्यता—यद्यपि इस अनादि संसार-चक्र में परिभ्रमण करते हुए इस जीव को अनेक बार मनुष्य जन्म की प्राप्ति हो चुकी है, परन्तु उसमे मनुष्यत्व का प्राप्त होना बहुत ही कठिन है, क्योंकि मनुष्यत्व उसे कहते हैं जिससे कि मनुष्योचित कर्त्तव्य-परायणता का बोध और आचरण हो। इसलिए इस मानवता का सब प्राणियों को प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

श्रुति—पुण्यवशात् किसी प्रकार से मनुष्यत्व की प्राप्ति भी हो जाए, परन्तु उसमें फिर श्रुति—धर्म के श्रवण का संयोग मिलना तो और भी कठिन है, क्योंकि धर्म का श्रवण किए बिना कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का पूर्णतया बोध नहीं हो सकता, इसलिए श्रुति का प्राप्त होना मनुष्यत्व से भी अधिक दुर्लभ एवं आवश्यक है।

श्रद्धा—कदाचित् श्रुति की प्राप्ति भी किसी पुण्य के विशेष उदय से हो जाए, परन्तु उसमें श्रद्धा का प्राप्त होना तो और भी कठिनतर है। बिना श्रद्धा के, बिना दृढ़तर विश्वास के सुना हुआ धर्मशास्त्र भी ऊसर भूमि में बोए हुए बीज की तरह निष्फलप्राय हो जाता है और हेयोपादेय के ज्ञान से भी श्रद्धा-शून्य हृदय खाली रह जाता है, इसलिए मनुष्यत्व और श्रुति के साथ श्रद्धा का होना बहुत ही आवश्यक है।

संयम में पुरुषार्थ—मानो कि मनुष्यत्व और श्रुति के साथ पुण्य-सयोग से श्रद्धा की प्राप्ति भी हो गई, परन्तु फिर भी धर्म-शास्त्रों की शिक्षा के अनुसार संयम में वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ का होना और भी दुर्लभ है।

इस सारे कथन का तात्पर्य यही है कि ससार-चक्र मे भ्रमण करते हुए इस जीव को बड़े ही पुण्य के प्रभाव से उक्त चारों अंगों की प्राप्ति होती है, अत मोक्ष के साधन-भूत इन चारों अंगों को प्राप्त करके मनुष्य को अपने अभीष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि इन चारों अगो की प्राप्ति बार-बार नहीं होती। ये तो बहुत ही दुर्लभ है। इनका लाभ तो किसी निकटभवी भाग्यशाली पुरुष को ही उसके पुण्यानुबन्धी पुण्योदय से हो सकता है, साधारण व्यक्ति को नहीं। यद्यपि मनुष्य-भव, आर्य-क्षेत्र, आर्य-कुल, रूप, नीरोगता, दीर्घायु, बुद्धि, धर्म-श्रवण, अर्थग्राहकता, श्रद्धा तथा अभिरुचि और अशठता इत्यादि और भी साधन माने गए है, परन्तु इन सबका उक्त चारो ही अगों मे समावेश हो जाता है।

यहा पर गाथा में 'अग' शब्द के उल्लेख से शास्त्रकार का आशय यह बताने का है कि मोक्ष के लिए साक्षात् वा परम्परया उपयोगी ये चारों ही अंग धर्म के प्रधान कारण है और इनको जो दुर्लभ बताया गया है उसका तात्पर्य यही है कि हर एक को प्राप्त नहीं हो सकते तथा इन्ही के द्वारा मोक्ष के प्रतिबन्धक घातिकर्मो का क्षय और क्षयोपशम किया जा सकता है। इसलिए इनकी दुर्लभता अनुभव-सिद्ध और युक्तियुक्त प्रतिपादित की गई है।

अब सूत्रकार उन चारो अंगों का नाम निर्देश करते हुए उनमें से प्रथम मनुष्यत्व की दुर्लभता के विषय में कहते है, यथा—

समावन्ना ण संसारे, नाणा-गोत्तासु जाइसु ।
कम्मा नाणा-विहा कट्टु, पुढो विस्संभया पया ॥ २ ॥

समापन्नाः खलु संसारे, नानागोत्रासु जातिषु ।
कर्माणि नानाविधानि कृत्वा, पृथग् विश्वभृतः प्रजाः ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—**पया**—प्रजा—जीव, **संसारे**—संसार में, **नाणा**—नाना प्रकार के, **गोत्तासु**—गोत्रों में, **जाइसु**—जातियों में, **समावन्ना**—प्राप्त हुए, **णं**—वाक्यालंकार में, **पुढो**—पृथक्-पृथक् जीव ने, **विस्सं**—जगत् को, **भया**—भर दिया, **कम्मा**—कर्म, **नाणाविहा**—नाना प्रकार के, **कट्टु**—करके।

मूलार्थ—इस संसार में पृथक्-पृथक् जीवों ने नाना प्रकार के कर्मों के आचरण द्वारा नाना प्रकार के गोत्रों और जातियों में जन्म धारण करके इस विश्व को भर दिया है।

टीका—इस अनादि संसार-चक्र में जीव नाना प्रकार के त्रस आदि गोत्रों और एकेन्द्रिय आदि जातियों में प्राप्त हुए हैं। इतना ही नहीं, अपितु एक-एक जीव ने ज्ञानावरणीय आदि नाना प्रकार के कर्मों के प्रभाव से जन्म-मरण के द्वारा इस सारे विश्व को भर रखा है। इसका अभिप्राय यह है कि इस असख्यात योजन-प्रमाण लोक में ऐसा कोई भी आकाश-प्रदेश नहीं है जहां कि प्रत्येक जीव ने अनन्त बार जन्म और मरण को प्राप्त न किया हो, क्योंकि जब जीव अनादि है तब उपचार से जन्म-मरण भी अनादिकालीन मानना युक्तियुक्त है।

इसके अतिरिक्त गाथा में जो 'गोत्र' और 'जाति' शब्दों का उल्लेख किया गया है उसके दोनों ही अर्थ होते है, त्रस आदि गोत्र और कश्यप आदि गोत्र एवं एकेन्द्रिय आदि जाति और क्षत्रिय आदि जातियां। इसके अतिरिक्त **'विस्सं'** शब्द पर जो बिन्दु दिया गया है वह अलाक्षणिक है और 'प्रजाः' शब्द से प्राणी-समूह का ग्रहण करना चाहिए।

अब फिर इसी विषय का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—

एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया ।
एगया आसुरं कायं, अहाकम्मेहिं गच्छइ ॥ ३ ॥

एकदा देवलोकेषु, नरकेष्वप्येकदा ।
एकदाऽऽसुरं कायं, यथा कर्मभिर्गच्छति ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—**एगया**—एक बार, **देवलोएसु**—देवलोकों में, **एगया**—एकदा, **नरएसु**—नरकों मे, **वि**—भी, **एगया**—एकदा, **आसुरं कायं**—असुर-काय में, **अहाकम्मेहिं**—यथाकर्म—कर्मों के अनुसार, **गच्छइ**—जीव जाता है।

मूलार्थ—ये जीव अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार कभी देवलोकों में जाते हैं, कभी नरकों में और कभी असुर-समूहों में भी जाते हैं।

टीका—अपने शुभ कर्मो के विपाक के अनुसार जीव कभी देवलोक में उत्पन्न होते है और अशुभ कर्मों के उदय से कभी रत्नप्रभा आदि नरकों की यातनाएं भोगते है तथा पूर्वजन्मार्जित कर्मो के प्रभाव से कभी असुर-कुमारों में जन्म लेते है। तात्पर्य यह है कि जिस-जिस प्रकार के कर्मों का जीव आचरण करते है उसी के विपाकोदय के अनुसार वैसी ही योनियों में उनका जन्म होता है।

इस गाथा में कर्मो के फल का प्रदर्शन किया गया है। प्राणी जिस प्रकार के कर्म करते हैं, उन्ही के अनुसार उनका फल भी वे भोगते हैं, परन्तु कर्म के करने अथवा भोगने के समय काल, स्वभाव,

नियति, कर्म और पुरुषार्थ की कारणता अवश्य मिल जाती है।

यहां पर 'गच्छंति' इस बहुवचन की क्रिया के स्थान मे 'गच्छइ' यह एक वचन की क्रिया प्राकृत के नियमानुसार है और 'काय' शब्द का अर्थ यहां पर समूह है।

अब फिर उसी विषय का स्पष्टीकरण करते हैं—

एगया खत्तिओ होइ, तओ चंडाल-बुक्कसो ।
तओ कीडपयंगो य, तओ कुन्थु पिवीलिया ॥ ४ ॥

एकदा क्षत्रियो भवति, ततश्चण्डालो बुक्कसः ।
ततः कीटः पतंगश्च, ततः कुंथुः पिपीलिका ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**एगया**—किसी समय, **खत्तिओ**—क्षत्रिय, **होइ**—होता है, **तओ**—उसके पीछे, **चंडाल**—चडाल—वा, **बुक्कसो**—बुक्कस, **तओ**—तदनन्तर, **कीड**—कीट, **य**—और, **पयंगो**—पतंग, **तओ**—उसके बाद, **कुंथु**—कुन्थु, **पिवीलिया**—चींटी (होता है)।

मूलार्थ—किसी समय यह जीव क्षत्रिय बनता है और किसी समय चंडाल और बुक्कस बन जाता है तथा कभी कीट, पतंग, कुंथु और पिपीलिका चींटी आदि की योनियों में उत्पन्न होता है।

टीका—कर्मो के प्रभाव से ससार-चक्र में भ्रमण करता हुआ यह जीव कभी क्षत्रियादि कुलो में उत्पन्न होता है और कभी चडाल तथा बुक्कसादि के रूप मे जन्म लेता है एव कर्म के प्रभाव से वही कीट, पतग, कुथु और चीटी आदि की योनियों में उत्पन्न होता है।

उक्त गाथा में उल्लेख किए गए 'क्षत्रिय' शब्द से उच्च जाति और चंडाल और बुक्कस शब्दों से नीच और वर्ण-सकर जातियो की सूचना दी गई है तथा कीट-पतग और कुथु-पिपीलिका शब्दो के प्रयोग से समस्त तिर्यग्जाति के जीवो का ग्रहण अभीष्ट है।

तात्पर्य यह कि संसार में उच्च, नीच, देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि ऐसी कोई भी जाति अथवा योनि शेष नही जिसमे जीव ने अपने-अपने कर्मों के अनुसार जन्म धारण न किया हो। देव और नरक का उल्लेख तीसरी गाथा मे किया गया है एव मनुष्य और तिर्यग्योनि का कथन इस चौथी गाथा मे है। इस प्रकार शास्त्रकार ने चारो ही गतियो का सक्षेप से उल्लेख कर दिया है। इन्ही चारो गतियों के समुदाय का नाम ससार-चक्र है। प्रत्येक जीव अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार इन्हीं चार गतियो मे अपने जन्म-मरण की परम्परा का अनुभव करते रहते है।

गाथा मे आये हुए '**बुक्कस**' शब्द की व्याख्या वृत्तिकार ने इस प्रकार की है। यथा—ब्राह्मण और वैश्य स्त्री से उत्पन्न होने वाली सन्तान को अम्बोष्ठ कहते है, इसी प्रकार निषाद और अम्बोष्ठी के योग से जो सन्तान उत्पन्न हो उसका नाम बुक्कस है, परन्तु यहा पर आया हुआ 'बुक्कस' शब्द समस्त वर्ण-सकर जातियो का बोधक है।

सक्षेप मे ऊपर दिए गए वर्णन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि मनुष्यों तथा पशुओं की उच्च

अथवा नीच, ऐसी कोई भी जाति नहीं जिसमें इस जीव ने अनेकानेक बार जन्म अथवा मरण न किया हो।

इस प्रकार निरन्तर भ्रमण करते हुए भी इस जीव को उपरति नहीं होती—

अब इसी विषय में पुनः कहते हैं—

एवमावट्ट जोणीसु, पाणिणो कम्मकिव्विसा ।
न निविज्जन्ति संसारे, सव्वट्ठेसु व खत्तिया ॥ ५ ॥

एवमावर्त्तयोनिषु, प्राणिनः कर्मकिल्विषाः ।
न निर्विद्यन्ते संसारे, सर्वार्थेष्विव क्षत्रियाः ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—**एवं**—इस प्रकार, **पाणिणो**—प्राणी, **कम्म-किव्विसा**—दुष्टकर्म करने वाले, **संसारे**—ससार मे, **आवट्ट**—आवर्तन करते हुए, **जोणीसु**—योनियों मे, **न निविज्जंति**—निवृत्त नहीं होते, **सव्वट्ठेसु**—सर्व अर्थों मे, **व**—जैसे, **खत्तिया**—क्षत्रिय लोग।

मूलार्थ—जैसे समस्त पदार्थों की प्राप्ति होने पर भी क्षत्रिय अर्थात् राजा लोगों को बड़े राज्य की प्राप्ति से भी तृप्ति नहीं होती, इसी प्रकार संसार में दुष्ट कर्म करने वाले प्राणी नाना प्रकार की योनियों में भ्रमण करते हुए भी निवृत्त नहीं होते।

टीका—जैसे राजा के अधिकार में अनेकानेक देशों के आ जाने पर भी उसकी लालसा की तृप्ति नहीं होती, किन्तु और अधिकाधिक अधिकारों को पाने के लिए इच्छाए लालायित रहती है, इसी प्रकार यह जीव भी ससार-चक्र में भ्रमण करता हुआ और दुष्कर्मों के प्रभाव से नाना प्रकार के दुःखो का अनुभव करता हुआ इस संसार से उपराम होने की भावना को अपने अन्तःकरण में जागृत नही करता, किन्तु इसके विपरीत उसमें अधिकाधिक विलीन ही होता हुआ दिखाई देता है।

यहा पर गाथा मे आए हुए 'क्षत्रिय' शब्द से केवल क्षत्रिय जाति मे उत्पन्न होने वाले व्यक्ति विशेष का ग्रहण अभिप्रेत नही है, किन्तु '**क्षतात्—भयात् त्रायते इति क्षत्रियः**' इस व्युत्पत्ति के द्वारा भय से रक्षा करने वाले का नाम क्षत्रिय होने से चाहे किसी भी वर्ण का पुरुष राज्याधिकार मे नियुक्त हुआ हो और उसमें राज्य-योग्य गुणों की विद्यमानता हो तो गुणों की अपेक्षा से उसे भी क्षत्रिय ही कह सकते है, इसी अर्थ मे यहां पर क्षत्रिय शब्द का प्रयोग किया गया है।

जो लोग संसार से निवृत्त नहीं होते, उन्हें किस फल की प्राप्ति होती है, अब इस विषय का वर्णन यहां पर किया जाता है।

कम्म-संगेहिं सम्मूढा, दुक्खिया बहुवेयणा ।
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मन्ति पाणिणो ॥ ६ ॥

कर्मसंगैः संमूढाः दुःखिता बहुवेदनाः ।
अमानुषीषु योनिषु, विनिहन्यन्ते प्राणिनः ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—कम्मसंगेहिं—कर्मों के संयोग से, **सम्मूढा**—निरन्तर मूढ़ है, **दुक्खिया**—दुखित हैं, **बहुवेयणा**—बहुत वेदना से युक्त हैं, **अमाणुसासु जोणीसु**—मनुष्य योनि को छोड़कर शेष योनियों में, **पाणिणो**—प्राणी, **विणिहम्मन्ति**—पीड़ा को प्राप्त होते है।

मूलार्थ—कर्मों के संयोग से जीव मूढ़ हैं, दुखी हैं और बहुत-सी वेदनाओं से युक्त हैं। मनुष्य योनि को छोड़कर अन्य योनियों में प्राणी अधिक दुख भोगते हैं।

टीका—इस गाथा में जीवों के पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मो की फल-विचित्रता और फलतः अन्य योनियों की अपेक्षा मनुष्य-योनि की श्रेष्ठता का दिग्दर्शन कराया गया है। यथा—कर्मों के संसर्ग से जीव अतिमूढ़ बने हुए है, इसीलिए वे शारीरिक और मानसिक दुखो से सन्तप्त हो रहे है। इतना ही नहीं, किन्तु शारीरिक और मानसिक वेदनाओं से वे अत्यन्त पीड़ित हो रहे है। मनुष्ययोनि को छोड़कर शेष नरक और तिर्यग्-योनियो में जीव दुखों से अधिक पीड़ित होते है।

यद्यपि मनुष्य-योनि मे भी जीवों में दुख की बहुलता देखी जाती है, परन्तु वहां पर इतनी विशेषता है कि उपयुक्त साधन-सामग्री मिल जाए तो वे मनुष्य-योनि मे आए हुए जीव कर्मों के विकट जाल को तोड़कर उनसे सदा के लिए पृथक् भी हो सकते है, लेकिन शेष-तिर्यग् आदि योनियो में यह बात नही, वे तो भोग-योनियां है। उनमे तो कर्मो का अन्त हो ही नही सकता, इसीलिए शास्त्रो में मनुष्य-जन्म को अन्य सब योनियो की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया गया है। मोक्ष को समीप लाने वाले और विकट कर्म बन्धनो को तोड़ने वाले केवलि-भाषित धर्म को ग्रहण करने की शक्ति मनुष्य-योनि प्राप्त जीव को ही है, अन्य को नही। अतएव मनुष्य-जन्म की दुर्लभता और विशेषता का वर्णन किया गया है। अतिमूढ़ता तो पशु आदि योनियो में ही पाई जाती है जो कि दुख और बन्धन का बलवान् कारण है। इसलिए मनुष्य-जन्म को पाकर अपनी विवेक-शक्ति के द्वारा चिर-संचित कर्म-बन्धनो को तोड़ने की अद्‌भुत शक्ति अपने मे पैदा करना ही मनुष्य-जन्म की विशेष सार्थकता है।

अब सूत्रकार इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्विं कयाइ उ ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं ॥ ७ ॥

कर्मणान्तु प्रहान्या, आनुपूर्व्या कदाचन् तु ।
जीवाः शुद्धिमनुप्राप्ताः, आददते मनुष्यताम् ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—**तु**—विशेष अर्थ का सूचक अथवा 'एवं' अर्थ का बोधक है, **कम्माणं**—कर्मों के, **पहाणाए**—क्षय से, **आणुपुव्विं**—अनुक्रम से, **कयाइ**—कदाचित्—कभी, **जीवा**—जीव, **सोहिं**—शुद्धि को, **अणुप्पत्ता**—प्राप्त हुए, **आययंति**—ग्रहण करते है, **मणुस्सयं**—मनुष्यता को।

मूलार्थ—कर्मों के क्षय से और अनुक्रम से किसी समय शुद्धि को प्राप्त होकर ये जीव मनुष्य जन्म को धारण करते हैं।

टीका—इस गाथा में सूत्रकार ने मनुष्य-जन्म की प्राप्ति का कारण बताने की कृपा की है।

मनुष्य-गति के प्रतिबन्धक कर्मों का विनाश और शुद्धि की प्राप्ति ही मनुष्य-जन्म का कारण है। मनुष्यगति के प्रतिबन्धक अनन्तानुबंधी कर्म माने गए है। जो जीव अपने अखंड पुरुषार्थ के द्वारा इन अनन्तानुबन्धी कर्मो का विनाश करके अनुक्रम से शुद्धता को प्राप्त कर लेता है वही जीव मनुष्य जन्म को प्राप्त करता है, इसलिए प्रतिबन्धक कर्मों का क्षय करना और पुरुषार्थ के द्वारा उनसे शुद्धि प्राप्त करना ही जीव का विकास-मार्ग अथवा उत्क्रान्ति-मार्ग कहा जाता है।

यहां पर इतना और स्मरण रखना चाहिए कि इस गाथा में जो 'अनुक्रम' और 'कदाचित्' शब्द आए है, उनका अर्थ भवितव्यता या होनहार नहीं, किन्तु इनसे अनन्तानुबन्धी कर्मों का क्षय करने के लिए मनुष्यत्व के बिना अन्य कोई साधन नहीं, यही प्रमाणित करना है, क्योंकि किसी भी अन्य योनि मे घोरतम परिश्रम करने पर भी विवेक रहित होने के कारण जीव सफल मनोरथ नहीं हो पाते। इससे प्रमाणित हुआ कि जब कभी जीव अपने गुरुतर पुरुषार्थ के द्वारा उन प्रतिबन्धक कर्मो को अपने से पृथक् करके कुछ विशेष शुद्धि को प्राप्त करते है, तभी जीवों को मनुष्य-भव की उपलब्धि का सौभाग्य प्राप्त हो पाता है।

यहा पर **'आणुपुव्वी'—'आनुपूर्वी'** यह तृतीया के अर्थ में जो प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया गया है, इसका प्रयोग प्राकृत के नियम के अनुसार समझ लेना चाहिए।

मनुष्यत्व के प्राप्त हो जाने पर भी श्रुति-धर्म की दुर्लभता का अब शास्त्रकार वर्णन करते हैं। यथा—

धर्म-श्रवण की सुदुर्लभता

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति, तवं खंतिमहिंसयं ॥ ८ ॥

मानुष्यं विग्रहं लब्ध्वा, श्रुतिर्धर्मस्य दुर्लभा ।
यं श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते, तपः क्षान्तिमहिंस्रताम् ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—**माणुस्सं**—मनुष्य का, **विग्गहं**—शरीर, **लद्धुं**—प्राप्त करके, **धम्मस्स**—धर्म की, **सुई**—श्रुति, **दुल्लहा**—दुर्लभ है, **जं**—जिसको, **सोच्चा**—सुन करके, **तवं**—तप, **खंतिं**—क्षमा, **अहिंसयं**—दया, **पडिवज्जंति**—प्राप्त करते हैं।

मूलार्थ—मनुष्य-जन्म के प्राप्त होने पर भी धर्म की श्रुति अति दुर्लभ है, जिसको कि सुनकर तप, क्षमा और दया के भाव को ये जीव धारण करते हैं।

टीका—पुण्य-सयोग से मनुष्यत्व के मिल जाने पर भी उसमें धर्म की श्रुति—धर्म का श्रवण करना और भी दुर्लभ है। यह जीव विषय-पोषक राग-रंग के श्रवण के लिए बिना किसी की प्रेरणा के स्वयं ही उद्यत रहता है, परन्तु सौभाग्यवश जहा धर्म के श्रवण करने का अवसर आता है, वहां पर सुज्ञ पुरुषो की प्रेरणा के होते हुए भी मनुष्य को प्रमाद अर्थात् आलस्य आकर दबाता रहता है, यही कारण है कि इसकी उस ओर रुचि ही नहीं होती। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि मनुष्य-जन्म के

प्राप्त होने पर भी धर्म-श्रुति का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि यह धर्म-श्रुति, तप, क्षमा और अहिंसा आदि सद्गुणों की जननी है, अर्थात् इसी से मनुष्य के हृदय मे इन उक्त सद्गुणों का जन्म होता है, अतः इसका प्राप्त होना निःसन्देह दुर्लभ है।

अब यहां पर स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि धर्म क्या है, और किस अर्थ में उसका यहां पर ग्रहण किया गया है, और जिन शास्त्रो में धर्म का प्रतिपादन किया गया है वे धर्मशास्त्र कौन से हैं, जिनके द्वारा मनुष्य ने धर्म का श्रवण करना है।

इस प्रश्न का तात्पर्य यह है कि धर्म शब्द का सम्बन्ध-वशात् अनेक अर्थों में व्यवहार होता है, जैसे कि—ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, देश-धर्म और राज-धर्म इत्यादि। हर एक मत या सम्प्रदाय में धर्म शब्द की अलग-अलग व्याख्या मिलती है। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने-अपने नियमों या सिद्धान्तों को धर्म के नाम से पुकारता है तथा उन नियमों अथवा सिद्धान्तो का जिनमे उल्लेख किया गया हो, उनको वे धर्म-शास्त्र कहते है, परन्तु विचार करने से एक दूसरे द्वारा की हुई धर्म की व्याख्याएं आपस में मेल नही खाती तथा एक दूसरे के सिद्धान्तो मे विरोध दिखाई पड़ता है। इसलिए जिज्ञासु के लिए इस बात के निर्णय मे बहुत ही कठिनता हो जाती है कि वह धर्म-सम्बन्धी किस व्याख्या को ठीक समझे और किस शास्त्र को वह धर्म शास्त्र के नाम से कहे, अथवा माने? इत्यादि।

धर्म की सामान्य व्याख्या तो यह है कि जो धारण किया जाए अर्थात् जिसके धारण करने से पतन की ओर जाती हुई यह आत्मा रुक जाए और उत्थान की ओर प्रयाण करने लगे उसी का नाम धर्म है। उस धर्म का जिन शास्त्रो मे वर्णन किया गया हो, उनको धर्म-शास्त्र कहते है। इसी भाव को हृदय मे रखकर हमारे पूज्य सूत्रकार ने धर्मश्रुति के फल का निर्देश करते हुए धर्म और उसके प्रतिपादक धर्म-शास्त्रो के विषय मे बड़ा ही सारगर्भित निर्वचन कर दिया गया है। उनके अभिप्राय के अनुसार धर्म का सजीव और आचरणीय स्वरूप तप, क्षमा और अहिसा है और इनका प्रतिपादन जिन शास्त्रो में हो वे धर्म शास्त्र हैं। बस यही धर्म और धर्मशास्त्र की सुचारू और ग्रहणीय व्याख्या है। यहा पर तप से द्वादशविध* तप, क्षमा से दशविध* यतिधर्म और अहिसा से साधु के पाचों महाव्रतो का ग्रहण अभिप्रेत है।

इसके अतिरिक्त श्रुतिधर्म की दुर्लभता का एक यह भी कारण है कि हर एक पदार्थ का ज्ञान श्रवण करने से ही होता है और उसका निश्चित होना भी श्रवण पर ही निर्भर है। इसीलिए श्रुतज्ञान को सबसे अधिक उपकारी माना गया है, अत श्रुतज्ञान के विषय मे मुमुक्षु पुरुष को कभी प्रमाद नही करना चाहिए।

धर्म-श्रवण करने के पश्चात् ही उस पर श्रद्धा उत्पन्न होती है, इसलिए अब सूत्रकार श्रद्धा की दुर्लभता के विषय में कहते हैं—

★ १-२ इन सबका उल्लेख इसी सूत्र मे अन्यत्र आएगा।

आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परम दुल्लहा ।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई ॥ ९ ॥

कदाचिच्छ्रवणं लब्ध्वा, श्रद्धा परम-दुर्लभा ।
श्रुत्वा नैयायिकं मार्गं, बहवः परिभ्रश्यन्ति ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः—**आहच्च**—कदाचित्, **सवणं**—श्रवण को, **लद्धुं**—प्राप्त करके, **सद्धा**—श्रद्धा, **परमदुल्लहा**—परम दुर्लभ है, **नेआउयं**—न्यायकारी, **मग्गं**—मार्ग को, **सोच्चा**—सुन करके, **बहवे**—बहुत से, **परिभस्सई**—भ्रष्ट हो जाते हैं।

मूलार्थ—कदाचित् धर्म-श्रवण करके भी फिर श्रद्धा का प्राप्त होना और भी दुर्लभ है, न्याय-मार्ग को सुन करके भी बहुत से जीव फिर विवेक से भ्रष्ट हो जाते हैं।

टीका—कदाचित् मनुष्यत्व और धर्म का श्रवण ये दोनों कारण सौभाग्य से प्राप्त हो भी जाएं फिर भी धर्म पर दृढ़ विश्वास का होना अत्यन्त कठिन है। धर्म में उन्ही आत्माओं की रुचि हो सकती है जिनका कि ससार-चक्र घट गया हो, काल-लब्धि प्रायः पूर्ण हो। जिनकी स्थिति इस योग्य नहीं है, उनमे बहुत से जीव न्यायमार्ग को जानकर भी धर्म से भ्रष्ट हो जाते है, क्योंकि उनका धर्म पर दृढ़ विश्वास नही हुआ होता, यदि हो जाता तो वे धर्म-मार्ग से कभी भ्रष्ट न होते। इसलिए धर्म-श्रवण के साथ श्रद्धा का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए उक्त गाथा में न्यायमार्ग का उल्लेख किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि न्याय-युक्त मार्ग को श्रवण करके उस पर विश्वास लाना चाहिए, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्-चारित्र का अनुसरण करना ही न्याययुक्त मार्ग है। इसी को दूसरे शब्दो मे मोक्ष का मार्ग कहा गया है तथा काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ, इन पांच समवायो से जिस मार्ग की उत्पत्ति होती है उसी को न्याय-मार्ग कहते है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से भी न्याय-मार्ग की उत्पत्ति हो सकती है। इस प्रकार न्याय-मार्ग को सुनकर और समझकर भी बहुत से जीव श्रद्धा के न होने पर धर्म-मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं, इसलिए श्रद्धा का होना परम आवश्यक है।

यदि विचार-पूर्वक देखा जाए तो संसार के जितने भी व्यावहारिक कार्य है वे सबके सब विश्वास पर ही अवलम्बित है, तब धार्मिक जगत् मे श्रद्धा की कितनी आवश्यकता है, यह कहने की आवश्यकता नही रहती, इसलिए जिज्ञासु जनो को श्रद्धामय होने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

अब मनुष्यत्व, श्रुति और श्रद्धा इन तीन अंगों के मिल जाने पर भी संयम सम्बन्धी पुरुषार्थ की दुर्लभता के विषय में कहते है—

सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं ।
बहवे रोयमाणाऽवि, नो य णं पडिवज्जए ॥ १० ॥

श्रुतिं च लब्ध्वा श्रद्धाञ्च, वीर्यं पुनर्दुर्लभम् ।
बहवो रोचमाना अपि, नो च तत्प्रतिपद्यन्ते ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—**सुइं**—श्रुति, **च**—और, **सद्धं**—श्रद्धा को, **लद्धुं**—प्राप्त करके, **वीरियं**—पुरुषार्थ, **पुण**—फिर, **दुल्लहं**—दुर्लभ है, **बहवे**—बहुत से, **रोयमाणाऽवि**—रुचि करते हुए भी, **एणं**—इसको, **नो पडिवज्जए**—ग्रहण नहीं कर सकते।

मूलार्थ—मनुष्यत्व के साथ श्रुति और श्रद्धा के प्राप्त हो जाने पर भी संयम में पुरुषार्थ का होना अति दुर्लभ है, क्योंकि बहुत से जीव धर्म में रुचि होने पर भी उसे ग्रहण नहीं कर पाते।

टीका—कदाचित् किसी जीव को मनुष्यत्व, धर्म का श्रवण और धर्म मे पूर्ण अभिरुचि, ये तीनों साधन मिल भी जाए तो भी इनके साथ वीर्य—पुरुषार्थ का मिलना और भी कठिन है। अतएव, बहुत से जीवों की धर्म मे अभिरुचि होते हुए भी वे धर्म का यथार्थरूप से ग्रहण नही कर सकते, क्योंकि जीव के संयम-विषयक पुरुषार्थ का प्रतिबन्धक चारित्र-मोहनीय कर्म है। इसलिए जब तक चारित्र-मोहनीय कर्म का क्षय अथवा क्षयोपशम नहीं होता, तब तक इस जीव को चारित्र ग्रहण करने की अभिरुचि पैदा नहीं हो सकती और जब तक चारित्र का ग्रहण नही किया जाता तब तक आस्रव के द्वारों—पाप के मार्गों का बन्द होना कठिन है और आस्रवों का निरोध हुए बिना मोक्ष की आशा करना आकाश-कुसुम के समान बिल्कुल व्यर्थ है। एतदर्थ ही शास्त्रकारों ने वीर्य—पुरुषार्थ को परम आवश्यक समझते हुए दुर्लभ बताया है।

यहां यह शका हो सकती है कि उक्त गाथा मे केवल 'वीर्य' शब्द का ही उल्लेख किया गया है, जिसकी सरल और सीधी व्याख्या यही हो सकती है कि वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ का होना दुर्लभ है, परन्तु इससे यह नही समझ में आता कि उसकी दुर्लभता किस विषय मे है? इस प्रश्न का या शंका का संक्षेप से उत्तर या समाधान यही है कि शास्त्रकारो ने दो प्रकार से या दो प्रकार के नाम निर्देश से धर्म का वर्णन किया है, एक श्रुत-धर्म और दूसरा चारित्र-धर्म। श्रुत-धर्म का तो ऊपर आठवीं गाथा मे उल्लेख आ चुका है और उसके द्वारा तो आत्मा की प्राप्ति सिद्ध हो चुकी है, अब शेष रहे हुए चारित्र-धर्म के विषय से ही वीर्य—पुरुषार्थ के करने का शास्त्रकार का अभिप्राय है, इसलिए मनुष्य-जन्म, श्रुति और श्रद्धा के साथ संयम-विषयक पुरुषार्थ का आचरण करना भी नितान्त आवश्यक है। यह बात भली-भाति सिद्ध हो गई और इस कथन से यह प्रमाणित हो गया कि मोक्ष की उपलब्धि मे श्रुत और चारित्र दोनो ही धर्मों की समानरूप से उपयोगिता है। दोनो में से किसी एक के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती, दोनो का समन्वय ही मोक्ष का साधक है। इसीलिए तत्त्वार्थ-सूत्र आदि शास्त्रों में '**ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः**' ज्ञान और क्रिया दोनो से ही मोक्ष का होना माना गया है।

इस पूर्वापर सन्दर्भ का सक्षिप्त साराश यह है कि मनुष्य योनि मे आने वाले जीव के लिए मनुष्यत्व, धर्म का श्रवण, धर्माभिरुचि और सयम-विषयक पुरुषार्थ ये चारो ही बाते अत्यन्त दुर्लभ हैं। किसी बड़े भारी पुण्यकर्म के उदय से ही इनकी प्राप्ति हो सकती है, यही इनकी दुर्लभता है।

भाग्यातिरेक से किसी भव्यात्मा को यदि इन चारों ही अंगो की प्राप्ति हो जाए तो उसका जो फल होता है, अब उसका वर्णन किया जाता है—

माणुसत्तम्मि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्दहे ।
तवस्सी वीरियं लद्धुं, संवुडे निद्धुणे रयं ॥ ११ ॥
मानुषत्वे आयातः, यो धर्मं श्रुत्वा श्रद्धत्ते ।
तपस्वी वीर्यं लब्ध्वा, संवृत्तो निर्धुनोति रजः ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—माणुसत्तम्मि—मनुष्य के भव में, **आयाओ**—आया हुआ, **जो**—जो, **धम्मं**—धर्म को, **सोच्च**—सुन करके, **सद्दहे**—श्रद्धा करता है, **तवस्सी**—तपोनिष्ठ, **वीरियं**—संयम में पुरुषार्थ को, **लद्धुं**—प्राप्त करके, **संवुडे**—आस्रव-रहित—संवर-युक्त होकर, **रयं**—कर्म-रज को, **निद्धुणे**—धुन देता है।

मूलार्थ—जो जीव मानव-जन्म को प्राप्त करके धर्म का यथाविधि श्रवण करता है और धर्म पर दृढ़तर विश्वास रखता हुआ उसके अनुसार संयम को ग्रहण करता है। ऐसा संवृत-आस्रवरहित—निष्पाप तपस्वी-तपोनिष्ठ आत्मा अपने चिर-संचित कर्म-मल को धुन देता है—छिन्न-भिन्न कर देता है, अर्थात् उससे अलग हो जाता है।

टीका—इस गाथा मे उक्त चारो अंगों की यथार्थ फल-श्रुति का उल्लेख किया गया है। यह बात तो असदिग्ध ही है कि मोक्ष-सुख की प्राप्ति का आधार ज्ञानावरणीयादि चार प्रकार के आत्मा के ज्ञान दर्शन, चारित्र और वीर्य आदि गुणों का घात करने वाले घाति कर्मों के क्षय पर अवलम्बित है और उन कर्मों का क्षय निर्जरा और सवर (आश्रवद्वारो का निरोध करना) के सम्यग् अनुष्ठान पर आश्रित है। सवर और निर्जरा के लिए श्रद्धा की आवश्यकता होती है तथा श्रद्धा-प्राप्ति के निमित्त धर्म के श्रवण की जरुरत है और धर्म का यथाविधि श्रवण करना मनुष्यता की अपेक्षा रखता है, अतः मनुष्यता से लेकर श्रुति, श्रद्धा, चारित्र-ग्रहण, संवर और निर्जरा तक को प्राप्त करने वाली आत्मा कर्मो का क्षय करने मे समर्थ हो जाती है। कर्म-क्षय का अन्तिम फल केवलज्ञान और मोक्ष है।

इस सारे कथन का साराक्ष यही है कि मनुष्यत्व आदि चारो अगो को प्राप्त करने वाला जीव कर्म की कठिन बेड़ियों को तोड़कर अपना पूर्ण विकास कर लेने मे समर्थ हो जाता है जिसका अन्तिम फल आत्म-स्वातन्त्र्य या मोक्ष का निरतिशय सुख है।

यहा पर इस बात को भूल नही जाना चाहिए कि मोक्ष के कारणभूत इन चारों अंगों में श्रुति, श्रद्धा और संयम में वीर्य ये तीनो तो आधेय हैं और मनुष्यत्व इनका आधार है, इसलिए आधारभूत प्रधान अंग का यह कर्त्तव्य है कि वह श्रुति, श्रद्धा और पुरुषार्थ के द्वारा अपने विकास में किसी प्रकार की भी कमी शेष न रखे, इसी में उसका श्रेय है। कितने ही मूढ़ लोगों ने धन-धान्य और पुत्र-पौत्र आदि परिवार को ही दुर्लभ मान रखा है, परन्तु यह उनकी बड़ी भारी भूल है। वास्तव में तो दुर्लभ वस्तु वही है कि जिसके प्राप्त होने पर इस जीव को परम कल्याण की प्राप्ति हो सके और जिसके अप्राप्त होने से इस जीव को जन्म-मरण की परम्परा के चक्र मे घूमते हुए अधिकतर दुख का ही अनुभव करना पड़े। इसके अतिरिक्त पुत्र-पौत्रादि की प्राप्ति तो इस जीव को अनेक बार हुई और

अनेक बार होगी। इनको दुर्लभ कहना व मानना सिवाय अज्ञानता के और कुछ नहीं हैं। तब सिद्ध हुआ कि इन सांसारिक पदार्थों की तरफ जरा भी ध्यान न देकर विवेकशील पुरुष को इन दुर्लभ अंगों के द्वारा अपने परमश्रेय मोक्ष रूप साध्य की सिद्धि की ओर ही झुके रहने का सतत प्रयत्न करना चाहिए।

अब उक्त चारों अंगों के ऐहिक फल के विषय में कहते हैं—

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ ।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्तिव्व पावए ॥ १२ ॥

शुद्धिः ऋजुभूतस्य, धर्मः शुद्धस्य तिष्ठति ।
निर्वाणं परमं याति, घृतसिक्त इव पावकः ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—सोही—शुद्धि, **उज्जुयभूयस्स**—सरल की होती है, **धम्मो**—धर्म, **सुद्धस्स**—शुद्ध के हृदय मे, **चिट्ठई**—ठहरता है, **निव्वाणं**—मोक्ष, **परमं**—प्रधान, **जाइ**—पाता है, **घयसित्त**—घृत से सिचन की हुई, **इव**—जैसे, **पावए**—अग्नि।

मूलार्थ—मोक्षमार्गानुगामी जीव की ही शुद्धि होती है और शुद्ध हृदय में ही धर्म ठहर सकता है, अतः धर्म-युक्त शुद्ध हृदय वाला जीव घृत-सिक्त अग्नि की भांति देदीप्यमान होता हुआ कल्याण-स्वरूप परम शांत जीवन-मोक्ष पद को प्राप्त हो जाता है।

टीका—इस गाथा मे जीवन्मुक्त के स्वरूप का वर्णन किया गया है। जीवन्मुक्त की आत्मा अत्यन्त सरल होती है, उसमे क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायो का निवास नही होता, इसलिए वह शुद्ध होती है। इस प्रकार की कषाय-रहित शुद्ध आत्मा मे ही धर्म को स्थान प्राप्त हो सकता है, जो आत्मा कषायो से मलिन हो रही हो उसमे धर्म के ठहरने के लिए जगह ही नहीं होती। क्षमा आदि दशविध यति-धर्म की स्थिति तो निर्मल और शुद्ध हृदय मे ही हो सकती है। जैसे मलयुक्त शरीर मे बहुमूल्य औषधि भी निष्फल हो जाती है, अर्थात् उसका कोई असर नही होता, ऐसे ही कषाय-युक्त आत्मा पर भी धर्म के स्वरूप का कोई प्रभाव नही होता, इसलिए धर्म की प्रतिष्ठा के लिए कषाय-निर्मुक्त शुद्ध आत्मा ही अपेक्षित है। कषायमुक्त-शुद्ध और धर्मयुक्त आत्मा को ही जीवन्मुक्त कहते है, क्योकि शुद्ध और धर्म-युक्त आत्मा अपने आत्मगुणों का विकास करता हुआ घृतसिक्त अग्नि की तरह अपने स्वाभाविक तेज से देदीप्यमान होकर इस संसार मे जीते जी ही मुक्तात्मा की भांति विचरता है और शरीर-त्याग के बाद परम शांत और कल्याणरूप मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है।

इस जगह पर जो घृत-सिक्त अग्नि का दृष्टान्त दिया गया है उसका तात्पर्य यह है कि घृतसिक्त अग्नि मे जितनी तेजस्विता होती है उतनी तृणवर्द्धित अग्नि-ज्वाला मे नही। तब इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस प्रकार घृतसिक्त अग्नि अधिक तेज वाली होती है, उसी प्रकार कषाय-मुक्त और धर्म-युक्त आत्मा के बढ़े हुए तपोबल मे भी वैसी ही उत्कट प्रभावपूर्ण तेजस्विता होती है। अन्तर

केवल इतना ही है कि अग्नि के तेज में दीप्ति के सिवाय उष्णता की अधिकता है और जीवन्मुक्त आत्मा की **'तपस्तेजोज्ज्वलितत्वेन घृततर्पिताग्निसमानः'**, अर्थात् घृत-तर्पित अग्नि के समान जो अपने तप और तेज से प्रदीप्त हो रहा है।

ऊपर दिए गए विवेचन का सारांश यह है कि प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को सरल, कषायमुक्त और धर्म-युक्त होकर आत्मिक गुणों के विकास द्वारा जीवन्मुक्ति—सदेहमोक्ष का आनन्द लूटते हुए परम-निर्वाण—विदेह-मोक्ष को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

गुरुजनों का शिष्य के लिए जो हितकर उपदेश है अब उसके विषय में कहते हैं—

विगिंच कम्मुणो हेउं, जसं संचिणु खंतिए ।
सरीरं पाढवं हिच्चा, उड्ढं पक्कमई दिसं ॥ १३ ॥

वेविग्धि कर्मणो हेतुं, यशः संचिनु क्षान्त्या ।
शरीरं पार्थिवं हित्वा, ऊर्ध्वां प्रक्रामति दिशम् ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—कम्मुणो—कर्म के, **हेउं**—हेतु को, **विगिंच**—दूर कर, **जसं**—संयम रूप यश को, **संचिणु**—संचित कर, **खंतिए**—क्षमा से, **पाढवं**—पार्थिव, **सरीरं**—शरीर को, **हिच्चा**—छोड़कर, **उड्ढं**—ऊची, **दिसं**—दिशा को, **पक्कमई**—प्राप्त होता है।

मूलार्थ—हे शिष्य ! कर्म के हेतु को दूर कर और क्षमा से संयमरूप यश का संचय कर, ऐसा करने वाला पुरुष इस पार्थिव शरीर को छोड़कर ऊंची दिशा अर्थात् स्वर्ग व मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

टीका—गुरु शिष्य को उपदेश करते है कि हे शिष्य! मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद और योग आदि जो कर्म-बन्ध के हेतु है उनको तू अपने से दूर कर दे और क्षमा के द्वारा संयमरूप यश का सचय कर। जो जीव इस प्रकार का आचार करता है वह इस दृश्यमान पार्थिव शरीर का परित्याग करके ऊची दिशा को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् स्वर्ग अथवा मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। कर्मों के सर्वथा नष्ट होने से मोक्ष और पुण्य-कर्मो के शेष रहने पर स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

यद्यपि यश शब्द का प्रसिद्ध अर्थ कीर्ति या मान-बड़ाई होता है, परन्तु शास्त्रकार को यहां पर सूत्र शैली के अनुसार उसका सयम और विनय अर्थ ही अभिप्रेत है तथा उसके सचय के हेतु जो क्षमा, मार्दवादि गुण बताए गए है, वह भी तभी संगत हो सकता है जबकि कर्म-बन्ध के हेतु मिथ्यात्व एवं कषाय आदि का नाश हो गया हो और क्षमा आदि द्वारा कर्मनाशक सयम का सचय कर लिया हो तो जरूरी है कि इस पार्थिव देह के वियोग होने के बाद वह जीव स्वर्ग अथवा मोक्ष इन दोनों में से किसी एक को प्राप्त कर ही लेता है। इसी उद्देश्य से शास्त्रकार ने गुरुजनों के व्याज से शिष्य को लक्ष्य मे रखकर उपदेश देने का यत्न किया है ताकि भव्य जीव अपने कर्त्तव्य को समझकर आत्म-श्रेय की ओर अग्रसर हो सकें।

ऊपर बताया गया है कि कर्म का सर्वथा नाश होने से मोक्ष, और कुछ शुभ कर्म शेष रह जाएं तो जीव को स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

अब स्वर्ग-प्राप्त जीव की अवस्था का वर्णन करते हैं—

विसालिसेहिं सीलेहिं, जक्खा उत्तर-उत्तरा ।
महासुक्का व दिप्पंता, मन्नंता अपुणच्चवं ॥ १४ ॥

विसदृशैः शीलैः, यक्षाः उत्तरोत्तराः ।
महाशुक्ला इव दीप्यमानाः, मन्यमाना अपुनश्च्यवम् ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—विसालिसेहिं—नाना प्रकार के, **सीलेहिं**—आचरणों से, **जक्खा**—यक्षदेव, **उत्तर-उत्तरा**—प्रधान से प्रधान होते है, **महासुक्का**—महाशुक्ल को, **व**—तरह, **दिप्पंता**—प्रकाशमान् होते हुए, **अपुण**—फिर नही, **च्चवं**—मृत्यु (ऐसे), **मन्नंता**—मानते हुए।

मूलार्थ—जीव नाना प्रकार की शिक्षा और व्रतों के अनुष्ठान के कारण प्रधान से प्रधान देव हो जाते हैं और सूर्यादि की भांति महाशुक्ल प्रकाश करते हुए एवं अपने च्यवन को भी नहीं मानते हुए वहां रहते हैं।

टीका—इस लोक मे जब प्राणी नाना प्रकार की उत्तम शिक्षाओं का पालन करते है और नाना प्रकार के शीलव्रत आदि का अनुष्ठान करते है तब उसके प्रभाव से वे स्वर्गलोक में प्रधान से प्रधान देव बनते है, अनुत्तर विमान आदि महाविमानो मे उत्पन्न होते है। वे और उनके विमान सूर्य और चन्द्रमा की तरह प्रकाशमान होते है, क्योंकि उत्तरोत्तर विमान महाशुक्ल ही होते हैं, इसीलिए उनका सूर्य और चन्द्रमा की तरह प्रकाश है। इतना ही नही, किन्तु पल्योपम, सागरोपम आदि की दीर्घायु और अति सुख-प्राप्ति के कारण वे अपनी मृत्यु को भी बिल्कुल भूल जाते है। उन्हे यह भान ही नही रहता कि पुण्य-कर्मजन्य फल की समाप्ति पर कभी हमारा यहा से च्यवन भी होगा। वे तो अपने को मृत्यु से सदा रहित मानते हुए वहा पर रहते है।

यहां पर इतना स्मरणीय है कि देवों मे इस प्रकार का भाव होना कोई अस्वाभाविक बात नही है। उनके कल्पनातीत सुख और आयु-सम्बन्धी मान को देखते हुए यह कुछ भी आश्चर्य की बात नही है और वे तो वैसे भी अमर कहलाते है। परन्तु इस संसार मे तो ऐसे सख्यातीत मनुष्य निकलेगे कि जिनका अति स्वल्पसुख और स्वल्पतम आयु के होने पर भी उनको अपनी मृत्यु का जरा भी ध्यान नही रहता है। उनकी प्रवृत्ति को देखते हुए तो ऐसा लगता है कि मानो वे देवताओं से भी अपने को अधिक अमर माने हुए बैठे है। बस, आश्चर्य है तो यही है।

गाथा में आए हुए **'विसालिसेहिं'** शब्द का मागधी भाषा मे **'विसदृश'** 'नाना प्रकार' ही अर्थ किया जाता है और 'उत्तरोत्तर' शब्द के साथ **'तिष्ठंति'** क्रिया का अध्याहार कर लेना चाहिए।

ऊपर की गाथा में इस बात का उल्लेख किया गया है कि स्वर्गलोक में रहने वाले वे देव अपनी मृत्यु को भी भूल जाते हैं। अब शास्त्रकार उसका कारण बताते हैं—

अप्पिया देवकामाणं, कामरूव विउव्विणो ।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठन्ति, पुव्वा वाससया बहू ॥ १५ ॥

अर्पिता देवकामानां, कामरूप-विकुर्वाणाः ।
ऊर्ध्वं कल्पेषु तिष्ठन्ति, पूर्वाणि वर्षशतानि बहूनि ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—**अप्पिया**—प्राप्त हुए, **देवकामाणं**—दिव्य-कामभोगों को, **कामरूव**—इच्छानुसार, **विउव्विणो**—वैक्रिय करने वाले, **उड्ढं**—ऊंचे, **कप्पेसु**—कल्प विमानो में, **चिट्ठंति**—ठहरते है, **पुव्वा**—पूर्व, **वास**—वर्ष, **सया**—सौ, **बहू**—बहुत।

मूलार्थ—देव-कामों को प्राप्त हुए इच्छानुकूल वैक्रिय करने वाले जीव ऊंचे कल्पों अर्थात् विमानों में सैकड़ों पूर्व वर्षों तक अर्थात् असंख्यात काल पर्यन्त ठहरते-निवास करते हैं।

टीका—पूर्वोपार्जित पुण्य-संचय के प्रभाव से देवगति को प्राप्त हुए जीव ऊंचे-से-ऊंचे कल्पो अर्थात् देवलोकों में जा विराजते है, फिर वहां पर उनको अपनी इच्छा के अनुसार रूप बना लेने की शक्ति और नाना प्रकार की वैक्रिय-क्रियाओं से यथेष्ट रूप धारण करने की लब्धि प्राप्त हो जाती है, वे जो चाहें बन सकते है। यह सब कुछ तप और संयम के फल का चमत्कार है। उनका वहां पर असंख्यात वर्षों तक निवास रहता है। यहा पर वृत्तिकार ने पूर्वो के वर्षो की गणना इस प्रकार की है **'पूर्वाणि—वर्षसप्ततिकोटिलक्ष-षट्पंचाशत-कोटिसहस्त्रपरिमितानि'** अर्थात् ७० लाख करोड़ वर्ष, ५६ हजार करोड़ वर्ष, ये सब मिलकर एक पूर्व के वर्ष होते है, सो ऐसे असंख्यात पूर्वों तक वे जीव स्वर्गलोक मे रहते है। इस भाव की सूचना के लिए ही मूल-गाथा मे 'बहू' शब्द का प्रयोग किया गया है।

यद्यपि यहा पर यह शका हो सकती है कि अगर सूत्रकार को 'बहू' शब्द का असंख्यात अर्थ ही अभीष्ट था तो वे 'बहू' के स्थान मे असंख्यात शब्द का ही उल्लेख करते। उन्होंने ऐसे अप्रसिद्ध शब्द का प्रयोग क्यो किया? इसका समाधान यह है कि सूत्रकार ने इसलिए 'बहू' शब्द का उल्लेख किया है कि उन्होंने इसके साथ यह भी सिद्ध करना था कि पूर्वों और वर्षों के तप-संयम का इतना महान् फल प्राप्त होता है, क्योकि शास्त्रों में संयम और तप के योग्य पूर्वों और वर्षों की ही आयु बताई गई है। पल्योपम और सागरोपम की आयु तप और संयम के योग्य नहीं होती। जैसा कि वृत्तिकार ने लिखा है **'पूर्ववर्षशतायुषामेव चरणयोग्यत्वेन विशेषतो देशनौचित्यमिति ख्यापनार्थमित्थमुपन्यासः'** सो इसलिए इन शब्दो का ग्रहण किया गया है।

इससे सिद्ध हुआ कि देवों को जो अपनी मृत्यु का भान नहीं होता उसका कारण उनकी इतनी लम्बी स्थिति और उनको कल्पनातीत ऐश्वर्य की प्राप्ति ही है। इसी से उनको अपनी मृत्यु का कभी स्मरण भी नहीं होता।

अब निम्नलिखित गाथा में इस बात पर विचार किया जाता है कि देव-आयु के समाप्त होने के बाद जब उन जीवों का च्यवन होता है तब वे जीव कहां पर आकर उत्पन्न होते हैं—

तत्थ ठिच्चा जहाठाणं, जक्खा आउक्खए चुया ।
उवेन्ति माणुसं जोणिं, से दसंगेऽभिजायए ॥ १६ ॥

तत्र स्थित्वा यथास्थानं, यक्षा आयुक्षये च्युताः ।
उपयान्ति मानुषीं योनिं, स दशांगोऽभिजायते ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—तत्थ—वहा, जहाठाणं—यथास्थान, ठिच्चा—स्थिति करके, जक्खा—यक्ष—देव आउक्खए—आयु के क्षय होने पर, चुया—च्यव कर, माणुसिं जोणिं—मनुष्य-योनि को, उवेंति—प्राप्त होते हैं, से दसंगेऽभिजायए—वे दश अंगों के सहित उत्पन्न होते है।

मूलार्थ—वे देव उन देवलोकों में यथास्थान ठहरकर आयु के क्षय होने के बाद वहां से च्यवन कर मनुष्य की योनि में आते हैं और उनको यहां पर मनुष्योचित सांसारिक काम-भोगों के दश अंगों की प्राप्ति होती है।

टीका—तप-सयमादि पुण्यकर्मों के अनुष्ठान से देवगति को प्राप्त हुए जीव स्वर्गादि लोकों मे अपने पुण्य के तारतम्य के अनुसार दिव्य सुखों को भोगकर जब आयु के समाप्त होने पर वे वहां से च्यवते है, तब उनका जन्म मनुष्य योनि में ही होता है, अर्थात् शेष रहे हुए कर्मों के फल को भोगने के लिए वे स्वर्ग से च्यव कर यहा मनुष्यलोक मे आते है और यहा पर भी उनको दश अगों की प्राप्ति हो जाती है, अर्थात् सासारिक सुख भोगने के जो मुख्य दश अंग माने जाते है, उनको वे सब यहा पर मिल जाते है जिससे कि वे अन्य साधारण ससारी जीवों की अपेक्षा यहां पर भी अधिक सुखी, अधिक ऐश्वर्यशाली और अधिक प्रभाव रखने वाले होते है।

यहा पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि स्वर्ग से आने वाले जीवो के लिए जो दशाङ्ग प्राप्ति का उल्लेख किया गया है वह उत्सर्ग मार्ग है। अपवाद मार्ग से तो नौ और इससे भी न्यून हो जाते है, क्योकि इनकी प्राप्ति का आधार शेष रहे हुए कर्मो की इयत्ता पर निर्भर है। अगर शेष कर्म अधिक है तो उनके अनुसार अधिक साधनो की प्राप्ति होगी और यदि वे न्यून है तो दश मे से कम साधन मिलेगे। तात्पर्य यह है कि जितने अंशों मे कर्म शेष होगे उतने ही अशो मे उन्ही के अनुसार सामग्री की प्राप्ति होगी। इसी अभिप्राय से मूलगाथा मे '**अभिजाए**' यह एक वचनान्त क्रिया दी गई है।

यहा पर एक बात और स्मरण रखने के योग्य है, वह यह कि देवो की इतनी बड़ी आयु और इतनी बड़ी विभूति होती है फिर भी उसका अन्त हो जाता है और उनको फिर मनुष्य-योनि मे जन्म धारण करके अपने अभीष्ट को सिद्ध करने का प्रयत्न करना पड़ता है। इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्य जन्म के समान दूसरा कोई जन्म नही और मनुष्ययोनि के बिना और किसी योनि से भी मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती। इसलिए देवो को भी स्वर्ग से च्यव कर इसी मनुष्य योनि में जन्म धारण करना पड़ता है।

इससे प्रमाणित हुआ कि मनुष्य जन्म एक बड़ा ही दुर्लभ रत्न है। इसको प्राप्त करके भी जो जीव इसके मूल्य को नहीं समझते वे वास्तव मे पशु है। इसलिए विचारशील पुरुषो को उचित है कि देव-दुर्लभ इस मानव-शरीर को प्राप्त करके, वे अपने आप को सांसारिक विषय-वासनाओं में ही लिप्त न रखे, किन्तु धर्म के आराधन में तत्पर रहते हुए आत्म-कल्याण को अपने जीवन का सबसे प्रमुख

उद्देश्य बनाएं। इसी में उनके मानव-जन्म की सार्थकता है।

पहला अङ्ग काम-स्कन्ध—

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दासपोरुसं ।
चत्तारि कामखन्धाणि, तत्थ से उववज्जई ॥ १७ ॥

क्षेत्रं वास्तु हिरण्यञ्च, पशवो दास-पौरुषम् ।
चत्वारः कामस्कन्धाः, तत्र स उपपद्यते ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः—खेत्तं—क्षेत्र, **वत्थुं**—प्रासाद, **हिरण्णं**—सुवर्ण आदि पदार्थ, **च**—और, **पसवो**—पशु, **दास**—दास—नौकर, **पोरुसं**—पुरुषों का समूह व सेना, **चत्तारि**—चार, **काम-खंधाणि**—काम के स्कन्ध है, **तत्थ से**—वहा पर (वह जीव), **उववज्जई**—उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—क्षेत्र, वास्तु अर्थात् राजमहल, हिरण्य अर्थात् सोना-चांदी आदि, पशु और दास-समूह, ये चारों काम के स्कन्ध अर्थात् अंग हैं। ये चारों स्कन्ध जहां पर विद्यमान हों वहां पर देवलोक से आया हुआ जीव जन्म धारण करता है।

टीका—इस गाथा में देवलोक से च्यवकर आने वाले जीव किस कुल मे, किस स्थान में और किस प्रकार की विभूति में जन्म लेते है, इस बात का वर्णन किया गया है।

जिस कुल मे व घर मे पहले ही क्षेत्र अर्थात् ग्राम, नगर, आराम आदि, वास्तु अर्थात् प्रासाद, भूमि, गृह आदि, हिरण्य अर्थात् सोना-चादी आदि, पशु अर्थात् अश्व, गो, भैस आदि, दास अर्थात् दास-दासियों का समूह, ये चारों प्रकार के ऐश्वर्य विद्यमान हों, उसी कुल में स्वर्गच्युत पुण्यशाली जीव जन्म लेते है। ये चारों ही काम-भोग के साधन होने से काम-स्कन्ध या कामाग कहे जाते है, क्योंकि इनके बिना सांसारिक सुखों एव विषय-भोगों की उपलब्धि नहीं हो सकती, अतः क्षेत्र—वास्तु, हिरण्य, पशु और दास यह चारो अग जितने भी सासारिक सुख है उन सब के मूल कारण हैं। इनको स्कन्ध इसलिए कहते है कि ये सभी पुद्गल के स्कन्ध अर्थात् समूह है। इसलिए इनसे पौद्गलिक सुखो की ही प्राप्ति हो सकती है और आत्मिक सुख तो इनसे कोसो दूर है। नेत्रों के द्वारा जो वस्तु का प्रत्यक्ष होता है, वह चाक्षुष ज्ञान कहलाता हुआ भी आत्मिक ज्ञान है, परन्तु वस्तु की मनोज्ञता और अमनोज्ञता यह पुद्गल-स्वभाव-जन्य है।

यहां पर इतना और समझ लेना चाहिए कि जो पुण्यात्मा जीव हैं उनको तो उनके शेष रहे पुण्यकर्मो के अनुसार पौदगलिक सुखो की बिना ही यत्न किये प्राप्ति हो जाती है, उनको इन सुखो की प्राप्ति के लिए तप आदि कर्मों का अनुष्ठान नहीं करना पड़ता। वे तो निर्जरा के लिए ही सब कर्म करते है। यदि उनके समस्त कर्मों की निर्जरा अभी तक नहीं हुई हो तो उनको ये सुख स्वतः ही प्राप्त हो जाते है और अन्य साधारण जीवों को उनकी प्राप्ति के लिए अधिक-से-अधिक प्रयत्न करने की अपेक्षा रहती है।

पूर्वोक्त दश अङ्गों में से प्रथम अङ्ग का कामस्कन्धों के रूप में वर्णन हो चुका, अब शेष के नव अङ्गों का वर्णन निम्नलिखित गाथा में किया जाता है—

मित्तवं नाइवं होइ, उच्चागोए य वण्णवं ।
अप्पायंके महापन्ने, अभिजाए जसो बले ॥ १८ ॥

मित्रवाञ्ज्ञातिमान्भवति, उच्चैर्गोत्रश्च वर्णवान् ।
अल्पातंकः महाप्राज्ञः, अभिजातो यशस्वी बली ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—मित्तवं—मित्रवान्, **नाइवं**—ज्ञातिमान्, **उच्चागोए**—उच्च गोत्र वाला, **य**—और, **वण्णवं**—वर्ण वाला, **अप्पायंके**—अल्प रोग वाला, **महापन्ने**—महाप्राज्ञ, **अभिजाए**—विनयवान्, **जसो**—यश वाला, **बले**—बल वाला, **होइ**—होता है।

मूलार्थ—स्वर्ग से आया हुआ जीव मित्रों वाला, ज्ञाति वाला, उच्चगोत्री, सुन्दर वर्ण वाला, रोग-रहित, महाप्राज्ञ, विनयवान्, यशस्वी और बल वाला होता है।

टीका—इस गाथा में शेष नौ अंगों का निर्देश किया गया है। स्वर्ग से आए हुए जीव का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते है कि वह पुण्यात्मा जीव इस ससार मे बहुत से मित्रों वाला होता है, अधिक सम्बन्धियों वाला होता है, तथा ऊचे कुल मे जन्म लेने वाला होता है। उसके शरीर का वर्ण भी बड़ा सुन्दर होता है, अर्थात् उसके शरीर का रग स्निग्ध और सुन्दर वर्ण वाला होता है तथा उसके शरीर में रोगों का आक्रमण बहुत ही कम होता है। दूसरे शब्दो मे कहे तो वह रोग-रहित होता है एव बुद्धिशाली—अन्य मनुष्यों की अपेक्षा अधिक बुद्धि रखने वाला, विनयशील, यशस्वी और बलशाली होता है। उपर्युक्त गुण उस आत्मा में स्वभाव से ही होते हैं, अर्थात् पूर्वोपार्जित शेष रहे शुभ कर्मो के प्रभाव से ये सब वस्तुए उस आत्मा को बिना ही यत्न के प्राप्त हो जाती है। किसी साधन विशेष के अनुष्ठान की उसे आवश्यकता नही रह जाती।

यद्यपि शास्त्रो में औदारिक शरीर को रोगालय अर्थात् रोगों का घर कहा गया है, इसलिए औदारिक शरीर रखने वाला कोई भी व्यक्ति सर्वथा रोग-रहित नही हो सकता, अतः इस संसार मे आने वाले स्वर्गीय व्यक्ति को रोग-रहित कहना कुछ असगत सा प्रतीत होता है। परन्तु गाथा मे आए हुए **'अल्पातंक'** शब्द के अर्थ पर विचार करने से यह असंगति दूर हो सकती है। **'अल्प'** शब्द का अभाव और स्तोक अर्थात् थोड़ा, ये दो अर्थ होते है। इनमें भी स्तोक अर्थ अधिक प्रसिद्ध है, परन्तु स्वर्गीय जीव मे इन दोनो ही अर्थो की सगति हो सकती है। वह इस प्रकार से कि या तो उस पुण्यशाली स्वर्गीय व्यक्ति को किसी रोग से वास्ता ही नही पड़ता, अर्थात् उस पर किसी रोग का आक्रमण ही नही होता और यदि किसी समय उस पर रोगो का थोड़ा बहुत आक्रमण हो भी जाए तो वह आक्रमण उसके पौद्गलिक सुखो मे किसी प्रकार से प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। यही उसके पुण्य की महिमा है।

यश और बल ये दोनो शब्द **'मतुप् प्रत्ययान्त'** है, परन्तु प्राकृत भाषा के नियमानुसार यहा पर

प्रत्यय का लोप हो गया है, इसलिए इन दोनों शब्दों का क्रम से—यशस्वी और बलवान्—अर्थ करना किसी प्रकार से असंगत नहीं है।

अब उसके अन्य फल के विषय में कहते हैं—

भोच्चा माणुस्सए भोए, अप्पडिरूवे अहाउयं ।
पुव्विं विसुद्ध-सद्धम्मे, केवलं बोहि बुज्झिया ॥ १६ ॥

भुक्त्वा मानुष्यकान्भोगान्, अप्रतिरूपान्यथायुषम् ।
पूर्वं विशुद्ध-सद्धर्मा केवलां बोधिं बुद्ध्वा ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—माणुस्सए—मनुष्य के, **अप्पडिरूवे**—उपमारहित, **भोए**—भोगों को, **अहाउयं**—आयु-पर्यन्त, **भोच्चा**—भोग करके, **पुव्विं**—पूर्व, **विसुद्ध**—निर्मल, **सद्धम्मे**—सद्धर्म में, **केवलं**—शुद्ध, **बोहि**—बोधि को, **बुज्झिया**—प्राप्त करके।

मूलार्थ—मनुष्य के अनुपम काम-भोगों को आयु-पर्यन्त भोग करके यह जीव पूर्व की तरह विशुद्ध सद्धर्म में निष्कलंक बोधि को प्राप्त कर लेता है।

टीका—फिर वह पुण्यात्मा जीव मनुष्य के अनुपम काम-भोगों को आयु-पर्यन्त भोग करके पूर्व-जन्म मे अर्जित किए हुए निदान-रहित शुद्ध धर्म के अनुसार निष्कलंक बोधि को प्राप्त कर लेता है। निष्कलक बोधि अरिहन्त धर्म की प्राप्ति रूप होती है। एतदर्थ ही सूत्र में केवल-बोधि यह कहा गया है, अर्थात् वह जीव अन्त में शुद्ध धर्म की प्राप्तिरूप बोधि को प्राप्त कर लेता है।

इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि पुण्यात्मा जीव के पुण्योदय में अनेकों ही पुण्यकार्य होते है। जिस प्रकार उन्होंने पूर्व जन्म में इस विशुद्ध धर्म को प्राप्त किया था उसी प्रकार वे इस जन्म में भी उसी शुद्ध धर्म को प्राप्त कर लेते है। पुण्यात्मा का यह लक्षण है कि सांसारिक विषय तो उसका पीछा छोड़ते नहीं, परन्तु वही उनको त्यागवृत्ति द्वारा एक दिन छोड़ देता है। इसी हेतु से यथायु—आयु-पर्यन्त काम-भोगो के भोगने का उल्लेख किया गया है।

यदि ऐसा ही है तो फिर पुण्यात्मा जीव उन्हे छोड़ता कब है? इसका समाधान करते हुए यहां पर **'यथायु'** शब्द सामान्य अर्थ का बोधक है। इस कथन से पुण्यात्मा के सामर्थ्यमात्र का बोध कराया गया है, अथवा जो संयम का ग्रहण नहीं कर सकते ऐसे गृही-जनों की अपेक्षा से यह उल्लेख है, क्योकि उनके रहते हुए उनकी ऋद्धि का विनाश नही हो सकता, जैसे आनन्द आदि श्रावकों की ऋद्धि का विनाश नहीं हुआ। इसलिए पुण्यवान् जीव को फिर बोधि—जिनधर्म की प्राप्ति भी हो सकती है।

विशुद्धधर्म अथवा बोधि की प्राप्ति के बाद वे पुण्यात्मा जीव क्या करते हैं, अब इस विषय की चर्चा निम्नलिखित गाथा में की जाती है—

चउरंगं दुल्लहं नच्चा, संजमं पडिवज्जिया ।
तवसा धुयकम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए ॥ २० ॥

त्ति बेमि ।

इति चाउरंगिज्जं नाम तइअं अज्झयणं समत्तं ॥ ३ ॥

चतुरंगीं दुर्लभां ज्ञात्वा, संयमं प्रतिपद्य ।
तपसा धुतकर्मांशः, सिद्धो भवति शाश्वतः ॥ २० ॥
इति ब्रवीमि ।

इति चतुरङ्गीय नाम तृतीयमध्ययनं समाप्तम् ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—**चउरंग**—चारों अगो को, **दुल्लहं**—दुर्लभ, **नच्चा**—जानकर, **संजमं**—संयम को, **पडिवज्जिया**—ग्रहण करके, **तवसा**—तप के द्वारा, **धुयकम्मंसे**—कर्मो के अश को दूर करने वाला, **सिद्धे**—सिद्ध, **सासए**—शाश्वत, **हवइ**—होता है, **त्ति**—इस प्रकार, **बेमि**—मै कहता हूं।

मूलार्थ—चारो अंगो को दुर्लभ समझकर संयम को ग्रहण करके तप के द्वारा जिसने कर्मों के अवशिष्ट अंश को दूर कर दिया है, वह कर्म-रहित जीव शाश्वत सिद्ध गति को प्राप्त हो जाता है। सूत्रकार कहते हैं कि 'मैं इस प्रकार कहता हूं।'

टीका—ऊपर जिन चारो अगो का वर्णन किया गया है उनकी प्राप्ति को दुर्लभ जानकर जिस जीव ने संयम को ग्रहण करके तपोऽनुष्ठान के द्वारा कर्माशो को अपनी आत्मा से सदा के लिए पृथक् कर दिया है वह साधक जीव शाश्वत सिद्ध-गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसलिए मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा, वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ इन चारो अंगो को दुर्लभ समझकर जो प्राणी इनका निरन्तर सदुपयोग करता है वह एक-न-एक दिन मोक्ष-मन्दिर के दिव्य सिहासन की शोभा को अवश्य बढ़ाता है और उससे उतरती हुई स्वर्ग-प्राप्ति तो उसके हस्तगत ही होती है।

यहा पर सिद्ध के साथ जो शाश्वत विशेषण लगाया गया है उसका तात्पर्य यह है कि जैन शास्त्रों में एक जीव की अपेक्षा से सिद्धगति को सादि-अनन्त स्वीकार किया गया है, इसलिए सिद्ध-पद के साथ शाश्वत विशेषण का देना जरूरी है।

'त्ति बेमि' इस शब्द का तात्पर्य पूर्व के अध्ययनों में बता ही दिया गया है। अब बार-बार उसका उल्लेख करना कोई विशेष प्रयोजन नही रखता।

चतुरंगीय अध्ययन संपूर्ण

अह चउत्थं असंखयं अज्झयणं

अथ चतुर्थमसंस्कृतमध्ययनं

तीसरे अध्ययन में चारों अंगों की दुर्लभता का उपपत्ति-सहित बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है, परन्तु भाग्यवशात् यदि किसी जीव को उन चारों अंगों की प्राप्ति हो जाए तो उसके लिए उचित है कि वह धर्म के आचरण में कभी प्रमाद न करे। इस चतुर्थ अध्ययन में इसी बात का अर्थात् प्रमाद के त्याग और अप्रमाद के सेवन का सुन्दर वर्णन किया गया है। सबसे प्रथम, प्रमाद का त्याग किस विचार को लेकर करना चाहिए, इस विषय का वर्णन निम्नलिखित गाथा के द्वारा किया जाता है—

असंखयं जीवियं मा पमायए, जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते, किण्णु विहिंसा अजया गहिंति॥ १ ॥

असंस्कृतं जीवितं मा प्रमादीः, जरोपनीतस्य खलु नास्ति त्राणम्।
एवं विजानीहि जनाः प्रमत्ताः, किन्नु विहिंस्रा अयता ग्रहीष्यन्ति॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—**असंखयं**—सस्कार-रहित, **जीवियं**—जीवन है, **मा पमायए**—प्रमाद मत करो, **हु**—जिससे, **जरोवणीयस्स**—जरा के समीप आने पर, **नत्थि ताणं**—कोई रक्षक नहीं है, **एवं**—इस प्रकार, **विजाणाहि**—तू जान (जो), **जणे**—जन, **पमत्ते**—प्रमादी हैं, **विहिंसा**—नाना प्रकार की हिंसा करने वाले है, **अजया**—अजितेन्द्रिय है, **किण्णु**—किसकी शरण, **गहिंति**—ग्रहण करेंगे।

मूलार्थ—यह जीवन संस्कार-रहित है, इसलिए हे शिष्य! तू प्रमाद मत कर, बुढ़ापे के समीप आने पर कोई भी रक्षक नहीं बनता, इस बात को तू समझ और (फिर यह भी सोच कि) जो जन प्रमादी हैं, हिंसक हैं और इन्द्रियों के वशीभूत हैं वे किसकी शरण में जाएंगे?

टीका—इस गाथा में प्रमाद के त्याग की शिक्षा बड़े ही सुन्दर ढंग से दी गई है। गुरु शिष्य को उपदेश करते हुए कहते है कि—यह जीवन संस्कारो से रहित अर्थात् चिरस्थायी नहीं, इसलिए तू प्रमाद मत कर।

जीवन की क्षण-भगुरता के विषय में दो मत नही हैं। आयु के टूटे हुए बन्धन को कोई नही जोड़ सकता। मनुष्य तो क्या, इन्द्र, महेन्द्र आदि भी टूटी हुई आयु का सन्धान नहीं कर सकते। संसार की

टूटी हुई प्रायः हर एक वस्तु किसी-न-किसी प्रकार से जोड़ी जा सकती है, किन्तु आयु का सन्धान किसी प्रकार के यत्न से भी साध्य नहीं, इसलिए धर्म के अनुष्ठान मे कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

कितने ही भोले व्यक्ति धर्माचरण को वृद्धावस्था के लिए संभाल कर रखने का मनोरथ करते है और कहते हैं कि वृद्धावस्था के आने पर धर्म का आचरण करेंगे, अभी तो युवास्था में भोगे जाने वाले विषयों का ही आनन्द लूटना चाहिए, परन्तु उनको यह स्मरण नहीं रहता कि वृद्धावस्था में उनका कोई रक्षक या सहायक भी होगा कि नही, वास्तव मे कोई नही होगा। आज युवावस्था में जिन कुटुम्बी जनो के लिए आत्म-समर्पण तक किया जाता है और जिन पुत्रादि से अधिक प्यार किया जाता है, वृद्धावस्था मे वे ही हमारा तिरस्कार करने लग जाते है। इसीलिए वृद्धावस्था में धर्मानुष्ठान की आशा करना सर्वथा व्यर्थ है। धर्म के आचरण के लिए तो जितनी शीघ्रता हो सके उतनी ही श्रेष्ठ है। वास्तव मे जब तक इस शरीर मे बल है, जब तक इसमे स्फूर्ति है और जब तक चक्षु आदि इन्द्रिया अपना-अपना काम अच्छी तरह से कर रही है एवं जब तक यह शरीर जरा रूपी राक्षसी से अभिभूत नही होता, तब तक अर्थोपार्जन की भाति अप्रमत्त होकर धर्म का सचय करना चाहिए। अतः जो जीव प्रमत्त है, प्रमादी है, हिसक है, सावद्य कर्मो का अनुष्ठान करने वाले है और अजितेन्द्रिय मात्र-इन्द्रियो के वशीभूत है, वे मृत्यु के समय किस की शरण मे जाएगे ? किसका आश्रय ग्रहण करेगे? इस बात का विवेकी जनो को अवश्य ध्यान रखना चाहिए। सारांश यह है कि धर्म के आचरण मे प्रवृत्त हो जाना चाहिए।

इस गाथा मे आया हुआ '**हु**' शब्द '**यस्मात्**' अर्थ का वाचक है और '**जणे पमत्ते**' ये दोनो शब्द प्रथमा विभक्ति के बहु वचन के स्थान पर दिये गए सप्तमी के एकवचन के रूप है। '**नु**' यह वितर्क अर्थ मे है।

कितने ही अज्ञानी जीव धन को ही सुख का साधन मानते हुए धन के उपार्जन में ही अप्रमत्तता रखने का उपदेश करते हैं और स्वयं भी प्रमाद-रहित होकर धन के संचय में लीन रहते हैं। ऐसे लोगों के विचार से असहमत होते हुए सूत्रकार उनके उक्त विचार के भयंकर परिणाम का दिग्दर्शन कराने के लिए अब दूसरी गाथा का उल्लेख करते हैं—

जे पावकम्मेहिं धणं मणूसा, समाययन्ती अमइं (अमयं) गहाय।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे, वेराणुबद्धा नरयं उवेंति ॥ २ ॥

ये पापकर्मभिर्धनं मनुष्याः, समाददते अमतिं गृहीत्वा ।
प्रहाय ते पाशप्रवर्तिता नराः, वैरानुबद्धा नरकमुपयान्ति ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—**जे**—जो, **मणूसा**—मनुष्य, **पावकम्मेहिं**—पाप-कर्मो से, **धणं**—धन को, **अमइं**—कुमति पूर्वक—वा अमृत के समान जानकर, **गहाय**—ग्रहण करके, **समाययंति**—अगीकार

करते हैं, पहाय—फिर उसी धन को छोड़कर, **ते**—वे, **पास**—विषय रूप पाश में, **पयट्टिए**—प्रवृत्त हुए, **नरे**—व्यक्ति, **वेराणुबद्धा**—निरन्तर वैर से बंधे हुए, **नरयं**—नरक में, **उवेंति**—उत्पन्न होते हैं।

मूलार्थ—जो मनुष्य धन को पाप कर्मों से इकट्ठा करके और अमृत के समान जान कर उसे ग्रहण करते हैं, वे मनुष्य विषयरूप पाश में फंसकर तथा अन्य जीवों से वैर भाव को बांध कर नरक में उत्पन्न होते हैं।

टीका—इस गाथा में पापकर्मों के द्वारा एकत्रित किए गए धन के परिणाम विशेष का वर्णन किया गया है। जो लोग पापकर्मों से धन का उपार्जन करके उसे अमृत के तुल्य मानकर स्वीकार करते है वे ही लोग उस धन को विषयों के निमित्त त्यागकर विषय-जन्य सुखों में फंसकर और अन्य जीवों से तन्निमित्तक वैर भाव को बांधकर अन्ततोगत्वा नरक में उत्पन्न होते है। यही पाप-कर्मों से इकट्ठे किए हुए धन का अन्तिम परिणाम है। इसलिए जो लोग धन-संचय से सुख की प्राप्ति मानते हैं, वे बड़ी भारी भूल करते हैं। अन्याय-मार्ग से उत्पन्न किए गए धन का कभी शुभ परिणाम नहीं हो सकता। यद्यपि धन से अनेक प्रकार के कार्य अर्थात् धर्म के कार्य भी हो सकते है, परन्तु वह धन विचारशील पुरुषों द्वारा न्याय से उपार्जन किया हुआ होता है और ऐसे धर्मानुरागी विचारशील पुरुष संसार में बहुत ही कम होते है। अधिक भाग तो पापात्माओं का ही है। पापिष्ठों का धन कभी शुभकार्य में नही लगता, किन्तु विषय-सेवनादि जघन्य कार्यो मे ही उसका उपयोग होता है। पूज्य सूत्रकार ने इसी आशय को लेकर पाप कर्मों द्वारा अर्जन किए जाने वाले धन का निर्देश किया है, अतः पापकर्मो से उपार्जन किए गए धन का अन्तिम परिणाम दुखवृद्धि के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता।

पाप-कर्म से उपार्जन किए गए धन से यदि कोई धर्म का कार्य किया जाए अर्थात् उस धन को किसी धर्म-सम्बन्धी कार्य मे लगाया जाए तो उसका फल भी नरक की प्राप्ति भले ही न हो, किन्तु ऐसा धन धर्म-वृद्धि एव धर्म-साधना को सफल नहीं बना सकता, किन्तु यह जान लेना बहुत आवश्यक है कि जो द्रव्य न्याय से उपार्जित किया गया है वही धर्म-कार्य के योग्य हो सकता है और चोरी आदि अन्याय से एकत्रित किया हुआ द्रव्य तो अधर्म का ही पोषक होता है।

इस प्रकार पाप से धन, धन से विषयरूप पाश, पाश से अन्य जीवो से वैरभाव और वैर से नरक की प्राप्ति, यह बात भली-भांति सिद्ध हो जाती है। इसलिए पाप-कर्मो से द्रव्य का उपार्जन करके और उसके द्वारा विषयरूप विषज्वाला को परिवर्द्धित करते हुए उसमें अपने आपको स्वाहा करने का बुद्धिमान जनो को कभी साहस नही करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त गाथा में आए हुए '**अमयं**' पद का 'अमृत' अर्थ करने के अतिरिक्त '**अमइ**' पाठ मे अमति अर्थात् कुमति अर्थ भी सूत्रकार को अभिप्रेत है। इसी आशय से वृत्तिकार लिखते है कि '**अमतिं नञः कुत्सार्थत्वात् कुमतिमुक्तरूपां गृहीत्वा संप्रधार्य**' अर्थात् अमति शब्द में होने वाले नञ् समास में 'नञ्' कुत्सा—निन्दा का वाची है, इसीलिए 'अमइ' के स्थानापन्न '**अमति**' शब्द का अर्थ

कुत्सित—खोटी बुद्धि समझना चाहिए। तब इसका यह अर्थ निष्पन्न हुआ कि 'जो लोग खोटी बुद्धि से अन्यायोपार्जित धन का ग्रहण करते हैं, वे अन्ततोगत्वा नरकों में ही निवास करते हैं।'

अब उक्त विषय को अधिक दृढ़ और स्पष्ट करने के लिए फिर कहते हैं—

तेणे जहा संधिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ।
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ॥ ३ ॥

स्तेनो यथा संधिमुखे गृहीतः, स्वकर्मणा कृत्यते पापकारी ।
एवं प्रजाः प्रेत्येह च लोके, कृतानां कर्मणां न मोक्षोऽस्ति ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—**तेणे**—चोर, **जहा**—जैसे, **संधिमुहे**—संधि के मुख में, **गहीए**—पकड़ा हुआ, **सकम्मुणा**—अपने किए हुए कर्म से, **किच्चइ**—छेदा जाता है, **एवं**—इसी प्रकार, **पावकारी**—पापकर्म करने वाला, **पया**—जीव की, **पेच्च**—परलोक, **च**—और, **इहं**—इस, **लोए**—लोक में, **कडाण**—किए हुए, **कम्माण**—कर्मो का फल भोगे बिना, **मोक्ख**—मोक्ष, **न अत्थि**—नही है।

मूलार्थ—जैसे सेंध के मुख में सेंध लगाते हुए पकड़ा गया चोर अपने किए हुए पाप कर्मों से मारा जाता है, उसी प्रकार यह जीव भी इस लोक में तथा परलोक में अपने किए हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नही पाते।

टीका—जैसे चोरी करते समय पकड़ा जाने वाला चोर अपने किए हुए पाप-कर्म से दुख पाता है, इसी प्रकार पापकर्मो का आचरण करने वाले सभी जीव इस लोक तथा परलोक में दुखों को प्राप्त करते है, तात्पर्य यह है कि कर्मो का भोगना अवश्यभावी है, बिना भोगे कर्मो से कभी छुटकारा नहीं होता, इसलिए विचारशील व्यक्तियो को पापकर्मो के बदले शुभ-कर्मो का ही आचरण करना चाहिए।

कुछ सज्जन परलोक मे विश्वास नहीं रखते, उनके विचारानुसार कर्म का भोग-फल भी इसी लोक में मिलता है, परन्तु उनका यह कथन शास्त्र और अनुभव के विरुद्ध होने से मान्य नही हो सकता, इसलिए सूत्रकार ने इस लोक के साथ परलोक का भी उल्लेख किया है। तात्पर्य यह है कि अधिकतर कितने ही कर्म ऐसे भी है जिनका फल इस जन्म मे न भोगा जाकर दूसरे जन्म में भोगना पड़ता है। जैसे वृक्ष के मूल मे डाले हुए जल का ऊपर के पत्तो तक मे परिणमन हो जाता है, ठीक उसी प्रकार इस लोक मे एवं इस जन्म मे किए गये कर्म दोनो लोकों में फलप्रद हो सकते है।

जिस आत्मा ने इसी जन्म मे मोक्ष को प्राप्त हो जाना हो, वह तो परलोक में कर्म-फल का भोग नहीं करता, क्योकि मोक्ष हो जाने पर उसका कोई कर्मांश शेष नही रह जाता, किन्तु जो बद्ध जीव है, उनको तो इस लोक तथा परलोक दोनो में ही कृत कर्मो का फल भोगना ही पड़ता है।

यहां यह शका उत्पन्न हो सकती है कि सूत्र मे पाप-कर्म का फल दुख बताया गया है, परन्तु यह नही बताया गया है कि कर्म ही उस दुख रूप फल को देते है, इसलिए कर्म-फल के दिलाने वाला कोई

और ही होना चाहिए? इस शंका के समाधान में यह कहा जा सकता है कि सूत्रकार ने तो काल-स्वभाव-नियति-कर्म और पुरुषार्थ इन पांच समवायों को किसी भी कार्य का कारण स्वीकार किया है, केवल कर्ममात्र को कारण नहीं माना। अतः ये पांचों ही समवाय शुभाशुभ कर्मों के करने और उनका सुख-दुख रूप जो फल होता है उसके भोगने में उपस्थित रहते है। कल्पना कीजिए कि किसी ने विष का भक्षण कर लिया है तो उसको मृत्युरूप फल की प्राप्ति इन पांच समवायों से ही होती है, यथा विष भक्षण का समय—काल, विष की तीक्ष्ण मारकत्व शक्ति—स्वभाव, आयु के क्षय के समय में विष का भक्षण करना—नियति और खाने का उद्योग करना—पुरुषार्थ, इस प्रकार कार्यमात्र की सिद्धि मे इन पांचों समवायों की कारणता विद्यमान रहती है।

यदि कोई कहे कि हम तो अपने बन्धु जनों के लिए कार्य करते हैं, वे भी तो धनादि को विभाग करके भोगते हैं। संभव है उन्हीं के निमित्त से मुक्ति हो जाए, इत्यादि प्रकार के भ्रान्त विचारों का उत्तर नीचे लिखी गाथा के द्वारा दिया जाता है—

संसारमावन्न परस्स अट्ठा, साहारणं जं च करेइ कम्मं ।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले, न बंधवा बंधवयं उवेंति ॥ ४ ॥

संसारमापन्नः परस्यार्थाय, साधारणं यच्चकरोति कर्म ।
कर्मणस्ते तस्य तु वेदकाले, न बान्धवा बन्धुत्वमुपयान्ति ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**संसारं**—ससार मे, **आवन्न**—प्राप्त हुआ, **परस्स**—पर—दूसरे के, **अट्ठा**—वास्ते, **साहारणं**—साधारण, **च**—समुच्चय मे, **जं**—जो, **कम्मं**—कर्म, **करेइ**—करता है, **तस्स**—उस, **कम्मस्स**—कर्म के, **वेयकाले**—भोगने के समय, **ते**—तेरे, **बंधवा**—बन्धुजन, **बंधवयं**—बन्धु-भाव को, **न उवेंति**—प्राप्त नहीं होते, **उ**—अपि के अर्थ में है।

मूलार्थ—संसार को प्राप्त हुआ प्राणी अपने लिए अथवा दूसरों के लिए या दोनों के लिए जो कर्म करता है उस कर्म का फल भोगने के समय वे बन्धुजन उसके बन्धुभाव को प्राप्त नही होते, अर्थात् उससे अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानते हैं।

टीका—शास्त्रकार उपदेश करते हैं कि यह प्राणी संसार-चक्र में भ्रमण करता हुआ और अनेक-विध ऊंच-नीच कुलों में जन्म लेता हुआ जब कभी मनुष्य-जन्म को प्राप्त करता है, तब जो कर्म उसने अपने लिए अथवा दूसरों के लिए या दोनों के लिए किए है, उनके भोगने के समय उसके बन्धुजन किसी प्रकार से भी उसके भागीदार नही बनते, किन्तु जीव को अपना कर्म-फल अकेले ही भोगना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि जो जीव जिस कर्म का अनुष्ठान करने वाला है उस कर्म के फल को भोगने के लिए भी उसी को प्रस्तुत होना पड़ेगा, दूसरे किसी को चाहे वह आत्मज हो अथवा कोई अन्य सम्बन्धी हो—उसे हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। इसलिए शास्त्रकार कहते है, हे जीव! अपने किए हुए शुभाशुभ कर्मों का उत्तरदायित्व भी तेरे ही ऊपर है। तेरे बिना और कोई भी तेरे किए

हुए अशुभ कर्मों से उत्पन्न होने वाले दुख का विभाग नहीं कर सकता, इसलिए तू धर्म के मार्ग के अनुसरण में कभी प्रमाद मत कर।

उक्त सूत्र में 'कम्मस्स' यह पंचमी के अर्थ मे षष्ठी का प्रयोग किया गया है और 'अट्ठा' यहां पर 'क्यप्' प्रत्यय का लोप होने से कर्म मे पचमी है यथा अर्थानाश्रित्य। 'च' और 'तु' शब्द समुच्चयार्थक है।

यदि कोई यह कहे कि धन तो सहायक होगा ही, क्योंकि संसार में धन से सभी कार्य सिद्ध किए जा सकते हैं, तो अब सूत्रकार निम्नलिखित गाथा में इन विचारों की आलोचना करते हुए कहते हैं—

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था ।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे, नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥ ५ ॥

वित्तेन त्राणं न लभते प्रमत्तः, अस्मिंल्लोकेऽथवा परत्र ।
दीपप्रणष्ट इवानन्त मोहः, नैयायिकं दृष्ट्वा अद्रष्टवैव ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—वित्तेण—धन से, **ताणं**—त्राण—शरण, **पमत्ते**—प्रमादी जन, **न लभे**—प्राप्त नही कर सकते, **इमम्मि**—इस, **लोए**—लोक में, **अदुवा**—अथवा, **परत्था**—परलोक में, **दीवप्पणट्ठे व**—नष्ट-दीपक पुरुष की तरह, **अणंतमोहे**—अनंत मोहपूर्वक, **नेयाउयं**—न्यायकारी मार्ग को, **दट्ठुं**—देख करके, **अदट्ठुमेव**—बिना देखे हुए की तरह ही होता है।

मूलार्थ—प्रमादी पुरुष को इस लोक तथा परलोक में धन भी पाप-कर्मजन्य फल भोग से सुरक्षित नहीं रख सकता, वह प्रमादी पुरुष दीपक के अभाव से अन्धकार होने के कारण मार्ग को न देखने वाले पुरुष की भांति मोह एव अज्ञान के कारण न्यायोचित मार्ग को देखता हुआ भी नहीं देख पाता है।

टीका—भगवान् उपदेश देते हैं कि हे आर्य पुरुषो! प्रमादी जन अपने किए हुए कर्मो के फल को भोगने के समय धन से अपनी रक्षा नहीं कर सकते, अर्थात् अपने कर्म-जन्य दुख से धन के द्वारा उन्हें छुटकारा नही मिल सकता। ससार मे अनेक ऐसे असाध्य रोग है जो कि लाखो का धन व्यय करने पर भी शान्त नही होते और जबकि इस लोक में ही वह धन कर्म-जन्य दुख की निवृत्ति मे सफल नहीं हो पाता, तब परलोक मे तो उससे किसी प्रकार की सहायता की आशा करना व्यर्थ ही है। इसलिए लोक और परलोक दोनो मे ही कर्म-जन्य दुख की निवृत्ति के लिए धन से किसी प्रकार की भी सहायता नहीं मिल सकती। प्रमादी व्यक्ति अपने घोर अज्ञान के कारण न्यायोचित मार्ग को भूलकर कुमार्ग का अनुगामी होता हुआ अधिकाश दुख ही दुख उठाता है, उसकी यही दशा होती है जो दीपकों के नाश होने से अन्धकार-व्याप्त गुफा मे पथभ्रष्ट हुए कुछ व्यक्तियो की हुई।

शास्त्रो में एक प्रसंग आता है कि किसी समय बहुत से व्यक्ति हाथो मे दीपक लेकर एक

अन्धकारमयी गुफा में प्रवेश कर गए और बहुत दूर जाने पर उनके दीपकों में तेल खत्म हो गया और उनके सारे के सारे दीपक बुझ गए। दीपकों के बुझ जाने से उस अन्धकारमयी गुफा में वे इधर-उधर भटकने लगे और कहीं पर भी मार्ग के न मिलने से वे सब-के-सब वहीं समाप्त हो गए। बस, यही दशा इस अज्ञान-ग्रस्त प्रमादी जीव की होती है।

सौभाग्यवशात् कभी अच्छे गुरुजनों के सत्संग में आने से इस जीव के हृदय में सद्‌बोध अर्थात् सद्विचार का कुछ प्रकाश होने लगता है और उसके द्वारा वह सम्यग् मार्ग को भी जानने लग जाता है, परन्तु अज्ञानरूप वायु के प्रबल झोंकों से जब उसका यह सद्‌बोध अर्थात् सम्यग्दर्शनरूप दीपक बुझ जाता है तब वह फिर अन्धकारव्याप्त होने से अपने निर्दिष्ट न्याय-पथ से भ्रष्ट होकर इधर-उधर कुमार्ग मे भटकता हुआ अधिक से अधिक दुख पाता है। इसलिए गुरुजनों की सत्संगति से प्राप्त हुए पथ-प्रदर्शक सद्‌बोधरूप दीपक की रक्षा के लिए सावधान रहने का प्रयत्न न करना ही प्रमाद है और गुरुजनो के सान्निध्य से प्राप्त हुए सद्‌बोधरूप दीपक को अज्ञान वायु के प्रबल झोकों से बचाए रखना ही अप्रमाद है, अत· प्रमाद-रहित विवेकशील पुरुषो का सम्यग्दर्शन की रक्षा करना ही सबसे अधिक कर्त्तव्य है।

यहा पर **'दीवप्पणट्ठे'** के स्थान में **'पणट्ठदीवे'** होना चाहिए था, अर्थात् व्याकरण के नियमानुसार **'दीपप्रणष्टः'** की जगह पर **'नष्टप्रदीपः'** प्रयोग होना चाहिए, परन्तु यहा पर जो दीपक शब्द का पूर्वनिपात हुआ है वह प्राकृत के नियमानुसार है।

'न्याय-मार्ग' मोक्षमार्ग का नाम है। उसकी प्राप्ति के साधन सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं, परन्तु जिस जीव के अनन्तमोहनीय कर्म की प्रकृतियां उदय मे आ जाती हैं, वह उक्त मार्ग को देखता हुआ भी बिना देखने के समान ही हो जाता है।

जब कि कुटुम्ब, धन और बन्धुजनों में से कर्मभोग के समय पर जीव का कोई भी सहायक नहीं बन सकता तो फिर इस जीव का 'क्या कर्त्तव्य होना चाहिए', अब इस विषय का निम्नलिखित गाथा के द्वारा वर्णन करते हैं—

सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी, न वीससे पंडिय आसुपन्ने।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं, भारंडपक्खीव चरेऽप्पमत्ते ॥ ६ ॥

सुप्तेषु चापि प्रतिबुद्धजीवी, न विश्वसेत् पण्डित आशुप्रज्ञः ।
घोराः मुहूर्ता अबलं शरीरं, भारण्डपक्षीव चरेदप्रमत्तः ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—सुत्तेसु—सोये हुए जनों में, **यावी**—और भी, **पडिबुद्धजीवी**—जागते हुए जीवन व्यतीत करने वाला, **न वीससे**—विश्वास न करे कि, **पण्डिए**—विद्वान्, **आसुपन्ने**—आशुप्रज्ञ—तीक्ष्ण बुद्धि वाला, **घोरा**—भयंकर, **मुहुत्ता**—मुहूर्त हैं, **अबलं**—निर्बलता, सरीरं—शरीर है, **भारंडपक्खीव**—भारण्ड पक्षी की तरह, **अप्पमत्ते**—अप्रमत्त होकर, **चरे**—विचरण करे।

मूलार्थ—सोये हुए लोगों में जागता हुआ और जागते हुए जीवन व्यतीत करने वाला कुशाग्रबुद्धि पण्डित पुरुष प्रमाद और प्रमादी जनों में कभी विश्वास न करे और समय की भयंकरता तथा शरीर की निर्बलता का विचार करता हुआ भारंड पक्षी की तरह सदा अप्रमत्त रहकर, अर्थात् प्रमाद-रहित होकर विचरण करे, अथवा हे शिष्य! तू इस प्रकार विचरण कर।

टीका—इस गाथा में साधु को प्रमादी पुरुषों से सावधान रहने और स्वयं अप्रमत्त रहकर जीवन व्यतीत करने का आदेश दिया गया है। निद्रा मे प्रमाद और जागरण में अप्रमत्तता है, अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो निद्रा ही मृत्यु और जागरण ही जीवन है। इसलिए द्रव्य-निद्रा और भाव-निद्रा में सोये हुए संसारी जीवों मे द्रव्य और भाव से जागने वाला संयमी पुरुष ही वास्तव में अप्रमादी या अप्रमत्त माना जा सकता है, अतएव शास्त्रकारों का उपदेश है कि सोये हुए प्रमादी जीवो में जागने वाला और जागते हुए जीवन व्यतीत करने वाला प्रतिभा-सम्पन्न संयमी पुरुष भूलकर भी प्रमाद का सेवन और प्रमादी पुरुष का संसर्ग न करे, अर्थात् इनमे किसी प्रकार का भी विश्वास न करे, क्योंकि इनसे हानि के अतिरिक्त लाभ कुछ नहीं होता।

चिन्तनशील साधक को चाहिए कि वह आयु के लिए काल की भयंकरता और उसके समक्ष अपने शरीर की अति दुर्बलता का विचार करता हुआ अर्थात् काल की विकरालता और शरीर की क्षण-भगुरता का चिन्तन करता हुआ भारण्ड पक्षी की तरह सदैव अप्रमत रहने का ही प्रयत्न करता रहे। तात्पर्य यह है कि जैसे भारण्ड पक्षी जरा सा भी प्रमाद करने पर विनाश को प्राप्त हो जाता है, अत. वह इसी भय से कभी प्रमाद नही करता, वह अप्रमत्त ही रहता है। इसी प्रकार सयमशील पुरुष को भी प्रमाद की सर्व प्रकार से उपेक्षा करते हुए अप्रमत्त रहकर ही अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए, इसी मे उसका कल्याण है।

उक्त गाथा में दिए गए निद्रावाची 'सुप्त' शब्द का द्रव्य और भाव दोनो रूपो मे ग्रहण करना चाहिए। इनमे द्रव्य-निद्रा तो शयन-क्रिया के रूप मे प्रसिद्ध ही है और भाव निद्रा—अज्ञान, मिथ्यात्व एव अविवेक के रूप मे मानी जाती है। ससारी लोग प्राय भाव-निद्रा मे ही अधिकतया सोए पड़े है, इसी कारण से ससार मे अधिक अनर्थ, अधिक अन्याय और अधिक झगड़े देखे जाते है।

श्री भगवती-सूत्र के बारहवे शतक मे जयन्ती के अधिकार मे लिखा है कि जयन्ती को उत्तर देते हुए भगवान् श्री महावीर स्वामी कहते है कि हे जयन्ति! अधर्मी आत्मा तो सोये हुए ही अच्छे है और धर्मात्मा पुरुष जागते हुए श्रेष्ठ है, क्योंकि अनेकविध निर्बल और निरपराध प्राणियों को धर्मात्मा पुरुषो के जागने से और अधर्मी अर्थात् पापिष्ठ पुरुषो के सोते रहने से ही प्राणियो को अधिक सुख और शान्ति की प्राप्ति होती है, अत. प्रमाद—आलस्य और अज्ञान के वशीभूत होकर सोने वाले जीवो मे सदा जागते रहने वाले संयमशील तपस्वी पुरुष को कभी विश्वास नही करना चाहिए।

इस कथन से सयमी पुरुष की द्रव्य-निद्रा भी अति स्वल्प ही प्रमाणित होती है, क्योंकि स्वल्पनिद्रा लेने मे ही ज्ञानादि के विकास की अधिक सम्भावना है। अपि च स्वल्पनिद्रा का होना

अल्पाहार पर निर्भर है, अतः अप्रमत्त संयमी का आहार भी शुद्ध होने के साथ-साथ अतिस्वल्प मात्रा में ही होना चाहिए।

यद्यपि भारण्ड नाम वाला पक्षी आजकल प्रसिद्ध नहीं है और न ही वह आजकल कहीं पर देखने में आता है, परन्तु वृत्तिकार उसका वर्णन करते हुए इस प्रकार लिखते है—**"यथाह्येतेऽन्तर्वर्तिसाधारण-चरणा एकोदराः पृथग्ग्रीवा अन्योन्यफलभक्षिणश्च प्रमादपरा विनश्यन्ति तथा यतिरपि प्रमाद्यन् संयमाद् भ्रश्यति'**—अर्थात् भारण्ड नाम के पक्षी का और सब आकार तो अन्य पक्षियों की भान्ति ही होता है, परन्तु उसकी ग्रीवा—गर्दन दो होती है। वह सदा एक ही मुख से खाता है और यदि कभी प्रमादवश वह दोनों मुखों से खाने लग जाता है तो मर जाता है। इसी प्रकार प्रमाद के वशीभूत हुआ साधु भी अपने संयम से पतित हो जाता है, अतः प्रमादी जनों के संसर्ग से साधु को सदा ही अलग रहने का यत्न करना चाहिए।

इसी अभिप्राय से गुरुजन कहते हैं कि "हे शिष्य! यदि तू अपना कल्याण चाहता है तो भारण्ड पक्षी की तरह कभी भी प्रमाद का सेवन न करता हुआ सदा अप्रमत्त होकर ही विचरण कर और काल की भयंकरता के सामने इस दुर्बल शरीर की परिस्थिति का ध्यान करता हुआ धर्मानुष्ठान में कभी प्रमाद न कर, यही सच्चा श्रेयस्कर मार्ग है।

'चर' यह मध्यम पुरुष का एक वचन है। इसका **'चर विहितानुष्ठानमासेवस्व'** ऐसा अर्थ जानना चाहिए। 'चरे' पाठ मे तो 'चरेत्'—आचरण करे—यह अर्थ स्पष्ट ही है।

अब उक्त विषय को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मण्णमाणो ।
लाभंतरे जीवियं बूहइत्ता, पच्छा परिन्नाय मलावधंसी ॥ ७ ॥

चरेत्पदानि परिशंकमानः, यत्किञ्चित्पाशमिह मन्यमानः ।
लाभान्तरे जीवितं बृंहयित्वा, पश्चात्परिज्ञाय मलापध्वंसी ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—चरे—विचरे, **पयाइं**—संयमरूप पदो के दोष लगने से, **परिसंकमाणो**— शंकाशील बना हुआ, **जं**—जो, **किंचि**—किचिन्मात्र दोष है उसको, **इह**—संसार मे, **पासं**—पाश रूप, **मण्णमाणो**—मानता हुआ, **लाभंतरे**—जब तक इस शरीर से लाभ हो सकता है तब तक, **जीवियं**—जीवन को, **बूहइत्ता**—वृद्धि करके, **पच्छा**—पीछे, **परिन्नाय**—परिज्ञा से जानकर, प्रत्याख्यान—परिज्ञा से प्रत्याख्यान कर, **मलावधंसी**—कर्मरूप मल को दूर करने वाला हो अर्थात् अनशन व्रत धारण करे।

मूलार्थ—संयम-पदों में दोष लगने के भय से परिशंकित हुआ साधक लगे हुए यत्किंचित् दोष को भी संसार में पाशरूप मानता हुआ इस शरीर से जब तक ज्ञानादि का लाभ हो सकता है तब तक इसकी वृद्धि करता हुआ—इसका पोषण करता हुआ संसार में विचरण करे, इसके अनन्तर ज्ञान के

द्वारा इस शरीर के अन्त का निश्चय करके प्रत्याख्यान के द्वारा अर्थात् अनशन के द्वारा कर्म-मल को दूर करने का प्रयत्न करे।

टीका—संयमशील साधु का यह बड़ा ही उत्तरदायित्व पूर्ण आचार है कि वह मूल और उत्तरगुणरूप संयम में लेशमात्र भी दोष न लगने दे। यदि उनमें यत्किंचित् किसी दोष के लग जाने की आशंका हो जाए तो उसको बन्धनरूप समझकर, अर्थात् उक्त दोष को संसार के जन्म-मरण की वृद्धि का हेतु समझता हुआ भारण्ड पक्षी की तरह उससे अपने आपको पूर्णतया परिशकित—पूर्णरूप से सावधान रखने का प्रयत्न करे। तात्पर्य यह है कि साधक क्षणमात्र का भी प्रमाद न करे। जब तक इस शरीर से ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि सद्गुणों का लाभ होता रहे तब तक तो निर्दोष आहार आदि के द्वारा इसकी रक्षा और पोषण करता रहे और जब अपने परिवर्धित ज्ञान के द्वारा इस शरीर का अवसान निकट जान पड़े, तब बचे हुए कर्म-मल को अनशन व्रत के द्वारा दूर करने का स्तुत्य प्रयास करे।

अभिप्राय यह है कि जब यह प्रतीत हो जाए कि अब बुढ़ापा आ गया है, शरीर का अस्थि-पजर अब वृद्धावस्था के आक्रमण से जर्जरित होने लगा है, भयकर रोग भी आतंक मचाने लगे है तथा आयु-कर्म की सीमा भी अब बहुत ही निकट है, जब ये सभी कारण इस समय उपस्थित हो रहे हैं और जिनका फल इस शरीर का अवश्यभावी अन्त है तथा विशिष्ट ज्ञान से भी जान लिया है कि अब इसका अन्त बहुत समीप है, तब तो मेरे लिए यही उचित है कि मै इससे अन्त में भी कुछ और लाभ उठा लू। ऐसा विचार करके अनशन व्रत के द्वारा इसके कर्म-फल का विध्वस करने का यत्न करे।

इस कथन का कही ऐसा विपरीत आशय न समझ लेना चाहिए कि शास्त्रकारों ने जान-बूझकर मरने की आज्ञा दी है। नहीं, शास्त्रकारों का यह आशय कदापि नही है। इसी अभिप्राय से उक्त गाथा मे '**परिण्णा**' परिज्ञा शब्द दिया है, जिसका तात्पर्य यह है कि जब साधक को पूर्णरूप से यह ज्ञात हो जाए कि यह शरीर अब नहीं रहेगा, इसका वियोग अब अवश्यभावी है, उस समय सयमशील साधक को उचित है कि वह भक्त-प्रत्याख्यान आदि अनशन व्रतो के द्वारा अपने कर्म-मल को दूर करने का प्रयास करे।

शास्त्रकारो का यही अभिप्राय है जो कि ऊपर दर्शाया गया है, किन्तु किसी-न-किसी प्रकार से आत्म-घात या आत्म-हत्या कर लो यह उनका आशय कभी नहीं समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि हर एक वस्तु के स्वरूप को प्रथम अच्छी तरह से समझ लेने के बाद उसके प्रत्याख्यान का विचार करना चाहिए, अन्यथा नहीं।

अब उक्त विषय के साथ ही मोक्ष के उपाय का वर्णन किया जाता है—

छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं, आसे जहा सिक्खिय-वम्मधारी।
पुव्वाइं वासाइं चरेऽप्पमत्तो, तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ॥ ८ ॥

छंदोनिरोधेनोपैति मोक्षं, अश्वो यथा शिक्षित-वर्मधारी ।
पूर्वाणि वर्षाणि चरेदप्रमत्तः, तस्मान्मुनिः क्षिप्रमुपैति मोक्षम् ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—छंदं—अपनी इच्छाओं के, **निरोहेण**—निरोध से, **मोक्खं**—मोक्ष को, **उवेइ**—प्राप्त होता है, **आसे**—घोड़ा, **जहा**—जैसे, **सिक्खिय**—शिक्षित किया हुआ, **वम्मधारी**—कवच के धारण करने वाला, **पुव्वाइं**—पूर्वों तक, **वासाइं**—वर्षों तक, **चरे**—विचरे, **अप्पमत्तो**—प्रमाद से रहित होकर, **तम्हा**—इसलिए, **मुणी**—साधु, **खिप्पं**—शीघ्र ही, **मोक्खं**—मोक्ष को, **उवेइ**—पाता है।

मूलार्थ—कवच-युक्त सुशिक्षित घोड़े की तरह इच्छाओं का निरोध करने वाला मुनि मोक्ष को प्राप्त कर लेता है और जिससे कि वह पूर्वों और वर्षों तक अप्रमत्त रहकर संयम-मार्ग में विचरता हुआ शीघ्र ही मोक्ष को पा लेता है।

टीका—जो जीव अपनी समस्त इच्छाओं का निरोध करने वाला और गुरुजनों की सेवा मे तत्पर रहने वाला, उनकी आज्ञा के अनुसार आचरण करने वाला होता है वह अन्त समय में मोक्ष-गति को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि इच्छाओं का निरोध और गुरुजनों की सेवा, ये दोनों ही शुभ क्रियाएं कर्म-निर्जरा की हेतु हैं, इसलिए इन दोनों का अन्तिम फल मोक्ष बताया गया है।

जिस प्रकार कवच धारण किए हुए शिक्षित घोड़ा संग्राम में जाकर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके सग्राम से छुटकारा पा लेता है और सुखपूर्वक रहता है, उसी प्रकार गुरुजनों की सेवा में रहने वाला प्रमाद-रहित मुनि भी अपनी इच्छाओं के निरोध से मुक्तदशा को प्राप्त कर लेता है। जैसे अशिक्षित और अविनयी घोड़ा अपने स्वामी की इच्छा के प्रतिकूल एवं स्वच्छन्द होकर संग्राम भूमि में इधर-उधर घूमता-फिरता हुआ वही पर शत्रु के द्वारा मारा जाता है उसी प्रकार गुरुजनों की आज्ञा के प्रतिकूल चलने वाला स्वेच्छाचारी शिष्य भी संयम-मार्ग से भ्रष्ट होकर संसार-चक्र मे परिभ्रमण करने लग जाता है।

इसी आशय से शास्त्रकार उपदेश देते है कि 'हे शिष्य! तू पूर्वो और वर्षों तक अप्रमत्त रहकर सयम का आचरण कर एव जो मुनि प्रमाद-रहित होकर संयम की आराधना करता है, वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।'

साराश यह है कि इच्छाओं का निरोध और गुरुजनो की भक्ति ये दो ही मुख्य मार्ग है जिनका कि मोक्षपुरी के साथ सीधा सम्बन्ध है तथा इन पर चलने वाला पुरुष शीघ्र-से-शीघ्र मोक्ष-मन्दिर तक पहुंच जाता है।

यहां पर पूर्वों तक जो संयम के पालन करने का आदेश दिया गया है, उसका अभिप्राय यह है कि संयम-वृत्ति का सद्भाव पूर्वो तक रहता है, यह बात प्रमाणित हो सके।

यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि अगर इच्छाओं के निरोध से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है तो इच्छाओं का निरोध हम अन्त समय में कर लेंगे, अब इस विषय पर शास्त्रकार लिखते हैं—

स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा, एसोवमा सासयवाइयाणं ।
विसीयई सिढिले आउयम्मि, कालोवणीए सरीरस्स भेए ॥ ६ ॥

स पूर्वमेवं न लभेत पश्चात्, एषोपमा शाश्वत-वादिकानाम् ।
विषीदति शिथिले आयुषि, कालोपनीते शरीरस्य भेदे ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—**स पुव्वमेवं**—पहले की तरह, **पच्छा**—पीछे, **न लभेज्ज**—प्राप्त न हो, **ऐसो-वमा**—यह उपमा, **सासय-वाइयाणं**—शाश्वत-वादियो की है, **विसीयई**—खेद पाता है, **सिढिले**—शिथिल, **आउयम्मि**—आयु के होने पर, **कालोवणीए**—काल के समीप आने पर, **सरीरस्स**—शरीर के, **भेए**—भेद होने पर।

मूलार्थ—जैसा लाभ पहले प्राप्त हो सकता है, वैसा पीछे नहीं, 'पीछे भी धर्म-लाभ प्राप्त किया जा सकता है,' यह कथन तो केवल शाश्वत-वादियों का है, अतः आयु के शिथिल होने पर—काल के निकट आ जाने पर और शरीर के भेद होने पर फिर वह जीव खेद को प्राप्त होता है।

टीका—धर्म आदि शुभ कृत्यो का लाभ जैसे पहली अवस्था मे हो सकता है, वैसे पीछे की वृद्धावस्था मे नही। जो ओज और अग-स्फूर्ति आयु के प्रथम भाग मे होती है, वैसी आयु के उत्तर भाग मे नहीं रहती तथा जिस जीव ने पहले प्रमाद का अधिक सेवन किया है उसके लिए पीछे से अप्रमादी होना अत्यन्त कठिन है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्म-निग्रह आदि की जो शक्ति मनुष्य मे आयु के पहले भाग मे होती है वह शक्ति पिछली आयु में उपलब्ध नही होती। इसके अतिरिक्त 'हम आयु के अन्तिम भाग मे सब कुछ कर लेगे' यह विचार तो उन लोगो का है जो कि अपनी आयु के परिणाम को ठीक रूप से जानते है और निरुपक्रमी होते है। वे तो कदाचित् यह कह सकते है कि 'हम धर्म का अनुष्ठान बाद मे कर लेगे, अभी तो हमारी आयु बहुत शेष रहती है, क्योकि वे लोग निरुपक्रमी होने से अपने आत्मा को शाश्वत की भान्ति मानते है, परन्तु जिनकी आयु क्षणिक है, उपक्रम युक्त है, वे तो आयु के शिथिल हो जाने पर काल के निकट आने और शरीर के भेद हो जाने पर अधिकतया खेद को ही प्राप्त होते है, अर्थात् शरीर के अन्तिम समय में उनको अपने प्रमादी जीवन पर अत्यन्त शोक और परिताप करना पड़ता है। यथा—''ओह हमने अपने जीवन मे कोई भी सुकृत नही किया! पर-लोक यात्रा मे उपस्थित होने वाली असह्य भयकर वेदनाओं से अपने को सुरक्षित रखने के लिए हमने कोई उपयोगी साधन सामग्री का अर्जन नहीं किया इत्यादि। इसलिए विचारशील पुरुषो को पहले से ही प्रमाद का परित्याग कर देना चाहिए, ताकि पीछे से उन्हें अधिक पश्चात्ताप न करना पड़े, क्योकि आयु के प्रथम भाग मे उन्नति के सभी प्रकार के सयोगों की उपलब्धि प्रायः शक्य होती है और अन्तिम भाग मे उसका प्राप्त होना बहुत कठिन हो जाता है।

आयु के निरुपक्रम और सोपक्रम ये दो भेद माने गए है। इनमें से बाहर के शस्त्र आदि निमित्तो से भी जिसका उच्छेद न हो वह निरुपक्रम आयु कही जाती है एव जो व्यक्ति बाह्य निमित्त शास्त्र

आदि के तीव्राघातों से भी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, किन्तु ठीक अपनी बन्धी हुई आयु को समाप्त करके ही जिसकी मृत्यु होती है उसको निरुपक्रमी या निरुपक्रम आयु वाला कहते हैं। इसके विपरीत बाहर के निमित्तों अर्थात् शस्त्र आदि के घात से (आयु कर्म के शेष रहते हुए भी) जिसका विनाश हो जाए, वह सोपक्रम आयु है, ऐसी क्षणिक आयु रखने वाले को सोपक्रमी कहा गया है। यह दोनों प्रकार की आयु निश्चय और व्यवहार नय से मानी जाती है, परन्तु वर्तमान समय में अतिशय ज्ञान वाले आत्माओं का तो अभाव है और छद्मस्थ आत्मा को इतना ज्ञान होता नहीं, जिससे कि वह अपनी आयु के विषय में किसी प्रकार का निश्चय कर सके। इसलिए विचारशील पुरुषो को उचित है कि वे धर्म-कार्यों के अनुष्ठान में किसी प्रकार का प्रमाद न करें।

गाथा में आया हुआ 'एव' शब्द 'इव' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। यहां पर इतना और स्मरण रहे कि श्री मरुदेवी आदि को जो अन्तकाल में केवलज्ञान होकर मोक्ष की प्राप्ति हुई थी, वह अपवाद रूप है। सबको ऐसा होना दुर्लभ ही नही, किन्तु अत्यन्त दुर्लभ है।

यदि कोई शंका करे कि क्या पहले की तरह पीछे इच्छाओं का निरोध नहीं किया जा सकता, इस शंका का समाधान निम्नलिखित गाथा में किया गया है—

खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं, तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।
समिच्च लोयं समया महेसी, अप्पाणरक्खी व चरेऽप्पमत्तो॥१०॥

क्षिप्रं न शक्नोति विवेकमेतुं, तस्मात्समुत्थाय प्रहाय कामान्।
समेत्य लोकं समताया महर्षिः, आत्मरक्षीव चरेदप्रमत्तः॥१०॥

पदार्थान्वयः—**खिप्पं**—शीघ्र, **न सक्केइ**—नही समर्थ, **विवेगं**—विवेक को, **एउं**—प्राप्त करने को, **तम्हा**—इसलिए, **समुट्ठाय**—धर्म का आचरण फिर करूगा, इस प्रकार के भावो को, **पहाय**—छोड़ करके व, **कामे**—काम-भोगो को (छोड़ करके), **समिच्च**—विचार करके, **लोयं**—लोक को, **समया**—समभाव से, **महेसी**—महर्षि, **अप्पाणरक्खीव**—आत्मा की रक्षा करता हुआ, **अप्पमत्तो**—अप्रमत्त होकर, **चरे**—विचरे।

मूलार्थ—विवेक की शीघ्र प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिए 'धर्म' का अनुष्ठान फिर कर लिया जाएगा, इस प्रकार के भावों और काम-भोगादि विषयों का परित्याग करके धर्माचरण में प्रबुद्ध रहना चाहिए और समभाव से लोकस्थ प्राणी-वर्ग का विचार तथा आत्मा की रक्षा करता हुआ महर्षि—साधु सदा अप्रमत्त रहकर संसार में विचरण करे।

टीका—इस गाथा के ग्रहणीय उपदेश का अभिप्राय यह है कि जरा और मृत्यु के अति निकट आ जाने पर जीव को विवेक-शक्ति का शीघ्र प्राप्त होना बहुत कठिन हो जाता है। उसमें इतनी शक्ति का होना बड़ा दुर्लभ है जिससे कि वह अतिशीघ्र विवेक को प्राप्त कर सके।

विवेक के द्रव्य-विवेक और भाव-विवेक ये दो भेद है। बाहर के पदार्थो के संसर्ग का त्याग

करना द्रव्य-विवेक है और क्रोध, मान, माया आदि कषायों के त्याग को भाव-विवेक कहा जाता है। अतः दोनो प्रकार के विवेक के आधार पर 'धर्म का आचरण बुढ़ापे में कर लिया जाएगा' इस प्रकार के भावों का त्याग कर देना चाहिए और धर्मानुष्ठान में लग जाना चाहिए, क्योंकि जिस प्राणी ने प्रथम अवस्था में धर्म का कुछ साधन नहीं किया, उससे पिछली अवस्था में भी धर्म-साधना की कोई आशा नहीं की जा सकती। इसलिए काम-भोगादि विषयो का परित्याग करके विवेक को प्राप्त करने में यत्नशील बनना चाहिए एवं लोकस्थ प्राणी-समूह को प्राप्त करके अथवा उसका विचार करके समताबुद्धि से आत्म-रक्षा मे सावधान रहने वाला महर्षि—साधु सदा अप्रमत्त रहकर अपने संयम-मार्ग मे विचरण करे।

यद्यपि गाथा में '**समया**' यह तृतीयान्त पद दिया गया है तथापि इसका "शत्रु-मित्र में समान भाव रखता हुआ सयम-मार्ग में विचरण करे" यह अर्थ करना उचित है। जब तक शत्रु और मित्र के लिए समान भाव नहीं होगा तब तक सयम में विचरण भी नही हो सकता। इसलिए प्राप्त हुए इस दुर्लभ समय को प्रमाद के वशीभूत होकर खो देने की भूल विवेकी जनो को कभी न करनी चाहिए, अपितु जहा तक हो सके शीघ्र से शीघ्र धर्मानुष्ठान मे प्रवृत्त हो जाना चाहिए, जिससे कि अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति में भी शीघ्र ही सफलता मिल सके।

परन्तु प्रमाद का मूल कारण राग और द्वेष है, इसलिए अब उनके त्याग के विषय में लिखा जाता है—

मुहुं मुहुं मोहगुणे जयन्तं, अणेगरूवा समणं चरन्तं ।
फासा फुसंति असमंजसं च, न तेसिं भिक्खू मणसा पउस्से ॥ ११ ॥

मुहुर्मुहुर्मोहगुणान् जयन्तं, अनेकरूपाः श्रमणं चरन्तम् ।
स्पर्शाः स्पृशन्त्यसमंजसं च, न तेषु भिक्षुर्मनसा प्रदुष्येत् ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—मुहु-मुहं—बार-बार, **मोहगुणे**—मोह गुण को, **जयन्तं**—जीतता हुआ, **समणं**—साधु, **चरंतं**—सयम-मार्ग मे चलता हुआ तथा, **अणेगरूवा**—अनेक प्रकार, **फासा**—स्पर्श, **फुसंति**—स्पर्शित होते है, **असमंजसं**—असाता के उत्पन्न करने वाले, **च**—पादपूर्ति मे है, **तेसिं**—उनमे, **मणसा**—मन से, **भिक्खू**—साधु, **न**—नही, **पउस्से**—द्वेष करे।

मूलार्थ—बार-बार मोह-गुणों पर विजय प्राप्त करने वाले और संयम-मार्ग पर चलने वाले साधु को कष्ट देने वाले अनेक प्रकार के अनुकूल अथवा प्रतिकूल स्पर्श स्पर्शित होते रहते हैं, अर्थात् असाता उत्पन्न करने वाले अनेक प्रकार के उपसर्गों का साधु को सामना करना पड़ता है, परन्तु संयमशील भिक्षु उनके साथ मन से भी द्वेष न करे, शरीर और वाणी की तो बात ही क्या है?

टीका—सयम-मार्ग पर चलने वाले साधु को मोह उत्पन्न करने वाले अनेक प्रकार के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि गुणो का स्पर्श होता रहता है। ये सब इन्द्रिय-विषय मोह-गुण कहे

जाते हैं। सो इन विकारी गुणों पर विजय प्राप्त करने वाला साधु संयम-मार्ग में विचरता हुआ इनके अनुकूल अथवा प्रतिकूल स्पर्श से तथा इनके द्वारा किसी प्रकार की असाता के उत्पन्न होने से उद्वेग को प्राप्त होकर इन पर किसी प्रकार की द्वेष-भावना उत्पन्न न करे, किन्तु अपनी स्वाभाविक समता और सहनशीलता से शान्तिपूर्वक इनका स्वागत करे। साधु की संयम-वृत्ति का इसी में महत्व है कि वह अनुकूल अथवा प्रतिकूल किसी भी उपसर्ग के उपस्थित होने पर अपनी सहज-शांति को कदापि भंग न होने दे।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि इन अनुकूल अथवा प्रतिकूल उपसर्गों के आने पर मननशील साधु यह विचार करे कि मैंने इन उपसर्गों को सहन करने के लिए ही संयम ग्रहण किया है, अतः मोह-गुणों का शान्तिपूर्वक स्वागत करना मेरा मुख्य कर्त्तव्य है। यदि मैं इनसे पराजित हो गया तो मुझे अवश्य ही संसार-चक्र में अनन्तकाल तक भ्रमण करना पड़ेगा, इन गुणों का स्पर्श निःसन्देह बुद्धि को व्याकुल और कि-कर्त्तव्य-विमूढ़ करने वाला है, इसलिए वीतरागदेव के संयम-प्रधान साधु-धर्म का पर्यालोचन करते हुए इन उपसर्गो के सामने मुझे कभी कायर नहीं बनना चाहिए, किन्तु वीर पुरुष की भांति इनके समक्ष अपनी शान्तिमयी धीर-वृत्ति का परिचय देकर इन पर विजय प्राप्त करना ही मेरी साधु-चर्या का भूषण है।

तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की अर्थ-युक्त विचार-धारा से अपने मन को स्वस्थ और सबल बनाकर इन उपसर्गो के प्रति शरीर और वाणी से तो क्या मन से भी किसी का अनिष्ट चिन्तन न करे। यह तो अनुभव-सिद्ध है कि जब किसी व्यक्ति ने आत्मा के स्वरूप को और उसके साथ लगे हुए कर्म-फल के सम्बन्ध को भली-भांति जान लिया हो तो फिर उसका बाह्य सासारिक वस्तुओं पर किसी प्रकार का भी द्वेष-लेश शेष नहीं रह जाता।

अब मोह-गुणों का विस्तृत वर्णन किया जाता है—

मंदा य फासा बहु-लोहणिज्जा, तहप्पगारेसु मणं न कुज्जा।
रक्खिज्ज कोहं विणएज्ज माणं, मायं न सेवेज्ज पहेज्ज लोहं॥१२॥

मन्दाश्च स्पर्शा बहुलोभनीयाः, तथा-प्रकारेषु मनो न कुर्यात्।
रक्षेत्क्रोधं विनयेत् मानं, मायां न सेवेत प्रजह्याल्लोभम्॥१२॥

पदार्थान्वयः—**मंदा**—मंद, **फासा**—स्पर्श, **बहुलोहणिज्जा**—बहुत लुभाने वाले, **तहप्पगारेसु**—तथा प्रकारो मे—वैसे पदार्थों मे, **मणं**—मन, **न कुज्जा**—न करे, **रक्खिज्ज**—दूर करे, **कोहं**—क्रोध को, **विणएज्ज**—टाल देवे, **माणं**—मान को, **मायं**—कपट को, **न सेवेज्ज**—सेवन न करे, **पहेज्ज**—छोड़ दे, **लोहं**—लोभ को, **य**—समुच्चयार्थ में है।

मूलार्थ—बुद्धि को मन्द करने वाले और मन को लुभाने वाले स्पर्शों में साधु अपने मन को न लगाए, वह क्रोध न करे, मान में न आए, माया-कपट का सेवन कभी न करे और लोभ को भी मन से त्याग दे।

टीका—शब्दादि मोह-गुण अपने अन्दर बड़ी विलक्षण शक्ति रखते हैं। बड़े-बड़े विवेकशील व्यक्ति भी इनके आगे नत-मस्तक हो जाते है। बड़े-बड़े प्रवीण पुरुषों को इन शब्दादि मोह-गुणों ने अज्ञानता के गर्त्तों में धकेल दिया है। जहां पर ये विवेक और बुद्धि की सम्पत्ति को हरते हैं वहां पर इनमें प्रलोभन-शक्ति की भी कोई सीमा नहीं है। साधारण की तो बात ही क्या है, बड़े-बड़े विचारशील और मननशील व्यक्तियों के चित्तो को भी अपनी मुट्ठी में ले लेना इनके लिए एक साधारण सी बात है, अतः इन शब्दादि अनुकूल स्पर्शो की प्रलोभनता मे विचारशील साधु को अपना मन कभी न लगाना चाहिए तथा क्रोध, मान, माया और लोभ का भी परित्याग कर देना चाहिए, क्योंकि शव्दादि गुण-स्पर्शों के ये ही कारण हैं। अगर इन चारो पर विजय प्राप्त कर ली जाए तो शब्दादि मोह-गुणों का आत्मा पर कोई प्रभाव नही पड़ता। ये शब्दादि गुण तो उन आत्माओं के लिए कष्टप्रद या आकर्षक होते है जिनके उक्त चारो कषाय उदय मे आए हुए हो, अतः इन चारो कषायों पर विजय प्राप्त कर लेने से मोह के गुणो पर विजय-लाभ सहज मे ही हो सकता है।

इन पर विजय प्राप्त करने का सहज उपाय सूत्रकार ने यही बताया है कि इनके प्रति किसी प्रकार का राग-द्वेष-मूलक मानसिक क्षोभ नही करना चाहिए। राग और द्वेष ये दो ही मुख्य कषाय है। क्रोधादि चारो कषाय इन्ही दो के अन्तर्गत है। क्रोध और मान द्वेष के अन्तर्गत है एवं माया और लोभ का राग मे अन्तर्भाव है, अतः इनको जीत लेने से मोह के सभी गुण और क्रोधादि सभी कषाय स्वतः ही पराजित हो जाते है। '**पहेज्ज**' क्रिया का वैकल्पिक रूप '**पयहिज्ज**' भी है। किन्तु यहा छन्द की दृष्टि से '**पहेज्ज**' पद ही उपयुक्त एव आर्ष है।

अब अन्तिम गाथा में कुछ अधिक जानने योग्य विषय का वर्णन किया जाता है—

जे संखया तुच्छ-परप्पवाई, ते पिज्ज-दोसाणुगया परज्झा ।
एए अहम्मे त्ति दुगुंछमाणो, कंखे गुणे जाव सरीरभेउ ॥ १३ ॥
त्ति बेमि।

इति असंखयं चउत्थं अज्झयणं समत्तं ॥ ४ ॥

ये सस्कृतास्तुच्छपरप्रवादिनः, ते प्रेमद्वेषानुगताः परवशाः ।
एतेऽधर्मा इति जुगुप्समानः, कांक्षेत् गुणान् यावच्छरीरभेदः ॥ १३ ॥
इति ब्रवीमि।

असंस्कृतं चतुर्थमध्ययनं सम्पूर्णम् ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**जे**—जो, **संखया**—सस्कृत, **तुच्छ**—निःसार, **परप्पवाई**—पर-प्रवादी, **ते**—वे, **पिज्ज-दोसाणुगया**—राग और द्वेष के अनुगत, **परज्झा**—परवश, **एए**—ये, **अहम्मे**—अधर्म के हेतु, **त्ति**—इस प्रकार जानकर, **दुगुंछमाणो**—जुगुप्सा करता हुआ, **कंखे**—चाहे, **गुणे**—गुणों को, **जाव**—जब तक, **सरीरभेउ**—शरीर का भेद है।

मूलार्थ—जो तुच्छ अर्थात् निःस्सार संस्कृत भाषा के केवल प्रवादी मात्र हैं, वे अधर्म के हेतु राग और द्वेष के वश में पड़े हुए हैं। इस प्रकार जानकर उससे घृणा करता हुआ साधु जब तक शरीर का भेद नहीं हुआ, तब तक ज्ञान आदि गुणों की ही अभिलाषा करता रहे।

टीका—इस गाथा में अधिकतर बाह्य आडम्बरों के परित्याग की शिक्षा दी गई है। जो प्रवादी—परमतावलम्बी हैं, वे वाग्जाल में बड़े निपुण हैं, अथवा संस्कृत भाषा के बोलने में बड़े पटु हैं एवं उन्होंने अपने शास्त्रों का भी यथारुचि संस्कार किया हुआ है, परन्तु यदि उन्होंने अपने आत्मा को संस्कृत—शुद्ध नहीं किया तो उनका यह सब कुछ कथन व्यर्थ है, केवल वागाडम्बर मात्र होने से निस्सार एवं तुच्छ है। इसलिए ये प्रवादी निस्सार वाणी के बोलने वाले हैं। क्षणिक-वाद के मानने वाले है और निर्दयी है तथा राग-द्वेष के वशीभूत होने से ये आत्म-दर्शन से कोसों दूर है। अतः इनके विचारों को अनेकान्त शैली से विपरीत, तत्त्व-विद्या से रहित और अधर्म समझकर इनकी संगति से घृणा करता हुआ सयमशील साधु जब तक शरीर की स्थिति है—जब तक इसका भेद नहीं होता तब तक ज्ञानादि गुणो को अधिकाधिक रूप मे सम्पादन करने की उत्कृष्ट भावना रखे।

इस सारे प्रकरण का अभिप्राय यह है कि जो प्रवादी संस्कृत आदि भाषाओं के बोलने और वाद-विवाद में बड़ी निपुणता प्राप्त किए हुए है, किन्तु आत्म-शुद्धि अथवा तत्त्व-विचार में निरे कोरे हैं एव हिसा-मार्ग के अनुगामी और क्षणिकवाद के उपदेष्टा है तथा काम-शास्त्र के आलम्बन से केवल ऐहिक विषय-वासनाओं मे पड़े हुए तथा अधिकाश में नास्तिकता की ओर बढ़े हुए हैं उनकी राग-द्वेष मूलक प्रवृत्ति को अधर्म-वृद्धि का हेतु समझकर, उनकी संगति से घृणा करता हुआ जब तक शरीर का अन्त नही होता तब तक अप्रमत्त भाव से अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप आत्म-गुणों को अधिकाधिक विकसित करने मे ही प्रवृत्त रहे।

यहा पर अन्यमतावलम्बियो की संगति से जो घृणा करने का साधु को उपदेश दिया गया है, वह किसी द्वेष भाव से नहीं, किन्तु मध्यस्थ भाव से ही है तथा साधु की यह घृणा निन्दारूप से नही, किन्तु आत्म-गुणों के विकासरूप में है, यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए।

गाथा में आए हुए '**कांक्षेत्**' क्रिया पद का केवल 'इच्छा' करना ही अर्थ नहीं, किन्तु इच्छानुकूल प्रवृत्ति करना ही उसका मुख्य तात्पर्य है।

त्ति बेमि, 'इति ब्रवीमि'—इस प्रकार मै कहता हूं। इस पद की व्याख्या पूर्व में कर दी गई है, अब पुन· करने की आवश्यकता नहीं है।

असंस्कृत अध्ययन सम्पूर्ण

अह अकाममरणिज्जं पंचमं अज्झयणं

अथाकाममरणीयं पंचममध्ययनं

चौथे अध्ययन में मरण-समय-पर्यन्त भी इस जीव को कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए, इस विषय का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस विषय की जानकारी के लिए पाठक को सर्व प्रथम मरण-भेदों का ज्ञान होना जरूरी है, क्योंकि मरण-भेदों के ज्ञान के बिना बाल-मरण का त्याग करके पंडित-मरण में पुरुषार्थ होना कठिन है, इसलिए अब पांचवें अध्ययन मे अकाम और सकाम मृत्यु का वर्णन किया जाता है। इसी उद्देश्य से इस अध्ययन का नाम 'अकाम-मरणीय अध्ययन' रखा गया है। इसकी आदिम गाथा इस प्रकार है—

अण्णवंसि महोहंसि, एगे तिण्णे दुरुत्तरे ।
तत्थ एगे महापन्ने, इमं पण्हमुदाहरे ॥ १ ॥

अर्णवान्महौघाद्, एके तीर्णा दुरुत्तरात् ।
तत्रैको महाप्रज्ञः, इमं प्रश्नमुदाहृतवान् ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—**अण्णवंसि**—ससार-समुद्र से, **महोहंसि**—महाप्रवाह वाले से, **दुरुत्तरे**—दुष्कर रूप मे तैरे जा सकने वाले से, **तत्थ एगे**—एक, **तिण्णे**—तर गए, **एगे**—एक, **महापन्ने**—महाबुद्धिमान्, **इमं**—यह प्रत्यक्ष वक्ष्यमाण, **पण्हं**—प्रश्न को, **उदाहरे**—कहते हैं—उत्तर देते हैं।

मूलार्थ—राग-द्वेष से रहित हुए कई—कुछ महापुरुष (गौतमादि) इस महाप्रवाह वाले दुस्तर संसार-समुद्र से तर गए, उनमें महाप्रज्ञ अर्थात् अतिशय बुद्धि वाले इस वक्ष्यमाण प्रश्न का इस प्रकार उत्तर देते हैं।

टीका—यह ससार-समुद्र बड़ा ही दुस्तर है, इसके जन्म-मरण रूप महाप्रवाह में पड़ा हुआ प्राणी भाग्य से ही बाहर निकल पाता है। राग-द्वेष-रूप अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले विरले महापुरुष ही इससे पार हो सकते है। साधारण जनो में इसके प्रवाह से बाहर निकलने का सामर्थ्य ही नहीं होता। इनसे पार होने वाले महापुरुषों मे भी जो महापुरुष अद्वितीय बुद्धिमान एवं तीर्थंकर नाम

कर्म वाला है और जो कि एक विजय में एक ही होता है, वह इस पूछे हुए प्रश्न का इस प्रकार उत्तर देता है।

इसका तात्पर्य यह है कि रागद्वेष को जीतकर इस दुस्तर संसार-समुद्र को पार करने वाले गौतम आदि मुनियों में से कुछ महा बुद्धिमान् केवली या तीर्थंकर ही मृत्यु-सम्बन्धी इस प्रश्न का इस प्रकार उत्तर देते हैं।

यद्यपि सूत्र में एक वचन में ही 'एक' शब्द का प्रयोग किया गया है, तथापि वह सामान्य अर्थ का बोधक होने से सामान्य केवली और तीर्थंकर दोनों का ही ग्रहण करने वाला है।

इसी प्रकार अर्थ-भेद से सामान्य केवली और तीर्थंकर भगवान् के साथ 'महाप्रज्ञ' शब्द का भी सम्बन्ध बड़ी सुगमता से किया जा सकता है।

'अण्णवंसि महोहंसि' इन शब्दो में पंचमी के स्थान पर सप्तमी का प्रयोग **'सुप्'** व्यत्यय से जानना चाहिए। सर्वार्थसिद्धि नाम की टीका के कर्त्ता ने तो इन शब्दो को पञ्चम्यन्त दिखाते हुए अर्थ करने में इनको सप्तम्यन्त ही माना है तथा दीपिकाकार ने 'एगे' शब्द को प्रथमा का बहुवचन ही स्वीकार किया है।

अब उसी विषय का पुनः प्रतिपादन किया जाता है—

सन्ति मे य दुवे ठाणा, अक्खाया मारणन्तिया।
अकाममरणं चेव, सकाममरणं तहा ॥ २ ॥

स्त इमे च द्वे स्थाने, आख्याते मारणान्तिके।
अकाम-मरणं चैव, सकाम-मरणं तथा ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—**इमे**—ये, **संति**—है, **दुवे**—दो, **ठाणा**—स्थान, **अक्खाया**—कहे गए हैं, **मारणंतिया**—मरण के समीप, **अकाममरणं**—अकाम-मरण, **च**—और, **तहा**—तथा, **सकाममरणं**—सकाम-मरण।

मूलार्थ—मरणान्त के ये दो स्थान कहे गए हैं—एक अकाम-मरण और दूसरा सकाम-मरण।

टीका—तीर्थंकर भगवान् ने मरण समय के दो स्थान वर्णन किए है—एक अकाम-मृत्यु और दूसरा सकाम-मृत्यु। इन्हीं का दूसरा नाम क्रम से बाल-मरण और पंडित-मरण है। तात्पर्य यह है कि मृत्यु के समय सभी जीव इन दो स्थानों के आश्रित होकर मृत्यु को प्राप्त करते है।

(१) जो जीव अज्ञान की दशा में अज्ञान के वशीभूत होकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं उनकी मृत्यु को बाल-मृत्यु, बालमरण या अकाम-मृत्यु कहते हैं (२) और जो जीव ज्ञान-पूर्वक मृत्यु को प्राप्त होते हैं, उनकी यह ज्ञान-गर्भित मृत्यु पंडित-मृत्यु, पंडित-मरण या सकाममृत्यु कही जाती है। सूत्रकार ने अकाम और सकाम मरण से बालमृत्यु और पण्डित मृत्यु का ही ग्रहण किया है।

प्राकृत भाषा में द्विवचन का अभाव होने से 'स्तः' इस द्विवचन के स्थान में 'संति' यह बहुवचन का प्रयोग करना ही युक्तियुक्त है।

अब बाल-मरण और पंडित-मरण की विवेचना करते हुए सूत्रकार लिखते हैं कि—

बालाणं अकामं तु, मरणं असइं भवे ।
पंडियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सइं भवे ॥ ३ ॥

बालानामकामं तु, मरणमसकृद् भवेत् ।
पण्डितानां सकामं तु, उत्कर्षेण सकृद् भवेत् ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—बालाणं—अज्ञानियों का, **अकामं**—अकाम, **तु**—निश्चय से, **मरणं**—मरण, **असइं**—बार-बार, **भवे**—होता है, **पंडियाणं**—पडितो का, **सकामं**—सकाम, **मरणं**—मरण, **तु**—विशेष रूप से, **उक्कोसेण**—उत्कृष्टता से, **सइं**—एक बार ही, **भवे**—होता है।

मूलार्थ—अज्ञानियों का अकाम-मरण तो अनेक बार होता है, किन्तु पंडितों का सकाम-मरण तो उत्कर्ष से एक ही बार हुआ करता है।

टीका—जो सत्-असत् के विचार से शून्य है उन अज्ञानियो की अकाम मृत्यु तो अनेक बार होती है, क्योंकि विषयों के वशीभूत होकर वे बार-बार जन्म-मरण को प्राप्त करते रहते है। सकषायी एवं विषयानुरागी होने के कारण इच्छा न होते हुए भी उन्हे बार-बार ससार-चक्र में घूमना पड़ता है, परन्तु जो सत्-असत् का विचार करने वाले पण्डित पुरुष है, उनको सकाममृत्यु उत्कृष्ट रूप से एक ही बार होती है, अर्थात् वे अपने संयमाराधन के प्रभाव से ऐसी मृत्यु को प्राप्त करते है जो दोबारा नहीं होती, क्योकि मुक्त हो जाने के कारण उनके लिए भविष्य मे मृत्यु का अभाव हो जाता है। यदि उनका पुनः कही पर जन्म हो तब तो उनके लिए मृत्यु की भी कल्पना की जाए परन्तु कर्ममल का विनाश करके मोक्ष-गति को प्राप्त कर लेने से उनमें तो जन्म और मृत्यु दोनों की कल्पना असम्भव है, इसलिए पंडितों अर्थात् ज्ञानियों की मृत्यु उत्कृष्टतया केवल एक ही बार होती है।

यहां पर इतना और भी समझ लेना चाहिए कि यह एक बार की मृत्यु की कल्पना केवल ज्ञानी—केवल-ज्ञान प्राप्त किए हुए मुनि की अपेक्षा से है और शेष मुनियों की अपेक्षा से तो कम-से-कम उनको सात-आठ बार आवागमन करना पड़ता है। विचारशील पंडित पुरुषो की सकाम मृत्यु के लिए केवल एक बार होने का जो उल्लेख किया है उसका कारण उनकी दृढ़तर चारित्र निष्ठा है, क्योकि दर्शन-ज्ञान-पूर्वक चारित्र-धर्म का सम्यक्तया अनुष्ठान करने वाले महापुरुषों को मृत्यु का अणुमात्र भी भय नहीं रहता। उनकी सारी क्रियाएं कर्मों की निर्जरा करने वाली होती है, वे ध्यानारूढ़ होकर केवल आत्म-समाधि में ही लीन रहते है, इसलिए अन्त समय मे वे अनशन के द्वारा सकाममृत्यु को प्राप्त होते हुए कर्मों के बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं, उनकी यह मृत्यु अन्तिम मृत्यु होती है।

मृत्यु के समीप आने पर वे पंडित पुरुष बड़े प्रसन्न होते हैं और कायरों की तरह मृत्यु से कदापि भयभीत नहीं होते, किन्तु शूरवीरों की तरह बड़े चाव से वे मृत्यु देवी का स्वागत करते हैं। वास्तव में मृत्यु का भय तो उसी आत्मा को होता है जिसने कि आगे के लिए पाथेय रूप किसी सुकृत का सञ्चय न किया हो। भला जिन भव्य आत्माओं ने अपने जीवन में अधिक-से-अधिक पुण्य संचित कर रखा हो, उनको भय किस बात का? अतः सकाम मृत्यु वाले पंडित पुरुषो के लिए मृत्यु का आगमन एक हर्ष का स्थान होता है।

इस गाथा में आए हुए 'तु' शब्दों में से पहला 'तु' निश्चयार्थक और दूसरा विशेषार्थक है।

अब प्रथम स्थान—बालमरण के विषय में कहते हैं—

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं ।
कामगिद्धे जहा बाले, भिसं कूराइं कुव्वइ ॥ ४ ॥

तत्रेदं प्रथमं स्थानं, महावीरेण देशितम् ।
कामगृद्धो यथा बालः, भृशं क्रूराणि करोति ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**तत्थ**—वहा—उन दोनों स्थानो में, **इमं**—यह, **पढमं**—प्रथम, **ठाणं**—स्थान, **महावीरेण**—महावीर स्वामी ने, **देसियं**—प्रतिपादन किया है, **कामगिद्धे**—काम में मूर्च्छित हुआ, **जहा**—जैसे, **बाले**—बाल, **भिसं**—अतिशय, **कूराइं**—क्रूर कर्म, **कुव्वइ**—करता है।

मूलार्थ—**इन दोनों स्थानों में यह प्रथम स्थान श्री महावीर स्वामी ने प्रतिपादन किया है, काम में मूर्च्छित हुआ मूढ व्यक्ति जिस प्रकार अतिक्रूर कर्म करता है उसी प्रकार अज्ञानी जीव अकाम-मृत्यु को प्राप्त करता है।**

टीका—अकाम और सकाम इन दोनों प्रकार की मृत्युओं मे से पहली अकाम-मृत्यु का वर्णन भगवान् महावीर स्वामी ने इस प्रकार किया है। जो अज्ञानी जीव काम-वासनाओं में अत्यन्त आसक्ति रखने वाले है और हिसा आदि अतिक्रूर कर्मों का आचरण करने वाले है उन्हीं को यह मृत्यु प्राप्त होती है। जैसे अबोध बालक अपने हित और अहित को नहीं जानता उसी प्रकार अज्ञानी जीव भी अपने हित का कुछ भी विचार न करता हुआ हिंसा आदि क्रूर कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है, जिसका कि फल अकाम-मृत्यु है। तथा जैसे तन्दुल नाम का मत्स्य मन में किए हुए अतिक्रूर कर्म के प्रभाव से सातवें नरक में जाता है, उसी प्रकार कामभोगादि विषयों में अत्यन्त आसक्त और निर्ममता के साथ अतिक्रूर कर्मों का करने वाला अज्ञानी जीव अकाम-मृत्यु को प्राप्त होता है।

यद्यपि गाथा मे मृत्यु शब्द का उल्लेख नहीं किया गया तो भी उसका अध्याहार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि इस गाथा में दिए गए उपमावाची 'यथा' शब्द की तभी सार्थकता हो सकती है जब कि उससे सम्बन्ध रखने वाले 'तथा' शब्द का अध्याहार किया जाए और 'तथा' शब्द अपनी उपयोगिता के लिए अर्थ की संगति में मृत्यु शब्द के अध्याहार की अपेक्षा रखता है। तब इस श्रृङ्खला

से यह अर्थ निकला कि बाल अर्थात् मूर्ख जिस प्रकार के कर्म करता है उसी प्रकार की उसकी मृत्यु होती है।

अब कामभोगासक्त पुरुष की विचारणा और उसके कर्म-विपाक के विषय में कहते हैं—

जे गिद्धे कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छइ ।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई ॥ ५ ॥

यो गृद्धः कामभोगेषु, एकः कूटाय गच्छति ।
न मया दृष्टः परो लोकः, चक्षुदृष्टेयं रतिः ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—जे—जो, **गिद्धे**—मूर्च्छित, **कामभोगेसु**—काम-भोगो में, **एगे**—कोई एक, **कूडाय**—कूट अर्थात् नरक मे, **गच्छइ**—जाता है, **न**—नहीं, **मे**—मैने, **दिट्ठे**—देखा, **परे लोए**—परलोक, **चक्खुदिट्ठा**—चक्षुदृष्ट, **इमा**—यह, **रई**—रति है।

मूलार्थ—जो पुरुष काम-भोगों में आसक्त है वह नरक को जाता है, परन्तु वह कहता है कि परलोक तो मैंने देखा ही नहीं और यह कामभोगादि विषयक जो रति—आनन्द है वह चक्षु-दृष्ट अर्थात् अनुभव-सिद्ध एवं प्रत्यक्ष है।

टीका—इस गाथा मे काम-भोगादि विषयो मे अत्यन्त आसक्ति रखने वाले पुरुष के जघन्य विचारो और उसकी विषयासक्ति के भावी फलोदय का दिग्दर्शन कराया गया है। जो व्यक्ति शब्द, स्पर्शादि रूप काम-भोगो मे अत्यन्त मूर्च्छित है, वह नरक मे ही जाता है, क्योंकि विषयो मे बढ़ी हुई अत्यन्त आसक्ति के कारण उसके विवेक-चक्षु बिल्कुल बन्द हो जाते है। इसी कारण उसको न तो कोई परलोक ही नजर आता है और न ही शुभाशुभ कर्मों के फल की ओर ही उसका ध्यान जाता है, किन्तु ऐहिक विषय-भोगो को ही वह अपने जीवन का एक मात्र सार समझता हुआ उनमे ही लीन रहता है।

यदि कोई विचारशील आस्तिक पुरुष उसे उपदेश दे कि 'हे भद्र! तू इस प्रकार के असाधु जनोचित कर्मो का आचरण करना छोड़ दे, तेरे जैसे भद्र-पुरुष को इस प्रकार के अनुचित काम शोभा नही देते। भद्र पुरुषों को तो वे ही काम करने चाहिएं जिनका परलोक मे सुन्दर फल मिले, इन कर्मों का फल तो नरक है।'

तब इसके उत्तर में वह यह कहने लगता है कि 'परलोक तो मैने कभी देखा ही नही, अतः उसको मानना या उस पर विश्वास करना केवल मूर्खता ही है और काम-भोगादि विषयो मे जो सुख है वह प्रत्यक्ष है। इस प्रत्यक्ष-सिद्ध सुख का परित्याग करके काल्पनिक सुख की आशा करना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है, इसलिए मै नही चाहता कि इस प्राप्त हुए विषय-जन्य सत्य सुख को छोड़कर किसी के उपदेश से असिद्ध, अप्रसिद्ध, पारलौकिक सुख-विशेष की आशा करूं। अगर सच पूछा जाए तो काम-भोगादि विषय ही सुख के मूल साधन है, इन्हीं में वास्तविक सुख निहित है।' इत्यादि।

इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में आए हुए चतुर्थ्यन्त 'कूट' शब्द (**कूडाय—कूटाय**) से ग्रहण किए जाने वाले पदार्थ के द्रव्य और भाव को लेकर दो भेद किए गए हैं, जैसे कि—द्रव्य-कूट और भाव-कूट। इसमें जो मांसाहार का लोलुपी होकर पशुओं के वध एवं बंधन का उपाय करता है वह द्रव्य-कूट है और मिथ्या-भाषण आदि में प्रवृत्त होना भाव-कूट कहलाता है। जो व्यक्ति काम-भोगादि विषयों में अधिक मूर्च्छित है—अधिक आसक्ति रखने वाला है उसमें तो ये दोनों प्रकार के कूट निवास करते हैं, क्योंकि उसमें मांसाहार की लोलुपता भी है और विषय-पूर्ति के लिए मिथ्या-भाषण भी। इस प्रकार दोनों कूट वहां पर विद्यमान है। इस जघन्य प्रवृत्ति का परिणाम जैसा कि ऊपर बताया गया है नरक ही है।

इस सूत्र की दीपिका नामक टीका में लिखा है कि '**कूडाय—कूटाय**' यह विभक्ति-विपर्यय से द्वितीया के स्थान मे चतुर्थी का प्रयोग किया गया है। कूटाय—'**कूटं गच्छति**' कूट उसका नाम है कि जहा पर प्राणी अधिक से अधिक दुख पाते है, अर्थात्, नरक-भूमि का नाम कूट है जो कि विषयी, कामी, दुराचारी और पापी पुरुषों से ही अधिकतर भरा पड़ा है।

ऊपर मूल तथा व्याख्या में बताए गए काम-भोगासक्त मनुष्य के विचारों को अब निम्नलिखित गाथा के द्वारा और भी स्पष्ट करते हैं—

हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए अत्थि वा नत्थि वा पुणो ? ॥ ६ ॥

हस्तगता इमे कामाः, कालिका येऽनागताः ।
को जानाति परो लोकः, अस्ति वा नास्ति वा पुनः? ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—**हत्थागया**—हाथ में आए हुए, **इमे**—ये, **कामा**—काम-भोग, **जे**—जो, **अणागया**—भविष्य मे होने वाले है वे, **कालिया**—सन्देहयुक्त है, **को**—कौन, **जाणइ**—जानता है, **परे लोए**—परलोक, **अत्थि**—है, **वा**—अथवा, **नत्थि**—नही, **वा**—परस्पर अर्थ मे, **पुणो**—फिर (कौन वर्तमान काल मे भोगों को छोड़े।)

मूलार्थ—काम-भोग तो इस समय हस्त-गत है और जो भविष्यत् में मिलने वाले हैं वे संदिग्ध हैं। कौन जानता है कि परलोक है भी अथवा नहीं, तो फिर हाथ में आए हुए भोगों को क्यों छोड़ दिया जाए?

टीका—इस गाथा मे कामादि विषयो मे अत्यन्त आसक्ति रखने वाले व्यक्ति के स्वार्थ-साधक विचारों का वर्णन किया गया है। धर्म-पतित विषयी जनों के प्रायः इसी प्रकार के विचार होते हैं जिनका कि इस गाथा में उल्लेख किया गया है। वे कहते है कि 'ये प्रत्यक्ष-सिद्ध कामभोगादि विषय तो इस समय हमारे हस्तगत है—हमारे स्वाधीन और वशीभूत हो रहे है, परन्तु जो भविष्य में—आगामी जन्म में मिलने वाले हैं वे संदेह-युक्त है। सम्भव है वे मिले अथवा न भी मिलें! क्योंकि

परलोक के विषय में अभी तक सन्देह ही है। कौन जानता है कि परलोक है भी या कि नहीं! जब कि अभी तक परलोक का निश्चय ही नहीं हुआ तो फिर इन हस्तगत काम-भोगो का क्यो त्याग किया जाए? प्राप्त को छोड़कर अप्राप्त की आशा करना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है, इसलिए वर्तमान काल में प्राप्त हुए कामादि विषयों में आनन्द मानकर उनमे रमण करना चाहिए। परलोक आदि की कल्पना का कोई मूल्य नहीं है। उसकी सत्ता पर विश्वास करना कोरी भूल है। आज तक परलोक से न तो कोई आया और न ही आज तक उसकी किसी ने खबर दी। यह बात सर्वानुभव सिद्ध है कि प्रतिदिन लाखो प्राणी यहां पर मृत्यु को प्राप्त होते है, परन्तु उनमे से आज तक एक भी परलोक से वापिस नहीं आया। यदि परलोक होता तो उसमे से कोई-न-कोई अवश्य वापिस आना चाहिए था, परन्तु आया ही नहीं। इससे प्रतीत होता है कि वास्तव मे परलोक है ही नही। इसलिए हम अपने आत्मा को सन्देह के गढ़े मे धकेलना नहीं चाहते और न ही परलोक के काल्पनिक सुखो के प्रलोभन मे पड़ कर यथेष्ट रूप से प्राप्त हुए इन विषय-भोग-जन्य ऐहिक सुखो से वचित रहना चाहते है।

विषय-भोगासक्त पुरुषो के इस प्रकार के विचार कहा तक ठीक है, इसकी विस्तृत आलोचना तो कही प्रसगवश अन्यत्र की जाएगी, परन्तु यहां पर सक्षेप से इतना विचार कर लेना आवश्यक है कि संसार मे जो हम कष्ट देखते है, उनका कारण क्या है? मनुष्यो की प्रकृति, मनुष्यों का ऐश्वर्य और उनके सुख-दुख मे अन्तर, यह सब कुछ किस आधार को लेकर है? यदि इस प्रश्न पर गम्भीरता पूर्वक कुछ विचार किया जाए तो इस विषमता का मूल कर्मो की विभिन्न-विभिन्न प्रकृतियो मे ही निहित है। कर्मो के ऊचे-नीचे प्रकृति-भेदो मे ही इस विश्व की विविधताए ओतप्रोत है। जब यह बात सत्य है तब तो परलोक की सत्ता बिना किसी और प्रयत्न के स्वतः ही सिद्ध हो जाती है। तात्पर्य यह कि जब वर्तमान समय के जीवों मे उपलब्ध होने वाले शारीरिक सौन्दर्य, ऐश्वर्य और सुख-दुख-सम्बन्धी विषमता का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं मिलता और इनका आकस्मिक होना भी प्रमाण-सिद्ध नही है, तब इस विषमता का कोई अज्ञात कारण अवश्य होना चाहिए। वह अज्ञात कारण सिवाय कर्म-प्रकृति के अन्य कोई नही हो सकता, अत. सिद्ध हुआ कि ससार की विचित्रता का आधार इस जीव के साथ अनादि प्रवाह से लगे हुए कर्माणु या कर्म-सस्कार हैं। बस, इतना कहने अथवा मानते ही परलोक का अस्तित्व अपनी प्रभुता को लिए हुए हमारे सामने आ खड़ा होता है।

अब रही परलोक-दर्शन की बात। उसके लिए तो विवेक-चक्षु, ज्ञान-चक्षु या दिव्य चक्षुओं की आवश्यकता है। इन चर्म-चक्षुओं से उसके दर्शन नही हो सकते तथा जो लोग केवल विषय लालसाओं की पूर्ति को ही अपने मानव-जीवन के उद्देश्य की इतिश्री समझे बैठे है, उनको परलोक की सत्ता के विषय में सन्देह होना कोई आश्चर्य-जनक बात नहीं है, क्योकि अज्ञान के प्रगाढ़ पर्दे ने उनके विवेक-चक्षुओं को बिल्कुल ढाप रखा है। उनकी सारासार-विवेचिनी बुद्धि बिल्कुल कुण्ठित हो चुकी है, परन्तु इससे परलोक के अस्तित्व में कोई क्षति नहीं पहुंच सकती। उल्लू को यदि सूर्य का अस्तित्व स्वीकृत नहीं है तो इससे सूर्य का अभाव कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार दिव्य-ज्ञानचक्षु रखने वालों

के लिए परलोक की सत्ता तो निर्विवाद है, परन्तु केवल चर्म-चक्षु रखने वाले विषय-लोलुपी पुरुष यदि उसको न देख सकें तो यह उन्हीं का दुर्भाग्य समझना चाहिए।

विषयानुरागी पुरुषों को परलोक के अस्तित्व का ज्ञान हो जाने पर भी वे विषयों से विरक्त नहीं होते, किन्तु अपनी इस जघन्य प्रवृत्ति का येन-केन-उपायेन समर्थन ही करते हैं। निम्नलिखित गाथा में इसी भाव को व्यक्त किया गया है—

जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भई ।
काम-भोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जई ॥ ७ ॥

जनेन सार्धं भविष्यामि, इति बालः प्रगल्भते ।
काम-भोगानुरागेण, क्लेशं सम्प्रतिपद्यते ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—जणेण—लोगो के, **सद्धिं**—साथ, **होक्खामि**—होऊंगा, **इइ**—इस प्रकार से, **बाले**—मूर्ख, **पगब्भई**—बोलता है, **कामभोगाणुराएणं**—काम-भोग के अनुराग से, **केसं**—क्लेश को, **संपडिवज्जई**—प्राप्त होता है।

मूलार्थ—मैं भी लोगों के साथ ही होऊंगा, इस प्रकार से अज्ञानी बोलता है और काम-भोग के अनुराग से क्लेश को प्राप्त होता है।

टीका—परलोक आदि के विषय में सन्देह रखने या विश्वास न रखने वाले कामभोगासक्त व्यक्ति को यदि किसी प्रकार से परलोक का अस्तित्व मनवा भो दिया जाए, अर्थात् परलोक की स्वीकृति के लिए उसे विवश भी कर दिया जाए तो भी उसकी प्रवृत्ति मे किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता, इसके अतिरिक्त बढ़े हुए विषयानुराग के कारण धृष्टता का अवलम्बन करता हुआ और अपनी मूर्खता का परिचय देता हुआ वह कहने लगता है कि—

इस संसार में काम-भोगादि विषयों का निरन्तर सेवन करने वालों और उनसे सर्वथा विरक्त रहने वालो की संख्या का यदि अवलोकन किया जाए तो विषयो के त्यागी व्यक्तियों की संख्या तो अगुलियो पर गिने जाने लायक भी नहीं, किन्तु विषयानुरागी व्यक्तियो की संख्या लाखों और करोड़ों से भी अधिक है, जबकि लाखों और करोड़ों व्यक्ति इधर ही प्रवृत्त हो रहे है तो मुझे भी उन्हीं के साथ रहना चाहिए और जो गति उनकी होगी वही मेरी भी हो जाएगी, क्योंकि मै भी उनके साथ ही हूं। ससार का प्रत्यक्ष न्याय भी इसी पक्ष का समर्थन करता है, अर्थात् जिस ओर मनुष्यो का समुदाय अधिक हो, वही पक्ष सत्य एवं युक्ति-युक्त माना जाता है तथा सन्देहयुक्त व्यक्ति को भी उधर ही झुकना पड़ता है, इसलिए विषयों से विरक्त रहने वाले इने-गिने व्यक्तियो का साथ देने की अपेक्षा अधिकाधिक सख्या रखने वालों की पंक्ति में ही जाकर बैठना अधिक लाभदायक है।

परन्तु इस प्रकार के विचारों का मूल विषय-भोगों में बढ़ी हुई आसक्ति ही है। इस विषयानुरक्ति के कारण ही वह इस प्रकार के जघन्य और धृष्टतापूर्ण विचारों को प्रस्तुत करने का

साहस करते है। अगर वास्तव में देखा जाए तो इस प्रकार के विचार मनुष्य को निस्सन्देह अधोगति में ले जाने वाले है। इनका भावी फल नरक की घोर यातनाओं के सिवाय और कुछ नहीं। विष तो केवल इस जन्म में एक ही दफा मारने वाला है, परन्तु विषयरूप विष तो इतना भयंकर है कि वह इस जीव को जन्म-जन्म में मारता रहता है। साधारण जीव अपनी मोहासक्ति के कारण इस रहस्य को नहीं समझ सकते। जो विचारशील व्यक्ति है उन्होंने विषयों के परिणाम को अच्छी तरह समझ लिया है, अतएव वे इनके सम्बन्ध को सर्वथा हानि-कारक समझ कर उनसे सदा दूर रहने का ही प्रयत्न करते है।

यह ठीक है कि ऐसे साधु पुरुष बहुत ही विरले होते है। विषयो की स्वभाव-सिद्ध प्रवृत्ति को रोकना कोई साधारण-सी बात नहीं है, इसके लिए अधिक वीर्य—अधिक पराक्रम की आवश्यकता है। इसलिए धर्म के आचरणीय मौलिक सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतारने वाले महापुरुषों की ससार मे सदा ही न्यून संख्या देखी जाती है और विषयी पामर पुरुषों से तो प्राय· सारा ही संसार भरा पड़ा है, अतः धर्माचरण के विषय में सख्या के आधिक्य को महत्त्व देना भी केवल मूर्खता ही है। लाखो उल्लू मिलकर भी यदि सूर्य के अभाव की घोषणा करें तो क्या वह माननीय हो सकती है? इसी प्रकार लाखों पामर पुरुषों की तीव्र विषयाभिरुचि से धार्मिक जीवन के उच्चतम आदर्श की कभी अवहेलना नही हो सकती। इसलिए जो व्यक्ति संसार मे विषयी जनो की अधिक सख्या को देखकर उनके निन्दनीय आचरणो का अनुसरण करना ही अधिक आनन्द-प्रद और जीवन का मुख्य सार मानते है वे बिल्कुल भ्रात एव प्रतिक्षण अध·-पतन की ओर जाने वाले है। उनकी यह प्रवृत्ति लोक और परलोक दोनो मे ही क्लेश के देने वाली है।

विषयासक्त कामी पुरुषो को इस लोक मे जो नाना प्रकार की विडम्बनाए तथा यातनाए भोगनी पड़ती है उनका अनुभव तो प्रत्यक्ष होने से प्रायः न्यूनाधिक रूप में सभी को है, परन्तु परलोक मे विषय-पिपासा-जन्य नरक-सम्बन्धी तीव्र वेदनाओं की तो कल्पना करते हुए भी शरीर कापने लगता है। अगर सत्य कहा जाए तो सारे पापो का मूल कारण विषय-पिपासा ही है। इसी के निमित्त से काम, क्रोधादि कषायों का उदय होता है और कषायों के उदय होने से मनुष्य अनेक प्रकार के अनर्थ करने मे प्रवृत्त हो जाता है तथा अनर्थ की प्रवृत्ति में ही दुख का प्रादुर्भाव होता है, अतएव जो विचारशील व्यक्ति है वे इन विषयो का दूर से ही त्याग कर देते है।

विषय-लोलुप व्यक्तियों की प्रवृत्ति का पुनः वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

तओ से दण्डं समारभई, तसेसु थावरेसु य ।
अट्ठाए य अणट्ठाए, भूयगामं विहिंसई ॥ ८ ॥

ततः स दण्डं समारभते, त्रसेषु स्थावरेषु च ।
अर्थाय चानर्थाय, भूतग्रामं विहिनस्ति ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—**तओ**—उसके बाद, **से**—वह, **दण्डं**—दण्ड का, **समारभई**—आरम्भ करता है, **तसेसु**—त्रसों में, **य**—और, **थावरेसु**—स्थावरों में, **अट्ठाए**—अर्थ के लिए, **व**—अथवा, **अणट्ठाए**—अनर्थ के लिए, **भूयगामं**—प्राणी समूह का, **विहिंसई**—विनाश करता है।

मूलार्थ—इसके अनन्तर वह काम-भोगासक्त व्यक्ति त्रस और स्थावर जीवों में दंड का आरम्भ करता है, अर्थात् मन, वचन और शरीर के द्वारा त्रस और स्थावर जीवों को दंड देता है तथा सप्रयोजन और बिना प्रयोजन दोनों ही प्रकार से प्राणी समुदाय की हिंसा करता है।

टीका—इस गाथा में विषय-कामना से प्रेरित हुए व्यक्ति की हिंसक प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है। काम-भोगादि विषयों में अधिक आसक्ति रखने वाला व्यक्ति मन, वाणी और शरीर के द्वारा त्रस और स्थावर जीवों को दंड देता है, अर्थात् मन के द्वारा, वचन के द्वारा और शरीर के द्वारा उनका वध करता है तथा धन के निमित्त एव अन्य किसी प्रयोजन से अथवा बिना किसी प्रयोजन के भी प्राणी-समूह की हिंसा मे प्रवृत्त हो जाता है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि विषयी पुरुषों की हिंसक प्रवृत्ति में अर्थानर्थ का जरा भी विवेक नही होता। वे प्रयोजन होने पर भी हिंसा करते हैं और बिना प्रयोजन के भी जीवो के वध में किसी प्रकार की ग्लानि अथवा संकोच उन्हें नहीं होता, क्योंकि काम-भोगादि विषयो में बढ़ी हुई आसक्ति के कारण उनके हृदय से दया के भाव एक दम उठ जाते हैं और हृदय दया-शून्य होने से उनके वचन और शरीर भी कठोर हो जाते है और उनकी प्रवृत्ति में दयालुता के स्थान पर घातकता आ जाती है। जिसका कि पारलौकिक फल दुख के सिवा और कुछ नही है।

इस गाथा मे आए हुए '**तस**—त्रस' शब्द से दो इन्द्रिय से लेकर पाच इन्द्रिय तक के जीवो का ग्रहण है और '**थावर**—स्थावर' शब्द से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति, इन पाचो का ग्रहण है। तथा—'**भूयगामं**—भूतग्राम.' शब्द का '**भूताः प्राणिनस्तेषां ग्रामः समूहः**, इस व्युत्पत्ति के द्वारा '**प्राणि-समूह**' अर्थ करना उचित है।

अब फिर इसी विषय को कुछ और स्पष्ट किया जाता है—

हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे ।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मन्नई ॥ ९ ॥

हिंस्रो बालो मृषावादी, मायावी पिशुनः शठः ।
भुञ्जानः सुरां मांसं, श्रेय एतदिति मन्यते ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः—**हिंसे**—हिंसा करने वाला, **बाले**—मूर्ख, **मुसावाई**—मृषा अर्थात् झूठ बोलने वाला, **माइल्ले**—मायावी अर्थात् छल-कपट करने वाला, **पिसुणे**—चुगली करने वाला, **सढे**—शठ अर्थात् धूर्त्त, **भुंजमाणे**—खाता हुआ, **सुरं**—मदिरा, **मंसं**—मांस को, **एयं**—यह, **सेयं**—श्रेय है, **ति**—इस प्रकार, **मन्नई**—मानता है।

मूलार्थ—हिंसा करने वाला, झूठ बोलने वाला, छल-कपट करने वाला, चुगली करने वाला और धूर्तता करने वाला तथा मदिरा और मांस खाने वाला अज्ञानी जीव कामवासना में आसक्त हुआ इन उक्त सभी पापकर्मों को श्रेष्ठ समझता है।

टीका—इस गाथा में अकाम-मृत्यु वाले जीवों के व्यवहार अर्थात् कुत्सित आचरणों का दिग्दर्शन कराया गया है। तात्पर्य यह है कि अकाम-मृत्यु को प्राप्त होने वाला मूर्ख अज्ञानी जीव हिंसा करता है, झूठ बोलता है, छल-कपट करता है, चुगली करता है, धूर्तता करता है तथा मदिरा पीता है और मांस खाता हुआ भी अपने इन कुत्सित आचरणों को श्रेष्ठ समझता है।

ऊपर दिए गए विवरण का भावार्थ यह है कि मनुष्य का प्रधान लक्ष्य आत्मशुद्धि है और आत्मा की शुद्धि का आधार आहार-शुद्धि और व्यवहार-शुद्धि है। जिस प्राणी का आहार और व्यवहार शुद्ध नही है, उसकी आत्मा का शुद्ध होना कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए सूत्रकार ने ऊपर दी हुई गाथा में आहार और व्यवहार सम्बन्धी दोषों का वर्णन रूपान्तर से किया है। जिसका आहार दुष्ट है और व्यवहार भी दोष-पूर्ण है उस जीव को अकाममृत्यु की प्राप्ति अवश्यंभावी है।

इसके विपरीत आहार-शुद्धि के साथ व्यवहार को भी शुद्ध रखने वाला जीव अपने आत्मविकास मे उत्तरोत्तर वृद्धि करता हुआ एक दिन सकाम-मृत्यु को प्राप्त कर लेता है। आहार की शुद्धि खाद्याखाद्य पदार्थों के चुनाव पर निर्भर है। जो पदार्थ भक्षण करने पर बुद्धि मे सात्विकता पैदा करने वाले है वे भक्ष्य है और जिनके भक्षण से चित्त में तामसिकता या विकृति पैदा हो, वे अभक्ष्य है। परन्तु आत्मा पर जिन पदार्थों के भक्षण से दोषपूर्ण अधिक प्रभाव पड़ता है उनमें प्रधानरूप मदिरा और मास है। मदिरा और मांस के उपयोग से आत्मा के ज्ञान और चारित्र गुणों पर विरोधी सस्कारों का बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है और उसकी उत्क्रान्ति में अधिक-से-अधिक रुकावट पड़ती है, क्योंकि मांस-मदिरा-युक्त आहार अधिक अशुद्ध और भारी होता है तथा उत्थान के बदले वह पतन की ओर ही अधिक ले जाने वाला होता है, इसलिए आत्मशुद्धि की अभिलाषा रखने वाले जिज्ञासु जनों को इन दोषपूर्ण दोनो पदार्थों (मदिरा और मास) का सर्व प्रकार से परित्याग कर देना चाहिए।

आहार-शुद्धि के साथ व्यवहार-शुद्धि की भी बड़ी भारी आवश्यकता है। आत्मा के अन्तरग मल को निकालने के लिए व्यवहार शुद्धि के समान कोई उत्तम क्षार नही है और आहार-शुद्धि को यथार्थरूप में समझने के लिए व्यवहारगत दोषो को समझने की भी अधिक आवश्यकता है। यद्यपि व्यवहारगत दोष अनेक है और उन सब का वर्णन अशक्य है, फिर भी यहां पर सक्षेप में उल्लेख किए गए वे दोष केवल पांच है, यथा—हिसा, झूठ, माया, पिशुनता और शठता। इन पांचों में ही प्रायः अन्य सभी दोषों का समावेश हो जाता है।

हिंसा सारे ही दोषो की जननी है और झूठ में सारे ही अनर्थों का समावेश हो जाता है। माया

अर्थात् छल-कपट में कोई जघन्य काम बाकी नहीं रहता एवं पिशुनता (चुगली करना) भी गुप्त दोषों के समूह को आमन्त्रण देने में एक प्रधानतम साधन है।

अब रहीं शठता अर्थात् धूर्तता की बात, इसकी निकृष्टता तो लोक-प्रसिद्ध ही है। लाखों उपदेश करने पर भी ये दोष नष्ट नहीं होते। इसलिए आत्मा के अभ्युदय की इच्छा रखने वाले जिज्ञासु पुरुष को आत्मा में मलिनता का सम्पादन करने वाले इन उक्त दोषों को दूर करके आहार के साथ व्यवहार की भी शुद्धि करते हुए अपनी आत्मा में निर्मलता पैदा करनी चाहिए।

यहां पर धर्मात्मा पुरुषो के लिए त्याग करने योग्य ऊपर बताए गए दोषों का शृङ्खलाबद्ध क्रमिक सम्बन्ध भी समझ लेना चाहिए जो इस प्रकार है—जो हिसक है वह झूठ भी बोलता है और जो झूठ बोलने वाला है वह मायावी अर्थात् छल-कपट करने वाला भी होता है तथा जो मायावी है उसका पिशुन अर्थात् चुगलखोर होना भी जरूरी है और निन्दक एव चुगलखोर के लिए धूर्त बनना तो बिल्कुल साधारण सी बात है। जब धूर्तता का प्रवेश हो गया तो फिर खान-पान सम्बन्धी विवेक और मर्यादा को अवकाश कहां? विवेक एव मर्यादा को तो तभी तक स्थान प्राप्त होता है जब तक धूर्तता का आगमन नही हुआ। विवेक के अभाव में मदिरा और मांस दोनो के सेवन करने में उसे कुछ भी सकोच या आपत्ति शेष नहीं रह जाती, क्योकि उसे अब किसी से किसी प्रकार की लज्जा नहीं रही। यही इनका क्रमिक सम्बन्ध है।

इसके अतिरिक्त गाथा में आए हुए **'माइल्ले'** शब्द में मायी के अर्थ मे **'ल्ल'** प्रत्यय आया हुआ है।

अब फिर इसी विषय को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया जाता है—

कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु ।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुणागो व्व मट्टियं ॥ १० ॥

कायेन वचसा मत्तः, वित्ते गृद्धश्च स्त्रीषु ।
द्विधा मलं संचिनोति, शिशुनाग इव मृत्तिकाम् ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—कायसा—काया से, **वयसा**—वचन से, **मत्ते**—जो मत्त है, **वित्ते**—धन में, **य**—और, **इत्थिसु**—स्त्रियो मं, **गिद्धे**—मूर्च्छित है, **दुहओ**—दोनो प्रकार से, **मलं**—कर्म-मल को, **संचिणइ**—वह संचित करता है, **व्व**—जैसे, **सिसुणागो**—शिशु नाग, **मट्टियं**—मिट्टी को।

मूलार्थ—यह अज्ञानी जीव मृत्तिका को एकत्रित करने वाले शिशुनाग अर्थात् केंचुए की तरह दोनों प्रकार से कर्म-मल को संचित करता है, क्योंकि शरीर और वाणी से वह मत्त और धन तथा स्त्रियों में मूर्च्छित है—आसक्त है।

टीका—इस गाथा मे अज्ञानी जीव की प्रवृत्ति का दिग्दर्शन कराया गया है। अबोध प्राणी अपनी शारीरिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति के द्वारा शिशुनाग अर्थात् केचुए की भान्ति दोनो प्रकार से

कर्म-मल का संचय करता है। वह अपने शरीर की बलवती शक्ति पर गर्व करता हुआ अपने आपको एक मदोन्मत्त हस्ती के समान समझता है तथा वाणी की प्रगल्भता पर अभिमान करता हुआ अपनी स्तुति से तृप्त ही नहीं होता और मन के विषय में उसकी गरिमा इतनी बढ़ी हुई होती है कि अपने समान धारणाशक्ति वाला वह और किसी को समझता ही नहीं।

इसी प्रकार उसकी धन-विषयक आकाक्षा का भी कोई पारावार नहीं रहता, कामपूर्ति की साधनभूत स्त्रियों मे उसकी बढ़ी हुई आसक्ति का अन्दाजा लगाना यदि असम्भव नहीं तो कठिनतर अवश्य है। उसकी यह रागद्वेष-मूलक प्रवृत्ति दोनों प्रकार से अर्थात् अभिमान और आसक्ति के रूप में कर्म-मल को संचित करती है।

जिस प्रकार केंचुआ नाम का जीव मृत्तिका का मुख और शरीर दोनों प्रकार से ग्रहण करता है, उसी प्रकार यह अज्ञानी जीव भी राग-द्वेष दोनों प्रकार से कर्म-मल को एकत्रित करता है तथा जैसे सूर्य के आताप से शरीर के सूखने पर केचुए की मृत्यु हो जाती है उसी प्रकार राग-द्वेष के वशीभूत हुआ यह जीव अष्टविध कर्मो के मल को संचित कर के सूर्यातप के समान, कर्मोदय के समय अत्यन्त दुख को भोगता है। केंचुए की यह प्रकृति है कि वह मुख से मिट्टी को खाने के साथ-साथ अपने शरीर को भी मिट्टी से वेष्टित कर लेता है, परन्तु सूर्य के अत्यन्त उष्ण ताप से उसका शरीर सूख कर फट जाता है और तुरन्त ही उसकी मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार प्रमादी जीव भी राग-द्वेष की परिणति से कर्म-मल को एकत्रित करने के बाद उसके विपाकोदय से पूर्ण दुखी होता है।

'**कायसा**' शब्द '**कायेन**' का प्रतिरूप है और '**वित्त**' शब्द से अदत्त और परिग्रह दोनो का ग्रहण कर लेना चाहिए। हिसा आदि का उल्लेख पूर्व गाथा में कर ही दिया गया है एव स्त्री शब्द से कामपूर्ति के सभी साधनों का ग्रहण अभिप्रेत है। तब इस गाथा का साराश यह निकला कि अज्ञानी जीव हिसा आदि पाचो आस्रवो के द्वारा विविध राग-द्वेष की परिणति से कर्म-मल को आत्म-प्रदेशों मे सचित करके उसके विपाकोदय से दुख को प्राप्त होता है।

रोग आदि के उत्पन्न हो जाने पर ऐसे व्यक्ति की क्या दशा होती है, अब इस विषय का वर्णन किया जाता है—

तओ पुट्ठो आयंकेणं, गिलाणो परितप्पई ।
पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥ ११ ॥

ततः स्पृष्टः आतंकेन, ग्लानः परितप्यते ।
प्रभीतः परलोकात्, कर्मानुप्रेक्षी आत्मनः ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—**तओ**—तदनन्तर, **पुट्ठो**—स्पर्शित हुआ, **आयंकेणं**—आतंक अर्थात् शूल से, **गिलाणो**—रोगी होकर, **परितप्पई**—खेद को पाता है, **पभीओ**—डरता हुआ, **परलोगस्स**—परलोक से, **अप्पणो**—अपने किए हुए, **कम्माणुप्पेहि**—कर्मों को देखने वाला।

मूलार्थ—उसके अनन्तर वह अज्ञानी जीव किसी आतंक एवं रोग विशेष के स्पर्श से रोगी होकर परिताप अर्थात् खेद को पाता है, अतएव अपने आचरित कर्मों का अन्वेषण करता हुआ परलोक से भयभीत होता है।

टीका—विषय-वासनाओं के उद्रेक से अधिक कर्म-मल का संचय करने वाले जीव की रोग आदि के उपस्थित होने पर जो दशा होती है उसका चित्र इस गाथा में बड़ी ही सुन्दरता से खींचा गया है। अबोध प्राणी पर जब कभी किसी प्राण-घातक शूल आदि रोग का आक्रमण होता है तो वह उससे पीड़ित होकर बहुत खेद को प्राप्त हो जाता है। इतना ही नही, अपने कर्मों का अवलोकन करता हुआ वह परलोक से भी भयभीत होता है। इसका अभिप्राय यह है कि किसी विकट रोग के आक्रमण से दुख की मात्रा जब अधिक हो जाती है तब विषयी प्राणी अपने पूर्वकृत कर्मो का अवलोकन करता हुआ बहुत पश्चात्ताप करता है और परलोक-सम्बन्धी यातनाओं को स्मरण करके और भी अधिक भयभीत होता है, क्योंकि अपनी पूर्व की जीवन-चर्या का पर्यालोचन करने पर उसे अपने जीवन में दुष्कृत्यों के अतिरिक्त एक भी सुकृतानुष्ठान देखने मे नही आता, तब वह पश्चात्ताप करता हुआ आर्त्त और कार्त्त स्वर से कहता है कि—

मैने अपने इस अमूल्य जीवन को व्यर्थ ही खोया। काम-भोगादि विषय-वासनाओं की तीव्र अग्नि-ज्वाला मे अपने यौवन की आहुति देकर मैने बड़ा ही अनर्थ किया। उस समय यदि मैंने कुछ भी सुकृत-कर्म का उपार्जन किया होता तो मुझे आज अवश्य थोड़ा बहुत आश्वासन मिलता तथा अपने पूर्वार्जित दुष्कर्मो का ख्याल आने से वह और भी सत्रस्त हो जाता है।

जिस प्रकार एक चोर कठोर राजदड से अधिक त्रास को प्राप्त होता है, ठीक वही दशा पाप-कर्मो का आचरण करने वाले इस जीव की होती है। जब वह अपने किए हुए दुष्ट कर्मों पर दृष्टि डालने के बाद उनके फल-विपाक पर विचार करता है तब वह एकदम भयभीत हो जाता है और अपने किए हुए कृत्यो पर भूरि-भूरि पश्चात्ताप करता है, इसलिए सज्जन पुरुषों को चाहिए कि वे अपने इस अमूल्य जीवन को विषय-वासनाओं की पूर्ति में नष्ट करने के स्थान पर उसे श्रेय-सम्पादक सुकृत-कर्मानुष्ठान मे लगाने का ही अधिक प्रयत्न करे।

यहा पर सूत्रकार ने रोगावस्था मे होने वाले पश्चात्ताप के रूप मे अष्टविध कर्मो के यत्किंचित् फल का दिग्दर्शन मात्र करा दिया है जिससे कि पापाक्रान्त आत्मा को इसी जन्म मे और परलोक मे भी जाने से डर रहे।

'परलोगस्स' यह पंचमी विभक्ति के स्थान मे जो षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है वह प्राकृत के नियम के आधार पर है। आतंक उस रोग का नाम है जो शीघ्र ही प्राणों का घात करने वाला हो, जैसे शूल आदि भयंकर रोग। इस प्रकार के भयंकर रोग शरीर से आत्मप्रदेशों को बहुत जल्द ही अलग कर देते है।

अब इसी विषय को प्रकारान्तर से कुछ और स्पष्ट किया जाता है—

सुया मे नरए ठाणा, असीलाणं च जा गई ।
बालाणं कूरकम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा ॥ १२ ॥

श्रुतानि मया नरकस्थानानि, अशीलानां च या गतिः ।
बालानां क्रूर-कर्मणां, प्रगाढा यत्र वेदना ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—**सुया**—सुने हैं, **मे**—मैने, **नरए**—नरक में, **ठाणा**—स्थान, **असीलाणं**—दुष्टों की, **च**—और, **जा**—जो, **गई**—गति है, **बालाणं**—मूर्खों, **कूरकम्माणं**—क्रूर कर्म वालों को, **पगाढा**—अत्यन्त, **जत्थ**—जहा पर, **वेयणा**—वेदना है।

मूलार्थ—मैंने कुम्भीपाक आदि नरक-स्थानों को सुना है और शीलरहित दुष्ट पुरुषों की जो गति होती है वह भी सुनी है, जहां पर कि क्रूर कर्म करने वाले अज्ञानी जीव अत्यन्त वेदना को प्राप्त होते है।

टीका—इस गाथा मे दुष्ट कर्मो के फलस्वरूप नरक आदि यातनाओं का सामान्यरूप से दिग्दर्शन कराया गया है। किसी भयंकर रोग के आक्रमण से दुख को प्राप्त हुआ जीव अपने किए हुए अशुभ कृत्यो पर पश्चात्ताप करता हुआ यह सोचने लगता है कि—

'मैने नरक स्थानों कुम्भीपाक, वैतरणी नदी, असिपत्र और कूटशाल्मली आदि वृक्षो को सुना है और दुष्ट आचार वाले जीवो की जो गति होती है उसका भी मेरे को ध्यान है, जहा पर कि क्रूर कर्मो—हिसा, चोरी आदि कर्म करने वालो को अति भयकर उष्ण-शीत और वध, ताड़ना आदि की अति कठोर वेदनाओं को सहन करना पड़ता है। मै भी तो सदाचार से रहित और हिसा आदि महाक्रूर कर्मो का आचरण करने वाला हू, कहीं ऐसा न हो कि मुझे भी उसी स्थान का अतिथि बनना पड़े जहां पर कि दुष्टाचारी पुरुषों को जाना पड़ता है और जाकर दुखमयी तीव्र यातनाएं सहन करनी पड़ती है।' इत्यादि सोचने पर उसका हृदय भावी दुखो का स्मरण करके एकदम कांप उठता है, इसलिए विचारशील पुरुषो को उचित है कि वे रोग और मृत्यु के आकस्मिक आक्रमण का ध्यान रखते हुए अनार्योचित कर्मो से अपनी आत्मा को सर्वथा अलग रखने की कोशिश करें ताकि उनको फिर कभी किसी प्रकार के पश्चात्ताप करने का अवसर ही प्राप्त न हो।

अब प्रकारान्तर से फिर इसी विषय की चर्चा करते हैं—

तत्थोववाइयं ठाणं, जहा मेयमणुस्सुयं ।
आहाकम्मेहिं गच्छन्तो, सो पच्छा परितप्पई ॥ १३ ॥

तत्रौपपातिकं स्थानं, यथा मे एतदनुश्रुतम् ।
यथाकर्मभिर्गच्छन् सः पश्चात् परितप्यते ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—**तत्थ**—उस नरक मे, **उववाइयं**—उत्पन्न होने के, **ठाणं**—स्थान, **जहा**—जैसे,

मेयं—मैने, **अणुस्सुयं**—सुने हुए हैं, **आहाकम्मेहिं**—कर्मों के अनुसार, **गच्छंतो**—जाता हुआ, **सो**—वह अज्ञानी जीव, **पच्छा**—पीछे से, **परितप्पई**—शोक करता है।

मूलार्थ—उस नरक में उत्पन्न होने के स्थान जैसे मैंने सुने हैं—श्रवण के द्वारा निश्चित किए हुए हैं, अपने कर्मों के अनुसार उन स्थानों में जाने वाला यह अबोध प्राणी शोक करता है।

टीका—नरक में उत्पन्न होने के कुम्भी आदि अनेक स्थान हैं, उन स्थानों में अपने किए अशुभ कर्मो के प्रभाव से जाकर उत्पन्न होने वाला जीव आयु के क्षय होने पर इस प्रकार पश्चात्ताप करता है—

'हा ! मुझे धिक्कार है! मैंने कुछ भी सुकृत नहीं किया। इस दुर्लभ मानव-जीवन का मैने कुछ भी मूल्य न समझा, मैं बड़ा ही मन्दभागी हूं। अब मैं क्या कर सकता हूं?' अन्त समय में नरक की आनुपूर्वी के आने से, नरक की गति का ध्यान आने से वह अबोध प्राणी एकदम भयभीत हो उठता है। उसकी आंखों के सामने नरक का सारा दृश्य आकर उपस्थित हो जाता है, उन भयानक दृश्यों को देखकर वह तुरन्त बोल उठता है कि—

'अरे मुझे इन नरक-पालों से छुड़ाओ और देखो ये मुझे मारते है। मुझे डराते है। हाय! अब तो उन्होने मुझे मार ही डाला है।' इत्यादि प्रलाप करता है और कभी-कभी तो मृत्यु-समय के उस भयानक दृश्य से अत्यन्त घबरा कर वह ऐसा शोर मचाने लगता है कि पास में बैठे हुए लोग भी भयग्रस्त होकर इधर-उधर देखने लगते है।

शास्त्रानुसार यह बात सर्वथा अनुभव-सिद्ध है कि कर्मों के अनुसार इस जीव ने जिस गति का वन्ध किया होता है तथा मृत्यु के अनन्तर इस जीव ने जिस गति में जाना होता है, मृत्यु के समय उस गति की आनुपूर्वी—उस गति का दृश्य उसके सामने आकर उपस्थित हो जाता है। इसलिए अनेक प्राणी मृत्यु के समय उक्त प्रकार का प्रलाप करते हुए देखे जाते है—

गाथा मे जो **'उववाइयं'** 'औपपातिकम्' शब्द दिया गया है, उसका कारण केवल इतना ही है कि नरक मे उत्पन्न होने के अन्तर्मुहूर्त के बाद ही नरक-सम्बन्धी यातनाओं का आरम्भ हो जाता है और गर्भ से उत्पन्न होने वाले मनुष्य और पशु आदि को कुछ समय बाद मे वेदना की अनुभूति होती है। नारकी जीवो की उत्पत्ति भी कुम्भी आदि मे होती है। 'कुम्भी' यह शब्द भी इसलिए अधिक प्रसिद्ध है कि वह नरक-गति मे जाने वाले प्राणियो का उत्पत्ति-स्थान है।

अब इसी भाव को एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं—

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं ।
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयइ ॥ १४ ॥

यथा शाकटिको जानन्, समं हित्वा महापथम् ।
विषमं मार्गमवत्तीर्णः, अक्षे भग्ने शोचति ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैसे, **सागडिओ**—गाड़ीवान, **जाणं**—जानता हुआ, **समं**—समतल, भली

प्रकार, **महापहं**—राजमार्ग को, **हिच्चा**—त्याग कर, **विसमं**—विषम, **मग्गं**—मार्ग की ओर, **ओइण्णो**—चल पड़ता है, **अक्खे**—शकट की धुरी के, **भग्गम्मि**—टूट जाने पर, **सोयइ**—सोचता है।

मूलार्थ—जैसे कोई एक गाड़ीवान राज-मार्ग को भली प्रकार से जानता हुआ भी उसको छोड़कर विषम मार्ग की ओर चल पड़ता है और उस विषम मार्ग पर जाने से उसकी गाड़ी की धुरी टूट जाती है, तब उसके टूट जाने पर वह शोक करता है।

टीका—इस गाथा में सन्मार्ग का परित्याग करके कुमार्ग पर चलने वाले व्यक्ति की क्या दशा होती है, इस बात को विषम पथगामी गाड़ीवान के दृष्टान्त से बहुत ही अच्छी तरह समझाया गया है। यदि कोई गाड़ीवान कंकर-पत्थर आदि से रहित अच्छे राज-मार्ग को जानता हुआ भी उस का परित्याग करके विषम अर्थात् ककर-पत्थर वाले मार्ग—जो कि गाड़ी आदि के चलने लायक नहीं होता—से चलने पर मार्ग मे गाड़ी की धुरी टूट जाने से शोक को प्राप्त करता है और अपने किए हुए विपरीत काम पर पश्चात्ताप करता है, इसी प्रकार सन्मार्ग का परित्याग करके कुमार्ग पर चलने वाले अबोध प्राणी को भी अन्त में पश्चात्ताप ही करना पड़ता है, इतने कथन का सम्बन्ध अग्रिम गाथा के साथ है।

राज-मार्ग से जाने वाला गाड़ीवान सदा निर्भय रहता है। उसे किसी चोर या लुटेरे आदि का भय नही रहता, तथा राजमार्ग से चलने वाली गाड़ी भी निरुपद्रव अपने नियत स्थान पर पहुच सकती है और उसके टूटने आदि का भी किचित् भय नही रहता। इसके विपरीत विषम मार्ग से जाना एक प्रकार से विपत्तियो को मोल लेना है, गाड़ी आदि के टूटने का तो खतरा होता ही है, उसमें चोर डाकू आदि का भी भय रहता है। इसलिए राज-मार्ग को छोड़कर किसी विकट मार्ग से जाने वाले को अवश्य कष्ट भोगना पड़ेगा।

मार्ग के मध्य मे गाड़ी के टूट जाने पर उसके स्वामी को कितना शोक होगा, कितना पश्चात्ताप होगा और कितने कष्टो का सामना करना पड़ेगा, इसकी कल्पना सहज मे ही की जा सकती है। विषम मार्ग पर चलने के कारण जिस समय गाड़ी का धुरा टूट जाएगा, उस समय उसको अपनी अज्ञता पर कितना विषाद होगा, वह अपनी जानबूझ कर की हुई भूल पर अपने आपको कितना धिक्कारेगा तथा भविष्य मे अपने इस कटु अनुभव को जनता के समक्ष वह किस रूप मे रखेगा, इसका ज्ञान भी सहज ही मे हो सकता है।

कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि सुमार्ग का परित्याग करके कुमार्ग मे जाने से कार्य की असिद्धि, क्लेश, भय, दुख और सन्ताप की प्राप्ति के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिए सज्जन पुरुषो को किसी भी दशा में सन्मार्ग का परित्याग नही करना चाहिए।

अब इसी दृष्टान्त के उपनय का वर्णन करते हैं—

एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया ।
बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयइ ॥ १५ ॥

एवं धर्मं व्युत्क्रम्य, अधर्मं प्रतिपद्य ।
बालो मृत्युमुखं प्राप्तः, अक्षे भग्न इव शोचति ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—**एवं**—इसी प्रकार, **धम्मं**—धर्म को, **विउक्कम्म**—छोड़ करके, **अहम्मं**—अधर्म को, **पडिवज्जिया**—ग्रहण करके, **बाले**—अज्ञानी, **मच्चुमुहं**—मृत्यु के मुख को, **पत्ते**—प्राप्त हुआ, **अक्खे**—धुरी के, **भग्गे**—टूटने पर, **व**—अर्थात् गाड़ीवान की तरह, **सोयइ**—सोच करता है।

मूलार्थ—इसी प्रकार धर्म को छोड़कर और अधर्म को ग्रहण करके मृत्यु के मुख में पहुंचा हुआ अज्ञानी जीव गाड़ी की धुरी के टूट जाने पर गाड़ीवान की तरह शोक अर्थात् सन्ताप प्राप्त करता है।

टीका—यहा पर धर्म को राजमार्ग और अधर्म को विषम मार्ग कहा गया है, जीव को गाड़ीवान्, शरीर को गाड़ी और आयु को धुरा समझना चाहिए। उपमेय और उपमानों की इस व्यवस्था को लक्ष्य मे रखकर भावार्थ यह हुआ कि राज-मार्ग के त्याग और विषम-मार्ग के अनुसरण से मार्ग में जैसे धुरे के टूट जाने पर संकट में पड़ा हुआ गाड़ीवान शोकाकुल होता है, उसी प्रकार धर्म के त्याग और अधर्म के अगीकार से जीवन-यात्रा मे आयुरूप शकट-धुरा के टूट जाने पर मृत्यु के मुख में पुहचा हुआ अज्ञानी जीव भी निस्सन्देह शोक और सन्ताप को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार सकट-ग्रस्त गाड़ीवान अपने कर्त्तव्य की ओर ध्यान न देता हुआ अधिक-से-अधिक सोच करता है, उसी प्रकार मृत्यु के मुख मे आने वाले अज्ञानी जीव को भी अपने जघन्य आचरणों का ख्याल करके कल्पनातीत शोक और पश्चात्ताप करना पड़ता है। अपनी विषय-भोगो में व्यर्थ खोई हुई युवावस्था को स्मरण मे लाने से उसे जो खेद होता है तथा अपने अतीतकृत कुत्सित आचारो को देखकर उसे जो ग्लानि उत्पन्न होती है उसका तथ्य कोई अतिशय ज्ञानी ही जान सकता है।

अब बाल जीव की जो दशा होती है उसका वर्णन करते हैं—

तओ से मरणंतम्मि, बाले संतस्सई भया ।
अकाममरणं मरई, धुत्तेव कलिणा जिए ॥ १६ ॥

ततः स मरणान्ते, बालः संत्रस्यति भयात् ।
अकाम-मरणं म्रियते, धूर्त इव कलिना जितः ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—**तओ**—उसके अनन्तर, **से**—वह, **बाले**—मूर्ख जीव, **मरणंतम्मि**—मृत्यु के समीप आने पर, **भया**—भय से, **संतस्सई**—त्रास को प्राप्त होता है, **अकाममरणं**—अकाम मृत्यु, **मरई**—मरता है, **धुत्तेव**—जुआरी की तरह, **कलिणा**—एक दांव में, **जिए**—जीता हुआ अर्थात् शेष सब दावो मे हारा हुआ।

मूलार्थ—उसके अनन्तर वह अबोध प्राणी मृत्यु के आ जाने पर भय से बहुत त्रास पाता है और एक ही दांव में जीत कर शेष सब दांवों में हार जाने वाले जुआरी की तरह शोक अर्थात् सन्ताप को प्राप्त होता हुआ अकाम मृत्यु से मरता है।

टीका—द्यूत-क्रीड़ा मे अपनी सारी सम्पत्ति को हार देने से एक जुआरी की जो शोचनीय दशा होती है, उसको अपनी चिरकालार्जित विभूति के नष्ट हो जाने से जो पश्चात्ताप होता है, अपनी वर्तमान-कालीन हीन दशा को देखकर जो ग्लानि होती है और चिरकाल से चली आने वाली अपनी असाधारण प्रतिष्ठा के खोए जाने से उसके मन में जो खेद होता है एव भविष्य के अन्धकारमय जीवन की कल्पना करते हुए जिस भय और त्रास का दृश्य उसके सम्मुख उपस्थित होता है, उसका अनुमान बड़ी सरलता से किया जा सकता है। ठीक ऐसी ही चिन्तनीय दशा उस मूढ़ प्राणी की होती है जिसने अपने जीवन-धन या आत्म-विभूति को विषय-क्रीड़ा में खो दिया हो। अपने पापों का फल भोगते समय उसे जो पश्चात्ताप होता है तथा मृत्यु के समीप आने पर उसको जिस प्रकार के भय और त्रास का सामना करना पड़ता है एवं नरकजन्य वेदनाओं के स्मरण से उसके हृदय मे जिस प्रकार की आकुलता का प्रादुर्भाव होता है, उसकी कल्पना किसी विशिष्ट ज्ञानी के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। मृत्यु-समय मे होने वाले भय, त्रास और आर्त्तनाद के कारण ही उसका अकाम-मृत्यु से मरण होता है।

यहा पर इतना और भी विचार कर लेना आवश्यक है कि अज्ञानी जीव को जो शोक एवं पश्चात्ताप होता है, वह मृत्यु-समय पर होता है या नरकगति मे जाने पर होता है? इस प्रश्न का निर्णय इस प्रकार से किया जा सकता है कि सामान्य रूप से तो सूत्रकार का आशय नरक में पश्चात्ताप करने का ही प्रतीत होता है, अर्थात् अज्ञानी जीव नरक में जाकर दुख को प्राप्त होता हुआ मनुष्य और देव-लोक के सुखो का स्मरण करके अत्यन्त खेद को प्राप्त होता है। परन्तु वृत्तिकार के '**शोचन्नेव म्रियते**' शोक करता हुआ मृत्यु को प्राप्त होता है—लिखने से मृत्यु के समय पर भी शोक का होना ठीक प्रतीत होता है। इसलिए मृत्यु के समय और नरक की प्राप्ति के बाद दोनों ही स्थानों में शोक का होना युक्ति-युक्त प्रतीत होता है।

'**मरण**' यह तृतीया विभक्ति के अर्थ मे द्वितीया विभक्ति का प्रयोग आर्ष समझना चाहिए।

अब शास्त्रकार सकाममृत्यु के विषय में लिखते है—

एयं अकाममरणं, बालाणं तु पवेइयं ।
इत्तो सकाममरणं, पण्डियाणं सुणेह मे ॥ १७ ॥

एतदकाममरणं, बालानां तु प्रवेदितम् ।
इतः सकाममरणं, पण्डितानां श्रृणुत मे ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः—**एयं**—यह, **अकाम मरणं**—अकाममृत्यु, **बालाणं**—अज्ञानी जीवों के, **पवेइयं**—प्रतिपादन किया है, **इत्तो**—इसके अनन्तर, **पंडियाणं**—पंडितो के, **सकाममरणं**—सकाम-मरण को, **मे**—मुझ से, **सुणेह**—सुनो! यहा 'तु' शब्द एवार्थक है।

मूलार्थ—यह अज्ञानी जीवों के अकाम-मरण का प्रतिपादन कर दिया गया है, अब इसके अनन्तर पंडितों के सकाम-मरण को मुझ से सुनो।

टीका—अकाम-मृत्यु और सकाम-मृत्यु का संक्षेप से इतना ही अर्थ है कि जो मृत्यु विषयों के वशीभूत होकर बिना इच्छा के प्राप्त हो उसे अकाम मृत्यु कहते हैं और जो मृत्यु विषयों से निवृत्त होकर इच्छापूर्वक संलेखनायुक्त और अनशनव्रत के साथ हो उसका नाम सकाम-मृत्यु है। इसी अभिप्राय से अकाम-मृत्यु के साथ बाल और सकाम-मृत्यु के साथ पंडित शब्द की योजना की गई है, जिसका सीधा अर्थ यह है कि अकाम-मृत्यु अज्ञानी जीवों की और सकाम-मृत्यु संयमशील पण्डित पुरुषों की होती है। अथवा यूं कहें कि बालजीवों की मृत्यु को अकाम-मरण और विचारशील पुरुषों की मृत्यु को सकाम-मरण कहते हैं। बालजीवो के अकाम-मरण का विस्तृत वर्णन तो ऊपर किया जा चुका है और अब पंडित पुरुषो के सकाम-मरण का प्रतिपादन आगे की गाथाओं में किया जाता है जिसके श्रवण के लिए शास्त्रकार श्रोताओं को अभिमुख करते हुए कहते हैं कि अकाम-मृत्यु का जो स्वरूप तीर्थङ्कर भगवान् और उनके उत्तराधिकारी गणधरों ने प्रतिपादित किया है उसी के अनुसार मैंने वर्णन किया है और अब सकाम-मृत्यु के स्वरूप को आप लोग सुनें।

अब पुण्यात्माओं की सकाम-मृत्यु का वर्णन करते हैं—

मरणंपि सपुण्णाणं, जहा मे यमणुस्सुयं ।
विप्पसण्णमणाघायं, संजयाणं वुसीमओ ॥ १८ ॥

मरणमपि सपुण्यानां, यथा मे यदनुश्रुतम् ।
विप्रसन्नमनाघातं, संयतानां वश्यवताम् ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—**मरणंपि**—मरण भी, **सपुण्णाणं**—पुण्यवानों का, **जहा**—जैसे, **मे**—मुझ से, तं—उसको—अकाममृत्यु को, **अणुस्सुयं**—श्रवण किया है, **विप्पसण्णं**—प्रसन्नचित्त, **अणाघायं**—आघात-रहित, **संजयाणं**—संयम-परायणो, **वुसीमओ**—इन्द्रियों को वश में करने वालों (की सकाम मृत्यु भी सुनें)।

मूलार्थ—जैसे मैंने उस (सकाम-मृत्यु को भगवान् महावीर से) सुना है, वैसे अब आप भी प्रसन्न-चित्त होकर आघात-रहित, संयम-परायण, इन्द्रियों को वश में करने वाले पुण्यशीलों की सकाम-मृत्यु को सुनें।

टीका—सकाम-मृत्यु भावो की शुद्ध परिणति पर निर्भर है। इसके लिए पुण्यात्मा, जितेन्द्रिय साधु पुरुष ही अधिकतया उपयोगी हो सकते है। अन्य साधारण व्यक्ति को सकाम-मृत्यु का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

तात्पर्य यह कि मृत्यु को जो स्वयं आमंत्रित करते हैं और मृत्यु के समय जिनका चित्त बिल्कुल प्रसन्न रहता है तथा मृत्यु के आने पर जिनका हृदय परम शांत समुद्र की भान्ति गम्भीर, शांत और दया के भावो की ऊर्मियों से सदा भरा हुआ रहता है, उन पुण्यवान् आत्म-निग्रही साधु-महात्माओं को ही इस सकाम-मृत्यु की प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि प्रसन्न-चित्तता और दयालुता मन के निग्रह पर ही

निर्भर है। इसलिए जिन लोगों ने अपने मन और इन्द्रियों पर नियन्त्रण कर लिया है वे ही महापुरुष इस सकाम-मृत्यु को प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि मृत्यु के समय पर भी उनके चित्त में किसी प्रकार की विकृति नहीं आती। कारण यह है कि मरण के समय आगामी काल में प्राप्त होने वाली शुभगति का दृश्य उनके सन्मुख होता है। उसको देखकर वे महापुरुष बड़े प्रसन्न होते है। उनका प्रशान्त-चित्त पूर्णिमा के चन्द्रमा को देखकर समुद्र की भान्ति मृत्यु का स्वागत करते हुए उछलने लगता है, अधिक क्या कहें, हर्ष के कारण उनका प्रशान्त-चित्त मृत्यु के लिये अधीर हो उठता है। प्रायः मृत्यु का नाम सुनते ही सामान्य जनो के हृदय को बहुत बड़ा आघात लगता है, जिससे वे मृत्यु के भय से व्याकुल हो जाते है, परन्तु सकाम-मृत्यु के लिए प्रस्तुत मुनिराजों के हृदय पर मृत्यु का आगमन सुन कर कोई आघात नही लगता, अतः ऐसी मृत्यु को अनाघात कहा गया है। यही मृत्यु सकाम-मृत्यु कहलाती है। इसके अधिकारी पुण्यवान् ही होते है, अर्थात् पुण्यवानो को ही यह मृत्यु प्राप्त होती है, और किसी को नहीं। जैसे कि शास्त्रकारो का कथन भी है—

'काले सुपत्तदाणं, सम्मत्तविसुद्धि बोहिलाभं च।
अन्ते समाहिमरणं, अभव्व जीवा न पावंति॥'

अनुकूल समय मे सुपात्र-दान, सम्यक्त्व-विशुद्धि, बोधि-लाभ और अन्तिम समय मे समाधिपूर्वक मरण, ये चारो बाते अभव्य जीवो को प्राप्त नही होती।

गाथा मे आए हुए 'तत्' शब्द से पूर्व-प्रकरण-कथित अकाम-मृत्यु का परामर्श करके यह अर्थ बनता है कि पहले आपने मुझसे जिस अकाम-मृत्यु के स्वरूप को सुना है वह निश्चित ही बाल जीवों को प्राप्त होती है और अब जिस सकाम-मृत्यु को सुना है, वह पुण्यवानो को ही प्राप्त होती है। यही बात वृत्तिकार ने भी लिखी है यथा—**तदपि प्राक् सूत्रोपात्तमनुश्रुतमवधारितं भवद्भिरितिशेषः, 'इतः सकाम-मरणमित्युपक्षेपस्तत्र मत्सकाशाद्यन्मरणं भवद्भिः श्रुतं, तत्पुण्यानामेव भवतीत्यर्थः।'**

'वश्यवताम्' के प्रतिरूप मे जो **'वुसीमओ'** शब्द का प्रयोग किया गया है, वह आर्ष होने से जानना चाहिए। यहा पुण्य शब्द का अर्थ 'पवित्रात्मा' है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

न इमं सव्वेसु भिक्खूसु, न इमं सव्वेसुऽगारिसु।
नाणासीला अगारत्था, विसमसीला य भिक्खुणो॥ १६॥

नेदं सर्वेषु भिक्षुषु, नेदं सर्वेषुअगारिषु।
नानाशीला अगारस्था, विषमशीलाश्च भिक्षवः॥ १६॥

पदार्थान्वयः—इमं—यह सकाम-मरण, **सव्वेसु**—सभी, **भिक्खूसु**—भिक्षुओं की, **न**—नहीं,, **इमं**—यह मृत्यु, **सव्वेसु**—सभी, **अगारिसु**—गृहस्थो को नही होती है, **नाणा**—नाना प्रकार के, **सीला**—नियमों वाले, **अगारत्था**—गृहस्थ होते है, **य**—और इसके विपरीत, **विसमसीला**—विषमशील वाले, **भिक्खुणो**—भिक्षु है।

मूलार्थ—यह सकाम-मृत्यु सभी भिक्षुओं को प्राप्त नहीं होती और न ही सभी गृहस्थों को प्राप्त होती है, क्योंकि नाना प्रकार के नियमों वाले गृहस्थ हैं और उनसे विशेष आचार वाले भिक्षु हैं।

टीका—इस गाथा में पंडित-मृत्यु के अधिकारियो का विवेचन किया गया है, अर्थात् इस मृत्यु को न तो सभी भिक्षु प्राप्त कर सकते हैं और न सब गृहस्थ ही उसे पा सकते है, किन्तु कोई एक भिक्षु और कोई एक भाग्यशाली गृहस्थ ही इसे प्राप्त कर सकता है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार नानाविध व्रत, नियम और प्रत्याख्यान रखने वाले गृहस्थों और उनकी अपेक्षा अत्यन्त कठोर आचार का पालन करने वाले साधुओं मे यह पंडित-मृत्यु किसी एक को ही प्राप्त हो सकती है, सबको उसकी प्राप्ति नही होती। तो फिर अन्य सम्प्रदाय वालों की तो बात ही क्या है, जिनमें सर्वविरतित्व का ही अभाव है।

गृहस्थों के नियम भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं और साधुओं के आचार भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हुआ करते है, अतः सभी भिक्षुओं और सभी गृहस्थों को पडित-मृत्यु की समानरूप से प्राप्ति नहीं हो सकती।

यद्यपि पाचो महाव्रत—पांचों यम तो सबके सामान्य रूप से एक ही प्रकार के माने जाते है, तथापि अध्यवसाय और आचार की दृष्टि से वे भी भिन्न-भिन्न हो जाते है। कुछ भिक्षु निदान पूर्वक तपकर्म का अनुष्ठान करने वाले होते है और कुछ सामान्य चारित्र वाले, कुछ मध्यम और कुछ उत्कृष्ट चारित्र का पालन करने वाले होते है, अत. सकाम-मृत्यु सर्व-सुलभ न होकर उत्कृष्ट पुण्यात्माओं को ही प्राप्त होती है।

देश-विरति गृहस्थो के व्रत नियमों मे भी अध्यवसाय के भेद से और आचार की दृष्टि से विषमता रहती है, इसलिए देश-विरति और सर्व-विरति दोनो मे बाह्याचार की समानता होने पर भी अन्तरंग विषमता के कारण पडित-मृत्यु के लिए सब को समान अधिकार की प्राप्ति नहीं होती।

अन्य सम्प्रदायों के गृहस्थ और साधुओं के लिए तो पडित-मरण की प्राप्ति अत्यन्त ही दुर्लभ है। यद्यपि अन्य सम्प्रदायो में भी गृहस्थों के लिए अनेक प्रकार की शौचादि क्रियाओं का विधान है तथा भिक्षुओं के लिए भी अनेकविध उत्तम आचारो का उल्लेख है, तथापि उनमें सर्वविरति रूप चारित्र का अभाव होने से उक्त प्रकार की मृत्यु का प्राप्त होना उन्हे दुर्लभ है।

यहां पर '**भिक्खूसु, अगारिसु**' ये सप्तमी विभक्ति के प्रयोग षष्ठी के अर्थ मे समझने चाहिए।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा ।
गारत्थेहि य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥ २० ॥

सन्त्येकेभ्यो भिक्षुभ्यः, अगारस्थाः संयमोत्तराः ।
अगारस्थेभ्यश्च सर्वेभ्यः, साधवः संयमोत्तराः ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः—एगेहिं—एक, **भिक्खूहिं**—भिक्षुओं से, **गारत्था**—गृहस्थ लोग, **संजमुत्तरा**—संयम में प्रधान, **सन्ति**—है, **य**—और, **सव्वेहिं**—सब, **गारत्थेहिं**—गृहस्थों से, **साहवो**—साधु, **संजमुत्तरा**—संयम में प्रधान है।

मूलार्थ—कुछ साधुओं से तो गृहस्थों का संयम भी अच्छा होता है और सब गृहस्थों से साधुओं का संयम श्रेष्ठ होता है।

टीका—उन कुतीर्थी, भग्नव्रती और निन्हवादि साधुओं की अपेक्षा व्रत-नियमादि का पालन करने वाले गृहस्थों को इसलिए श्रेष्ठ कहा गया है कि कुतीर्थियो में तो चारित्र के अभाव से संयम का होना असम्भव है और भग्नव्रती तथा निह्नवादि चारित्र के विराधक होते है, अतः उनमे भी संयम नहीं हो सकता, अत· उनकी अपेक्षा देश-चारित्र की आराधना करने वाले गृहस्थों के संयम को अवश्य श्रेष्ठ मानना पड़ेगा।

जो सर्वविरति साधु है उनका संयम इन देशविरति साधकों से भी श्रेष्ठ होता है, क्योंकि उनमें द्रव्य और भाव दोनो प्रकार से चारित्र की उच्चता होती है। इसका तात्पर्य यह है कि चारित्र की न्यूनाधिकता चारित्र-मोहनीय कर्म के क्षय वा क्षयोपशम पर अवलम्बित है, सो जितना-जितना उक्त कर्म का क्षय अथवा क्षयोपशम होता है, उतनी-उतनी ही देशव्रत या सर्वव्रत के रूप मे धर्म की प्राप्ति अधिक होती जाती है, इसलिए गृहस्थ धर्म पर चलने वाले जीवों की अपेक्षा साधुवृत्ति मे आरूढ़ होने वाले जीवों मे मोहनीय कर्म की प्रकृतियो का अधिक क्षय होने से उनकी अपेक्षा वे अधिक चारित्रवान् माने जाते है, क्योकि इन साधुओं मे सर्वत्याग है और उन गृहस्थो मे आंशिक त्याग है। यदि इस सारे कथन का वास्तविक रूप में साराश निकाला जाए तो यह है कि जिस जीव का चारित्र सम्यक्त्व को लिए हुए है, वही प्रधान है और सम्यक्त्व-रहित द्रव्य साधु प्रधानता प्राप्त करने के योग्य नही है। इसके अतिरिक्त जिन जीवो मे दर्शन और चारित्र दोनो का ही अभाव है वे तो अपने को साधु कहाते हुए भी वास्तव मे धर्म-पथ से बिल्कुल विमुख होते है। ऐसे जीवो की अपेक्षा तो आदर्श गृहस्थो का जीवन अधिक श्रेष्ठ होता है।

अब इसी विषय को शास्त्रकार कुछ अधिक स्पष्ट शब्दों में कहते है—

चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुण्डिणं ।
एयाणि वि न तायन्ति, दुस्सीलं परियागयं ॥ २१ ॥

चीराजिनं नाग्न्यं, जटित्वं संघाटी मुण्डत्वम् ।
एतान्यपि न त्रायन्ते, दुःशीलं पर्यायागतम् ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः—**चीराजिणं**—वस्त्र और मृग-चर्म, **नगिणिणं**—नग्न होना, **जडी**—जटाधारी, **संघाडि**—गुदड़ी, **मुंडिणं**—शिर से मुडित होना, **एयाणि वि**—ये सब नानाविध वेष भी, **न तायंति**—रक्षक नहीं होते, **दुस्सीलं**—दुष्टाचारी, **परियागयं**—प्रव्रज्या ग्रहण करने वाले को।

मूलार्थ—जिस जीव ने पाखण्ड-युक्त प्रव्रज्या ग्रहण की हुई है, उसके वस्त्र, मृगचर्म, नग्नता, जटाधारी होना, केवल गुदड़ी रखना और सिर मुंडाकर रहना इत्यादि नानाविध वेष उसकी कभी रक्षा नहीं कर सकते।

टीका—प्रस्तुत गाथा में इस बात का बड़ा ही सुन्दर और मार्मिक विवेचन किया गया है कि कोई भी नया या पुराना मत या सम्प्रदाय क्यो न हो, परन्तु उस सम्प्रदाय के नियमानुकूल केवल वेष-मात्र के धारण करने से किसी जीव का कभी कल्याण नहीं हो सकता। संसार मे अनेक मत व सम्प्रदाय प्रचलित है और उनमें दीक्षित होने वाले साधुओं के वेष भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते है। जैसे कुछ कषाय वस्त्र को धारण करते है, कुछ मृग-चर्म पहने रहते है तथा कुछ पुराने कपड़ों की गुदड़ी ओढ़े रहते है एव अनेक साधु सर्वथा नग्न ही फिरते हैं, बहुत से जटा धारण कर लेते हैं और बहुत से बिल्कुल सिर मुंडा लिया करते है, इत्यादि। जितने भी वेष हैं, जितने भी साधुपन के चिह्न हैं, इनसे अमुक सम्प्रदाय या मत की पहचान किसी प्रकार से भले ही हो जाए, किन्तु इन नाना प्रकार के स्वागो का आत्मा के उद्धार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जो व्यक्ति पाखण्ड-युक्त प्रव्रज्या को धारण किए हुए हैं, अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ से ग्रसे हुए है, उनका इन उक्त प्रकार के नानाविध वेषो से उद्धार समझना केवल मूर्खता ही कही जा सकती है, इसलिए केवल वेष-मात्र से आत्मा का कभी उद्धार नही हो सकता।

आत्मा को दुर्गति से बचाकर सद्गति में पहुचाने वाला साधक का अन्तरग शुद्ध आचार ही है। सदाचार या भाव-सयम की प्राप्ति से ही आत्मा का उद्धार सम्भव है।

यदि कोई व्यक्ति प्रसिद्ध से प्रसिद्ध सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बाद उस सम्प्रदाय के साधुवेष से अपने आपको अच्छी तरह से सजा लेता है, परन्तु विषयासक्त प्रकृति मे अन्तर नही आने देता तो उसका उद्धार ये विविध वेष सहस्रो जन्मो मे भी नही कर सकते, प्रत्युत इसके समान आत्म-वचना का और कोई भी उदाहरण नहीं माना जा सकता। इसलिए जो जीव अपनी आत्मा का वास्तविक उद्धार करना चाहते है उन्हे चाहिए कि वे इस द्रव्य-लिंग के व्यामोह में न पड़ते हुए अपनी आत्मा को भावचारित्र से भावित करके वीतरागता की प्राप्ति के लिए ही भगीरथ प्रयत्न करे।

उक्त गाथा मे **'परियाय-गयं'** के स्थान पर **'परियागयं'** प्रयोग मे 'य' का लोप आर्षवत् समझना चाहिए।

अब इसी विषय में कुछ और जानने योग्य बातें कहते हैं—

पिंडोलए व दुस्सीले, नरगाओ न मुच्चई ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं ॥ २२ ॥

पिण्डावलगोवा दुःशीलो, नरकान्न मुच्यते ।
भिक्षादो वा गृहस्थो वा, सुव्रतः क्रामति दिवम् ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः—**व**—अप्यर्थक है, **पिंडोलए**—घर-घर से भिक्षा मांगकर जीवन व्यतीत करने वाला, **दुस्सीले**—दुराचारी, **नरगाओ**—नरक से, **न मुच्चई**—नहीं छूटता, **भिक्खाए**—भिक्षा से जीवन व्यतीत करने वाला यति, **वा**—अथवा, **गिहत्थे**—गृहस्थ, **वा**—परस्पर अपेक्षा अर्थ में है जो, **सुव्वए**—सुन्दर व्रत वाला है वह, **दिवं**—स्वर्ग को, **कम्मई**—जाता है।

मूलार्थ—पिंडावलग अर्थात् भिक्षु होते हुए भी यदि वह दुराचारी है तो वह नरक से मुक्त नहीं हो सकता, अतः भिक्षु हो या गृहस्थ जो इनमें सुन्दर व्रत वाला है वही स्वर्ग को प्राप्त करता है।

टीका—घर-घर से भिक्षा मांगकर खाने वाला, उसी से अपना जीवन व्यतीत करने वाला भ्रष्टाचारी व्यक्ति नरक से कभी नही छूट सकता, क्योंकि नरक और स्वर्ग की प्राप्ति व्यक्ति के अशुद्ध एव शुद्ध आचरणों की अपेक्षा रखती है, इसलिए चाहे भिक्षु हो अथवा गृहस्थ हो, जिसके चारित्र में विशुद्धि है, वही स्वर्ग को प्राप्त कर सकता है। इसका स्पष्ट भाव यह है कि जिसके नियम-व्रत और प्रत्याख्यान आदि आचार श्रेष्ठ हों, जो सदैव काल आत्म-शुद्धि की ओर झुका रहता हो, वही जीव सुगति को प्राप्त हो सकता है, फिर वह चाहे गृहस्थ के वेष मे हो अथवा भिक्षु का वेष धारण किए हुए हो। तात्पर्य यह कि सुगति की प्राप्ति श्रेष्ठ आचार पर ही अवलम्बित है, किसी बाह्य क्रिया-काण्ड या वेष पर नही।

अब शास्त्रकार गृहस्थ के उन आचार-नियमों का उल्लेख करते हैं जिनके अनुष्ठान से वह स्वर्ग को प्राप्त करता है।

अगारि-सामाइयंगाइं, सड्ढी काएण फासए ।
पोसहं दुहओ पक्खं, एगरायं न हावए ॥ २३ ॥

अगारि-सामायिकांगानि, श्रद्धी कायेन स्पृशति ।
पौषधं द्वयोः पक्षयोः, एकरात्रं न हापयेत् ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः—**अगारि**—गृहस्थ, **सामाइयंगाइं**—सामायिक के अगो को, **सड्ढी**—श्रद्धावान्, **काएण**—काया से, **फासए**—सेवन करे, **पोसहं**—पौषध, **दुहओ**—दोनो, **पक्खं**—पक्षों में, **एगरायं**—एक रात्रि, **न हावए**—हीन न करे (एक रात्रि का सवर तो अवश्य करे)।

मूलार्थ—श्रद्धावान् गृहस्थ काया से सामायिक के सभी अंगों का सेवन करे, प्रत्येक महीने के दोनों पक्षों में पौषध करे, परन्तु एक अहोरात्र भी हीन न करे।

टीका—गृहस्थो की सामायिक तीन प्रकार की प्रतिपादित की गई है, जैसे कि सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत-सामायिक और देशव्रत-सामायिक। नि-शंकभाव, स्वाध्याय और अणुव्रत—ये तीन अगारि सामायिक के अग है। श्रद्धावान् गृहस्थ इनको अवश्य ग्रहण करे। साथ ही दोनों पक्षो मे पौषध-व्रत भी धारण करे। यदि कारणवशात् पौषध-व्रत न भी हो सके, तो एक मास मे एक रात्रि भर धर्म-जागरण अवश्यमेव करे।

सूत्र में सामायिक के अंगों से पृथक् करके जो पौषध का कथन किया है वह पौषधव्रत में अधिक आदर रखने के लिए किया है।

काया से स्पर्श करने का तात्पर्य यह है कि केवल वचनमात्र से ही नहीं, किन्तु शरीर से भी इनका सेवन करे।

पौषध का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ यह है कि **'पोषणं पोषोऽर्थाद् धर्मस्य, तं धत्ते इति पौषधम्'** जो धर्म का पोषण करे अथवा जिस व्रत के द्वारा धर्म का पोषण किया जाए, उसे पौषध कहते हैं। गृहस्थो को एक मास में दो पौषध तो अवश्य करने चाहिए। यदि दो न हो सके तो एक तो अवश्यमेव करें।

अब निम्नलिखित गाथा में प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हैं—

एवं सिक्खासमावन्ने, गिहवासे वि सुव्वए ।
मुच्चई छविपव्वाओ, गच्छे जक्ख-सलोगयं ॥ २४ ॥

एवं शिक्षासमापन्नः, गृहवासेऽपि सुव्रतः ।
मुच्यते छविपर्वाद्, गच्छेद् यक्ष-सलोकताम् ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः—एवं—इस प्रकार, **सिक्खासमावन्ने**—शिक्षा-संयुक्त, **गिहवासे**—गृहस्थवास में, **वि**—भी, **सुव्वए**—सुन्दर व्रतो वाला, **मुच्चई**—मुक्त हो जाता है, **छवि**—त्वग्, **पव्वाओ**—पर्व से फिर वह, **जक्ख**—यक्षो के, देवो के, **सलोगयं**—लोक को, **गच्छे**—जाता है।

मूलार्थ—इस प्रकार शिक्षा-युक्त सुव्रती जीव गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी इस औदारिक शरीर को छोड़कर देवलोकों में जाता है।

टीका—इस गाथा मे पवित्र आचार रखने वाले गृहस्थ को भी स्वर्ग की प्राप्ति का होना बताया गया है, अर्थात् गृहस्थाश्रम मे रहता हुआ भी प्राणी अपने अधिकार के अनुसार यदि यथाशक्ति धर्म का सम्यग् आराधन करे तो उस के लिए भी स्वर्ग का द्वार खुला हुआ है। वह अपने उद्योग से इस औदारिक शरीर को छोड़कर स्वर्गीय दिव्य शरीर को प्राप्त करके स्वर्ग के सुखों को पूर्णतया भोग सकता है, इसलिए शास्त्रकार कहते है कि अणुव्रत और शिक्षाव्रतो से युक्त धर्मसेवी पुरुष घर मे रहता हुआ भी इस औदारिक शरीर को छोड़कर देवलोको को प्राप्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त गाथा में आए हुए 'छवि' पद का अर्थ शरीर की त्वचा और 'पर्व' का अर्थ कर्पूर आदि शरीर के सन्धि-स्थान हैं। इस प्रकार के औदारिक शरीर का त्याग करके स्वर्गीय दिव्य शरीर की प्राप्ति का व्रतशील गृहस्थ के लिए उल्लेख किया गया है, अत धर्मात्मा सद्गृहस्थो का कर्त्तव्य है कि वे इस देव-दुर्लभ मानव-भव को प्राप्त करके अपने आचार-नियमों के पालन मे सदा सावधान रहने का प्रयत्न करते रहें। यहां पर इतना और भी स्मरण रहे कि शास्त्रकार ने गृहस्थ के व्रतो के वर्णन में प्रसग-प्राप्त बाल-पंडित-मृत्यु की भी चर्चा कर दी है, क्योंकि शास्त्रों मे गृहस्थ को

बाल-पंडित कहा गया है। उसके कुछ तो त्याग-प्रत्याख्यान होते है और कुछ नहीं होते। इसलिए वह बाल-पंडित कहलाता है। उसको जिस मृत्यु की प्राप्ति होती है उसका नाम बाल-पंडित मृत्यु है।

अब केवल पंडित मृत्यु के फल विशेष के सम्बन्ध में कहते हैं—

अह जे संवुडे भिक्खू, दोण्हमन्नयरे सिया ।
सव्वदुक्खप्पहीणे वा, देवे वावि महिड्ढिए ॥ २५ ॥

अथ य संवृतो भिक्षुः, द्वयोरन्यतरः स्यात् ।
सर्वदुःखप्रहीणो वा, देवो वाऽपि महर्द्धिकः ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः—**अह**—अथ, **जे**—जो, **संवुडे**—सवर वाला, **भिक्खू**—साधु है, वह, **दोण्हं**—दोनों मे से, **अन्नयरे**—कोई एक **सिया**—हो तो, **सव्वदुक्खप्पहीणे**—सर्व-दुःख रहित सिद्ध होता है, **वा**—अथवा, **महिड्ढिए**—महाऋद्धि वाला, **देवे**—देव होता है। यहा पर '**वा**' समुच्चय अर्थ में और '**वि**' 'सभावना' के अर्थ मे है।

मूलार्थ—संवृत अर्थात् संवर-युक्त साधु दो गतियो मे से एक गति को अवश्य प्राप्त करता है, यदि उसके सभी कर्म क्षय हो गए है तब तो वह सिद्ध हो जाता है, अन्यथा महाऋद्धि वाला देव बनता है।

टीका—इस गाथा मे पडित-मृत्यु के दो फल बताए गए है—एक मोक्ष और दूसरा स्वर्ग। यदि आश्रवो के निरोध करने वाले सवृत अर्थात् सवर युक्त भिक्षु के इष्ट-अनिष्ट आदि समस्त कर्म प्रक्षीण हो गए है तब तो वह सिद्ध अर्थात् मोक्ष गति को प्राप्त हो जाता है और यदि कर्म अभी कुछ शेष है, तब वह महान् समृद्धि वाला देव बनता है। इसलिए सयमशील आत्मा को इन उक्त दो—मोक्ष और स्वर्ग गतियो मे से एक गति की प्राप्ति अवश्य होती है।

इस गाथा मे जो 'दुक्ख' शब्द का प्रयोग किया गया है उसका अभिप्राय यह है कि यावन्मात्र कर्म है वे सब वास्तव मे दुख रूप ही है, अत उन कर्मो से सर्वथा छूटना ही सर्व-दुख प्रक्षीणता है। तात्पर्य यह कि दुखक्षय और कर्मक्षय ये दोनों एक ही अर्थ के बोधक है। तब इस सारे विवेचन का साराश यह निकला कि सकाम-मृत्यु के स्वर्ग और मोक्ष ये दो सर्वोत्तम फल है जो कि मनुष्य-जीवन के मुख्य साध्य है, इसलिए विचारशील पुरुषो को इनकी प्राप्ति के जो-जो साधन है, उनको प्राप्त करने के लिए अधिक-से-अधिक यत्न करना चाहिए।

सकाम-मृत्यु प्राप्त करने वाले जीव के कुछ कर्म शेष रह जाने के कारण मोक्ष के बदले उसे देवलोक की उत्कृष्ट ऋद्धि प्राप्त होती है, अर्थात् देवलोक मे वह अन्य देवो की अपेक्षा बड़ी भारी समृद्धि वाला देव होता है, इस बात की चर्चा ऊपर की गाथा मे की जा चुकी है।

अब इस गाथा में देवों के प्रासाद, भोग-सामग्री और उनके निवास आदि के विषय में कहते हैं—

उत्तराइं विमोहाइं, जुइमन्ताऽणुपुव्वसो ।
समाइण्णाइं जक्खेहिं, आवासाइं जसंसिणो ॥ २६ ॥

उत्तरा विमोहाः, द्युतिमन्तोऽनुपूर्वशः ।
समाकीर्णा यक्षैः, आवासा यशस्विनः ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—**उत्तराइं**—प्रधान से प्रधान, **विमोहाइं**—मोह से रहित, **जुइमंता**—ज्योति अर्थात् प्रकाश वाले, **अणुपुव्वसो**—अनुक्रम से, **समाइण्णाइं**—व्याप्त हुए, **जक्खेहिं**—देवों से, **आवासाइं**—विमान, **जसंसिणो**—यश वाले।

मूलार्थ—देवलोक, देवता और उनसे भरे हुए विमान अनुक्रम से उत्तरोत्तर एक दूसरे की अपेक्षा अधिक प्रकाश वाले, अधिक यश वाले और स्वल्प मोह वाले होते हैं।

टीका—एक देवलोक से दूसरा देवलोक उत्तर अर्थात् प्रधान है, अतः प्रथम देवलोक से लेकर अनुत्तर विमानों पर्यन्त एक की अपेक्षा दूसरा प्रधान है और अनुत्तर विमानों में निवास करने वाले देवगण मोह-रहित कहे जाते हैं, क्योंकि उनमे उपशमवेद होता है, इसीलिए उनको 'विमोह' कहा गया है। उनके विमान भी अनुक्रम से अधिक प्रकाश वाले और अधिक यश वाले है तथा देवों से आकीर्ण अर्थात् भरे हुए है।

यहा पर इतना और समझ लेना चाहिए कि पहले देवलोक से लेकर अनुत्तर-विमानों तक एक विमान से दूसरे विमान अधिक ज्योति वाले अर्थात् प्रकाश वाले होते है और उनमे जिन देवो का निवास होता है वे देव भी उत्तरोत्तर अधिक यश और प्रकाश वाले होते हैं।

यद्यपि सूत्र मे केवल आवास शब्द का ही उल्लेख है, परन्तु देवों के आश्रयभूत होने से उनका 'विमान' अर्थ मानना ही समीचीन प्रतीत होता है।

यश शब्द का कही-कही पर संयम अर्थ भी होता है। तब यहां पर आए 'यश' शब्द का संयम अर्थ करने पर यह फलित निकलता है कि जिस जीव ने पूर्व-जन्म मे जिस प्रकार के सयम का पालन किया है उसके अनुसार वह उसी प्रकार के यश और प्रकाश वाले देव-विमान मे उत्पन्न होता है। सराग तप और संयम का यही अभिप्राय है।

इन देव-विमानों में उन देवों का कितने समय तक निवास रह सकता है, अब इस विषय में कहते हैं—

दीहाउया इड्ढिमन्ता, समिद्धा कामरूविणो ।
अहुणोववन्नसंकासा, भुज्जो अच्चिमालिप्पभा ॥ २७ ॥

दीर्घायुषः ऋद्धिमन्तः, समृद्धाः कामरूपिणः ।
अधुनोपपन्नसंकाशाः, भूयोऽर्चिमालिप्रभाः ॥ २७ ॥

पदार्थान्वयः—दीहाउया—दीर्घायु वाले, **इड्ढिमंता**—ऋद्धि वाले, **समिद्धा**—समृद्धि वाले, **कामरूविणो**—इच्छानुकूल वैक्रिय करने वाले, **अहुणोववन्नसंकासा**—तत्काल उत्पन्न हुए देव के समान और, **भुज्जो**—बहुत, **अच्चिमालिप्पभा**—सूर्यों की तरह प्रभाव वाले है।

मूलार्थ—उन विमानों में उत्पन्न होने वाले देव दीर्घायु वाले, ऋद्धि एवं समृद्धि वाले और इच्छानुकूल वैक्रिय करने वाले होते हैं तथा तत्काल उत्पन्न हुए देव के समान और बहुत से सूर्यों के तुल्य उनकी कांति होती है।

टीका—जो जीव पडित-मृत्यु को प्राप्त होकर अनुत्तर विमानो में उत्पन्न होते है, उनकी उत्कृष्ट आयु ३३ सागरोपम को होती है, जो कल्पोपन्न देव है वे रत्नादि ऋद्धियों से युक्त अति तेजस्वी, एवं इच्छानुसार वैक्रिय की शक्ति से सम्पन्न होते है।

यद्यपि अनुत्तर-विमानवासी देवता वैक्रियरूप धारण नहीं करते, तथापि यह शक्ति उनमे सदैव विद्यमान रहती है। तत्काल के उत्पन्न हुए देव की ज्योति बहुत अधिक प्रचण्ड होती है, वैसी ही ज्योति इन देवो की आयुपर्यन्त रहती है। यह भी कहा जा सकता है कि वे ३३ सागरोपम की आयु भोगते हुए भी कभी वृद्ध नही होते, उनमे सर्वदा बचपन सा उल्लास बना रहता है।

इन देवो की शारीरिक कान्ति भी अनेक सूर्यो की प्रभा के समान अधिक प्रकाश युक्त होती है। यह सब कुछ सकाम-मृत्यु का फल वर्णन किया गया है।

वृत्तिकार ने यहा पर २३वी और २७वीं गाथा को युग्म मानकर और दीपिकाकार ने इन दो के साथ तीसरी २८वी गाथा को मिलाकर '**कुलक**' के रूप मे इनकी व्याख्या की है, क्योंकि इनका सम्बन्ध आपस मे मिलता है।

अब इस विषय का उपसहार करते हैं—

ताणि ठाणाणि गच्छन्ति, सिक्खित्ता संजमं तवं ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, जे सन्ति परिनिव्वुडा ॥ २८ ॥

तानि स्थानानि गच्छन्ति, शिक्षित्वा संयमं तपः ।
भिक्षादा वा गृहस्था वा, ये सन्ति परिनिर्वृताः ॥ २८ ॥

पदार्थान्वयः—ताणि—उन, **ठाणाणि**—स्थानों को, **गच्छंति**—जाते है, **सिक्खित्ता**—अभ्यास करके, **संजमं**—संयम, **तव**—तप का, **भिक्खाए**—साधु, **वा**—अथवा, **गिहत्थे**—गृहस्थ, **वा**—समुच्चय अर्थ मे, **जे**—जो, **परिनिव्वुडा**—कषायो से रहित, **संति**—है।

मूलार्थ—पूर्वोक्त स्थानों को वे ही साधु अथवा गृहस्थ प्राप्त होते हैं जो कि संयम और तप के अभ्यास से कषायों से रहित हो गए हैं, अर्थात्, जिनमें काम-क्रोध आदि कषाय विद्यमान नहीं रहे।

टीका—सयम और तप का निरन्तर अभ्यास करके मोक्ष और स्वर्ग आदि स्थानों में जाने वाले

जीव साधु हों अथवा गृहस्थ, परन्तु उनमें जो साधक क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों से रहित है, अर्थात् जिन आत्माओं के कषाय शान्त हो गए हैं वे ही आत्मा उक्त स्वर्गादि स्थानों को प्राप्त करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि कषाय-युक्त आत्मा चाहे साधु के वेष मे हो और चाहे गृहस्थ के वेष में, उसको स्वर्गादि की प्राप्ति नहीं हो सकती। कषाय-मुक्त आत्मा साधु रूप मे हो अथवा गृहस्थ की दशा में हो, ऐसी आत्मा संयम और तप के द्वारा स्वर्गादि स्थानों को अवश्य प्राप्त कर लेती है, इसलिए स्वर्गादि स्थानों की प्राप्ति का हेतु जीव का किसी प्रकार का बाह्य चिह्न विशेष नहीं है, किन्तु सत्रह प्रकार का संयम और बारह प्रकार का तप जो शास्त्रों में प्रतिपादन किया गया है उसका सम्यग् अनुष्ठान और क्रोधादि चतुर्विध कषायों से मुक्त होना ही उक्त स्वर्गादि शुभ स्थानों की प्राप्ति का मुख्य हेतु है, यह बात भली-भान्ति सिद्ध हो चुकी है। यदि प्रकारान्तर से कहें तो यह कह सकते है कि स्वर्गादि फल की हेतुभूत जो पण्डित-मृत्यु है उसकी प्राप्ति उन्हीं आत्माओं को होती है जो कि प्रशान्त और कषाय-मुक्त आत्मा है, अर्थात् जो शुद्ध आचार रखने वाले और सदा निवृत्ति- परायण है।

इसके विपरीत जिन जीवो ने इन उक्त पवित्र आचारों से मुख मोड़ा हुआ है, उनके लिए इस पवित्र मृत्यु का प्राप्त होना प्रायः असम्भव सा ही है, अतः विचारशील पुरुषों को सदाचार के सेवन से कभी भी विमुख नही होना चाहिए।

यहा पर मूल गाथा मे आए हुए **'भिक्खाए'** शब्द का संस्कृत प्रतिरूप **'भिक्षादाः'** है जिसका अर्थ **'भिक्षामदन्ति इति भिक्षादाः'** इस व्युत्पत्ति के द्वारा 'केवल भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने वाले' है। इसका पर्यायवाची शब्द भिक्षु या साधु है, तब इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो आरम्भ और परिग्रह का त्यागी बनकर केवल शुद्ध भिक्षावृत्ति से जीवन का निर्वाह करे उसे भिक्षु या भिक्षाद कहते है और जो घर मे रहकर अपने परिश्रम से न्यायोपार्जित जीविका द्वारा जीवन-निर्वाह करता है उसे गृहस्थ कहते है।

अब शास्त्रकार कुछ अन्य उपयोगी बातों का वर्णन करते हैं—

तेसिं सोच्चा सपुण्णाणं, संजयाणं वुसीमओ ।
न संतसंति मरणंते, सीलवन्ता बहुस्सुया ॥ २६ ॥

तेषां श्रुत्वा सपुण्यानां, संयतानां वश्यवताम् ।
न संत्रस्यन्ति मरणान्ते, शीलवन्तो बहुश्रुताः ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—तेसिं—उन, **सपुण्णाणं**—पुण्यवान्, **संजयाणं**—सयतों, **वुसीमओ**—इन्द्रियो को वश मे करने वालों के स्वरूप को, **सोच्चा**—सुन करके, **मरणंते**—मृत्यु के समीप आने पर, **न संतसंति**—त्रास नहीं पाते, **सीलवंता**—चारित्र-युक्त और, **बहुस्सुया**—बहुश्रुत।

मूलार्थ—उन परम पूजनीय संयमशील जितेन्द्रिय पुरुषों के स्वरूप को सुन करके चारित्र-युक्त बहुश्रुत जीव मृत्यु के आने पर कभी त्रास को प्राप्त नहीं होते, अथवा वे पूजनीय, संयमशील,

जितेन्द्रिय और चारित्र-युक्त बहुश्रुत पुरुष अकाम और सकाम मृत्यु के स्वरूप को सुनकर मृत्यु से कभी संत्रस्त नहीं होते।

टीका—इस गाथा का ध्यान-पूर्वक मनन करने से इसके दो अर्थ प्रतीत होते है—एक तो 'तेसिं' आदि पदों को यथावस्थित रूप मे षष्ठ्यन्त मानकर और दूसरा इन पदो को 'विभक्ति-विप्रत्ययात्' के व्यापक नियम से प्रथमान्त मानकर होता है। दोनों ही अर्थ मूलार्थ में बता दिए गए हैं, परन्तु इन दोनो मे पहला अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है, जिसका तात्पर्य यह है कि जो जीव सकाम-मृत्यु को प्राप्त करने वाले, सयम-शील, आत्म-निग्रही है—अतएव परम-पूजनीय महापुरुषो के स्वरूप को सुन लेता है वह मृत्यु से कभी भयभीत नही होता। जैसे स्वनामधन्य गजसुकुमाल के जीवन को सुनकर मृत्यु का भय दूर हो जाता है, क्योंकि मृत्यु का भय तो उन्हीं को होता है, जिन्होने पहले अधर्म से सम्बन्ध रखा हो, जिनका केवल धर्म से ही सम्बन्ध रहा है उनके लिए तो यह मृत्यु त्रास के बदले आनन्द ही देने वाली होती है।

इतना और भी जान लेना चाहिए कि उन पूजनीय साधु पुरुषो के जीवन को सुनकर भी वे ही जीव मृत्यु के भय से सर्वथा रहित हो सकते है जो कि चारित्रवान् और बहुश्रुत है, सर्वसाधारण नहीं। शीलयुक्त और बहुश्रुत इन दो पदो का एक साथ प्रयोग इसलिए भी सूत्रकार ने किया है कि केवल चारित्र या केवल ज्ञान ही साध्य की सिद्धि का हेतु नही हो सकता, किन्तु ज्ञान और चारित्र इन दो का समुच्चय ही मोक्ष प्राप्ति का हेतु है, यह प्रमाणित हो सके। वास्तव मे वे ही त्यागशील महापुरुष सदा स्मरणीय और वन्दनीय है जिनको ज्ञान और चारित्र के बल से मृत्यु का भय बिल्कुल नही रहता तथा जिनके जीवन में यह सामर्थ्य भी है कि वे उसके सुनने वालो को मृत्यु के भय से सुरक्षित रख सकते है।

इस सारे वक्तव्य को सुनकर बुद्धिमान् का जो कर्त्तव्य है अब उसके सम्बन्ध में कहते हैं—

तुलिया विसेसमादाय, दयाधम्मस्स खंतिए ।
विप्पसीएज्ज मेहावी, तहाभूएण अप्पणा ॥ ३० ॥

तोलयित्वा विशेषमादाय, दयाधर्मस्य क्षान्त्या ।
विप्रसीदेन्मेधावी, तथाभूतेनात्मना ॥ ३० ॥

पदार्थान्वयः—**तुलिया**—तोल करके, **विसेसं**—विशेष को, **आदाय**—ग्रहण करके तथा, **दयाधम्मस्स**—दयाधर्म को, **खंतिए**—क्षमा से बढ़ा करके, **विप्पसीएज्ज**—प्रसन्न करे, **मेहावी**—बुद्धिमान्, **तहाभूएण**—तथाभूत, **अप्पणा**—आत्मा से।

मूलार्थ—अकाम और सकाम इन दोनों मृत्युओं को तोलकर इन दो में से विशेष को ग्रहण करके और क्षमा के द्वारा दया-धर्म को बढ़ाकर मेधावी अर्थात् बुद्धिमान तथाभूत आत्मा से अपनी आत्मा को प्रसन्न करे।

टीका—इस गाथा में मेधावी पुरुष को अकाम और सकाम मृत्यु के फल का विचार करके इन दो मे से जो विशेष फल के देने वाली है उसे ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है, इसलिए मेधावी पुरुष को चाहिए कि वह क्षमा, मार्दवादि गुणों से दया-धर्म को परिवर्द्धित करके और स्वयं कषाय-मुक्त होकर अपनी आत्मा को सदा प्रसन्न रखने का प्रयत्न करे। यहा पर दया-धर्म से साधु-धर्म की सूचना दी गई है और उस साधु-धर्म के पोषक क्षांत्यादिं गुण हैं, उनके द्वारा ही आत्मा में प्रसन्नता और निराकुलता का आविर्भाव होता है और अन्त मे वही निराकुलता पंडित-मृत्यु का कारण बनती है। आत्मा में क्षोभ और आकुलता पैदा करने वाले कषायों का जब तक समूलोन्मूलन नही होता, तब तक आत्मा में प्रसन्नता का होना अत्यन्त कठिन है और कषायों के समूल घात के लिए क्षमा आदि दशविध यति-धर्मों के आराधन की आवश्यकता है, क्योंकि दया-धर्म का पोषण इसके बिना कदापि नहीं हो सकता एवं धर्म के पुष्ट हुए बिना मृत्यु के भय से छुटकारा नहीं मिल सकता। अतः विचारशील पुरुष को सकाम-मृत्यु की प्राप्ति के कारणभूत इन उक्त उपायों का अवश्य अवलम्बन करना चाहिए, जिससे कि वह अपने आत्मा में पूर्ण प्रसन्नता का सम्पादन करके सकाम-मृत्यु को प्राप्त कर सके। इसके अतिरिक्त अकाम और सकाम मृत्यु में हेय और उपादेय कौन है, इसका निर्णय तो बुद्धिमान के लिए बहुत ही सुकर है, क्योंकि दोनों के ही कटु और मधुर फल उसके सामने उपस्थित है, अर्थात् अकाम-मृत्यु के फल विशेष मे जो कटुता है और सकाम-मृत्यु के फल में जो माधुर्य है वह भी उसके सामने ही है। इसलिए दोनो की तुलना करना बहुत ही सरल है। अन्त मे शास्त्रकारों की सम्मति का पर्यालोचन करते हुए यही कहना अथवा मानना पड़ता है कि क्षमा आदि गुणों के सम्पादन से आत्मा में धर्माभिरुचि और निष्कषायता प्राप्त करने वाला मेधावी पुरुष सकाम-मृत्यु की प्राप्ति मे निःसन्देह सिद्धहस्त हो जाता है।

इसके अनन्तर उस प्रसन्नात्मा का जो कर्त्तव्य है अब उसके विषय में कहते हैं—

तओ काले अभिप्पेए, सड्ढी तालिसमन्तिए ।
विणएज्ज लोमहरिसं, भेयं देहस्स कंखए ॥ ३१ ॥

ततः कालेऽभिप्रेते, श्रद्धी तादृशमन्तिके ।
विनयेल्लोमहर्षं, भेदं देहस्य कांक्षेत् ॥ ३१ ॥

पदार्थान्वयः—तओ—तदनन्तर, **काले**—मरणकाल के, **अभिप्पेए**—प्राप्त होने पर, **सड्ढी**—श्रद्धावान्, **तालिसं**—तादृश, **अंतिए**—गुरु के समीप मे रहकर, **विणएज्ज**—दूर करे, **लोमहरिसं**—रोमांच को, **देहस्स**—शरीर के, **भेयं**—भेद अर्थात् त्याग को, **कंखए**—चाहे, अनशन के द्वारा।

मूलार्थ—तदनन्तर श्रद्धावान् पुरुष मृत्यु-समय के प्राप्त होने पर अपने गुरुजनों के समीप रोमांचकारी मृत्यु-भय को दूर करके अनशन के द्वारा अपने शरीर के त्याग की इच्छा करे।

टीका—यह एक स्वाभाविक सी बात है कि जब मृत्यु का समय अत्यन्त निकट आ जाता है तब मन, वचन और काया के योग प्रायः निर्बल हो जाते हैं। इस प्रकार जब कि कषाय शान्त हो गए हों और मृत्यु का समय बिल्कुल निकट आ गया हो तब बुद्धिमान पुरुष अपने गुरुजनों के समीप जाकर और रोमांचकारी मृत्यु के भय को अपने हृदय से सर्वथा दूर करके, अर्थात् अणुमात्र भी मृत्यु के भय को अपने हृदय में स्थान न देकर अनशन के द्वारा प्रसन्नता-पूर्वक अपने शरीर का त्याग करने की आकांक्षा करे, यह उसका सर्वोपरि अन्तिम कर्त्तव्य है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार दीक्षा-ग्रहण के समय उसके आत्मा मे आनन्द, उत्साह और हर्ष का उद्रेक था, उसी प्रकार मृत्यु के समय भी उसके मन में पूर्ण प्रसन्नता, पूर्ण हर्ष और पूर्ण उत्साह होना चाहिए और समुचित अनशन के द्वारा ही इस शरीर का प्रसन्नता-पूर्वक अन्त होना चाहिए, यह धारणा उसकी बराबर रहनी चाहिए। परन्तु इसमें इतना ध्यान अवश्य रहे कि इस शरीर का वियोग अनशन व्रत के द्वारा हो यह भावना तो स्तुत्य है, किन्तु मृत्यु की इच्छा कभी न करनी चाहिए और न ही 'क्या मै मर जाऊगा, और सचमुच इस शरीर को छोड़ जाऊगा', इत्यादि प्रकार के सकाम-मृत्यु के साथ प्रतिकूलता रखने वाले विचारो को अपने हृदय मे कभी स्थान न देना चाहिए।

इस सारे विवेचन का साराश इतना ही है कि मृत्यु का समय निकट आ गया जानकर, उसके भय का सर्वथा परित्याग करके, उसके स्वागत के लिए सहर्ष प्रस्तुत हो जाना चाहिए और अनशन व्रत के द्वारा ही 'यदि इस क्षण-विनश्वर शरीर का अन्त होना है तो यह बड़े सौभाग्य की बात है', इत्यादि भावना से बुद्धिमान् पुरुष सकाम-मृत्यु को प्राप्त करे।

अब इस अध्ययन का उपसंहार करते हैं—

अह कालम्मि संपत्ते, आघायाय समुस्सयं ।
सकाममरणं मरई, तिण्हमन्नयरं मुणी ॥ ३२ ॥
त्ति बेमि।

इति अकाममरणिज्जं पंचमं अज्झयणं समत्तं ॥ ५ ॥

अथ काले संप्राप्ते, आघातयन् समुच्छ्रयम् ।
सकाममरणेन म्रियते, त्रयाणामन्यतरेण मुनिः ॥ ३२ ॥
इति ब्रवीमि।

इति अकाममरणीयं पंचममध्ययनं सम्पूर्णम् ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—**अह**—अथ, **कालम्मि**—काल के, **संपत्ते**—प्राप्त होने पर, **आघायाय**—संलेखना आदि के द्वारा विनाश करता हुआ, **समुस्सयं**—आभ्यन्तरिक और बाह्य शरीर का, **सकाममरणं**—सकाम मृत्यु से, **मरई**—मरे, किन्तु, **तिण्हं**—तीन प्रकार की मृत्युओं में से,

अन्नयरं—किसी एक मृत्यु के द्वारा, **मुणी**—साधु, **त्तिबेमि**—'**त्ति**' समाप्ति अर्थ मे '**बेमि**' मैं कहता हूं।

मूलार्थ—काल के सम्प्राप्त होने पर संलेखना आदि के द्वारा शरीर का अन्त करता हुआ साधु मृत्यु के तीन प्रकारों में से किसी एक के द्वारा सकाम-मृत्यु को प्राप्त करे।

टीका—शास्त्रकारों ने तीन प्रकार से सकाम-मृत्यु की प्राप्ति का वर्णन किया है। यथा—१. भक्त-प्रत्याख्यान, २. इंगित-मरण और ३. पादपोपगमन। जिसमें चतुर्विध आहार का परित्याग हो उसे भक्त-प्रत्याख्यान कहते हैं। चार प्रकार के आहार के बाद भूमि का परिमाण करना—निश्चित की हुई भूमि से बाहर न जाने का प्रण करना इंगितमरण है और बृक्ष की कटी हुई शाखा की तरह एक ही स्थान मे स्थिर पड़े रहने को पादपोपगमन कहते हैं। सो मृत्यु-समय के अति निकट आने पर संलेखना आदि के द्वारा औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरों का अन्त करता हुआ साधु भक्तप्रत्याख्यानादि में से किसी एक के द्वारा सकाम-मृत्यु को प्राप्त करे। शास्त्रकारों ने उत्कृष्ट संलेखना की काल-मर्यादा १२ वर्ष की रखी है, अतः यथावसर और यथाशक्ति संलेखना करके सकाम-मृत्यु को प्राप्त करने का यत्न होना चाहिए। प्रसन्नता-पूर्वक प्राप्त हुई यह मृत्यु कर्मों की अनन्त वर्गणाओं को क्षय करने में निमित्त होती है, इसलिए भव्य जीवो को उसकी प्राप्ति का अवश्य यत्न करना चाहिए।

'मरणं', अन्नयरं' इन दोनो पदो मे तृतीया के अर्थ में प्रथमा विभक्ति समझना चाहिए। '**त्ति बेमि**' का अर्थ पहले आ ही चुका है।

पंचम अध्ययन संपूर्ण

□□

अह खुड्डागनियंठिज्जं छट्ठं अज्झयणं

अथ क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीयं षष्ठमध्ययनम्

पांचवें अध्ययन मे अकाम और सकाम मृत्यु का विस्तृत वर्णन किया गया है। इनमें सकाम-मृत्यु की प्राप्ति प्राय. विरत अर्थात् निवृत्ति-मार्गानुगामी आत्माओं को ही होती है और विरत आत्मा निर्ग्रन्थ ही होते है एवं जो निर्ग्रन्थ हैं वे विद्या और चारित्र से युक्त होते है, इसलिए अब छठे अध्ययन में उन्हीं निर्ग्रन्थो का वर्णन किया जाता है।

यद्यपि भगवती सूत्र में पाच प्रकार के ही निर्ग्रन्थों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है, किन्तु यहां पर तो केवल सामान्यतया निर्ग्रन्थो का ही वर्णन किया गया है, इसीलिए इस अध्ययन का नाम भी '**क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय अध्ययन**' रखा गया है।

जो निर्ग्रन्थ हैं वे विद्वान होते हैं और जो विद्या से रहित हैं वे इस संसार में नाना प्रकार के दुखों का अनुभव करते हैं यह बात ऊपर कही गई है, इसलिए अब शास्त्रकार पहले इसी विषय में कहते हैं—

जावन्तऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा ।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणन्तए ॥ १ ॥

यावन्तोऽविद्याः पुरुषाः, सर्वे ते दुःखसंभवाः ।
लुप्यन्ते बहुशो मूढाः, संसारेऽनन्तके ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—**जावंत**—जितने, **अविज्जा**—विद्या से रहित, **पुरिसा**—पुरुष है, **सव्वे**—सारे, **ते**—वे, **दुक्खसंभवा**—दुखो को प्राप्त करने वाले है, **बहुसो**—बहुत बार, **मूढा**—मूढ़, **अणंतए**—अनन्त, **संसारम्मि**—ससार मे, **लुप्पंति**—दारिद्र्‌यादि दुखो से पीड़ित होते है।

मूलार्थ—यावन्मात्र अविद्वान् पुरुष हैं वे सब दुखों को प्राप्त करने वाले हैं, वे मूढ़ ही बहुत बार दुखों से अनन्त संसार में पीड़ित होते हैं।

टीका—इस गाथा में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि इस अनन्त संसार में जितने भी

सद्विद्या से रहित पुरुष हैं उनको शारीरिक और मानसिक सब प्रकार के दुख प्राप्त होते हैं, अतएव वे मूढ़ इस संसार में दरिद्रता आदि दुखों से बार-बार पीड़ित होते है, क्योंकि जो मिथ्यात्व से युक्त है वे ही अविद्वान अथवा अज्ञानी हैं, उनको सत् और असत् का ज्ञान नहीं होता, इसीलिए वे अपने जन्म और मरण की निवृत्ति भी नहीं कर सकते और साथ में सम्यक्त्व-रहित होने के कारण वे अज्ञानी भी हैं। अतएव वे हित और अहित के ज्ञान से भी शून्य हैं।

सूत्र में पढ़े गए '**अविज्जा**'—अविद्या' शब्द का 'तत्त्व-विद्या से रहित होना' अर्थ ही युक्ति-संगत है, इसीलिए लौकिक विद्या के पारंगत होने पर भी वे विद्या-रहित ही माने जाते हैं। यदि उनमें तत्त्व-विद्या होती तो फिर वे इस संसार-चक्र में अनन्त बार भव-भ्रमण करने वाले न होते और उनमे जिस लौकिक विद्या का लेश दिखाई देता है वह वास्तव में विद्या नहीं, किन्तु अविद्या या कुत्सित विद्या ही है। यहां पर कुत्सित अर्थ मे नञ् समास है अतएव सूत्रकार ने अविद्या से दुख और संसार चक्र में बार-बार भ्रमण करने का जो उल्लेख किया है, वह बहुत ही मार्मिक और हृदयग्राही है।

सारांश यह है कि अविद्या समस्त दुखों की मूल भित्ति है, अतः इसको दूर करके सद्बोध की प्राप्ति के लिए उद्यत रहना प्रत्येक विचारशील का कर्त्तव्य होना चाहिए। बहुत सी प्रतियों मे '**याबंति**' पाठ भी देखा गया है, परन्तु अति प्राचीन प्रतियों में '**जाबंत**' ही पाठ है और व्याकरण के नियमानुसार अधिक साधुता भी उसी में है, तो भी दीपिकाकार ने '**जावंति**' पाठ मानकर ही व्याख्या की है, एवं '**विज्जा**' मे अकार का लोप किया गया है।

समिक्ख पण्डिए तम्हा, पास जाइपहे बहू ।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मित्तिं भूएसु कप्पए ॥ २ ॥

समीक्ष्य पण्डितस्तस्मात्, पाशजातिपथान् बहून् ।
आत्मना सत्यमेषयेत्, मैत्रीं भूतेषु कल्पयेत् ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—**समिक्ख**—विचार करके, **पंडिए**—पण्डित, **तम्हा**—इसलिए, **पास जाइपहे**—पाशरूप जातिपथ, **बहू**—बहुतो को, **अप्पणा**—अपनी आत्मा से, **सच्चं**—सत्य की, **एसेज्जा**—गवेषणा करे और, **मित्तिं**—मैत्री, **भूएसु**—जीवो में, **कप्पए**—करे।

मूलार्थ—इसलिए पंडित पुरुष एकेन्द्रियादि पाश-रूप बहुत प्रकार के जाति-पथों के सम्बन्ध में विचार करके अपनी आत्मा के द्वारा सत्य का अन्वेषण करे और समस्त जीवों से मित्रता का सम्बन्ध रखे।

टीका—इस सूत्र में इस बात का दिग्दर्शन कराया गया है कि विद्वान् पुरुष को सबसे प्रथम इस बात का विचार करना चाहिए कि संसार में समस्त दुखों का मूल कारण अविद्या है। जो विद्या-रहित पुरुष है वे ही सब प्रकार के दुखों के पात्र बनते है और वे ही संसार में सबसे अधिक दुखों से पीड़ित होते हैं, अतः संसार में जीव को पुत्र-कलत्रादि पर जो अत्यन्त मोह है उसके कारण से ही पाशरूप

एकेन्द्रिय आदि के मार्ग जीवों को प्राप्त होते है, अर्थात् इन एकेन्द्रिय आदि जीव-जातियों में उनका जन्म होता है। इसलिए पंडित पुरुष को चाहिए कि वह उक्त प्रकार की दशा का विचार करता हुआ अपनी आत्मा के द्वारा सत्य की अर्थात् सयम की गवेषणा करे और संसार के समस्त जीवों से सदा मित्रता का व्यवहार करे। यहां पर 'सत्य' शब्द संयम का बोधक है और संयम की पूर्ति के लिए मैत्री भाव की परम आवश्यकता है। इसलिए संयम का अन्वेषण और मैत्री भाव का आचरण इन दोनों का उल्लेख यहां किया गया है।

वास्तव में सयम का सार तो प्राणिमात्र से मित्रता धारण करना ही है, जैसे एक मित्र अपने मित्र के सुख-दुख में सदा सहायक होता है और किसी आपत्ति के आने पर सदा उसे उससे बचाने की कोशिश करता है, उसी प्रकार संसार के प्रत्येक जीव को अपना बन्धु समझकर एक सच्चे मित्र की भाति उससे मैत्रीभाव रखे और छोटे-से-छोटे जीव की विराधना से भी अपने को बचाने का यत्न करे।

इसके अतिरिक्त शास्त्रकार लिखते है कि—'अप्पणा सच्चमेजेज्जा' आत्मा के लिए सत्य की खोज करे। इस कथन से पर के लिए आत्मान्वेषण का विधान नही पाया जाता, जिसका तात्पर्य यह है कि जब तक साधक स्वय की खोज करके उसके अनुरूप आचरण नहीं करता तब तक दूसरो को उसके द्वारा उपदेश देना व्यर्थ ही होता है। इसलिए स्वयं आत्मान्वेषी बनकर दूसरों को उस सत्य का उपदेश देना चाहिए।

इस समस्त कथन से यह प्रमाणित हुआ कि पण्डित पुरुष सांसारिक सम्बन्धो को पाशरूप अर्थात् बन्धन रूप जानकर और उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले एकेन्द्रियादि के मार्ग को अच्छी तरह समझकर आत्म-ज्ञान के लिए सत्य की गवेषणा मे प्रवृत्त होता हुआ ससार के समस्त छोटे-बड़े प्राणियो से मैत्री का व्यवहार करे। इसी में उसके सदसद् के विवेचन रूप पांडित्य की पूर्ण सफलता है।

अब इसी विषय में फिर कहते है—

माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नालं ते मम ताणाए, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥ ३ ॥

माता पिता स्नुषा भ्राता, भार्या पुत्राश्चौरसाः ।
नालं ते मम त्राणाय, लुप्यमानस्य स्वकर्मणा ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—**माया**—माता, **पिया**—पिता, **ण्हुसा**—पुत्र-वधू, **भाया**—भ्राता, **भज्जा**—पत्नी, भार्या, **य**—और, **पुत्ता**—पुत्र, **ओरसा**—औरस पुत्र अर्थात्, **ते**—वे सब, **मम**—मेरे, **ताणाए**—रक्षण के लिए, **नालं**—समर्थ नहीं है, **लुप्पंतस्स**—दुख पाते हुए को, **सकम्मुणा**—अपने कर्मों से।

मूलार्थ—अपने कर्मों के अनुसार दुख भोगने के समय माता, पिता, स्नुषा अर्थात् पुत्रवधू, भार्या तथा औरस पुत्र ये सब मेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकते, अर्थात् कर्म-फल के भोग में ये बिल्कुल हस्तक्षेप नहीं कर सकते।

टीका—विवेकशील पुरुष को इस बात का भली-भान्ति विचार करना चाहिए कि माता, पिता स्नुषा, भ्राता, भार्या और अपने अंग से उत्पन्न हुआ पुत्र, इत्यादि जितने भी सम्बन्धी जन हैं, वे सब मेरे कर्म-जन्य दुख-भोग के समय मेरी किसी प्रकार की भी सहायता नहीं कर सकते, अर्थात् मेरे दुख का न्यूनाधिक रूप में भी विभाग नहीं कर सकते—उसे किसी तरह से भी बांट नहीं सकते। क्योंकि जो कर्म जिस आत्मा ने किए है उनका फल भी उसे ही भोगना पड़ता है, दूसरे को नहीं। इसलिए इन सब सम्बन्धी-जनों से मुझे किसी प्रकार का भी मोह नहीं रखना चाहिए और यदि कुछ है भी तो उसे भी सर्वथा त्याग देना चाहिए।

इसी प्रकार मै भी इनके कर्म-जन्य दुख-भोग मे किसी प्रकार की सहायता नहीं पहुंचा सकता, अर्थात् इनके दुख को मै भी बांट नहीं सकता। इससे सिद्ध हुआ कि प्रत्येक प्राणी अपने-अपने किए हुए कर्मों का स्वयमेव ही फल भोगता है, इसमें दूसरे किसी को अणुमात्र भी हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। जब कि यह कर्म-सम्बन्धी नियम अटल है तब जो प्राणी इन सम्बन्धी-जनों के व्यामोह में पड़कर अपनी आत्मा का पतन कर रहा है, इससे बढ़कर अज्ञानी और मूर्ख दूसरा कौन हो सकता है? इसलिए विचारशील पुरुषों को उचित है कि वे जहां तक हो सके, अपने सांसारिक व्यामोह को त्यागकर आत्म-दर्शन की ओर ही अधिक-से-अधिक झुकने का प्रयत्न करें क्योंकि पुण्यशील आत्मा के बिना अन्य जीव का न कोई रक्षक है और न कोई सहायक ही है।

जब कि परलोक में इस जीव का माता-पिता आदि कोई भी सम्बन्धी रक्षक नहीं हो सकता और यह जीव अपने कर्मों का स्वयं ही उत्तरदायी है तब फिर इसको क्या करना चाहिए? अब इस प्रश्न का निम्नलिखित गाथा में समाधान करते हैं—

एयमट्ठं सपेहाए, पासे समियदंसणे ।
छिन्दे गिद्धिं सिणेहं च, न कंखे पुव्वसंथवं ॥ ४ ॥

एतमर्थं सप्रेक्षया, पश्येत् शमित-दर्शनः ।
छिन्द्याद् गृद्धिं स्नेहं च, न कांक्षेत् पूर्वसंस्तवम् ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**एयं**—इस, **अट्ठं**—अर्थ को, **सपेहाए**—विचार करके, **पासे**—देखे, **समिय-दंसणे**—सम्यग्दृष्टि, **छिंदे**—छेदन करे, **गिद्धिं**—गृद्धिभाव, **च**—और, **सिणेहं**, स्नेह को, **न कंखे**—न चाहे, **पुव्वसंथवं**—पूर्व परिचय को।

मूलार्थ—सम्यग्दृष्टि पुरुष इस पूर्वोक्त अर्थ अर्थात् विषय को अपनी बुद्धि से विचार करके देखे और अपने पूर्व परिचय की अभिलाषा न रखता हुआ ममत्व और स्नेह-भाव को तोड़ दे।

टीका—जिसका मिथ्या-दर्शन शान्त हो गया है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव इस पूर्वोक्त विषय को अर्थात् अपने माता-पिता आदि सम्बन्धी-जनों की परिस्थिति का विचार पूर्वक अवलोकन करके उनमें रहे हुए ममत्व और स्नेह-भाव को उनसे पृथक् कर दे, अर्थात् उनसे अपनी ममता और प्यार का

सम्बन्ध तोड़ दे। इतना ही नहीं, अपितु उनसे अपने पूर्व परिचय का दिग्दर्शन भी न करावे। जैसे कि तुम और हम एक ही स्थान के रहने वाले है, तुम हमारे अमुक सम्बन्धी हो, इत्यादि पूर्व परिचय की भी इच्छा न करे, क्योंकि जब तक ममता और राग है, तब तक तो संसार के सभी सम्बन्ध उपस्थित रहेंगे और ममत्व के परित्याग से और स्नेह के विच्छेद से फिर कोई सांसारिक सम्बन्ध शेष नहीं रहता तथा मन में पूर्वसंस्तव अर्थात् पूर्व परिचय की जो लेशमात्र भी अभिलाषा है उसको त्याग देने से उसमें अर्थात् स्नेह-विच्छेद में और भी प्रबलता आ जाती है। इसलिए सांसारिक विषयों में ममता और स्नेह का त्याग करके मैत्री-भाव के द्वारा प्राणीमात्र पर समभाव रखना चाहिए।

यहा पर यह भी अवश्य ध्यान मे रहे कि स्नेह और मैत्री में बहुत अन्तर है, स्नेहराग-जन्य है और मैत्री समता अर्थात् समभाव से उत्पन्न होने वाला भाव है। इसलिए स्नेह रागजन्य होने से कर्मबन्ध का हेतु है और मैत्री आत्मा की समभाव-परिणति की एक अवस्था विशेष होने से कर्मों की निर्जरा का हेतु है।

अब इसकी फलश्रुति का वर्णन करते हैं—

गवासं मणिकुण्डलं, पसवो दासपोरुसं ।
सव्वमेयं चइत्ता णं, कामरूवी भविस्ससि ॥ ५ ॥

गवाश्वं मणिकुण्डलं, पशवो दासपौरुषम् ।
सर्वमेतत् त्यक्त्वा खलु, कामरूपी भविष्यसि ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—**गवासं**—गाय-घोड़ा आदि, **मणि**—रत्नादि, **कुंडलं**—कुण्डल, **पसवो**—पशु, **दास**—दास, नौकर, **पोरुसं**—पुरुषो का समूह, **सव्व**—सर्व, **एयं**—यह, **चइत्ता णं**—छोड़ करके, **कामरूवी**—इच्छानुकूल रूप बनाने वाला, **भविस्ससि**—होगा।

मूलार्थ—हे शिष्य! गाय, घोड़ा, मणि, कुंडल, पशु, दास और अन्य पुरुषों के समूह का परित्याग करने पर तू परलोक में यथारुचि रूप बनाने वाला अर्थात् वैक्रिय-शक्ति-सम्पन्न देवता हो जाएगा।

टीका—इस गाथा मे ऐहिक पदार्थो के त्याग का जो पारलौकिक फल है, उसका दिग्दर्शन कराया गया है। गुरु शिष्य को उपदेश करता है कि हे शिष्य! यदि तू गाय, घोड़ा, मणि, रत्न और दास-दासी आदि पदार्थो का परित्याग कर देगा तो तुझको इस लोक और परलोक में ऐसी सिद्धि प्राप्त हो जाएगी जिससे कि तू अपनी इच्छा के अनुसार रूप धारण कर सकेगा। तात्पर्य यह कि सांसारिक पदार्थों से सम्बन्ध-विच्छेद करने के बाद शक्तिशाली मुनि अथवा देवता के रूप को प्राप्त करके तेरे मे वैक्रिय-लब्धि का प्रादुर्भाव हो जाएगा। उसके प्रभाव से तू यथारुचि रूप आदि को धारण करने वाला हो जाएगा। इसलिए इन गौ, अश्वादि सासारिक पदार्थों का परित्याग करके मोह-ममत्व से रहित होकर तू संयम का ही पालन कर।

यद्यपि त्याग का वास्तविक फल तो मोक्ष है, परन्तु राग-पूर्वक त्याग का फल तो देवलोको की प्राप्ति ही बताया गया है।

इसके अतिरिक्त गाथा में जो सब से प्रथम **'गो'** शब्द का उल्लेख किया गया है, उसका तात्पर्य गोधन की महत्ता को बताना है, क्योंकि आर्यभूमि के लोगों का ऐहिक अभ्युदय प्राय. गोवंश पर ही अधिकांश निर्भर है, तथा दूसरी श्रेणी में अश्व शब्द का उल्लेख किया गया है, क्योंकि यह पशु भी इस देश के लिए अधिक-से-अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। **'पोरुषं'** यह **'पौरुषेयं'** का प्रतिरूप है, जिसका अर्थ होता है—पुरुष-समूह।

अब फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं—

थावरं जंगमं चेव, धणं धन्नं उवक्खरं ।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं, नालं दुक्खाउ मोयणे ॥ ६ ॥

स्थावरं जंगमं चैव, धनं धान्यमुपस्करम् ।
पच्यमानस्य कर्मभिः, नालं दुःखान्मोचने ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—थावरं—स्थावर-गृहादि, **जंगमं**—जगम—मनुष्यादि, च—पाद-पूर्त्यर्थक है, एव—अवधारणार्थक है, **धणं धन्नं**—धन-धान्य, **उवक्खरं**—घर के उपकरण विशेष, **पच्चमाणस्स**—दुख पाता हुआ, **कम्मेहिं**—कर्मो से, न—नहीं है—पूर्वोक्त पदार्थ, **अलं**—समर्थ, **दुक्खाउ**—दुख से, **मोयणे**—छुड़ाने को।

मूलार्थ—घर का सामान, धन, धान्य और मनुष्य आदि कोई भी पदार्थ कर्मों द्वारा दुख पाते हुए जीव को दुख से छुड़ाने में समर्थ नहीं हो सकता है।

टीका—जब यह जीव अपने किए हुए कर्मों से दुख को प्राप्त होता है तब घर, दुकान, मनुष्य, पशु, धन, धान्य तथा अन्य घर का कोई भी पदार्थ जीव के दुख को मिटाने या कम करने की शक्ति नही रखता, इसलिए इन पदार्थो मे ममत्व या आसक्ति रखना निरी भूल है। ये पदार्थ तो संचित पुण्य के एकमात्र फल विशेष है। इनके द्वारा दुखो से छुटकारा मिलने मे किसी प्रकार की सहायता नहीं मिल सकती, अत· ये सब साधको के लिए हेय है।

'स्थावर' से स्थिर रहने वाले सुवर्ण और प्रासाद आदि का ग्रहण इष्ट है और जगम से चलने फिरने वाले मनुष्यादि ग्रहण किए जाने चाहिए। यहां पर यह बात भी स्मरण करने योग्य है कि सर्वार्थसिद्धि नाम की वृत्ति के कर्त्ता ने इस गाथा को प्रक्षिप्त माना है। यथा—**'अत्रान्तरे थावरेति' गाथा प्रक्षेपरूपा ज्ञेया द्वयोर्ष्टीकयोरव्याख्यातत्वात्'**, परन्तु अन्य गुजराती भाषा के टीकाकारो ने इसे प्रक्षिप्त नहीं माना तथा दीपिकाकार भी इसे प्रमाणभूत मानकर इसकी व्याख्या करते है।

अब सांसारिक पदार्थों से सम्बन्ध-विच्छेद करने वाले सत्यान्वेषी साधक के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हैं—

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए ।
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराउ उवरए ॥ ७ ॥

अध्यात्मं सर्वतः सर्वं, दृष्ट्वा प्राणान्प्रियात्मकान् ।
न हन्यात्प्राणिनः प्राणान्, भयवैरादुपरतः ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—**अज्झत्थं**—आत्मा मे रहने वाले सुख-दुख, **सव्वओ**—सर्व प्रकार से, **दिस्स**—देख करके, **पाणे**—प्राणो को, **पियायए**—प्रिय स्वरूपों को, **न हणे**—घात न करे, **पाणिणो**—प्राणी के, **पाणे**—प्राणो को और, **भय**—भय, **वेराउ**—वैर से, **उवरए**—निवृत्त होवे।

मूलार्थ—आत्मा में अर्थात् मन में सर्व प्रकार से सुख-दुख आदि सभी रहते हैं और हर एक जीव को अपने प्राण अत्यन्त प्रिय हैं, ऐसा जानकर किसी भी प्राणी के प्राणों का घात न करे तथा भय और वैर से सदा मुक्त रहे।

टीका—सर्व प्रकार के विचारों और सस्कारो की उत्पत्ति और स्थिति का आधार मन है। कर्म-बन्ध और कर्म-निर्जरा की मूल-भित्ति का अवलम्बन भी मन के ऊपर ही है एवं सुख-दुख आदि का भोग भी मन के ही आश्रित है तथा बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था भी मन की कलुषितता और विशुद्धि के आधीन है, इसलिए इस दृष्टि से संसार के समस्त व्यापारों को आध्यात्मिक कहा जा सकता है।

प्रत्येक प्राणी मे सुख की अभिलाषा रहती है, हर एक जीव को सुख प्रिय और दुख अप्रिय है। ससार मे ऐसा एक भी जीव दृष्टिगोचर नहीं हो सकता कि जिसने कभी भी दुख की इच्छा की हो। इससे सिद्ध हुआ कि प्रिय वस्तु सुख का हेतु है और अप्रिय वस्तु दुख का कारण है। ससार मे जितने भी जीव है, उनको प्राणो से अधिक और कोई वस्तु प्यारी नहीं है। यावन्मात्र प्राणी है वे सब अपने प्राणो की रक्षा के निमित्त और सब कुछ दे देने को तैयार रहते है, इसलिए प्राण सब से अधिक प्रिय वस्तु है, ऐसा समझ लेने पर किसी प्राणी के प्राणों का कभी भी अपहरण—घात नहीं करना चाहिए तथा घात करने की किसी को प्रेरणा भी नही देनी चाहिए एवं घातक क्रूर-कर्म की अनुदमोदना भी नही करना चाहिए।

प्राणि-मात्र को अपने समान समझ कर उनकी यथा-शक्ति रक्षा करने मे ही प्रवृत्त होना चाहिए। किसी प्राणी के घात न करने के अतिरिक्त किसी जीव को सामान्य भय भी नही देना चाहिए और जीव से वैर भाव भी नहीं रखना चाहिए, अर्थात् आत्मान्वेषी पुरुष को प्राण-वध के अतिरिक्त भय और वैर से भी सदा के लिए उपरत हो जाना चाहिए। स्मरण रहे कि जो प्राणी किसी जीव का वध नही करता, किसी को भय नहीं देता और किसी से वैर नहीं करता तथा हर एक जीव के सुख-दुख को अपनी आत्मा का सुख-दुख समझता है उसी की आत्मा मे दिव्य ज्ञान की अलौकिक ज्योति का उदय होता है।

अब इसी विषय में फिर कहते हैं—

आयाणं नरयं दिस्स, नायएज्ज तणामवि ।
दोगुंछी अप्पणो पाए, दिन्नं भुंजेज्ज भोयणं ॥ ८ ॥

आदानं नरकं दृष्ट्वा, नाददीत तृणमपि ।
जुगुप्स्यात्मनः पात्रे, दत्तं भुञ्जीत भोजनम् ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—आयाणं—धन-धान्यादि का ग्रहण, **नरयं**—नरक का हेतु, **दिस्स**—देख करके, **नायएज्ज**—उसे ग्रहण न करे, **तणामवि**—तृणमात्र भी, **दोगुंछी**—आहार के बिना निर्वाह नही हो सकता, इस प्रकार से आत्मा की जुगुप्सा अर्थात् निन्दा करने वाला, **अप्पणो**—अपने, **पाए**—पात्र में **दिन्नं**—गृहस्थ का दिया हुआ, **भोयणं**—भोजन, **भुंजेज्ज**—खाए।

मूलार्थ—धन-धान्यादि पदार्थों को नरक-प्राप्ति का हेतु समझकर तृण-मात्र-वस्तु भी किसी की आज्ञा के बिना ग्रहण न करे तथा आहार के बिना इस शरीर का निर्वाह नहीं हो सकता, इस प्रकार से आत्म-जुगुप्सा अर्थात् आत्मनिन्दा करता हुआ साधु-पुरुष अपने पात्र में किसी गृहस्थ के द्वारा दिए हुए भोजन का आहार करे।

टीका—यह गाथा साधु के विशिष्ट आचार से सम्बन्ध रखती है। इसमें इस बात का उपदेश दिया गया है कि किसी के द्वारा धन-धान्यादि का ग्रहण करना नरक का हेतु है, इसलिए बिना स्वामी की आज्ञा के साधु तृण-मात्र पदार्थ को भी अंगीकार न करे तथा सदैव काल अपनी आत्मा को यह उपदेश करता रहे कि 'मुझे धिक्कार है जो कि मैं आहार करता हूं, परन्तु क्या करूं, बिना आहार के मै निर्वाह नहीं कर सकता हू, यह शरीर बिना आहार के रह भी नही सकता', इसलिए गृहस्थ के द्वारा अपने पात्र में जो भोजन उसे प्राप्त हो उसी का आहार करना चाहिए।

यहा पर अपने पात्र मे आहार करने की जो आज्ञा दी है उसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई गृहस्थ साधु को अपने पात्र में भोजन करने की आज्ञा भी दे दे तो भी साधु को गृहस्थ के पात्र मे भोजन नही करना चाहिए।

यहा इतना स्मरण रहे कि गृहस्थ के द्वारा प्राप्त होने वाला भोजन शुद्ध और निर्दोष ही होना चाहिए।

यहां प्रथम सत्य की गवेषणा करने का उपदेश दिया गया है, इससे दूसरा महाव्रत प्रमाणित हुआ। फिर किसी प्राणी का वध नहीं करना चाहिए, इससे प्रथम महाव्रत का स्वरूप ज्ञात हुआ। अदत्ता-दान का प्रत्यक्ष निषेध किया जा रहा है जो कि तीसरा महाव्रत है। **'गयासं'** आदि गाथा मे परिग्रह का निषेध है और इसी के अन्तर्गत मैथुन की भी निवृत्ति है। इस प्रकार व्युत्क्रम रूप से विधि-निषेध के द्वारा पांचों महाव्रतों का अंगीकार और पांचों आश्रवो अर्थात् पाप-द्वारों का निषेध किया गया है।

जो लोग केवल मात्र ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं और उसके लिए आश्रव निरोध को स्वीकार नहीं करते उनके विचारों की आलोचना शास्त्रकार निम्नलिखित गाथा में करते हैं—

इहमेगे उ मन्नन्ति, अप्पच्चक्खाय पावगं ।
आयरियं विदित्ता णं, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥ ६ ॥

इहैके मन्यन्ते, अप्रत्याख्याय पापकम् ।
आचारं विदित्वा खलु, सर्वदुःखात् विमुच्यते ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—इहं—इस संसार मे, **एगे**—किसी एक मत के अनुयायी, **उ**—फिर, **मन्नन्ति**—मानते है, **अप्पच्चक्खाय**—प्रत्याख्यान किए बिना, **पावगं**—पाप के—केवल, **आयरियं**—आचार विदित्ता—जानकर, **णं**—वाक्यालकार मे, **सव्व**—सर्व, **दुक्खा**—दु.खों से, **विमुच्चई**—छूट जाता है।

मूलार्थ—किसी एक मत के अनुयायियों की ऐसी भी मान्यता है कि आश्रवों अर्थात् पाप-द्वारों को बन्द किए बिना, अर्थात् इनका त्याग किए बिना ही केवल अपने कर्त्तव्यानुष्ठान को जान लेने से आचार अर्थात् तत्त्व को समझ लेने मात्र से यह जीव सभी दुखों से मुक्त हो जाता है।

टीका—अनेक ज्ञान-वादियो का ऐसा मत है कि पाप-कर्मो का प्रत्याख्यान किए बिना ही केवल कर्त्तव्य-कर्म के ज्ञान-मात्र से ही यह प्राणी दुखो से छूट जाता है, इसलिए शारीरिक और मानसिक दुखो से मुक्त होने के लिए केवल मात्र ज्ञान की ही आवश्यकता है। परन्तु यह कहने वाले महानुभावो का कथन कुछ युक्ति संगत प्रतीत नही होता क्योकि औषधि के ज्ञान-मात्र से कभी रोग की निवृत्ति होती नही देखी गई, अपितु रोग दूर करने के लिए तो उसके अनुकूल रोग-प्रतिकारक औषधियो का भक्षण करना ही आवश्यक होता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार औषधि के ज्ञान-मात्र से रोग की निवृत्ति नहीं हो सकती, अपितु रोग को समझ कर उसके अनुसार रोग-नाशक औषधि का उपयोग करना आवश्यक होता है, इसी प्रकार कर्म-जन्य रोग की निवृत्ति भी केवल कर्म के ज्ञान-मात्र से नहीं हो सकती, उसके लिए तो आश्रव-त्यागरूप चारित्र के अनुष्ठान की आवश्यकता होती है। दुख और उसके कारण भूत कर्माश्रवों के ज्ञान के साथ-साथ उनका त्याग रूप चारित्राराधन भी नितान्त आवश्यक है। इसलिए दुखो से छूटने अथवा मोक्ष को प्राप्त करने के लिए न केवल चारित्र ही अपेक्षित है और न केवल ज्ञान-मात्र ही, किन्तु ज्ञान और चारित्र दोनो ही अपेक्षित होते है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान के साथ चारित्र और चारित्र के साथ ज्ञान इन दोनों के साथ रहने पर ही दुख की निवृत्ति और मोक्ष की प्राप्ति सभव हो सकती है, अन्यथा नही। इसी आशय को ध्यान मे रखकर जैन शास्त्रकारो ने '**ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः**' इस सूत्र में उक्त सिद्धान्त को स्थिर कर दिया है। अतः ज्ञान-मात्र से ही दुख-निवृत्ति या मोक्ष-प्राप्ति की मान्यता केवल भ्रान्त कल्पना है जो कि किसी प्रकार से भी विश्वास के योग्य प्रतीत नही होती।

मूल गाथा में दिए गए '**आयरियं**' शब्द के संस्कृत प्रतिरूप आचार्य, आचरित और आर्य, ये तीन शब्द बनते है, इसलिए यहां पर इन तीनो का अर्थ ज्ञान अभिप्रेत है।

अब इसी विषय में फिर कहते हैं—

भणंता अकरेन्ता य, बन्धमोक्खपइण्णिणो ।
वायाविरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पयं ॥ १० ॥

भणन्तोऽकुर्वन्तश्च, बन्धमोक्ष-प्रतिज्ञिनः ।
वाग्वीर्यमात्रेण, समाश्वासयन्त्यात्मानम् ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—भणंता—बोलते हुए, **य**—और, **अकरेन्ता**—क्रिया न करते हुए, **बन्धमोक्ख**—बन्ध और मोक्ष के, **पइण्णिणो**—संस्थापक, **वाया**—वचन, **विरिय**—वीर्य, **मेत्तेण**—मात्र से, **अप्पयं**—आत्मा को, **समासासेंति**—आश्वासन देते हैं।

मूलार्थ—अकेला ज्ञान ही मोक्ष का साधक है इस प्रकार बोलने और तदनुकूल किसी प्रकार की क्रिया का अनुष्ठान न करने वाले बन्ध-मोक्ष के व्यवस्थापक वादी लोग केवल वचन-मात्र से ही अपनी आत्मा को आश्वासन देते हैं।

टीका—इस गाथा में ज्ञान-वादियों का युक्ति-पूर्वक कुछ मीठा सा उपहास किया गया है। शास्त्रकार कहते हैं कि ज्ञानवादी महानुभावों का कथन है कि अकेला ज्ञान ही मोक्ष-प्राप्ति का प्रधान हेतु है, इसी से मोक्ष की उपलब्धि सुनिश्चित है, अत: चारित्र का आराधन सर्वथा अनावश्यक है। बन्ध और मोक्ष के स्वरूप को जान लेना ही बन्ध की निवृत्ति और मोक्ष की प्राप्ति के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार से बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था अर्थात् स्थापना करने वाले ये वादी लोग वास्तव में वचन-मात्र से ही अपनी आत्मा को आश्वासन देते है, किन्तु उनके कथनानुसार मोक्ष की प्राप्ति हो जाती हो ऐसा नहीं है, क्योंकि केवल जान लेने से ही प्राप्त स्थान की उपलब्धि कभी नही हो सकती, उसके लिए तो साथ मे गमन रूप क्रिया भी अपेक्षित है।

ज्ञानवादियों की ओर से यह भी कहा जाता है कि जिस प्रकार घर के अन्दर रहा हुआ वर्षो का अन्धकार दीपक के प्रकाश से तत्क्षण चला जाता है, ठीक उसी प्रकार हृदय में ज्ञान का उदय होते ही दुख के हेतुभूत सभी कर्म भाग जाते है, परन्तु यह उनका कथन कुछ युक्ति-युक्त प्रतीत नही होता, क्योकि ज्ञान तो प्रकाशक है, प्रेरक नहीं। इसलिए वह अपने मे कर्म-मल को दूर करने की शक्ति नहीं रखता। कर्म-मल को धोने अथवा दूर करने का सामर्थ्य तो आस्रव-निरोध रूप चारित्र मे है। जिस प्रकार घर मे प्रकाशित हुए दीपक से घर का अन्धकार तो चला जाता है, परन्तु वहा पर पड़े हुए पत्थर, ककर और कूड़े-कर्कट को वह प्रकाश दूर नहीं कर सकता, इसी प्रकार हृदय-मन्दिर में ज्ञान का उजाला होने पर उससे आत्मा के साथ लगे हुए कर्म-मल का दूर होना कठिन है। जिस प्रकार घर के अन्दर रहे हुए कूड़े-कचरे को दीपक के प्रकाश से देख-भाल कर झाडू के द्वारा उसको निकाल कर बाहर फैक दिया जाता है, इसी प्रकार ज्ञान-ज्योति से आत्मा के साथ लगे हुए कर्ममल को देखकर चारित्र के द्वारा अलग करके बाहर फैक देने की आवश्यकता होती है। इसलिए ज्ञान और चारित्र

दोनों की ही आवश्यकता है। अकेला ज्ञान तो पंगु पुरुष के समान है जो कि हित और अहित को देख तो सकता है, परन्तु कुछ कर नहीं सकता, अर्थात् उसके अनुसार उससे कुछ बन नहीं सकता।

इसी प्रकार अकेली क्रिया भी उस अन्धे पुरुष के समान है जिसमें क्रिया तो है, परन्तु अपने साध्य स्थान का ज्ञान बिल्कुल नही है। इसलिए ज्ञान-हीन साधक इधर-उधर भटकता रहता है। इससे सिद्ध हुआ कि अकेला ज्ञान या अकेली क्रिया दुख-निवृत्ति या मोक्ष-प्राप्ति के लिए पर्याप्त नहीं है, किन्तु दोनों का समुच्चय ही कार्य-साधक हो सकता है।

यहां इतना और समझ लेना चाहिए कि जो भी क्रिया हो वह ज्ञान-पूर्वक होनी चाहिए, तभी अभीष्ट की सिद्धि हो सकेगी, अन्यथा नहीं।

अब उक्त पक्ष का प्रकारान्तर से शास्त्रकार स्वयं निराकरण करते है—

न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं ?
विसण्णा पावकम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो॥ ११ ॥

न चित्रा त्रायते भाषा, कुतो विद्यानुशासनम् ?
विषण्णाः पापकर्मभिः, बालाः पण्डितमानिनः ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—**चित्ता**—नाना प्रकार की, **भासा**—भाषा, **न तायए**—रक्षक नही है, **कुओ**—कहा से, **विज्जाणुसासणं**—विद्या का सीखना रक्षक होगा—जो, **विसण्णा**—निमग्न है, **पावकम्मेहिं**—पाप-कर्मों में, **बाला**—अज्ञानी, **पंडियमाणिणो**—अपने आपको पंडित मानने वाले।

मूलार्थ—जब कि नाना प्रकार की भाषाएं इस जीव की रक्षा नहीं कर सकतीं, तो भला मन्त्रादि विद्याओं का सीखना कहां से रक्षक हो सकेगा? इस प्रकार जो जीव पाप-कर्मों में निमग्न होते हुए अपने आपको पंडित मानते हैं वे वास्तव में मूर्ख ही हैं।

टीका—इस गाथा मे यह बताया गया है कि सस्कृत, प्राकृत आदि आर्य तथा अनार्य भाषाओं का केवल-मात्र ज्ञान प्राप्त कर लेने से इस जीव की रक्षा नही हो सकती, अर्थात् यदि इन भाषाओं मे ही ज्ञान की मुख्यता स्वीकार कर ली जाए तो वे पापो से बचा नहीं सकती। जब ऐसा ही है तो सामान्य मन्त्र-विद्या—रोहिणी और प्रज्ञप्ति आदि विद्याए तथा न्याय, मीमासा आदि केवल बाह्याडम्बर-वर्द्धक शुष्क वाद-विवाद की विद्याए कहा से रक्षक बन सकेंगी? इसलिए यह बात भली भांति समझ लेनी चाहिए कि जो जीव नाना प्रकार की भाषाओं का वेत्ता और दार्शनिक विषयों के ज्ञान में निष्णात तथा मन्त्रादि विद्याओं में प्रवीण होने पर भी पापकर्मों में निमग्न है, अर्थात् हिंसा, चोरी झूठ और व्यभिचार आदि पापजनक कृत्यो—व्यापारों का सेवन करता है, वह उक्त विद्याओं में प्रवीण होने के कारण अपने को पंडित मानता हुआ भी वास्तव में मूर्ख ही है। वास्तविक पाण्डित्य तो सत् और असत् वस्तु के विवेक पूर्वक ग्रहण और त्याग में है, न कि नानाविध भाषाओं का केवल ज्ञान-मात्र प्राप्त कर लेने में। अतः ज्ञान में भी चारित्र को अधिक प्रधानता प्राप्त है, क्योंकि चारित्र के बिना ज्ञान

प्राण-शून्य शरीर की तरह निर्जीव और मृतप्राय है। वह चारित्र की तरह पापावरोधक और कर्म-निर्जरा का साधक नहीं है तथा ज्ञान-शून्य चारित्र भी अधिक बलवान् नहीं होता, इसलिए मुमुक्षु पुरुष के लिए दोनो का ही सम्पादन करना परम आवश्यक होता है।

भाषा-विज्ञान भी आत्मकल्याण में सहायक नहीं—

जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो ।
मणसा कायवक्केणं, सव्वे ते दुक्खसंभवा ॥ १२ ॥

ये केचित् शरीरे सक्ताः, वर्णे रूपे च सर्वशः ।
मनसा कायवाक्येन, सर्वे ते दुःखसंभवाः ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—जे—जो, **केइ**—कोई, **सरीरे**—शरीर मे, **सत्ता**—आसक्त है, **वण्णे**—वर्ण में **य**—और, **रूवे**—रूप में, **सव्वसो**—सर्व प्रकार से, **मणसा**—मन से, **कायवक्केणं**—काया और वचन से, **ते**—वे, **सव्वे**—सब, **दुक्खसंभवा**—दुखों के भाजन हैं।

मूलार्थ—जो जीव मन, वचन और काया के द्वारा सर्व प्रकार से शरीर में और शरीर के वर्ण और रूप में आसक्त हैं वे सब दुखों के भाजन हैं।

टीका—जो जीव शरीर में अर्थात् उसके अवयवों और गुणों में अधिक आसक्त हैं, उनको सबसे अधिक दुख उठाना पड़ता है। क्योंकि उनको औरों की अपेक्षा इस शरीर की रक्षा और पालन-पोषण मे अधिक व्यग्र रहना पड़ता है। वे इसे ही बलवान् और पुष्ट बनाने के लिए रात-दिन चिन्तित रहते है। उनका मानसिक बल इसी बात के सोचने में व्यय होता रहता है कि किस औषधि के सेवन से मै अधिक बलवान् बन सकता हू? और निरन्तर इस विषय में उसकी वैद्य-बन्धुओं से चर्चा चलती रहती है, यह वाणी का व्यय है तथा बहुत से परामर्श के द्वारा प्राप्त की हुई औषधि आदि के निर्माण और सेवन से अपनी कायिक शक्ति विषयक श्रम का परिचय देते हैं। इस प्रकार उसको अपने शरीर के रूप एव लावण्य को यथावत् बनाए रखने में ही अधिक-से-अधिक समय देना पड़ता है जो कि मुमुक्षु पुरुष के लिए सर्वथा अवांछनीय है। वास्तव मे ऐसे देहाध्यासी जीव जितने भी शारीरिक और मानसिक दुख है उन सबके भाजन बनते है, क्योंकि उनका बढ़ा हुआ देहाध्यास उनसे अनुचित कार्य करवाने मे भी जरा सकोच नहीं करता, अर्थात् देहाध्यास के व्यामोह में पड़ कर वे जघन्य-से-जघन्य काम करने मे भी किसी प्रकार की लज्जा नही मानते। उसके परिणाम स्वरूप चाहे उन्हें भयंकर से भयकर कष्ट का सामना भी क्यो न करना पड़े। अतएव उनकी आधि-व्याधि में औरों की अपेक्षा जरूर कुछ-न-कुछ उत्कर्ष अवश्य होता है।

गाथा में आए हुए '**य—च**' शब्द से रूप और वर्ण के अतिरिक्त नाना प्रकार के काम-भोगादि विषय-विकारों का समुच्चय कर लेना चाहिए जिससे कि विषयासक्ति का भी बोध सुगमता से हो सके। एव '**सव्वसो—सर्वशः**' का अर्थ करना, कराना और अनुमोदन करना है जिसका अभिप्राय आसक्ति की आत्यन्तिकता का बोध कराना है। सो इस प्रकार से विचार करके मुमुक्षु जीव को

देहाध्यास की बिल्कुल उपेक्षा कर देनी चाहिए।

मुमुक्षु के लिए जो हितकर है अब उसका उल्लेख करते हैं—

आवण्णा दीहमद्धाणं, संसारम्मि अणन्तए ।
तम्हा सव्वदिसं पस्सं, अप्पमत्तो परिव्वए ॥ १३ ॥

आपन्ना दीर्घमध्वानं, संसारेऽनन्तके ।
तस्मात् सर्वदिशं पश्यन् अप्रमत्तः परिव्रजेत् ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—**आवण्णा**—प्राप्त हुआ, **दीहं**—दीर्घ, **अद्धाणं**—मार्ग को, **अणंतए**—अनन्त, **संसारम्मि**—ससार मे, **तम्हा**—इसलिए, **सव्वदिसं**—सब दिशाओं को, **पस्सं**—देखकर, **अप्पमत्तो**—प्रमाद-रहित हो कर, **परिव्वए**—चले।

मूलार्थ—अज्ञानी जीव इस अनन्त संसार में जन्म-मरण के बड़े लम्बे चक्र में पड़े हुए हैं, इसलिए उनकी सारी दिशाओं का अवलोकन करता हुआ मुमुक्षु पुरुष सदा प्रमाद-रहित होकर इस संसार में वेचरण करे।

टीका—अज्ञानी जीवो की जन्म-मरण परम्परा का चक्र बराबर चलता रहता है, उसका अन्त आना बड़ा ही कठिन है। तथा प्रवाह रूप से अनादि अनन्त इस ससार-चक्र पर चढ़ा हुआ जीव जिन दिशाओं में घूमता है, वे संक्षेप से अठारह प्रकार की है। जिनका नाम-निर्देश इस प्रकार है—१. पृथ्वी, २. जल, ३. अग्नि, ४. वायु, ५. मूल, ६. स्कन्ध, ७. बीज, ८. पर्वबीज, ९. द्वीन्द्रिय, १०. त्रीन्द्रिय, ११. चतुरिन्द्रिय, १२. पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च, १३. नारकी, १४. देव, १५. समूर्च्छिम्, १६. कर्मभूमिज मनुष्य, १७. अकर्मभूमिज मनुष्य और १८. अन्तर्द्वीपज।

तात्पर्य यह है कि प्रमादी जीव इन अठारह प्रकार की दिशाओं-विदिशाओं मे निरन्तर परिभ्रमण करते रहते है। इनकी इस दशा का विलोकन करता हुआ विवेकी पुरुष अपने संयम-मार्ग मे सदा अप्रमत्त रहकर विचरण करे, क्योंकि प्रमाद का फल निस्सन्देह ससार-भ्रमण ही है, अतः जो जीव प्रभाद के वश मे आकर अपने सयम-मार्ग से इधर-उधर हो जाते है, वे फिर जन्म-मरण के चक्र मे पड़कर ससार में घूमने लग जाते है और उनका परिभ्रमण-मार्ग बहुत ही लम्बा होता है। इन सारी बातो का विचार करके मुमुक्षु पुरुष कभी भी प्रमाद का सेवन न करे और सदा सावधान रहकर ही अपने सयम-मार्ग पर चलता रहे। इसी प्रयोजन से शास्त्रकार लिखते है कि—**'सव्वउ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं'** अर्थात् जो प्रमादी पुरुष है उसी को भय है और जो प्रमाद से रहित है उसको किसी प्रकार का कहीं से भी भय नहीं है।

प्रमाद-रहित पुरुष के आगामी कर्त्तव्य—

बहिया उड्ढमादाय, नावकंखे कयाइ वि ।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥ १४ ॥

बाह्यमूर्ध्वमादाय, नावकांक्षेत् कदाचिदपि ।
पूर्वकर्मक्षयार्थम्, इमं देहं समुद्धरेत् ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—बहिया—संसार से बाहर, **उड्ढं**—ऊंचे को, **आदाय**—ग्रहण करके, **नावकंखे**—विषयादि की इच्छा न करे, **कयाइ वि**—कदाचित् भी, **पुव्वकम्मक्खयट्ठाए**—पूर्व कर्मों के क्षय करने के लिए, **इमं**—इस, **देहं**—देह को, **समुद्धरे**—धारण करे।

मूलार्थ—मोक्ष-सुख को जन्म-मरण से रहित और सर्वश्रेष्ठ समझ कर मुमुक्षु पुरुष विषय-सुख की किसी समय और किसी भी दशा में अभिलाषा न करे, किन्तु इस शरीर को भी केवल कर्मों के क्षय के लिए ही धारण करे।

टीका—मोक्ष-स्थान सब से ऊंचा, सब से श्रेष्ठ और जन्म-मरण अथवा वृद्धि-ह्रास से सर्वथा रहित है, अथवा यो कहिए कि मोक्ष का सुख विनाश से रहित और निरतिशय है, अतः उस सुख को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला और उसी के लिए संयम ग्रहण करने वाला साधु विषयों की ओर कभी प्रवृत्त न हो तथा विषय-जन्य सुख की किसी समय और किसी भी दशा में निकृष्ट अभिलाषा न करे, क्योंकि विषयो की अभिलाषा आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाली होती है।

यहां पर कोई प्रश्न करे कि यदि विषयों की इच्छा का सर्वथा त्याग ही कर देना है तो फिर इस शरीर को खान-पान आदि के द्वारा स्थिर रखने की भी क्या जरूरत है? इसका समाधान यों कहते है कि पूर्व कर्मों के विनाश के लिए इस शरीर का संरक्षण करना परम आवश्यक है, क्योंकि बिना इसके सयमानुष्ठान के द्वारा होने वाला कर्मों का विनाश सर्वथा असम्भव है। तात्पर्य यह कि धर्मानुष्ठान के लिए ही शरीर को धारण करने एव सुरक्षित रखने की आवश्यकता है, न कि अन्नादि के द्वारा पुष्ट करके विषय सेवनार्थ उसको स्थिर रखने की।

इस समस्त विवेचन में सूत्रकार ने मोक्ष का स्थान, उसके मुख्य साधन और शरीर के पालन-पोषण का उद्देश्य इन तीनो बातों को अच्छी तरह से समझा दिया है, जैसे कि मोक्ष का स्थान सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ है, उसका साधन विषयो से सर्वथा निवृत्त होकर सयम का आराधन करना है तथा निर्दोष भिक्षा के द्वारा शरीर के पोषण करने का तात्पर्य पूर्व-संचित कर्ममल का विनाश करना है। इस प्रकार साधन-सम्पन्न मुमुक्षु जीव एक न एक दिन आत्मा के साथ लगे हुए कर्म-मल को धोकर आत्म-शुद्धि को अवश्य प्राप्त कर लेता है जो कि परम कल्याण-स्वरूप निर्वाण का अत्यन्त निकटवर्ती पूर्वरूप है।

अब अप्रमत्त मुनि के अन्य आचार का वर्णन करते हैं—

विगिंच कम्मुणो हेउं, कालकंखी परिव्वए ।
मायं पिंडस्स पाणस्स, कडं लद्धूण भक्खए ॥ १५ ॥

विविच्य कर्मणो हेतुं, कालकांक्षी परिव्रजेत् ।
मात्रां पिण्डस्य पानस्य, कृतं लब्ध्वा भक्षयेत् ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—**विगिंच**—दूर कर, **कम्मुणो**—कर्म के, **हेउं**—हेतु को, **कालकंखी**—समय विभाग के अनुसार, **परिव्वए**—संयम-मार्ग में चले, **पिंडस्स**—अन्न की, **पाणस्स**—पानी की, **मायं**—मात्रा को जानकर, **कडं**—किया हुआ, **लद्धूण**—प्राप्त करके, **भक्खए**—भक्षण करे।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू कर्म के हेतुओं को दूर कर और संयम-शील साधु को चाहिए कि समय-विभाग के अनुसार ही अपने आचार का पालन करता हुआ विचरे तथा अन्न और जल की मात्रा अर्थात् परिमाण का विचार करके गृहस्थों ने अपने लिए जो भोजन तैयार किया है उसको प्राप्त करके भक्षण करे।

टीका—इस गाथा मे कर्म-बन्ध के हेतु मिथ्यात्व और कषाय आदि को दूर करने का जो उपदेश दिया गया है उसका प्रयोजन यह है कि इनके दूर किए बिना अप्रमत्त भाव से सयम का पालन नहीं हो सकता तथा सयम की शुद्धि के लिए मुनि को यह भी आवश्यक है कि वह अपने उपयोग में लाए जाने वाले अन्न और जल के परिमाण और प्रासुकता—निर्दोषता का भी पूरा ध्यान रखे। इसलिए वह सचित्त जल और आधाकर्मी आदि दोष-युक्त आहार की सदा उपेक्षा करता हुआ गृहस्थ ने जो आहार अपने एव अपने परिवार के खाने के लिए घर मे तैयार किया है उसी मे से अपनी साधु-वृत्ति के अनुसार कुछ प्राप्त करके भक्षण करे।

सारांश यह कि इस प्रकार से जब साधु कर्मो के हेतुओं को दूर कर देगा और समय-विभाग के अनुसार संयम-मार्ग मे चलेगा तथा सयम की निर्मलता के लिए निर्दोष आहार का ग्रहण करेगा तब फिर वह शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करने मे समर्थ हो जाएगा।

यहा पर वृत्तिकार ने '**विगिंच**' के स्थान में 'विविच्च' (जिसका संस्कृत प्रतिरूप '**विविच्य**' बनता है) पाठ मानकर व्याख्या की है, परन्तु बहुत सी प्रतियो मे ऊपर दिया गया पाठ ही देखने में आता है, इसलिए वही पाठ रखकर उपर्युक्त व्याख्या की गई है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

सन्निहिं च न कुव्वेज्जा, लेवमायाए संजए ।
पक्खी पत्तं समादाय, निरवेक्खो परिव्वए ॥ १६ ॥

संनिधिं च न कुर्वीत, लेपमात्रया संयतः ।
पक्षी-पत्रं समादाय, निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—**सन्निहिं च**—और संचय, **न कुव्वेज्जा**—न करे, **लेवमायाए**—लेप-मात्र प्रमाण भी, **संजए**—संयत साधु, **पक्खी पत्तं**—पक्षी के पखो की तरह पात्र को, **समादाय**—ग्रहण करके, **निरवेक्खो**—अपेक्षारहित होकर, **परिव्वए**—सयम-मार्ग मे विचरे और भिक्षाचरी के लिए जाए।

मूलार्थ—संयमशील साधु रात्रि में लेश-मात्र भी अर्थात् पात्र के लेप-मात्र जितना भी अर्थात् अंश-मात्र भी अन्नादि वस्तु अपने पास न रखे, किन्तु अपेक्षारहित अर्थात् आशा-रहित होकर भिक्षा-पात्र को लेकर पक्षी की तरह संयम-मार्ग में विचरे अथवा भिक्षा के लिए परिभ्रमण करे।

टीका—इस गाथा में साधु को खाने वाले किसी अन्नादि पदार्थ को दूसरे दिन के लिए रखने का निषेध किया गया है, अर्थात् भिक्षा द्वारा लाए हुए अन्नादि पदार्थों को दूसरे दिन के लिए 'यह मै कल को खा लूंगा,' इस अभिप्राय से रात्रि में संचित करके न रखे। इसलिए साधु को उतना ही आहार लाने की शास्त्रकारों ने आज्ञा दी है जितना कि वह अपने लिए पर्याप्त समझे। अधिक लाकर उसे अगले दिन के लिए रात्रि में सम्भाल कर रखने का सर्वथा निषेध है, अतः साधु किसी भी खाद्य पदार्थ का अश-मात्र भी संग्रह न करे। संयमशील साधु की अवस्था तो एक पक्षी के समान होनी चाहिए जो कि इधर-उधर से प्राप्त किए अन्नादि के कणों का भक्षण करके उड़ जाता है और आगामी दिन के लिए अपने पास किसी भी खाद्य पदार्थ का संग्रह करके नहीं रखता। अभिप्राय यह कि निरपेक्ष होकर जैसे पक्षी विचरता है, उसी प्रकार साधु को संसार में विचरना चाहिए तथा रात्रि के समय जैसे पक्षी मात्र अपने परों को संभालकर किसी प्रकार की आशा को न रखता हुआ एक स्थान पर निश्चित होकर बैठ जाता है, उसी प्रकार साधु भी रात्रि मे अपने सूखे भिक्षापात्रों को लेकर तथा फिर आहार करने की आशा को छोड़कर निरपेक्ष भाव से एकान्त स्थान मे बैठ कर अपने संयम का पालन करे। अपनी आत्मा को धर्म-ध्यान मे स्थापित करे और आहार आदि की चिन्ता मे निमग्न न रह कर रात्रि व्यतीत करे।

'संनिधि' उसे कहते है जिसके द्वारा यह आत्मा नरक आदि जघन्य गतियों में अपने आपको ले जाती है, इसलिए साधु को चतुर्विध आहार में से किसी आहार का भी संग्रह करके रात्रि को रखना नही चाहिए।

यहा पर इस बात का भी ध्यान रखना है कि उक्त गाथा में आए हुए 'पक्षी' के आगे लुप्त 'इव' शब्द का निर्देश है, जिसका 'अर्थ' पक्षी इव अर्थात् पक्षी की तरह किया जाता है।

अब फिर इसी विषय का विवेचन करते हैं—

एसणासमिओ लज्जू गामे अणियओ चरे ।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं पिण्डवायं गवेसए ॥ १७ ॥

एषणासमितो लज्जावान् ग्रामेऽनियतश्चरेत् ।
अप्रमत्तः प्रमत्तेभ्यः, पिण्डपातं गवेषयेत् ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः—**एसणासमिओ**—एषणा समिति से युक्त, **लज्जू**—लज्जायुक्त, संयमशील, **गामे**—ग्राम में, **अणियओ**—अनियत, प्रतिबन्ध रहित होकर, **चरे**—विचरे, **अप्पमत्तो**—प्रमाद से रहित होकर, **पमत्तेहिं**—गृहस्थ लोगों से, **पिंडवायं**—आहारादि की, **गवेसए**—गवेषणा करे।

मूलार्थ—संयमशील भिक्षु एषणा-समिति से युक्त होकर, अनियत रूप से अर्थात् प्रतिबन्ध-रहित होकर ग्रामादि में विचरे और प्रमाद-रहित होता हुआ गृहस्थ लोगों से आहार अर्थात् भिक्षा आदि की गवेषणा करे।

टीका—शुद्ध संयम के पालने वाला भिक्षु एषणा-समिति से युक्त होकर ग्राम व नगरादि में

प्रतिबन्ध-रहित होकर विहार करे तथा स्वयं प्रमाद का परित्याग करके प्रमादयुक्तों—गृहस्थों के घरों से विधि-पूर्वक निर्दोष आहार की गवेषणा करता हुआ भिक्षा ग्रहण करे। यद्यपि यहां पर केवल एषणा-समिति का ही उल्लेख किया गया है, तथापि इसको ईर्या-समिति और भाषा-समिति आदि का भी ज्ञापक समझ लेना चाहिए। एषणा-समिति से तात्पर्य है ४२ प्रकार के जो भिक्षा के दोष हैं उनको हटा कर भिक्षा ग्रहण करना। प्रमाद-रहित होकर विचरते हुए साधु के लिए प्रमादशील गृहस्थों के घरों से शुद्ध और निर्दोष आहार की गवेषणा करने का जो विधान शास्त्रकारों ने किया है उसका अभिप्राय यह है कि गृहस्थ लोग प्रायः प्रमादी होते है, उनके बार-बार के संसर्ग से साधु भी कहीं प्रमाद के वशीभूत न हो जाए। वह तो सदा अप्रमत्त रहकर अपने साधु-धर्मोचित आचार के अनुष्ठान में यथाशक्ति सतत यत्न करता रहे, ताकि उसके संयम में किसी प्रकार का दोष न लगने पाए, क्योंकि प्रमाद ही सारे दुखों की प्राप्ति का मूल हेतु है।

यद्यपि निद्रा, विकथा, मद्य, विषय और कषाय ये पांच प्रमाद के भेद बताए गए है, तथापि मुख्यतः प्रमाद का अर्थ है आचरणीय धर्म-कृत्यों को त्याग कर अधर्म-मूलक आचार का सेवन करना, जो सर्वथा त्याज्य है।

ऊपर सामान्य रूप से निर्ग्रन्थ और संयम का स्वरूप बताया गया है, अब निम्नलिखित गाथा में उसकी आदरणीयता का प्रतिपादन किया जाता है—

एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे।
अरहा नायपुत्ते भयवं वेसालिए वियाहिए ॥ १८ ॥
त्ति बेमि ॥

इति खुड्डागनियंठिज्जं छट्ठं अज्झयणं समत्तं ॥ ६ ॥

एवं स उदाहृतवान् अनुत्तरज्ञानी अनुत्तरदर्शी अनुत्तरज्ञानदर्शनधरः।
अर्हन् ज्ञातपुत्रः भगवान् वैशालिको व्याख्यातः ॥ १८ ॥
इति ब्रवीमि ॥

इति क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीयं षष्ठममध्ययनं संपूर्णम् ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—**एवं**—इस प्रकार, **से**—वह, **भयवं**—भगवान ने, **उदाहु**—कहा है जो, **अणुत्तरनाणी**—सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी है, **अणुत्तरदंसी**—प्रधानदर्शी है, **अणुत्तर**—प्रधान, **नाणदंसणधरे**—ज्ञान और दर्शन के धारण करने वाले है, **अरहा**—अरिहंत, **नायपुत्ते**—ज्ञातपुत्र. **वेसालिए**—विस्तीर्ण यश वाले उन्होंने, **वियाहिए**—व्याख्या की है, **त्ति बेमि**—इस प्रकार मै कहता हू।

मूलार्थ—अनुत्तर अर्थात् सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी, अनुत्तरदर्शी एवं अनुत्तर ज्ञान-दर्शन के धारण करने वाले, विशेष यशस्वी ज्ञातपुत्र अरिहन्त भगवान् महावीर ने इस प्रकार कहा है, ऐसा मैं कहता हूं।

टीका—श्री सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी से कहते है कि हे जम्बू! भगवान् ज्ञातपुत्र ने इस प्रकार

से उक्त अध्ययन की व्याख्या की है जो कि मैं तुम्हारे प्रति कह चुका हूं। वे भगवान् सर्वोत्कृष्ट ज्ञान और दर्शन के धारण करने वाले हैं तथा इन्द्रादि देवों के द्वारा पूजे जाने से अर्हन् कहाते हैं और ज्ञातवंशीय महाराज सिद्धार्थ के पुत्र है एवं महारानी त्रिशला के अंग से उत्पन्न होने वाले हैं, अथवा विस्तृत कीर्ति वाले या विस्तारयुक्त शिष्य-समुदाय वाले होने से भी जो वैशालिक कहे जाते है, उन्होंने देव और मनुष्यों की सभा में इस निर्ग्रन्थ नामक अध्ययन का उपर्युक्त रूप में वर्णन किया है।

इस गाथा में भगवान् के गुणों का इसीलिए कथन किया गया है कि निर्ग्रन्थ-धर्म सर्वज्ञ-भाषित मोक्ष का अत्यन्त साधक है, अतएव इसके सम्यग् आराधन से जीव अवश्य ही मोक्ष धाम को प्राप्त कर लेता है।

इसके अतिरिक्त ज्ञान और दर्शन का दूसरी बार प्रयोग करने का भाव यह है कि दर्शन समान्यग्राही है और ज्ञान विशेषावगाही है तथा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म एक साथ क्षय होने से ज्ञान और दर्शन की उपलब्धि भी एक ही समय में उत्पन्न हो जाती है, परन्तु दोनों का उपयोग एक समय में नहीं होता। जिस समय ज्ञान का उपयोग होता है उस समय दर्शन का नहीं और जिस समय दर्शन का उपयोग होता है उस समय ज्ञान का नहीं। अतः एक समय में दो उपयोग नहीं होते। इन दोनों का भेद सिद्ध करने के लिए ही शास्त्रकार ने दोनों का पृथक्-पृथक् दो बार प्रयोग किया है।

ज्ञान के साथ जो 'अनुत्तर' विशेषण दिया है उससे शास्त्रकार को भगवान् के ज्ञान की परिपूर्णता सिद्ध करना अभिप्रेत है, अर्थात् भगवान् का ज्ञान सर्वदेशीय एवं सर्वकालीन है। अतएव उन सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी भगवान् के द्वारा वर्णन किए जाने से निर्ग्रन्थ-धर्म की सर्वश्रेष्ठता किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं रखती। यह निर्ग्रन्थवृत्ति कोई मूढ़वृत्ति नहीं है, किन्तु ज्ञान और चारित्र रूप है। इसके अतिरिक्त ज्ञान और क्रिया इन दोनो के सहयोग से मोक्ष को अगीकार करना और प्रत्येक की स्वतन्त्रहेतुता का निराकरण करना अनेकान्तवाद का समर्थन और एकान्तवाद का युक्ति पुरस्सर खण्डन है।

इस अध्ययन में यह भी स्पष्ट रूप से बता दिया गया है कि ससार में जितने भी दुख है, उन सब का कारण अविद्या है। विद्या-रहित अर्थात् अज्ञानी जीव ही अधिकतया दुखी होते हैं। इनके विपरीत अविद्या की प्राप्ति और सत् क्रिया का अनुष्ठान इस जीव को सर्व दुखों से रहित करने वाला है। श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते है कि हे जम्बू! जैसे मैंने भगवान् से सुना है वैसे ही मैंने तुम्हारे प्रति वर्णन कर दिया है। इसमे मैंने निज बुद्धि से कल्पित कुछ नहीं कहा है। ऐसा मैं कहता हूं।

क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय अध्ययन संपूर्ण

अह एलयं सत्तमं अज्झयणं

अथौरभ्रीयं सप्तममध्ययनम्

छठे अध्ययन में संक्षेप से निर्ग्रन्थ का स्वरूप वर्णन किया गया है, जिसको कि दूसरे शब्दों मे साधु-वृत्ति का नाम दे सकते है, परन्तु साधु-वृत्ति का यथार्थ रूप से तभी संरक्षण हो सकता है जबकि रसों का परित्याग किया जाए, क्योंकि रस-विषयक आसक्ति ही सर्व प्रकार के दुखों का मूल है। रसों के विषय में अधिक मूर्च्छा—अधिक ममत्व रखने वाले जीव ही संसार में विशेष दुख के भागी बनते है, अतएव 'उरभ्रीय' नाम वाले इस सातवे अध्ययन मे पांच दृष्टांतों के द्वारा रसों के कटु परिणामों का वर्णन किया जाता है। यही इस अध्ययन का छठे अध्ययन के साथ परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध है।

अब वक्ष्यमाण पांचों दृष्टान्तों में से प्रथम एलक अर्थात् बकरे के दृष्टान्त का उल्लेख करते हैं—

जहाऽऽएसं समुद्दिस्स, कोइ पोसेज्ज एलयं ।
ओयणं जवसं देज्जा, पोसेज्जा वि सयंगणे ॥ १ ॥

यथाऽऽदेशं समुद्दिश्य, कोऽपि पोषयेदेलकम् ।
ओदनं यवसं दद्यात्, पोषयेदपि स्वकांगणे ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—**जहाऽऽएसं**—किसी मेहमान आदि के, **समुद्दिस्स**—उद्देश्य से, **कोइ**—कोई व्यक्ति, **एलयं**—बकरे को, **पोसेज्ज**—पोषण करे—पाले, **ओयणं**—ओदन—चावल, **जवसं**—जौ-मूंग, उड़द आदि, **देज्जा**—उसको देवे, **सयंगणे**—अपने घर के आंगन मे, **पोसेज्जा**—पोषण करे—पाले, **वि**—सम्भावना के अर्थ में।

मूलार्थ—जैसे कोई पुरुष किसी प्राघुणक अर्थात् मेहमान आदि के निमित्त से अपने घर में बकरे को पालता है और उसको चावल और जौ आदि अच्छे पदार्थ खाने को देता है।

टीका—इस गाथा मे रस-गृद्धि के परिणाम का वर्णन करने के लिए दिए गए वक्ष्यमाण पांच दृष्टातों में से प्रथम बकरे का दृष्टान्त देकर उक्त विषय का समर्थन किया गया है। सूत्रकार कहते है

कि जैसे कोई अनार्य पुरुष किसी प्राघुणक अर्थात् मेहमान के लिए अपने घर में बकरे को पालता है, उसको खूब अच्छा खिलाता-पिलाता है, प्यार करता है और अपनी आंखों के सामने रखता है।

यहां पर इस गाथा में पोषण का दो बार उल्लेख आया है, जिसका तात्पर्य है विशेष रूप से पोषण करना तथा घर के आंगन में कहने से दृष्टि के सामने रखना और अत्यन्त स्नेह से पालन-पोषण करना अभिप्रेत है। यह समग्र दृष्टान्त इस प्रकार है—

किसी ग्राम में किसी निर्दयी अनार्य पुरुष ने अपने एक चिर-परिचित प्रिय मित्र के लिए एक बकरे को लाकर पाला और खाना-दाना खिलाकर पुष्ट कर दिया। जिस प्रकार अपने पुत्र को अच्छे से अच्छा खाना खिलाया जाता है और बड़े लाड़-प्यार से उसको रखा जाता है उसी प्रकार उस बकरे का भी वह बड़ी अच्छी तरह से पालन-पोषण करता था। इसके अतिरिक्त उस घर में एक गाय भी रहा करती थी और उस गाय के एक बछड़ा भी था। जब बछड़े ने उस बकरे के स्नेह-पूर्वक किए जाने वाले पालन-पोषण को देखा और पालन-पोषण से अत्यन्त पुष्ट हुए उसके शरीर को देखा तो वह बछड़ा अपने मन में बड़ी ही चिन्ता करने लगा और उस बकरे की अपेक्षा अपने ऊपर होने वाले अपमान जनक व्यवहार की ओर देखकर उसे बड़ा दुख हुआ। उसने कुछ समय विचार करने के बाद ईर्ष्या में भरकर अपनी माता का दूध पीना बन्द कर दिया और घास खाना भी छोड़ दिया। उसके इस व्यवहार को देखकर उसकी माता ने पूछा कि 'बेटा! तू बहुत दिनों से न तो दूध पीता है और न ही घास खाता है, किन्तु रात-दिन उदास सा होकर खड़ा रहता है, तुम्हारी इस उदासी का कारण क्या है ?

तब उस बछड़े ने अपनी माता से कहा कि 'मैं इस बकरे को देखकर बड़ा दुखी हो रहा हूं। देखो! इस बकरे का कितना अच्छा पालन-पोषण हो रहा है। घर का स्वामी इसे कितना प्यार करता है, इसलिए यह बड़ा ही पुण्यशाली है और मेरे को कोई पूछता तक नहीं, न कभी अच्छा घास ही खाने को मिलता है और न कभी अच्छा जल ही प्राप्त होता है, अतः मै बड़ा मंदभागी हूं।'

यह सुनकर माता बोली कि 'बेटा! तू इसके अच्छे पालन-पोषण को देखकर दुखित न हो। इसके शरीर में पड़े हुए भूषणों को देखकर ईर्ष्या मत कर। इसके साथ जो प्रेम किया जाता है उस पर भी मत भूल। मुझे इसके ये सारे चिन्ह ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे किसी शीघ्र मरने वाले प्राणी के होते है। जब किसी रोगी का रोग औषधियो के द्वारा शान्त करने लायक नहीं रहता, किन्तु असाध्य कोटि तक पहुंच जाता है तब वैद्य लोग उस रोगी के लिए यह आज्ञा कर देते हैं कि यह रोगी जो कुछ भी खाने को मांगे इसको वही खाने को देना चाहिए। सो अब इस बकरे के मृत्यु के दिन निकट आ रहे हैं, तुम स्वयं इस बात का अनुभव कर लेना और देख लेना कि इसकी क्या दशा होती है।'

कुछ दिनों के बाद उसका मित्र उसके घर में आया और उसने अपने मित्र के खान-पान सम्बन्धी सत्कार के निमित्त उस पाले हुए बकरे का वध करके उसके मांस से अपने मित्र को तृप्त किया।

उस बकरे का इस प्रकार से वध हुआ देखकर वह बछड़ा भी जब अधिक भयभीत हुआ तब

उसकी माता ने कहा कि 'पुत्र! तुम क्यों भयभीत हो रहे हो? क्या तुमको मैंने पहले नहीं कहा था कि ये सब चिन्ह इसके मरण के दिखाई दे रहे है। 'जो खाएंगे गटके, वे ही सहेंगे सटके' अर्थात् जिन्होंने अन्याय का खाना है उन्होंने ही भारी दुख उठाना है। हम तो सूखी घास खाते है और उसके बदले में दूध देते हैं तथा कृषि-सम्बन्धी कामों के सम्पादन में पूरी सहायता देते हैं। इसलिए हमें किसी का भय नहीं है। मृत्यु का भय तो उन्हीं को होता है जो अन्याय के द्रव्य से अपना पालन-पोषण करते हैं।''

इस दृष्टान्त से यह सिद्ध होता है कि जो लोग अधर्माचरण मे प्रवृत्त होते हुए रसों में अधिक आसक्ति—अधिक लम्पटता रखते है, वे निस्सन्देह नरकादि गति की अशुभ आयु को बांधते हैं।

अब मूलकार ही इस दृष्टान्त के अवशिष्ट भाग का उल्लेख करते हुए उस बकरे की आगे की दशा का वर्णन करते हैं—

तओ से पुट्ठे परिवूढे, जायमेए महोदरे ।
पीणिए विउले देहे, आएसं परिकंखए ॥ २ ॥

ततः स पुष्टः परिवृढः, जातमेदाः महोदरः ।
प्रीणितो विपुले देहे, आदेशं परिकांक्षति ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—तओ—तदनन्तर, **से**—वह—बकरा, **पुट्ठे**—पुष्ट, **परिवूढे**—समर्थ, **जायमेए**—बढ़ी हुई मेद—चर्बी वाला, **महोदरे**—महान उदर वाला, **पीणिए**—तृप्त, **विउले**—विपुल, **देहे**—देह होने पर, **आएसं**—आदेश को, **परिकंखए**—चाहता है।

मूलार्थ—तदनन्तर अर्थात् भली-भांति पालन-पोषण होने के बाद उस बकरे का शरीर बड़ा पुष्ट और बलवान् हो गया, चर्बी का भी उसके शरीर में पर्याप्त संचय हो गया और उसका उदर भी बढ़ गया। इस प्रकार परितृप्त और विशालकाय होने पर वह मानों आदेश की आकांक्षा करने लगा, अर्थात् जिस मेहमान के लिए उसका पालन पोषण हो रहा था, मानो उसकी प्रतीक्षा करने लगा।

टीका—बड़े प्रेम और सावधानी के साथ पालन-पोषण होने पर उस बकरे के शरीर की दिल दहलाने वाली जो अवस्था हो गई इस गाथा मे उसका निरूपण किया गया है। उसका शरीर मांस आदि की वृद्धि से अत्यन्त पुष्ट हो गया तथा शरीर में रहने वाली दुर्बलता जाती रही, उसके शरीर मे चर्बी की वृद्धि पर्याप्त रूप में उपलब्ध होने लगी। इसी कारण से उसका पेट भी खूब बढ़ गया तथा यथेष्ट आहार के मिलने से वह पूर्णरूप से तृप्त होने लगा। इस प्रकार उसके शरीर और अंग-प्रत्यंगो मे यथेष्ट वृद्धि हो जाने पर विशालकाय यह बकरा उस मेहमान की आकाक्षा कर रहा था जिसके निमित्त उसकी इतनी सेवा हुई थी। यद्यपि उस बकरे की मरने की इच्छा नहीं है और न ही वह इस प्रकार की इच्छा करता है, तथापि अपने स्वामी के आदेशानुसार जिस उद्देश्य से उसका जिस तरह से पालन-पोषण हो रहा है उसका अर्थ यही है कि वह उस मेहमान के रूप में मानो अपने काल की ही प्रतीक्षा कर रहा है। यह भाव गाथा मे प्रयुक्त हुए लुप्त 'इव' शब्द से व्यक्त है, जो कि साक्षात् न

रहने पर भी अपने अर्थ को प्रकाशित कर रहा है। ऐसी जनश्रुति भी है कि अगर कोई परिमाण से अधिक खाता या अधिक काम करता है तो लोग झट कह उठते हैं कि 'इसके मरने के दिन समीप आए हुए हैं।'

प्राघुणिक के आने पर उस बकरे की जो दशा होती है, अब उसका वर्णन करते हैं—

जाव न एइ आएसे, ताव जीवइ से दुही ।
अह पत्तम्मि आएसे, सीसं छेत्तूण भुज्जई ॥ ३ ॥

यावन्नैत्यादेशः, तावज्जीवति स दुःखी ।
अथ प्राप्ते आदेशे, शीर्षं छित्त्वा भुज्यते ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—**जाव**—जब तक, **न**—नही, **एइ**—आता, **आएसे**—आदेश—पाहुना, **ताव**—तब तक, **जीवइ**—जीता है, **से**—वह बकरा, **दुही**—दुखी, **अह**—अथ, **आएसे**—पाहुने के, **पत्तम्मि**—आ जाने पर, **सीसं**—मस्तक को, **छेत्तूण**—छेदन करके, **भुज्जई**—खाया जाता है।

मूलार्थ—जब तक घर में पाहुना अर्थात् मेहमान नहीं आया, तब तक वह बकरा जीता है और मेहमान के आने पर वह दुखी बकरा सिर-छेदन करके खाया जाता है।

टीका—वह बकरा तभी तक आनन्द लूटता और खुशी मनाता है जब तक कि घर में पाहुना नही आता और पाहुने के आते ही उसका वह आर्नन्द एवं खुशी, शोक और दुख के रूप मे बदल जाते हैं। उस समय उसका सिर धड़ से अलग करके उसके मेदयुक्त मांस से उस पाहुने के साथ घर के सभी लोग तृप्त हो जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि रस-गृद्धि का यह अन्तिम परिणाम है। यहां पर इस बात का भी विचार कर लेना चाहिए कि सूत्रकार ने जो बकरे के जीवन-काल में ही उसको दुखी शब्द से निर्दिष्ट किया है, वह भावी दुख को लक्ष्य में रखकर किया है। वर्तमान काल में यद्यपि वह सुखी है तथापि उसका निकट भविष्य दुखपूर्ण होने से उसको दुखी कहा गया है। आगामी दुख का वर्तमान कालीन सुख में उपचार करने से वर्तमान समय के सुख को भी दुखरूप में किसी नय के अनुसार वर्णन किया जा सकता है।

अब उक्त दृष्टान्त का उपनय करके दिखाते हैं—

जहा से खलु उरब्भे, आएसाए समीहिए ।
एवं बाले अहम्मिट्ठे, ईहई नरयाउयं ॥ ४ ॥

यथा स खलूरभ्रः आदेशाय समीहितः ।
एवं बालोऽधर्मिष्ठः, ईहते नरकायुष्कम् ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जिस प्रकार, **से**—वह, **खलु**—निश्चयार्थक है, **उरब्भे**—बकरा, **आएसाए**—मेहमान के लिए रखा हुआ, **समीहिए**—पाहुने अर्थात् मेहमान को चाहता है, **एवं**—इसी

प्रकार, **बाले**—अज्ञानी, **अहम्मिट्ठे**—अधर्म करने वाला, **नरयाउयं**—नरकायु को, **ईहई**—चाहता है।

मूलार्थ—जिस प्रकार प्राघुणक अर्थात् मेहमान के लिए रखा हुआ बकरा मेहमान को चाहता है, उसी प्रकार अधर्म करने वाला अज्ञानी जीव नरक-आयु को चाहता है।

टीका—इस गाथा में अज्ञानी जीव को बकरे से उपमित किया गया है, अर्थात् जिस प्रकार पाहुने के लिए पाला गया वह बकरा पाहुने को चाहता है वैसे ही विवेक-शून्य अधर्मी पुरुष नरकायु को चाहता है।

यहां पर 'ईहई' क्रियापद से 'चाहता' है अर्थ की संगति इस प्रकार से हो सकती है। मनुष्य जिस प्रकार के कर्म मे प्रवृत्त होता है, उसी के अनुरूप उसकी इच्छा बन जाती है। जैसे किसी राजकीय पाठशाला मे पढ़ने वाले अनेक विद्यार्थी अपने-अपने भाव के अनुसार अमुक-अमुक पद के उपासक बनते है—कोई विद्यार्थी तो वकील बनना चाहता है, कोई जज बनने की इच्छा रखता है और कोई डॉक्टर या मास्टर बनने की धुन में है, उसी प्रकार जो जीव जिस योनि के कर्म करते हैं, वे उपचार से उसी योनि के चाहने वाले कहे जाते है। इसलिए मेहमान के परितोष के लिए पलने वाले बकरे और अधर्म करने वाले मूर्ख जीव की क्रमशः मेहमान और नरकायु को चाहने की जो धारणा है वह उपचार नय से उपयुक्त एवं युक्ति-संगत है। जिस प्रकार पाहुने को देखकर वह बकरा दुखी होता है, उसी प्रकार अधर्म का आचरण करने वाला मूर्ख व्यक्ति मृत्यु के निकट आने पर दुखी होता है। इस दृष्टि से इन दोनो की बहुत ही समानता है।

अब अधर्म का आचरण करने वालों के लक्षण कहते हैं—

हिंसे बाले मुसावाई, अद्धाणंमि विलोवए ।
अन्नदत्तहरे तेणे, माई कं नु हरे सढे ॥ ५ ॥

हिंस्रो बालो मृषावादी, अध्वनि विलोपकः ।
अन्यादत्तहरः स्तेनः, मायी कन्नु हरः शठः ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—**हिंसे**—हिसा करने वाला, **बाले**—अज्ञानी, **मुसावाई**—मृषावादी—झूठ बोलने वाला, **अद्धाणंमि**—मार्ग मे, **विलोवए**—लूटने वाला, **अन्नदत्तहरे**—बिना दिए वस्तु के उठाने वाला, **तेणे**—चोर, **माई**—छल करने वाला, **कं**—किसको, **नु**—वितर्क मे, **हरे**—हरूं ऐसा विचार करने वाला, **सढे**—शठ—धूर्त।

मूलार्थ—हिंसा करने वाला, झूठ बोलने वाला, मार्ग में लूटने वाला, बिना दिए किसी की वस्तु को उठाने वाला, चोरी करने वाला, छल-कपट करने वाला और 'किस की चोरी करूं' ऐसा विचार रखने वाला तथा धूर्तता करने वाला ऐसा मूर्ख व्यक्ति नरक की आयु को बांधने वाला होता है, अर्थात् अज्ञानी—मूर्ख व्यक्ति के इस प्रकार जघन्य आचरण उसे नरक में ले जाते हैं।

टीका—इस गाथा मे पूर्वोक्त विषय का ही कुछ विस्तार-सहित वर्णन किया गया है। जो जीव

नरक की आयु को चाहने वाले होते हैं उनके उक्त प्रकार के ही लक्षण अथवा कार्य होते हैं। तात्पर्य यह है कि वे सदैव हिंसा, झूठ, चोरी और लूट-मार आदि नीच कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं एवं सत्य और न्याय-मार्ग का विनाश और असत्यमार्ग का अनुसरण करना ही उनका मुख्य कार्य होता है। दूसरों से दगा करना, उनके धन को हरना और येन-केन उपायेन उनको लूटने का प्रयत्न करना इत्यादि के आचरण को अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझते हैं। इसलिए जब कभी किसी आत्मा के इस प्रकार के दुराचारमय कर्म हों तो समझ लेना चाहिए कि यह जीव केवल दुर्गति का ही मेहमान बन रहा है, क्योंकि स्वर्ग या नरक की गति स्वयं तो किसी को आमंत्रित नहीं करती, किन्तु यह जीव जिस गति के योग्य शुभ अथवा अशुभ कर्मों का आचरण करता है उसी गति की वह आयु बाध लेता है और तदनुसार ही उसे स्वर्ग अथवा नरक गति का पूर्ण आतिथ्य प्राप्त होता है। अतः सिद्ध हुआ कि जो जीव अपनी अज्ञानता से उक्त प्रकार के जघन्य काम करते हैं, उन्हें अवश्य ही नरक में जाना होगा, अथवा यों कहिए कि नरक में जाने वाले जीव ही इस प्रकार के अतिनिन्दनीय कर्म करते हैं।

यहां पर 'अध्वन्' शब्द के दो अर्थ हैं—एक मार्ग और दूसरा धर्म। तब इसका अर्थ हुआ—मार्ग मे लूटने वाला व धर्म का विध्वंस करने वाला।

अब फिर इसी विषय का पुनः प्रतिपादन करते हैं—

इत्थीविसयगिद्धे य, महारंभ-परिग्गहे ।
भुंजमाणे सुरं मंसं, परिवूढे परंदमे ॥ ६ ॥

स्त्री-विषय-गृद्धश्च, महारंभ-परिग्रहः ।
भुञ्जानः सुरां मांसं परिवृढः परंदमः ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—इत्थीविसयगिद्धे—स्त्री के विषय में मूर्च्छित—आसक्त, **महारंभपरिग्गहे**—महान आरम्भ और परिग्रह वाला, **य**—और, **सुरं**—सुरा—**मंसं**—और मांस को, **भुंजमाणे**—खाता हुआ, **परिवूढे**—समर्थ, **परंदमे**—दूसरो का दमन करने वाला।

मूलार्थ—इस प्रकार का अज्ञानी जीव स्त्रियों में आसक्त, महान् आरम्भ और परिग्रह में आसक्त तथा मदिरा-मांस का सेवन करने वाला, बलवान् होकर दूसरों का दमन करने वाला होता है।

टीका—इस गाथा में भी नरक के योग्य प्राणियों के आचरणो का वर्णन किया गया है। नरक—गति में जाने वाले जीव स्त्री-भोग-सम्बन्धी विषय-विकारों मे अधिक मूर्च्छित होते है। उनके मन में काम-भोगादि विषयों की बहुत तीव्र अभिलाषा रहती है। फिर उनकी हिंसा आदि दुष्कर्मों में अधिक प्रवृत्ति रहती है और वे धन आदि के संचय करने में अधिक व्यग्र रहते है। इसके अतिरिक्त उनका भोजन भी सात्विक नहीं होता। वे मद्य और मांस का बिना सकोच व्यवहार करते हैं तथा उनका शारीरिक बल भी दूसरों का दमन करने के लिए ही होता है।

यहां पर इतना और समझ लेना चाहिए कि महारम्भ और महापरिग्रह ये दोनों ही नरक के हेतु

तो है ही, परन्तु मांस और मदिरा का व्यवहार तो विशेष रूप से नरक-गति का कारण है। इसी अभिप्राय से उक्त गाथा में इन दोनों का पृथक्-पृथक् प्रयोग किया गया है। सारांश यह है कि इस प्रकार के दुष्ट कर्म करने वाले अधर्माचरण में प्रवृत्त आत्माओं की वासनाएं सदैव काल विकृत ही रहती हैं। इसीलिए ऐसे जीव नरक गति के योग्य बन जाते हैं और स्वयं अनिष्ट मार्ग का अनुसरण करते हुए दूसरे भोले जीवों को भी उस दुष्ट मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते एवं धर्मात्मा पुरुषों की हंसी उड़ाते हुए अधर्मियों से प्रेम रखते है।

अब इसी विषय पर और कहते हैं—

अयकक्करभोई य, तुंदिल्ले चिय-लोहिए ।
आउयं नरए कंखे, जहाऽऽएसं व एलए ॥ ७ ॥

अजकर्करभोजी च, तुन्दिलः चितलोहितः ।
आयुर्नरके कांक्षति, यथाऽऽदेशमिवैडकः ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—अय—अज—बकरे के, **कक्कर**—कर्कर शब्द करने वाले मांस का, **भोई**—भोजन करने वाला, **तुंदिल्ले**—बड़े पेट वाला, **य**—और, **चियलोहिए**—उपचित हो गया है रुधिर जिसका, **आउयं**—आयु, **नरए**—नरक मे, **कंखे**—चाहता है, **जहा**—जैसे, **आएसं**—आदेश को, **एलए**—बकरा, **व**—उसी तरह वह नरक को चाहता है।

मूलार्थ—जैसे पुष्ट हुआ वह बकरा मानो अतिथि को चाहता है, उसी प्रकार कर्कर करके बकरे के मांस को खाने वाला तथा जिसका पेट रुधिर और मांस के उपचय से बढ़ा हुआ है ऐसा जीव अपना वास नरक में चाहता ही है।

टीका—पिछली गाथा मे महारम्भ और महापरिग्रह के साथ-साथ मास-भक्षण को भी नरक का हेतु बताया गया है। अब उसी विषय को दृढ़ करने के लिए इस गाथा में मांसाहार को स्वतन्त्र रूप से नरक का कारण बताने का प्रयत्न किया गया है। बकरे के स्थूल अंगों का पका हुआ मांस खाते समय कर्र-कर्र या कड़-कड़ का शब्द हुआ करता है। जिस प्रकार चनो को चबाने से मुह में शब्द होता है उसी प्रकार बकरे के मास को चबाने पर भी कर्र-कर्र या कड़-कड़ की आवाज निकलती है, क्योकि उसमे स्थूल अस्थियों का सयोग अधिक होता है, अत. जब वे चबाई जाती है तब उनका चनों की भान्ति शब्द होता है। इस प्रकार बकरे के मांस को खाने वाला और उसके खाने में मास और रुधिर के अधिक उपचय से जिसका उदर बढ़ गया है ऐसा पुष्ट प्राणी मेहमान की प्रतीक्षा करने वाले उस हृष्ट-पुष्ट बकरे की तरह नरक के जीवन की इच्छा करता है।

तात्पर्य यह कि मांस-भोजन के द्वारा अपने शरीर को पुष्ट करने वाला प्राणी नरक-गति का भागी होता है। सो इन तीन (५-६-७) गाथाओं में जीव के नरक योग्य कर्मों का दिग्दर्शन कराया गया है। अज-मास अन्य जाति के सभी जल-चर, थल-चर और नभ-चर जीवों के मांस का उपलक्षण है, यहां उसका ग्रहण केवल प्रधान होने से किया गया है।

अब शास्त्रकार इस लोक-सम्बन्धी पदार्थों के संग्रह और त्याग के निमित्त से होने वाले कष्टों के विषय में कहते हैं—

आसणं सयणं जाणं, वित्तं कामे य भुंजिया ।
दुस्साहडं धणं हिच्चा, बहुं संचिणिया रयं ॥ ८ ॥

आसनं शयनं यानं, वित्तं कामांश्च भुक्त्वा ।
दुःसंहृतं धनं त्यक्त्वा, बहु संचित्य रजः ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—**आसणं**—आसन, **सयणं**—शयन—शय्या, **जाणं**—यान—सवारी आदि, **वित्तं**—धन, **य**—और, **कामे**—काम-भोगों को, **भुंजिया**—भोग करके, **दुस्साहडं**—दुःख से एकत्रित किए गए, **धणं**—धन को, **हिच्चा**—त्याग करके, **बहुं**—बहुत, **रयं**—कर्म-रज, **संचिणिया**—एकत्रित करते हैं।

मूलार्थ—आसन, शय्या, यान, वित्त और काम-भोगों को भोगकर तथा दुख से उपार्जन किए हुए धन का परित्याग और कर्म-रज का संचय करके यह प्राणी अपने कर्मों के अनुसार शुभ-अशुभ योनि को प्राप्त होता है।

टीका—इस आठवी और नवमी गाथा में सांसारिक पदार्थों के भोग और उपभोगों की चर्चा के साथ कष्ट से उपार्जन किए गए धन आदि का अन्त में त्याग करके परलोक में गमन करने तथा अपने जीवन-काल में कर्म-रज का सचय करने का जो उल्लेख किया गया है उसका तात्पर्य यह है कि जिन सांसारिक पदार्थों के सम्बन्ध को यह प्राणी क्षण भर के लिए भी छोड़ना नहीं चाहता, समय आने पर उन सबको छोड़कर वह खाली हाथ इस संसार से चला जाता है, परन्तु कर्मों की रज को एकत्रित करके वह अपने साथ अवश्य ले जाता है तथा अपने अध्यवसाय के अनुसार किए हुए अशुभ कर्मों के द्वारा वह ऊच अथवा नीच गति को प्राप्त हो जाता है। इसलिए शास्त्रकार कहते है कि विषय-लोलुप यह पामर जीव आसन, शयन—पर्यकादि, यान—सवारी आदि और नाना प्रकार के धन—रत्नादि तथा काम-भोगादि विषयों को यथारुचि भोगकर और बड़े कष्टों से उपार्जन किए हुए धन को छोड़कर एवं कर्मरज को एकत्रित करके यह प्राणी अपने किए हुए कर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाली योनियों मे चला जाता है।

इस गाथा मे धन का दो बार प्रयोग किया गया है और साथ ही धन-प्राप्ति को कष्ट-साध्य बताया गया है। इसका प्रयोजन इतना ही है कि सांसारिक पदार्थो में धन का अधिक प्राधान्य है एवं धन-प्राप्ति के जो शिल्पकला आदि उपाय हैं वे भी अत्यन्त परिश्रम से प्राप्त हो सकते हैं। इसलिए धन का एकत्रित करना बहुत ही कष्टसाध्य है तथा सासारिक विषयों की पूर्ति अधिकाश में धन से ही हो सकती है, अतः अन्य सबकी अपेक्षा धन का सम्पादन अधिक दुखों का कारण है।

कर्म-रज को एकत्रित कर लेने के बाद उसका जो परिणाम होता है अब उस विषय को शास्त्रकार स्पष्ट करते हैं—

तओ कम्मगुरू जंतू, पच्चुप्पन्नपरायणे ।
अय व्व आगयाएसे, मरणंतम्मि सोयई ॥ ६ ॥

ततः कर्मगुरुर्जन्तुः, प्रत्युत्पन्नपरायणः ।
अज इवागत आदेशे, मरणान्ते शोचति ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—**तओ**—तदनन्तर, **कम्मगुरू**—कर्मो से भारी, **जंतू**—जीव, **पच्चुप्पन्न**—वर्तमान मे, **परायणे**—तत्पर, **अय व्व**—बकरे की तरह, **आगयाएसे**—मेहमान के आने पर, **मरणंतम्मि**—मृत्यु के समीप आने पर, **सोयई**—सोच करता है।

मूलार्थ—इसके अनन्तर कर्म-मल से भारी हुआ यह जीव वर्तमान काल के सुखों में लीन जैसे बकरा प्राघुणक अर्थात् मेहमान के आने पर शोक करता है वैसे ही मृत्यु के समीप आने पर वह सोच करता है।

टीका—कर्म-मल के सचय से भारी होने वाला आत्मा वर्तमान काल के सुखों में निमग्न होकर अपने वास्तविक कर्त्तव्य को बिल्कुल ही भूल जाता है, परन्तु मृत्यु के समीप आने पर उसकी वही दशा होती है जो प्राघुणक (अतिथि-मेहमान) के आने पर उस हृष्ट-पुष्ट बकरे की होती है, अर्थात् रस-गृद्धि मे मग्न हुआ वह बकरा जिस प्रकार अपने दुखपूर्ण भविष्य का बिल्कुल चिन्तन नहीं करता और अतिथि के आने पर उसका वह सारा हर्ष शोक के रूप में बदल जाता है ठीक इसी प्रकार से काम-भोगासक्त प्राणी को भी मृत्यु के उपस्थित होने पर ही अपने अनुचित कामो का भान होता है, परन्तु उस समय उसका पश्चात्ताप बिल्कुल व्यर्थ होता है। इसलिए बुद्धिमान् जनो को पहले से ही सावधान रहने की आवश्यकता है।

इस विषय के अतिरिक्त इस गाथा में नास्तिकता के विचारो की भी ध्वनि निकलती है, अर्थात् जिस प्रकार नास्तिक लोग पुण्य और पाप के फल का विचार न करते हुए केवल ऐहिक विषय-भोगो को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य मानकर उनमें निमग्न रहने का प्रयत्न करते है, उसी प्रकार कर्म-मल से भारी होने वाला आत्मा भी ऐहिक विषय-भोगो में आसक्त रहते हुए मृत्यु के समीप आने पर ही पश्चात्ताप करता है। आत्मा को अधोगति मे ले जाने वाले नास्तिकता के विचारों का अनुसरण करने वाले व्यक्तियो के परलोक तथा पुण्य-पाप के सम्बन्ध मे जो विचार है वे सार-शून्य होने पर भी बड़े स्पष्ट है, उनका कहना है—

'एतावानेव लोकोऽयं, यावानिन्द्रियगोचरः ।
भद्रे! वृकपदं पश्य, यद्वदन्ति बहुश्रुताः ॥'

अर्थात् जो कुछ इन इन्द्रियों से देखा सुना जाता है बस इतना ही यह लोक है, इसके बिना और

कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त परलोक तथा पुण्य-पाप आदि की जो कल्पना पंडित लोग करते है वह एक डरावा-मात्र है। वास्तव में इस लोक के सिवाय अन्य कोई स्वर्ग-नरक आदि लोक नहीं हैं। इससे प्रतीत होता है कि नास्तिकों के मत में परलोक कोई वस्तु नहीं और पुण्य-पाप तथा उनके फल भोगने के स्थान स्वर्ग-नरक आदि भी कुछ नहीं एवं जन्मान्तरवाद भी उनको स्वीकार्य नही है। इसी कारण से इन नास्तिकों को 'प्रत्युत्पन्न-परायण' कहा जाता है, अर्थात् वर्तमान कालीन विषय-भोगो में तत्पर रहना ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। परन्तु जब मृत्यु का समय निकट आता है तब वे अपने इन विचारो पर पश्चात्ताप करते है और खिन्नचित्त होकर शोक के अगाध समुद्र में डूबने लगते है, क्योंकि अब उन्हें परलोक की यात्रा करनी है और उस यात्रा में जिस पुण्य रूप पाथेय की नितान्त आवश्यकता है वह तो उनके पास है नहीं जिससे कि वे अपनी यात्रा में कुछ सहायता प्राप्त कर सकें, इसलिए उस समय उनको जो खेद होता है वह उनके इस प्रकार के विचारों के ही अनुरूप फल समझना चाहिए।

इस गाथा मे '**आगयाएसे—आगते आदेशे**' मे जो 'आगया' शब्द का पूर्व में निपात किया गया है वह आर्ष होने के कारण समझना चाहिए।

अब उस जीव की भावी गति के विषय में कहते हैं—

तओ आउपरिक्खीणे, चुया देहा विहिंसगा ।
आसुरियं दिसं बाला, गच्छन्ति अवसा तमं ॥ १० ॥

तत आयुः परिक्षीणे, च्युतदेहा विहिंसकाः ।
आसुरिकां दिशं बालाः, गच्छन्ति अवशाः तमः ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—**तओ**—तदनन्तर, **आउ**—आयु के, **परिक्खीणे**—परिक्षय होने पर, **देहा**—शरीर के, **चुया**—छूटने पर, **आसुरीयं**—रौद्र कर्म करने वाले नरक, **दिसं**—दिशा को जो, **तमं**—अन्धकार युक्त है, **अवसा**—कर्मो के वश होकर, **गच्छंति**—चले जाते है, **बाला**—अज्ञानी, **विहिंसगा**—जो नाना प्रकार की हिसा करने वाले है।

मूलार्थ—इसके अनन्तर वे हिंसा आदि में प्रवृत्ति रखने वाले बाल—अज्ञानी जीव आयु के क्षय होने पर शरीर को छोड़कर कर्मों के अधीन होते हुए अन्धकार-युक्त आसुरी दिशा अर्थात् नरक-गति को प्राप्त होते हैं।

टीका—हिसा आदि क्रूर कर्मों में प्रवृत्त होने वाले वे अज्ञानी जीव आयु का क्षय होने पर शरीर को छोड़ने के अनन्तर अन्धकार-युक्त आसुरी दिशा को प्राप्त होते है। गाथा के इस अभिप्राय के अनुसार वह आसुरी दिशा नरक गति ही है, क्योकि रौद्र कर्मो के अनुष्ठान से जिस गति की प्राप्ति होती है उस गति को आसुरी दिशा कहा जाता है। हिसा आदि रौद्र कर्मो का आचरण करने वाले प्राणी कर्मो के आधीन होकर नरक गति को प्राप्त होते है।

इस प्रकार बकरे के दृष्टान्त का उल्लेख करने के बाद अब शास्त्रकार काकिणी और आम्रफल के दृष्टान्त का निरूपण करते हैं। यथा—

जहा कागिणिए हेउं, सहस्सं हारए नरो ।
अपत्थं अम्बगं भोच्चा, राया रज्जं तु हारए ॥ ११ ॥

यथा काकिण्या हेतोः, सहस्रं हारयेन्नरः ।
अपथ्यमाम्रकं भुक्त्वा, राजा राज्यं तु हारयेत् ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैसे, **कागिणिए**—काकिणी के, **हेउं**—हेतु, **सहस्सं**—हजार मोहरों को, **नरो**—पुरुष, **हारए**—हार देता है, **अपत्थ**—कुपथ्य, **अंबगं**—आम्र फल को, **भोच्चा**—खा करके, **राया**—राजा, **रज्जं**—राज्य को, **हारए**—हार देता है, **तु**—वितर्क अर्थ मे है।

मूलार्थ—जैसे काकिणी के लिए कोई अज्ञानी पुरुष हजार मोहरों को हार देता है और कुपथ्य रूप आम्र के फल को खाकर राजा राज्य को हार देता है (इसी प्रकार अज्ञानी जीव संसार के थोड़े से विषय-जन्य सुखों के निमित्त देव-लोक के महान् सुखो को खो देता है)।

टीका—इस गाथा मे दो दृष्टान्तो का वर्णन किया गया है—एक काकिणी का, दूसरा आम्र फल का। इसमें प्रथम काकिणी का दृष्टान्त इस प्रकार है (काकिणी एक रुपए के ८०वें भाग का नाम* है)—

किसी वणिक् को व्यापार मे एक हजार मोहरो की प्राप्ति हुई। उसने उन मोहरो को एक वासणी मे डालकर अपनी कमर मे बाध लिया और अपने मित्रों के साथ अपने नगर के प्रति चलने को तैयार हो गया। रास्ते मे खर्च करने के लिए उसने एक रुपए की ८० काकिणी (दमड़िया) खरीद ली और रास्ते मे खर्च करता रहा। इसी प्रकार बहुत-सा मार्ग समाप्त कर लेने पर उसने ७९ काकिणी खर्च कर दी और एक काकिणी जो उसके पास बच रही थी उसे वह कही पर रखकर भूल गया।

थोड़ी दूर और आगे जाने पर उसको उस भूली हुई काकिणी का स्मरण आ गया, तब वह मन मे विचार करने लगा कि और दूसरा रुपया भुजाना पड़े इसकी अपेक्षा तो जहा काकिणी खो गई है, उसी स्थान पर चल कर उस खोई हुई काकिणी को ढूढ कर लाना ही ठीक होगा। इस प्रकार विचार करने के बाद उसने अपने साथियो के समक्ष जाकर काकिणी ढूंढ लेने के विचार को प्रकट किया।

साथियो ने उसको ऐसा करने से बहुत मना किया, परन्तु वह न माना। तब साथियो को छोड़कर वह काकिणी लाने के लिए वापस चल पड़ा।

रास्ते मे उसने विचारा कि मै अकेला हू और मोहरे मेरे पास है, अत· इन मोहरो की वासणी को किसी एकान्त प्रदेश मे वालू मे दबाकर काकिणी को वहां से उठाकर वापस आता हुआ इस वासणी

★ काकिणी रूप्यकाशीतितमो भाग , इति वृत्तिकार ।

को निकाल कर ले जाऊंगा। इस प्रकार विचार करने के अनन्तर उसने किसी निर्जन प्रदेश में जाकर बालुका में उस वासणी को दबा दिया और काकिणी लेने के लिए प्रस्थान कर दिया, परन्तु दैववशात् उस काकिणी को वहां से किसी और मनुष्य ने उठा लिया। जब वह वहां पर पहुचा तो उसको वह काकिणी नहीं मिली। वह सोच-विचार करता हुआ जब वापस वासणी निकालने के लिए आया तो वहां पर उसे वह भी न मिली, क्योकि उसके चले जाने पर किसी तस्कर ने उसे भी निकाल लिया था।

जब इस प्रकार काकिणी और मोहरो की वासणी ये दोनों ही उसके हाथ से चली गईं तो वह घर मे आकर अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप करता हुआ अत्यन्त दुखी हुआ और एक दमड़ी के लिए हजार मोहरों को खो देने की अपनी मूढ़ प्रवृत्ति पर उसे बहुत ही खेद और पश्चात्ताप होने लगा।

इसी अभिप्राय से सूत्रकार कहते है कि जिस प्रकार एक तुच्छ काकिणी के बदले उस मूर्ख वणिक् ने एक हजार मोहरों को खो दिया इसी प्रकार यह अज्ञानी जीव भी इन तुच्छ विषय-सुखो के निमित्त इस अमूल्य मनुष्य-जन्म को खो रहा है।

दूसरे आम्र-फल का दृष्टान्त इस प्रकार है—किसी राजा को अधिक आमों के खाने से बड़ा ही भयकर रोग उत्पन्न हो गया। वैद्यों ने बड़े परिश्रम से उसको शान्त किया और राजा से निवेदन किया कि अब आगे को आप आम्र-फल का कभी भक्षण न करें। यदि करेगे तो फिर भयानक रोग के उत्पन्न हो जाने की सभावना है और सम्भव है कि फिर उसकी चिकित्सा भी न हो सके, इसलिए आप भविष्य मे कभी आम्र-फल का सेवन न करे। राजा ने वैद्यों की इस हित-शिक्षा को भली-भांति सुना और उसके अनुकूल यहा तक आचरण किया कि अपने देश से आमों के सारे वृक्ष ही कटवाकर फिकवा दिए।

कुछ समय के बाद एक दिन वह राजा घोड़े पर सवार होकर किसी सुदूर प्रदेश के एक जंगल मे जा निकला। वहां पर उसने आम्र-फलो से लदे हुए एक सुन्दर आम के वृक्ष को देखा। उस समय बादल गरज रहा था और थोड़ी-थोड़ी बूंदे पड़ रही थीं। राजा उस वृक्ष को छाया-संयुक्त देखकर घोड़े से उतरकर उसके नीचे विश्राम के लिए बैठ गया। इतने में अकस्मात् एक बड़ा सुन्दर आम का फल वायु के वेग से टूटकर नीचे भूमि मे राजा के पास आ गिरा। राजा उस आम को देखकर बड़े विस्मय को प्राप्त हुआ। उस फल को अपने हाथ में उठाकर वह बार-बार देखने लगा और देखते ही उसका मन एकदम ललचा उठा। साथ में रहने वाले मंत्री आदि के द्वारा रोकने पर भी हठात् उसने उस आम्र फल को खा लिया। बस, खाने की देर थी कि वह फिर उसी पूर्व के रोग से ग्रसा गया और रोग का इतना भयकर आक्रमण हुआ कि लाखों प्रयत्न करने पर भी वह उस रोग से मुक्त न हो सका और अन्त में मृत्यु की गोद में ही समा गया।

इसी भाव को शास्त्रकार कहते है कि जिस प्रकार आम्र फल को मृत्यु का कारण जानते हुए भी उस राजा ने उस फल के भक्षण का त्याग नही किया, किन्तु रसनेन्द्रिय के वशीभूत होकर अपने जीवन

को खो डाला इसी प्रकार विषयी पामर जीव भी रस-विषयिणी आसक्ति के कारण इन तुच्छाति-तुच्छ सासारिक विषयो में पड़कर अपने अमूल्य जीवन को व्यर्थ में खो रहे है।

अब इस दृष्टान्त की योजना करते हैं—

एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अन्तिए ।
सहस्सगुणिया भुज्जो, आउं कामा य दिव्विया ॥ १२ ॥

एवं मानुष्यकाः कामाः, देव-कामानामन्तिके ।
सहस्रगुणिता भूयः, आयुः कामाश्च दिव्यकाः ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—**एवं**—इस प्रकार, **माणुस्सगा**—मनुष्य के, **कामा**—काम-भोग, **देवकामाण**—देवो के काम-भोगो के, **अन्तिए**—समीप, **भुज्जो**—बहुत, **सहस्सगुणिया**—हजार गुणा करके, **आउं**—आयु, **य**—और, **कामा**—काम-भोग, **दिव्विया**—देवलोक-सम्बन्धी (तो भी पार नहीं पा सकते)।

मूलार्थ—इस प्रकार मनुष्यों के काम-भोग देवों के काम-भोगो के सामने सहस्रगुणा अधिक करने पर भी न्यून ही हैं क्योंकि देवों की आयु पल्योपम और सागरोपम की है एवं उनके काम-भोग भी दिव्य हैं।

टीका—पूर्व गाथा मे वर्णित काकिणी और आम्र फल के समान तो मनुष्यों के काम-भोग हैं और उनकी अपेक्षा कई सहस्र गुणा अधिक और दिव्य रूप होने से देवो के काम-भोग मोहरो और राज्य के समान हैं, इसलिए दोनो में बड़ा भारी अन्तर है। देवो के भोग-विलासों और आयु के सामने मनुष्यो के भोग-विलास इतने तुच्छ है तथा आयु भी इतनी स्वल्प है कि उसके लिए संसार मे कोई उदाहरण मिलना कठिन है। बहुत थोड़े अशों मे राई और हिमालय पर्वत का दृष्टान्त इनकी लघुता और महत्ता के सम्बन्ध मे दिया जा सकता है।

यद्यपि सर्वोपरि सुख तो मोक्ष-सुख है और वह निरतिशय तथा अनन्त है, उसके समक्ष तो देवलोक के सुख भी कुछ मूल्य नही रखते, परन्तु उस सुख का अनुभव तो अध्यात्मवाद की सर्वोच्च दशा पर पहुंचने वाले किसी-किसी समाधि-निष्ठ महामना महात्मा व्यक्ति मे ही दृष्टिगोचर हो सकता है, इसलिए केवल मनुष्य लोक के विषय-भोगो मे फंसे हुए जीवो के अधिकार को लेकर यहा पर उस मोक्ष-सुख का उल्लेख नही किया गया, किन्तु विषय-लोलुपी जीवों को शास्त्रकार उपालम्भ देते हुए कहते है कि—देखो, ये जीव कितने विवेक-शून्य और मूढ़ है जो कि एक दमड़ी के समान विषय-भोगो के बदले मे मोहरो जैसे मानव-जीवन को खो रहे है तथा एक तुच्छ आम्र फल के रसास्वादन के समान विषय-लालसा के बदले मे अपने जीवन-साम्राज्य को नष्ट कर रहे है, इसलिए विवेकी जनो को इन लौकिक विषयो की ओर कभी ध्यान नही देना चाहिए।

अब शास्त्रकार इस काकिणी और आम्रफल के दृष्टान्त से भव्य जीवों को प्रतिबोध देते हुए साथ में देवों और मनुष्यों की आयु का भी वर्णन करते हैं—

अणेगवासानउया, जा सा पण्णवओ ठिई ।
जाणि जीयन्ति दुम्मेहा, ऊणे वाससयाउए ॥ १३ ॥

अनेकवर्षनयुतानि, या सा प्रज्ञावतः स्थितिः ।
यानि जीयन्ते दुर्मेधसः, ऊने वर्षशतायुषि ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—**अणेग**—अनेक, **वासा**—वर्ष, **नउया**—नयुत, **जा**—जो, **सा**—वह, **पण्णवओ**—प्रज्ञावान् की, **ठिई**—स्थिति है, **जाणि**—जिसको, **दुम्मेहा**—दुर्बुद्धि, **जीयंति**—हारते हैं, **ऊणे**—न्यून, **वाससय**—सौ वर्ष की, **आउए**—आयु में।

मूलार्थ—प्रज्ञावान् की देवलोक में जो अनेक नयुत-वर्षों की अथवा पल्योपम व सागरोपम की स्थिति है उसको दुर्बुद्धि मूर्ख जीव कुछ कम सौ वर्ष की आयु में विषय-भोगों के वशीभूत होकर हार देते हैं—उससे वञ्चित रह जाते हैं।

टीका—इस गाथा मे आए हुए 'अनेक वर्ष नयुत' शब्द का पल्योपम और सागरोपम अर्थ है। जो जन प्रज्ञावान् अर्थात् ज्ञान और क्रिया से युक्त हैं उनकी देवलोकों में पल्योपम या सागरोपम की स्थिति होती है। 'नयुत' शब्द से वर्षो का प्रमाण इस प्रकार माना गया है—

चौरासी लाख वर्षो का एक पूर्वाग होता है। उसको चौरासी लाख से गुणा करने पर एक पूर्व बनता है। फिर उस पूर्व को चौरासी लाख से गुणा करने पर एक नयुताग होता है और नयुतांग को चौरासी लाख से गुणा करने पर एक 'नयुत' होता है। प्रज्ञावान् जीवों की ऐसे असख्यात् नयुत युगो तक देवलोक मे स्थिति रहती है, अर्थात् जो जीव सासारिक विषय-भोगों का परित्याग करके सम्यक् ज्ञान-पूर्वक चारित्र का आराधन करते हैं उनको देवलोक के सुखो की असंख्यात नयुत युगों तक प्राप्ति बनी रहती है। इसलिए जो बाल जीव कुछ न्यून सौ वर्ष की आयु में विषय-भोगो में पड़कर देवलोक के सुखो को हार देते है अर्थात् स्वर्ग प्राप्ति या देवलोक की प्राप्ति के योग्य सुकृत कर्मो का त्याग करके केवल सासारिक विषय-भोगो में फसे रहकर अपने स्वल्प जीवन को पूरा कर देते है, वे मानो काकिणी के बदले मोहरो अथवा आम्र फल के बदले में जीवन ही नही, अपना सर्वस्व व्यर्थ ही खो देते है। इसीलिए वे दुर्बुद्धि या परम मूढ़ कहे जाते है। अत्यन्त दीर्घकाल तक स्थिर रहने वाले देवलोक के सुखो को तो वे ही साधक प्राप्त कर सकते हैं जो सांसारिक विषय-भोगो की ओर से सर्वथा उपराम होकर अपने इस स्वल्पतर जीवन मे संयम की आराधना के द्वारा अपने को देवगति के योग्य बना लेते है। अन्यथा अधोगति के योग्य कर्मो का उपार्जन करने वाला दुर्बुद्धि तो देवगति के बदले नरक-गति के ही साधनों का सग्रह करके अपने देव-दुर्लभ मनुष्य-जन्म को हार देता है—व्यर्थ खो देता है, यही उसका काकिणी के बदले मोहरो और आम्र फल के बदले राज्य का हारना है।

यद्यपि शास्त्रो मे पूर्वो की आयु का भी उल्लेख देखने में आता है, तथापि कुछ कम सौ वर्ष की आयु के उल्लेख का यह अभिप्राय है कि यदि यह जीव सौ वर्ष की आयु में उक्त देवलोको की स्थिति

को हार गया तो फिर उसको वैसा समय दुर्लभ है। यह मानवीय सौ वर्ष की आयु बहुत स्वल्प है, अतः इसमें हारे हुए जीव को फिर समय मिलना अत्यन्त कठिन है।

अथवा कुछ कम सौ वर्ष की आयु का वर्णन भगवान् महावीर स्वामी के समय को लेकर किया गया समझना चाहिए, क्योंकि उनकी आयु सौ वर्ष से कम थी। अत. इस देव-दुर्लभ मानव-जन्म मे विषय-जन्य सुखों को काकिणी और आम्र फल के समान तुच्छ जानकर उसके बदले देवलोको की परम स्थिति को बुद्धिमान् पुरुष कभी न हारे।

'वासा' वर्ष शब्द मे सकार को जो दीर्घ हुआ है, वह प्राकृत के नियम के आधार पर हुआ है।

अब चौथा दृष्टान्त लाभालाभ-सम्बन्धी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर तीन व्यापारियों का दिया जाता है—

जहा य तिन्नि वाणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया ।
एगोऽत्थ लहई लाहं, एगो मूलेण आगओ ॥ १४ ॥
एगो मूलंपि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ ।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह ॥ १५ ॥

यथा च त्रयो वणिजः, मूलं गृहीत्वा निर्गताः ।
एकोऽत्र लभते लाभं, एको मूलेनागतः ॥ १४ ॥
एको मूलमपि हारयित्वा, आगतस्तत्र वणिक् ।
व्यवहारे उपमैषा, एवं धर्मे विजानीत ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैसे, **तिन्नि**—तीन, **वाणिया**—व्यापारी लोग, **मूलं**—मूल धन अर्थात् मूल पूजी को, **घेत्तूण**—ले करके, **निग्गया**—परदेश को गए, **अत्थ**—उनमें से, **एगो**—एक, **लाहं**—लाभ को, **लहई**—प्राप्त करता है और, **एगो**—एक, **मूलेण**—मूल धन लेकर, **आगओ**—आ गया, **य**—समुच्चयार्थक है, **एगो**—एक, **वाणिओ**—वणिक्, व्यापारी, **तत्थ**—उनमे से, **मूलंपि**—मूल धन को भी, **हारित्ता**—हार करके, **आगओ**—आ गया, **ववहारे**—व्यवहार मे, **एसा**—यह, **उवमा**—उपमा है, **एव**—इसी प्रकार, **धम्मे**—धर्म के विषय मे, **वियाणह**—जानना चाहिए।

मूलार्थ—किसी समय तीन व्यापारी अपनी-अपनी मूल पूंजी को लेकर व्यापार के निमित्त विदेश मे गए। उन तीनों में से एक को तो व्यापार में लाभ हुआ, दूसरा अपनी मूल पूंजी को स्थिर रखता हुआ घर को आ गया और तीसरा मूल धन को भी खो करके घर में लौट आया। यह जैसे व्यावहारिक उपमा है, उसी प्रकार धर्म के विषय में भी समझना चाहिए।

टीका—इस गाथा मे तीन व्यापारी पुरुषों के दृष्टान्त से एक गम्भीर तत्त्व को बड़ी ही सरलता से सूत्रकार ने समझाने का प्रयास किया है। मूल धन को लेकर व्यापार के निमित्त विदेश मे जाने वाले

तीनों व्यक्तियों में से मूल धन में वृद्धि करने, मूल धन को सुरक्षित रखने और मूल धन का विनाश करने वाले तीनों व्यक्ति क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम कहे जाते हैं।

जैसे उन तीनों व्यापारियों में से एक ने तो अपने बुद्धि-बल से उस मूल धन को इस रीति से व्यापार मे लगाया कि उससे उसको द्विगुण लाभ हुआ और वह अपने मूल धन को बढ़ा करके आनन्द पूर्वक घर को लौटा।

दूसरे व्यक्ति ने अपने मूल धन को सुरक्षित रख कर उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आने दी, परन्तु वह उस मूल धन में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं कर सका, अतः केवल मात्र अपने मूल धन को ही लेकर घर में लौट आया।

इनमे जो तीसरा व्यक्ति था उसको विदेश में जाते ही ऐसे पुरुषों की संगति मिली कि जिसके कारण वह जूआ, मांस, मदिरा और वेश्या आदि नाना प्रकार के दुर्व्यसनों में पड़कर वृद्धि करने के स्थान मे अपने मूल धन को भी सर्वथा खो बैठा।

इनमे पहला पुरुष तो नि.सन्देह प्रशसा का पात्र होने से उत्तम कहा जाता है। दूसरा व्यक्ति जिसने कि उस मूल धन में किसी प्रकार की कमी नहीं आने दी, किन्तु उसे सुरक्षित ही रखा, वह किसी प्रकार की प्रशंसा अथवा तिरस्कार का पात्र न होने से मध्यम-कोटि मे गिना जाता है और और तीसरा व्यक्ति जिसने कि व्यसनो में पड़कर अपने सारे मूल धन को खो दिया है वह तिरस्कार का पात्र होने से अवश्य ही अधम-कोटि मे आता है।

यह एक व्यावहारिक दृष्टान्त है, जैसे व्यवहार मे मूल पूंजी में वृद्धि करना, मूल पूजी को सुरक्षित रखना और मूल पूजी को खो देना, ये उत्तम, मध्यम और अधम-कोटि के तीन रूप है, इसी प्रकार धर्म के विषय मे भी मूल धन को लेकर उसके तीन रूपों का वर्णन किया गया है। यद्यपि निश्चयनय के अनुसार लाभ-हानि के विषय में अन्तराय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम को ही प्रधानता है, अर्थात् उसी के अनुसार मनुष्य को लाभ अथवा हानि की प्राप्ति होती है, तथापि यहा पर व्यवहार कोटि को लेकर ही लाभालाभ का वर्णन किया गया है।

अब धर्म के विषय में इस उपमा को घटाते हुए शास्त्रकार जिस प्रकार लिखते हैं, उसको दर्शाया जाता है—

माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे ।
मूलच्छेएण जीवाणं, नरग-तिरिक्खत्तणं धुवं ॥ १६ ॥

मानुषत्वं भवेन्मूलं, लाभो देवगतिर्भवेत् ।
मूलच्छेदेन जीवानां नरक-तिर्यक्त्वं ध्रुवम् ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—माणुसत्तं—मनुष्यत्व, **भवे**—है, **मूलं**—मूल धन, **लाभो**—लाभ रूप, **देवगई**—देवगति, **भवे**—है, **मूलच्छेएण**—मूल के नाश करने से, **जीवाणं**—जीवों को, **नरग**—नारकीयपना और, **तिरिक्खत्तणं**—तिर्यक्पना, **धुवं**—निश्चय ही होता है।

मूलार्थ—मनुष्यत्व यह मूल धन है और लाभ के समान देवत्व की प्राप्ति है, अतः मूल का नाश करने वाले जीवों को नरकगति और तिर्यञ्चगति की ही प्राप्ति होती है।

टीका—जीवों का मूल धन—मूल पूंजी मनुष्यत्व है। इसी से स्वर्ग और मोक्ष की उपलब्धि होती है। यदि किसी जीव ने अपने विशेष पुरुषार्थ से देव-भव को प्राप्त कर लिया, तब तो समझिए कि उसे मनुष्य-गति के भोगो की अपेक्षा कई सहस्र गुणा अधिक स्थायी और दिव्य स्वर्गीय काम-भोगों की प्राप्ति का लाभ हो गया और यदि उसने मानव-जीवन केवल ऐहिक विषय-भोगो में लगाकर मूल धन रूप मनुष्य जन्म को खो दिया तो उसे निश्चय ही नरकगति और पशु आदि की योनि में जाना पड़ेगा।

इस सारे विवेचन का साराश यह है कि इस संसार मे मुख्यतः तीन प्रकार के जीव है—

(१) जो मार्दवादि गुणों से युक्त है, वे मनुष्य योनि के कर्मो का उपार्जन करते है।

(२) जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र से युक्त हैं वे सराग-संयम अथवा सयमासंयम के अनुष्ठान द्वारा देव-योनि के दिव्य सुखो का सग्रह करते है।

(३) जो पाच प्रकार के आश्रवो अर्थात् पाप-मार्गो का अनुसरण करते हुए अधिकांश अधर्म मे ही प्रवृत्त रहते है वे नरक और तिर्यग्योनि के ही दुखो का सग्रह करने वाले है।

इन तीनों के अतिरिक्त चौथे प्रकार के वे महापुरुष है कि जो अतिचार-रहित संयम के सम्यग् अनुष्ठान के द्वारा कर्म-मल से सर्वथा रहित होकर परम सुख और परम कल्याण रूप मोक्ष को प्राप्त करते है। वस्तुत. इन समस्त ऊची-नीची गतियो का मूल आधार मनुष्यत्व अथवा मनुष्य गति ही है। इस मनुष्यत्व रूप मूल धन की वृद्धि करने वाला जीव ऊर्ध्वगति में जाता है और इस मूल धन का विनाश करने वाला अधोगति को प्राप्त होता है।

इस वर्णन से सूत्रकार भव्य जीवो को यही शिक्षा देते है कि तुम मनुष्य हो, तुम इस मूल धन में यथेच्छ वृद्धि कर सकते हो, इसलिए तुम देवगति के योग्य कर्मो का संग्रह करो और अन्त में उन कर्मो का भी अपने पुरुषार्थ के द्वारा क्षय करके परम निर्वाण पद को प्राप्त करने का यत्न करो। इसके विपरीत नरक और तिर्यग्योनि के अनुरूप दुष्ट कर्मो का संग्रह करना तुम्हारे मनुष्य-भव के योग्य नहीं है।

अब सूत्रकार फिर इसी विषय को पुष्ट करते हुए कहते हैं—

दुहओ गई बालस्स, आवई वहमूलिया ।
देवत्तं माणुसत्तं च, जं जिए लोलयासढे ॥ १७ ॥

द्विधा गतिर्बालस्य, आपद्-वधमूलिका ।
देवत्वं मनुष्यत्वञ्च, यज्जितो लोलतयाशठः ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः—**दुहओ**—दो प्रकार की, **गई**—गति, **बालस**—बाल जीव की, **आवई**—

आपत्ति-मूलक और, **वह-मूलिया**—वध-मूलक, **देवत्तं**—देवत्व, **च**—और, **माणुसत्तं**—मनुष्यत्व, **जं**—जिससे, **जिए**—हार गया, **लोलया**—मांसादि का लोलुप, **सढे**—धूर्त।

मूलार्थ—धूर्त और मांसलोलुप उस बाल अर्थात् अज्ञानी जीव को जिसने कि देवत्व और मनुष्यत्व को हार दिया है नरक और तिर्यक् ये दो गतियां प्राप्त होती हैं। इनमें से एक कष्ट-मूलक और दूसरी वध-मूलक है।

टीका—इस गाथा में यह भाव दिखाया गया है कि जो सांसारिक जीव राग-द्वेष में फंसे हुए है और नाना प्रकार के अधर्म-कार्यो में प्रवृत्त है, उन बाल जीवो की दो गतियां प्रतिपादित की गई हैं—एक नरक और दूसरी तिर्यक्, ये दोनों ही अनेक प्रकार के कष्टों तथा वध-बन्धनादि नानाविध विपत्तियों की मूल हैं, कारण कि पशुओं के साथ जो कठोर बर्ताव होता है वह तो सबका प्रत्यक्ष ही है और नरकगति के भयानक कष्ट अनुमान और आगम प्रमाण से सिद्ध है तथा बाल जीव उसी गति में प्रविष्ट होते है जहा कि फिर भी कर्मो का अहर्निश बन्ध ही होता रहता है, क्योंकि उन्होंने अपने कुत्सित आचरणों से देवत्व और मनुष्यत्व को हार दिया है, अर्थात् इन दोनों के अनुरूप वे कोई सुकृत कर्म नहीं करते, किन्तु इनके विपरीत नरक और तिर्यक्गति मे जाने योग्य जघन्य आचरणों का ही वे सेवन करते है। यथा मांस का सेवन करना, पञ्चेन्द्रिय जीवों का वध करना तथा दूसरों से छल करना, विश्वासघात करना इत्यादि। इनमे से मासादि के आहार से तो अज्ञानी जीव देव गति के सुखों को हारता ही है और छल-कपट आदि के द्वारा वह मनुष्य-जन्म से भी वंचित हो जाता है। इस प्रकार जब मूल धन ही नष्ट हो गया तो फिर उससे वृद्धि की आशा किस प्रकार से की जा सकती है। इसलिए सासारिक विषय-विकारो मे फंसकर अपने मूल धन स्वरूप मानव-भव को खो देने वाला अज्ञानी जीव निस्सन्देह नरक और तिर्यग् योनि मे उत्पन्न होकर कष्ट एव वध-बन्धनादि रूप दुख-परम्परा का ही अहर्निश अनुभव करने वाला होता है, क्योकि दुख की पराकाष्ठा का मूल इन दोनो ही गतियो में निहित है। इसलिए प्रस्तुत गाथा में ये दोनों गतिया आपदाओं और वध का मूल कही गई है।

यहां पर बाल जीव की दो गतियों का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने जिस आत्मा को बाल कहा है, वह आयु की दृष्टि से नही, किन्तु धर्म की दृष्टि से कहा है। ससार की दृष्टि मे तो वह अपने कार्यो मे बहुत ही निपुण माना जाता है।

अब मूल धन का विनाश करके नीच गति में जाने वाले जीव के विषय में कहते है—

तओ जिए सइं होइ, दुविहं दुग्गइं गए ।
दुल्लहा तस्स उम्मग्गा, अद्धाए सुचिरादवि ॥ १८ ॥

ततो जितः सकृद् भवति, द्विविधां दुर्गतिं गतः ।
दुर्लभा तस्योन्मज्जा, अद्धायां सुचिरादपि ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—**तओ**—तदनन्तर, **जिए**—हारा हुआ, **सइं**—सदा, **होइ**—होता है, **दुविहं**—दो प्रकार की, **दुग्गइं**—दुर्गति को, **गए**—गया हुआ, **दुल्लहा**—दुर्लभ है, **तस्स**—उसको, **उम्मग्गा**—उन गतियों से निकलना, **अद्धाए**—बड़े मार्ग में, **सुचिरादवि**—बहुत काल से भी।

मूलार्थ—इसके अनन्तर वह अज्ञानी जीव उक्त दोनों प्रकार की गतियों को प्राप्त हुआ सदा ही हारा रहता है, क्योंकि वहां से बहुत काल तक उसका निकलना कठिन हो जाता है।

टीका—संसार के तुच्छ विषय-भोगों में फसे रहने के कारण देवत्व और मनुष्यत्व को हार देने के पश्चात् नरक अथवा तिर्यग्गति मे प्राप्त हुआ वह अज्ञानी जीव चिरकाल तक जिस प्रकार के कष्टों और नरक यातनाओं को भोगता है उसकी कल्पना करते हुए भी अन्त.करण व्याकुल हो उठता है, परन्तु इन दोनो दुर्गतियो में से उसका निकलना चिरकाल तक भी कठिन है, क्योंकि इन दुर्गतियों की काय-स्थिति अनन्त काल तक की मानी गई है। यद्यपि नारकी जीवों की भव-स्थिति की उत्कृष्ट मर्यादा असंख्यात काल की कही गई है, किन्तु तिर्यग् योनि मे जो वनस्पति है, उनकी उत्कृष्ट कायस्थिति तो अनन्त काल की ही मानी गई है। अतः सूत्रकार का यह आशय है कि यदि बाल जीव इस पशु-योनि के मार्ग में चला गया तो फिर उसको उससे निकलना अति कठिन हो जाता है, क्योकि इसमे कर्म-बन्धन से मुक्ति असम्भव है और कर्म-बन्ध के कारण विशेष है। यद्यपि बहुत से जीव इस गति मे एक भव करके भी मोक्ष मे चले जाते है, तथापि ऐसे जीव बहुत ही स्वल्प है और परिभ्रमण करने वालो की सख्या तो अनन्त है। अतः शास्त्रकारो ने बाल जीवों को उपदेश करते हुए उनकी गतियो का भी वर्णन कर दिया है तथा उनकी अज्ञानता का जो परिणाम है उसका भी दिग्दर्शन करा दिया है।

अब मूल धन को सुरक्षित रखने वाले जीवों के विषय में जो विचारणीय विषय है उसका दिग्दर्शन कराते हैं—

एवं जियं सपेहाए, तुलिया बालं च पंडियं ।
मूलियं ते पवेसन्ति, माणुसिं जोणिमेन्ति जे ॥ १६ ॥

एवं जितं संप्रेक्ष्य, तोलयित्वा बालं च पण्डितम् ।
मौलिकं ते प्रविशन्ति, मानुषी योनि यान्ति ये ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—**एवं**—इस प्रकार, **जियं**—हारे हुए को, **सपेहाए**—देख करके, **तुलिया**—बुद्धि से तोल करके, **बालं**—बाल, **च**—और, **पंडियं**—पंडित को, **मूलियं**—मूल धन मे, **ते**—वे, **पवेसंति**—प्रवेश करते है, **जे**—जो, **माणुसिं**—मनुष्य की, **जोणिं**—योनि मे, **एंति**—आते है।

मूलार्थ—इस प्रकार हारे हुए व्यक्ति को देखकर और बाल तथा पंडित भाव को अपनी बुद्धि से तोलकर जो प्राणी मूल धन में प्रवेश करते हैं अर्थात् मूल धन को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं वे मनुष्य-योनि को प्राप्त कर लेते हैं।

टीका—देवत्व और मनुष्यत्व को हार देने वाले जीव की कैसी दुर्गति होती है, इस बात का विचार करके और अपनी निर्मल बुद्धि के द्वारा पंडित-भाव और बाल-भाव को तोलकर जो जीव मूल धन में प्रवेश करते हैं वे मनुष्य-योनि को प्राप्त कर लेते है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार व्यापार में प्रवृत्त होने वाला बुद्धिमान् वणिक् अपने मूल धन को हर प्रकार से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करता है, अर्थात् यदि उससे उस मूल धन में किसी प्रकार की वृद्धि नही हो सकी तथापि वह किसी प्रकार के व्यसनों में पड़कर उसका विनाश भी नहीं करता, किन्तु ज्यो का त्यों उसे बनाए रखता है।

इसी प्रकार जो विवेकशील पुरुष बाल और पण्डित भाव के स्वरूप को भली-भान्ति समझकर अर्थात् इन दोनों के भावी परिणामों पर विचार करके येन-केन उपायेन अपने मूल धन मनुष्यत्व को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते है वे अवश्य ही मनुष्य-भव को प्राप्त कर लेते हैं। पहले कहा जा चुका है कि 'मनुष्य भव' यही मूल धन है। जिन आत्माओं ने अपनी बुद्धि के द्वारा बाल-प्रवृत्ति और पण्डित-प्रवृत्ति के परिणाम पर विचार कर लिया है वे जीव अपने मूल धन को सर्व प्रकार से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते है।

यहा पर इतना और स्मरण रखना चाहिए कि यह उपदेश केवल व्यवहार कोटि को लेकर किया गया है, अन्यथा उपदेश दिया जाता कि तुम मनुष्य-योनि को प्राप्त करके भगवान् वीतरागदेव की निरवद्य वाणी पर विश्वास करो, क्योंकि वह केवल मोक्ष-सुख को ही उपादेय बताती है। इत्यादि।

अब उन जीवों के मनुष्य-योनि में आने का प्रकार बताते हैं—

वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहि सुव्वया ।
उवेन्ति माणुसं जोणिं कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥ २० ॥

विमात्राभिः शिक्षाभिः, ये नराः गृही सुव्रताः ।
उपयान्ति मानुषीं योनिं, कर्मसत्याः खु प्राणिनः ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः—वेमायाहिं—नाना प्रकार की, **सिक्खाहिं**—शिक्षाओं से, **जे**—जो, **नरा**—मनुष्य, **गिहि**—गृहस्थ होते हुए भी, **सुव्वया**—सुन्दर व्रतो वाले है वे, **माणुसं**—मनुष्य की, **जोणिं**—योनि को, **उवेंति**—प्राप्त होते है, **हु**—निश्चय ही, **कम्मसच्चा**—कर्म सत्य है, **पाणिणो**—प्राणी के।

मूलार्थ—जो व्रतशील गृहस्थ नाना प्रकार की शिक्षाओं से अलंकृत हैं वे मनुष्य-योनि को निश्चय ही प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि प्राणी के कर्म सत्य हैं, जैसे वे किये जाते हैं वैसे ही फल देते हैं।

टीका—जो पुरुष सदाचार-सम्बन्धी नानाविध शिक्षाओं से विभूषित है—जैसे कि प्रकृति से भद्र, सरल-स्वभाव, विनयवान्, दयालु और किसी से ईर्ष्या न करने वाले तथा व्यवहार में सत्य का बर्ताव करने वाले, सत्य व्यवहार करने वाले, विश्वासघात के त्यागी, पवित्र कुल-मर्यादाओं का पालन करने

वाले और सत् पुरुषों के आचार का अनुसरण करने वाले है, वे इस शरीर का त्याग करने के पश्चात् फिर भी मनुष्य योनि को ही प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि किसी दुर्गति में उनका जन्म नहीं होता, क्योंकि सत्क्रियाओं अर्थात् सदाचार का फल सदा शुभ ही होता है। इसके विपरीत असत् क्रियाए सदा अशुभ फल देने वाली तथा अशुभ गति का बन्ध करने वाली होती है। यहां पर इतना और स्मरण रखना चाहिए कि उक्त गाथा मे 'सुव्वया—सुव्रताः' शब्द का प्रयोग किया गया है वह देशव्रत की अपेक्षा से नहीं किया गया, देशव्रत वाला आत्मा तो केवल देवगति में ही जाने वाला होता है, किन्तु जो व्यक्ति देशव्रत आदि को अंगीकार करने मे असमर्थ है और संसार-पक्ष में सदाचार से सम्पन्न है वही आत्मा सत् क्रियाओं के अनुष्ठान से मनुष्य-योनि को प्राप्त करता है।

यहा शास्त्रकार ने 'कर्म सत्य है' कह कहकर कर्मो की महत्ता एवं जीवन के सुख-दुख में उनकी कारणता के सिद्धान्त को स्पष्ट किया है और उनका शुभाशुभ फल अवश्य प्राप्त होता है, यह भी प्रतिपादित किया है।

'कम्मसच्चा' इस शब्द में प्राकृत के नियम से **'कम्म'** शब्द का पूर्व में निपात हुआ है। 'हु' शब्द हेत्वर्थक है।

अब मूलधन में वृद्धि करने वालों के विषय में कहते हैं—

जेसिं तु विउला सिक्खा, मूलियं ते अइच्छिया।
सीलवन्ता सविसेसा, अदीणा जन्ति देवयं ॥ २१ ॥

येषां तु विपुला शिक्षा, मौलिकं तेऽतिक्रान्ताः ।
शीलवन्तः सविशेषाः, अदीना यान्ति देवत्वम् ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः—**जेसिं**—जिन जीवो की, **विउला**—बहुत, **सिक्खा**—शिक्षाए है, **ते**—वे, **मूलियं**—मूल धन को, **अइच्छिया**—अतिक्रमण कर जाते है, **सीलवंता**—सदाचार, **सविसेसा**—विशेष गुण युक्त, **अदीणा**—दीनता से रहित, **देवयं**—देवभाव को, **जंति**—प्राप्त करते है, **तु**—एव अर्थ मे।

मूलार्थ—जिन जीवो की शिक्षाएं अधिक विस्तृत हो गई है और जो सदाचारी, विशेष गुणों से युक्त और दीनता से रहित हैं वे मूल-धन का अतिक्रमण करते हुए देवलोकों में चले जाते हैं।

टीका—इस गाथा मे इस भाव को प्रकट किया गया है कि जिन जीवो की सम्यक्त्व को साथ लिए हुए अणुव्रतो वा महाव्रतो के ग्रहण रूप तथा आसेवन रूप-शिक्षाए बढ़ गई है वे जीव मूल धन रूप मनुष्य-जन्म को अतिक्रमण करके देवभव को प्राप्त हो जाते है। इसके अतिरिक्त वे जीव शीलवत अर्थात् सदाचारी, विशेष गुणो से युक्त और दीनता से रहित होते हुए देव-भाव को प्राप्त करते है। जो जीव 'अव्रत-सम्यग्-दृष्टि' चतुर्थ गुण-स्थान से ऊपर चढ़कर 'देशविरति-गुण-स्थान' से अथवा सर्व-विरति-रूप 'प्रमत्त-सयत-गुणस्थान' से युक्त हो उसे शीलवान् या सदाचारी कहते है। गुणों में जो उत्तरोत्तर वृद्धि कर रहा है उसको सविशेष कहते है तथा किसी प्रकार के परीषह के उपस्थित

होने पर जिसके मन में आकुलता नहीं होती वह अदीन कहा जाता है। अतएव सिद्ध हुआ कि मूल-धन का अतिक्रमण करके देव-भाव को प्राप्त करने वाले जो जीव हैं, वे ग्रहण, आसेवनादि शिक्षाओं से विभूषित, सदाचारी, सविशेष और अदीन ही होते हैं या होने चाहिएं, अन्यथा उनके लिए देवलोक की प्राप्ति दुर्लभ नहीं, किन्तु असम्भव हो जाती है।

यद्यपि उत्तम शास्त्रीय शिक्षा एवं सदाचार के पालन एवं अप्रमत्त रूप से की गई नियमबद्ध साधना के द्वारा यह आत्मा मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है, करता भी है, परन्तु वर्तमान काल में शरीर आदि का इतना विशिष्ट संहनन न होने से तथा उक्त क्रियाओं का सर्वथा निरतिचार रूप से पालन अशक्य होने से इस पञ्चम-काल में मोक्ष-प्राप्ति का होना अशक्य है, इसलिए यहां देव-लोक की प्राप्ति का ही कथन किया गया है।

अब इस दृष्टान्त का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार लिखते हैं—

एवमदीणवं भिक्खुं, अगारिं च वियाणिया ।
कहण्णु जिच्चमेलिक्खं, जिच्चमाणो न संविदे ॥ २२ ॥

एवमदैन्यवन्तं भिक्षुम्, अगारिणं च विज्ञाय ।
कथं नु जीयेत ईदृक्षं, जीयमानो न संविद्यात् ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः—**एवं**—इस प्रकार, **अदीणवं**—दीनता से रहित, **भिक्खुं**—साधु को, **च**—वा, **अगारि**—गृहस्थ को, **वियाणिया**—जान करके, **कहं**—कैसे, **णु**—वितर्क में, **जिच्चं**—हारा हुआ, **एलिक्खं**—यह प्रत्यक्ष—देवगति रूप लाभ को, **जिच्चमाणो**—हारता हुआ, **न संविदे**—क्या नही जानता? अर्थात् जानता है।

मूलार्थ—इस प्रकार देवगति रूप लाभ को हारता हुआ जीव दीनता से रहित भिक्षु और गृहस्थ को जान करके क्या हारे हुए व्यक्ति को नहीं जानता? अपितु अवश्य ही जानता है।

टीका—दीनता-रहित उत्तम साधु अथवा गृहस्थों को जिस देव-गति का लाभ होता है और जो मनुष्य-गति के लाभ को विषय-कषायों के वशीभूत होकर हार देते है, अर्थात् उस हार को निश्चय ही जानते है, अत. जो अपने मूल अथवा लाभ को हार रहे है उनको सम्यक् प्रकार से सभी गतियो को जानकर अपने लाभ के मार्ग पर ही जाना चाहिए।

इस सूत्र मे इस बात को दिखाया गया है कि लाभ और हानि को ठीक-ठीक समझकर लाभ के मार्ग मे ही जाना उचित है। फिर हारे हुए व्यक्ति की तरह अपने हारने को भी भली-भाति जानते है। इसी आशय से '**कहण्णु**—कथ नु' शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार सूत्रकर्त्ता ने उक्त चार दृष्टान्तों का विस्तार-सहित वर्णन कर दिया है। अब पांचवें समुद्र के दृष्टान्त का वर्णन करते हैं—

जहा कुसग्गे उदगं, समुद्देण समं मिणे ।
एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अंतिए ॥ २३ ॥

यथा कुशाग्र उदकं, समुद्रेण समं मिनुयात् ।
एवं मानुष्यकाः कामाः, देवकामानामन्तिके ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैसे, **कुसग्गे**—कुशा के अग्रभाग मे स्थित, **उदगं**—जल-बिन्दु को, **समुद्देण**—समुद्र-जल के, **समं**—साथ, **मिणे**—मापे, **एवं**—इसी प्रकार, **माणुस्सगा**—मनुष्यों के **कामा**—काम-भोग, **देवकामाण**—देवो के काम-भोगों के, **अंतिए**—समीप है।

मूलार्थ—मनुष्य के काम-भोगों का देवों के काम-भोगों से इतना अन्तर है जितना कि कुशाग्र के अग्रभाग में स्थित जल-बिन्दु का समुद्र के जल के साथ अन्तर है।

टीका—जैसे कोई मूर्ख व्यक्ति कुशा के अग्रभाग मे स्थित जल के अति सूक्ष्म-बिन्दु को देखकर यह निश्चय कर लेता है कि यह बिन्दु प्रमाण में समुद्र के जल के समान है, ठीक इसी प्रकार मनुष्यो के काम-भोगो को भी देवों के काम-भोगों के समान मूर्ख व्यक्ति ही समझता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कुशाग्र स्थित जल बिन्दु मे और समुद्र-जल मे महान् अन्तर है, उसी प्रकार मनुष्यो और देवो के काम-भोगो में भी बड़ा भारी अन्तर है। देवो के काम-भोग तो समुद्र-जल के समान है और मनुष्यो के काम-भोग अति क्षुद्र कुशाग्र-स्थित जलबिन्दु के तुल्य है, अत इन दोनो को समान समझना भ्रान्ति ही नहीं, किन्तु नितान्त मूर्खता है।

यद्यपि मनुष्य सम्बन्धी सबसे अधिक और उत्तम काम-भोग चक्रवर्ती को प्राप्त होते है, परन्तु देवो के काम भोगो के समक्ष उसके काम-भोगो की भी कुछ गणना नही है। उनके सामने तो वे भी कुशाग्र मे स्थित जल-कण के ही समान है। इसलिए भव्य जीवो को शास्त्रकार उपदेश करते है कि हे भव्य-जनो ! तुम मनुष्य-सम्बन्धी तुच्छ काम-भोगो मे आसक्त होकर अपना परलोक क्यों नष्ट कर रहे हो ? अथवा देवगति के लाभ को क्यो खो रहे हो? यह समय बार-बार मिलना बहुत कठिन है और यदि तुम को ससार के ही सुखो की अभिलाषा है तो फिर भी तुम देव-भव को क्यों खोते हो? इसलिए यदि तुमसे सर्व-विरति साधु-धर्म का पालन न हो सके तो तुम देश-विरति श्रावक-धर्म का ही आराधन करो, ताकि तुम्हे दुर्गति मे न जाना पड़े।

अब सूत्रकार निगमन करते हुए उपदेश देते हैं—

कुसग्गमेत्ता इमे कामा, सन्निरुद्धम्मि आउए ।
कस्स हेउं पुरोकाउं, जोगक्खेमं न संविदे? ॥ २४ ॥

कुशाग्रमात्रा इमे कामाः सन्निरुद्धे आयुषि ।
कं हेतुं पुरस्कृत्य, योगक्षेमं न संविद्यात्? ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः—**कुसग्गमेत्ता**—कुशाग्रमात्र, **इमे**—ये, **कामा**—काम-भोग हैं, **सन्निरुद्धम्मि**—संक्षिप्त अर्थात् छोटी सी, **आउए**—आयु के होने पर, **कस्स**—किस, **हेउं**—हेतु को, **पुरोकाउं**—आगे रख कर, अर्थात् अपने समक्ष रखकर, **जोग**—योग—और, **क्खेमं**—क्षेम को, **न संविदे**—यह अज्ञानी जीव नहीं जानता? ।

मूलार्थ—कुशाग्र पर स्थित जल-बिन्दु के समान ये काम-भोग हैं और मनुष्य की आयु अत्यन्त संक्षिप्त अर्थात् छोटी है तो फिर किस कारण से काम-भोगों को आगे रखकर तुम धर्म-सम्बन्धी योगक्षेम को नहीं जानते?

टीका—मनुष्य-सम्बन्धी ये सब काम-भोग केवल कुशा के अग्रभाग में ठहरे हुए जल-बिन्दु के समान अत्यन्त क्षुद्र हैं और आयु भी अत्यन्त स्वल्प है, इसलिए काम-भोगो के निमित्त से प्राप्त हुए धर्म और उससे प्राप्त होने वाले स्वर्ग एवं मोक्ष के सुख की कभी उपेक्षा नही करनी चाहिए। अप्राप्त की प्राप्ति को योग और प्राप्त हुए का पालन करना क्षेम कहलाता है।

इस सारे वर्णन का तात्पर्य यह है कि मनुष्य की आयु और समृद्धि बहुत ही स्वल्प है। इस स्वल्पतर समृद्धि और आयु मे उसे जो धर्म की प्राप्ति हुई है तथा उस धर्म से जो स्वर्ग और मोक्ष के सुख की आशा है उसकी ओर अवश्य दृष्टि रहनी चाहिए, अर्थात् तुच्छ विषय-भोगों को दृष्टि में रखकर धर्म की कभी अवहेलना नही करनी चाहिए। यही जीवन का बहुमूल्य सार है।

इस प्रकार इन पाचा दृष्टान्तो में सूत्रकर्त्ता ने मनुष्य के हेयोपादेय तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य को समझाते हुए धर्म के सारगर्भित मर्म का बड़ी अच्छी तरह से निरूपण किया है।

उपर्युक्त प्रकरण मे बकरे के दृष्टान्त से—विषयासक्ति से अनर्थ और कष्टो की उत्पत्ति, काकिणी और आम्र-फल के दृष्टान्त से भोगो की तुच्छता, वणिकों के दृष्टान्त से आय और व्यय की तुलना तथा समुद्र के दृष्टान्त से देवो और मनुष्यों के ऐश्वर्य का अन्तर इत्यादि विषयों का बड़ी सुन्दरता से विवेचन किया गया है, जिसका तात्पर्य काम-भोगों से जीवों की निवृत्ति कराना है। सूत्रकर्त्ता जीवो के परम हितैषी है, इसलिए बार-बार भोग-निवृत्ति का उपदेश करते है।

'**कस्स**' यह द्वितीया मे षष्ठी विभक्ति का प्रयोग है।

धर्म-सम्बन्धी योग-क्षेम के प्राप्त होने पर भी जो जीव उसका आराधन नहीं करते अब उनके सम्बन्ध में कहते हैं—

इह कामाणियट्टस्स, अत्तट्ठे अवरज्झई ।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, जं भुज्जो परिभस्सई ॥ २५ ॥

इह कामाऽनिवृत्तस्य, आत्मार्थोऽपराध्यति ।
श्रुत्वा नैयायिकं मार्गं, यं भूयः परिभ्रश्यति ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः—**इह**—इस लोक में, **कामाणियट्टस्स**—काम-भोगो से अनिवृत्त का,

अत्तट्ठे—आत्मार्थ—आत्म-प्रयोजन, **अवरज्झई**—नाश हो जाता है, **सोच्चा**—सुनकर, **नेयाउयं**—न्याय युक्त, **मग्गं**—मार्ग को, **भुज्जो**—फिर, जं—जिससे, **परिभस्सई**—भ्रष्ट हो जाता है—पतित हो जाता है।

मूलार्थ—इस लोक में काम-भोगों से निवृत्त न होने वाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन अर्थात् आत्म-साधना रूप लक्ष्य नष्ट हो जाता है, जिससे कि वह मोक्ष-मार्ग को सुनकर भी फिर भ्रष्ट हो जाता है अर्थात् उस न्याययुक्त मार्ग से भटक जाता है।

टीका—इस गाथा मे इस बात का दिग्दर्शन कराया गया है कि इस लोक में अथवा जिन-धर्म में प्रविष्ट होकर भी जिस व्यक्ति ने काम-भोगों का परित्याग नहीं किया, उसने आगामी जन्म में प्राप्त होने वाले अपने पारलौकिक सुखो का विनाश कर दिया है, क्योंकि सम्यग्-दर्शनादि रूप मोक्ष-मार्ग को सुनकर भी वह उससे गिर रहा है, इसलिए उसने अपने भावो पारलौकिक सुख को विनष्ट कर दिया है।

यहा पर यदि कोई यह कहे कि जब कि जिन-धर्म निवृत्ति-मार्ग का उपदेष्टा है तो फिर उसको श्रवण करने वाला जीव धर्म-मार्ग से पतित ही क्यो होता है? इसका समाधान यह है कि जिन जीवो ने कर्मों का निबिड़ बन्ध किया हुआ है ऐसे गुरुकर्मी जीव प्रथम तो इस न्याय-पथ के विषय मे कुछ सुनना ही नही चाहते और यदि सुन भी लें तो उसके ग्रहण करने की इच्छा उनके मन मे नहीं होती। अस्तु, किसी प्रकार से अगीकार कर भी ले तो उनसे उस न्याय-मार्ग का यथावत् पालन नहीं हो पाता। बस यही कारण है उनके धर्म-पथ से भ्रष्ट हो जाने का।

'अपराध्यति' क्रिया का 'नश्यति' अर्थ करना, 'धातुए अनेकार्थक होती है' इस नियम के अनुसार है। तथा आत्मार्थ—आत्म-प्रयोजन से यहां पर स्वर्गीय सुख विशेष ही विवक्षित है।

अब काम-भोगों से निवृत्त होने वाले जीवों के विषय में कहते है—

इह काम-णियट्टस्स, अत्तट्ठे नावरज्झई ।
पूइदेहनिरोहेणं, भवे देवे त्ति मे सुयं ॥ २६ ॥

इह काम-निवृत्तस्य, आत्मार्थो, नापराध्यति ।
पूतिदेहनिरोधेन, भवेद् देव इति मया श्रुतम् ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—**इह**—इस लोक मे, **काम-णियट्टस्स**—काम-भोगो से निवृत्त होकर, **अत्तट्ठे**—आत्मार्थ—आत्म-प्रयोजन, **नावरज्झई**—नष्ट नही होता, **पूइदेह**—औदारिक शरीर के, **निरोहेणं**—निरोध से—पतन से, **भवे**—होता है, **देवे**—देवता, **इति**—इस प्रकार, **मे**—मैने, **सुयं**—सुना है।

मूलार्थ—इस लोक में काम-भोगों से निवृत्त जीव का आत्मार्थ अर्थात् आत्म-प्रयोजन (स्वर्गीय सुख विशेष) नष्ट नही होता, अपितु वह औदारिक शरीर को छोड़कर देवता बन जाता है, इस प्रकार मैने सुना है।

टीका—इस लोक में अथवा जैन धर्म में आकर जिसने काम-भोगों का परित्याग कर दिया है वह जीव अपनी आत्मा के प्राप्त होने वाले भावी स्वर्गीय सुखों का विनाश नहीं करता, अर्थात् उसके भावी स्वर्गीय सुख विनष्ट नहीं होते, किन्तु इस पूय-रुधिरादि-युक्त औदारिक शरीर को छोड़कर वह सौधर्मादि देव-लोकों को प्राप्त होकर देवता बनता है और यदि उसके सम्पूर्ण कर्म क्षय हो जाएं तो वह सिद्धगति—मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

गुरु अपने शिष्यों से कह रहे हैं कि इस प्रकार मैंने भगवान् से श्रवण किया है कि जिस आत्मा ने विषय-भोगों की लालसा का सर्वथा परित्याग कर दिया है, उसके पारलौकिक सुख कभी विनष्ट नहीं होते, अपितु वह विरक्त आत्मा इस औदारिक शरीर को छोड़कर सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से मोक्ष और कुछ शेष कर्म रहने पर देवगति को प्राप्त कर लेता है। इससे सिद्ध हुआ कि जो जीव काम-भोगों में आसक्त है वे अपने भावी आत्म-सुखों का विनाश करते हैं और जिन जीवों ने इन काम-भोग आदि विषयों का सर्वथा परित्याग कर दिया है उनका भावी सुख कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता। इसलिए विवेकशील पुरुष को चाहिए कि वह अपने भावी सुखों का विचार रखता हुआ इन कामभोगादि विषयों में आसक्त न हो।

काम-भोगादि के त्याग करने वालों को इससे अधिक जो कुछ प्राप्त होता है, अब उसके विषय में कहते हैं—

इड्ढी जुई जसो वण्णो, आउं सुहमणुत्तरं ।
भुज्जो जत्थ मणुस्सेसु, तत्थ से उववज्जई ॥ २७ ॥

ऋद्धिर्द्युतिर्यशो वर्णः, आयुः सुखमनुत्तरम् ।
भूयो यत्र मनुष्येषु, तत्र स उत्पद्यते ॥ २७ ॥

पदार्थान्वयः—**इड्ढी**—ऋद्धि, **जुई**—ज्योति, **जसो**—यश, **वण्णो**—वर्ण, **आउं**—आयु, **सुहं**—सुख, **अणुत्तरं**—प्रधान अर्थात् प्रमुख, **भुज्जो**—फिर, **जत्थ**—जहां, **मणुस्सेसु**—मनुष्यों में, **तत्थ**—वहां, **से**—वह जीव, **उववज्जई**—उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—जिन उत्तम एवं धर्मनिष्ठ कुलों में ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण, आयु और सभी प्रकार के सुख हों वहां पर वह जीव फिर उत्पन्न होता है।

टीका—जब वह पुण्यात्मा जीव स्वर्ग लोक के सुखो को भोगकर फिर मनुष्य-लोक में आता है, तब उसका जन्म किस स्थान मे और किस रूप मे होता है, इसका दिग्दर्शन इस गाथा मे किया गया है। स्वर्ग-लोक से च्युत होने के पश्चात् मनुष्य-लोक में उस पुण्यात्मा जीव का ऐसे स्थान या कुल मे जन्म होता है जहां पर विपुल ऋद्धि, विशिष्ट ज्योति, प्रौढ़ यश, सुन्दर वर्ण, दीर्घ आयु और इनमें उत्तरोत्तर विशिष्ट सुख एव ऐश्वर्य की सभी तरह की अतुल सामग्री विद्यमान हो। कारण कि अपने शेष पुण्यों को भोगने के लिए ही वह मनुष्य-लोक मे उत्पन्न होता है।

इस कथन से मनुष्यो की सुगति का भी स्पष्ट बोध होता है। जैसे कि जिन जीवों की आयु दीर्घ है, घर मे धन-धान्य आदि की समृद्धि भी विद्यमान है, शरीर का तेज भी अपूर्व है, लोक में यश भी फैला हुआ है और शरीर की कान्ति भी सुन्दर और मोहक है एवं स्वभाव में गंभीरता आदि गुण भी विद्यमान है तथा घर मे श्रेष्ठतम सुख-सामग्री की भी कमी नहीं है, वे पुण्यात्मा जीव निस्सन्देह सुगति का उपभोग कर रहे है और इसके विपरीत जिनके पास उक्त सुख-साधन सामग्री का सर्वथा अभाव है, वे दुखी जीव दुर्गति का अनुभव कर रहे है। इन सब काम-भोगादि विषयों से निवृत्त होकर धर्म का आराधन करने वाले जीवो को प्राप्त होने वाले फल विशेष का निर्देश है, जिसका ज्ञान होना भी परम आवश्यक है।

काम-भोगों का जिन जीवो ने परित्याग नही किया वे बाल कहे जाते हैं और जिन जीवों ने इनका परित्याग कर दिया है उनको पंडित कहते है।

अब सूत्रकार बाल और पण्डित जीव के विषय में अनुक्रम से जो कुछ वर्णन करने योग्य है, दिग्दर्शन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

बालस्स पस्स बालत्तं, अहम्मं पडिवज्जिया ।
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे, नरए उववज्जई ॥ २८ ॥

बालस्य पश्य बालत्वं, अधर्मं प्रतिपद्य ।
त्यक्त्वा धर्ममधर्मिष्ठः, नरक उत्पद्यते ॥ २८ ॥

पदार्थान्वयः—**बालस्स**—अज्ञानी जीव का, **बालत्त**—अज्ञानपना, **पस्स**—देखो, **अहम्मं**—अधर्म को, **पडिवज्जिया**—ग्रहण करके, **धम्मं**—धर्म को, **चिच्चा**—त्याग कर, **अहम्मिट्ठे**—अधर्मी होकर, **नरए**—नरकों मे, **उववज्जई**—उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू इस बाल अर्थात् अज्ञानी जीव की मूर्खता को देख, जो कि धर्म के परित्याग और अधर्म को अगीकार करने से अधर्मी बनकर नरक में उत्पन्न होता है।

टीका—गुरुजन अपने शिष्य को बाल और पंडित के स्वरूप का बोध कराने के लिए प्रथम बाल जीव के विषय मे इस प्रकार कहते है—

'हे शिष्य! तू इस बाल जीव की मूर्खता को देख, इस अज्ञ जीव की मूर्खता का निरीक्षण कर, क्योकि यह स्वर्ग और मोक्ष मे ले जाने वाले श्रुत और चारित्र रूप धर्म का त्याग कर अधोगति में ले जाने वाले आश्रवरूप अधर्म को अगीकार करके अधर्म-निष्ठ बनकर नरक-गति मे उत्पन्न होने को प्रस्तुत हो रहा है। इस गाथा मे बाल-भाव का फल बताया गया है। बाल वही है जो अपने हित और अहित को नही जान पाता। इसीलिए वह विषयों में आसक्त होकर धर्म-मार्ग को छोड़ देता है। धर्म-मार्ग को छोड़कर और अधर्म मार्ग के अनुसरण से जीव नरक गति को प्राप्त होता है। यही उसकी मूर्खता एव अज्ञान है। इसीलिए अपना हित चाहने वाले मुमुक्षु जीवो को उचित है कि वे किसी भी दशा मे धर्म का त्याग और अधर्म का सेवन न करे।

अब अधर्म का त्याग और धर्म को ग्रहण करने वाले पंडित पुरुष के विषय में कहते हैं—

धीरस्स पस्स धीरत्तं, सव्वधम्माणुवत्तिणो ।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जई ॥ २९ ॥

धीरस्य पश्य धीरत्वं, सर्वधर्मानुवर्तिनः ।
त्यक्त्वाऽधर्मं धर्मिष्ठः, देवेषूत्पद्यते ॥ २९ ॥

पदार्थान्वयः—**धीरस्स**—धीर के, **धीरत्तं**—धीरपने को, **पस्स**—देखो—जो, **सव्व**—सर्व, **धम्माणुवत्तिणो**—धर्मों का अनुवर्ती है, **चिच्चा**—छोड़ करके, **अधम्मं**—अधर्म को, **धम्मिट्ठे**—धर्मिष्ठ है, **देवेसु**—देवों में, **उववज्जई**—उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू उस धीर पुरुष की धीरता को देख! जो कि सर्व धर्मों अर्थात् क्षान्त्यादि दशविध धर्मों का अनुगामी होकर अधर्म का त्याग करके धर्मिष्ठ बनता हुआ देवलोकों में उत्पन्न होता है।

टीका—हे शिष्य! जो बुद्धिमान् पुरुष परीषह आदि को भली प्रकार से सहन करते हैं, उनके धीरभाव—धैर्य को तू देख कि उन्होंने मारणान्तिक कष्टों के आने पर भी अपने धैर्य को नहीं छोड़ा। इसके अतिरिक्त वे क्षान्त्यादि दशविध धर्मो का अनुसरण करने वाले तथा अधर्म का परित्याग करके धर्म का आराधन करने वाले होने से ही देवलोकों में उत्पन्न होते है। यहां पर सर्वधर्म का अर्थ क्षान्त्यादि दशविध धर्म है। इन्हीं धर्मो की आराधना करता हुआ पवित्र आत्मा अधर्म का त्यागी बनकर देवगति को प्राप्त होने अथवा विशेष पुरुषार्थ के द्वारा मोक्ष को प्राप्त होने की योग्यता का सम्पादन कर लेता है। तात्पर्य यह है कि यदि उसके सम्पूर्ण कर्म क्षय हो गए हों तब तो उसे सिद्ध-पद—मोक्ष-पद की प्राप्ति हो जाती है। यह मोक्ष पद सादि अनन्त है। इसको प्राप्त करने वाले आत्मा का इस संसार मे पुनरागमन नहीं होता और यदि कुछ कर्म शेष रह जाते हैं तो वह स्वर्ग अर्थात् देवलोकों को प्राप्त होता है।

स्वर्ग के सुखों का वर्णन तो पीछे आ ही चुका है। यहां पर **'देवेसु'** इस पद से ग्रहण किए गए देवलोको में बहुवचन का प्रयोग इसलिए किया गया है कि उत्तरोत्तर एक से दूसरा देवलोक प्रधान है। जिस आत्मा ने जिस देवलोक में जाने योग्य कर्म किए हैं, वह उसी मे उत्पन्न होता है।

इन दोनों गाथाओं से बाल और पण्डित जीव के स्वरूप को जान लेने के बाद अब इस जीव का आगामी जो कर्त्तव्य है उसका वर्णन करते हैं—

तुलियाण बालभावं, अबालं चेव पंडिए ।
चइऊण बालभावं, अबालं सेवए मुणी ॥ ३० ॥

त्ति बेमि।

इति एलयज्झयणं समत्तं ॥ ७ ॥

तोलयित्वा बालभावम्, अबालं चैव पण्डितः ।
त्यक्त्वा बालभावम्, अबालं सेवते मुनिः ॥ ३० ॥
इति ब्रवीमि ।

इत्येलकाध्ययनं सम्पूर्णम् ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—**तुलियाण**—तोलकर, **बालभावं**—बाल भाव को, **च**—और, **अबालं**—अबाल भाव को, **पंडिए**—बुद्धिमान्, **चइऊण**—छोड़कर, **बालभावं**—बाल भाव को, **मुणी**—साधु, **अबालं**—अबाल भाव को, **सेवए**—सेवन करे, **ण**—अलंकार अर्थ में है, **त्ति**—इस प्रकार, **बेमि**—मैं कहता हूं।

मूलार्थ—जो पंडित पुरुष बालभाव और अबालभाव को अपनी बुद्धि के द्वारा तोल कर—समझ कर बालभाव का परित्याग करके अबालभाव का सेवन करता है वही मुनि है। इस प्रकार मैं कहता हूं।

टीका—इस गाथा में बाल और पण्डित भाव का स्वरूप बताने के बाद इन दोनों का विचार करके बुद्धिमान् पुरुष को किस कोटि मे प्रविष्ट होना चाहिए, इस बात का दिग्दर्शन कराया गया है।

बुद्धिमान पुरुष का यह कर्त्तव्य है कि वह इन दोनों के भावी फल पर विचार करके अपने लिए जो श्रेय हो उसको ग्रहण करे। सूत्रकार ने तो स्पष्ट शब्दों मे वर्णन कर दिया है कि पण्डित अथवा मुनि वही है जो कि बालभाव का परित्याग करके अबालभाव को ग्रहण करे और पण्डित पुरुष के पाण्डित्य एवं मुनि की मननशीलता का साफल्य इसी मे है कि वह बालभाव के सेवन से भविष्य में उत्पन्न होने वाले कष्टो को विचार करके और अबालभाव का अनुसरण करने से भविष्य में उपलब्ध होने वाले सुख समूह का ध्यान करके इन दोनो में से अपने लिए जो हितकारी मार्ग हो, उसी का दृढ़ता से अनुसरण करे।

इस गाथा के भाव का पर्यालोचन करने से भगवान् वीतराग देव श्री वर्धमान स्वामी की दयालुता और जगबान्धवता का भी स्पष्ट परिचय मिलता है। उन्होंने ससारी जीवों के कल्याणार्थ ही बालभाव के त्याग और पण्डित भाव के अनुसरण का यह परम हितकर स्वर्णिम उपदेश दिया है जो कि भव्य जीवो के लिए सदा ही आचरणीय है। यहा पर '**च**' शब्द समुच्चयार्थक है और '**एव**' शब्द पर रहने वाले अनुस्वार का प्राकृत के नियमानुसार लोप हो गया है।

इसके अतिरिक्त '**त्ति बेमि**' का अर्थ पहले लिख दिया गया है, इसलिए अब यहां पर उसके लिखने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

सप्तम अध्ययन संपूर्ण

अह काविलीयं अट्ठमं अज्झयणं

अथ कापिलिकमष्टममध्ययनम्

सातवे अध्ययन मे विषयों के त्याग का वर्णन किया गया है। विषयों के त्याग के लिए निर्लोभता का होना परम आवश्यक है, अत. निर्लोभता-विषयक इस आठवें अध्ययन में कपिल मुनि का वर्णन किया जाता है, क्योंकि अबोध जनों को इस दृष्टान्त के द्वारा शीघ्र बोध की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए निर्लोभता के विषय को कपिल मुनि के दृष्टान्त से—उसके चरित्र के वर्णन से अधिक सुगम और दृढ़ किया गया है, परन्तु उक्त विषय का वर्णन गाथाओं के द्वारा किया जाए इससे प्रथम कपिल मुनि के चारित्र का संक्षेप में उल्लेख कर देना कुछ विशेष उपयोगी प्रतीत होता है। कपिल देव का आख्यान इस प्रकार है—

कौशाम्बी नाम की नगरी में जितशत्रु नाम का एक राजा राज्य करता था। उसकी राजधानी में चतुर्दश विद्याओं का ज्ञाता काश्यप नाम का एक ब्राह्मण रहता था और राजदरबार में वह चिरकाल से लब्धप्रतिष्ठ था। इसीलिए राज्य की ओर से उसकी महती आजीविका भी नियत थी तथा राजधानी के अन्य प्रतिष्ठित पण्डितो में वह अग्रणी समझा जाता था। नाम के अनुसार गुणों वाली पतिपरायणा यशा नाम की उसकी भार्या थी। कुछ समय के बाद उनके घर मे एक पुत्र-रत्न का जन्म हुआ। दम्पत्ति ने उस पुत्र का नाम 'कपिल देव' रखा जो कि कपिल के नाम से ही संसार में विख्यात हुआ।

परन्तु समय की गति बड़ी विचित्र है। लक्ष्मी और प्रतिष्ठा सदा एक स्थान में स्थिर नहीं रहती। जो कुछ इस जीव की आज दशा है वह कल को नजर नहीं आती। यही स्थिति यहां पर भी हुई। कुछ दिनो के बाद कपिल देव के पिता राजपण्डित काश्यप का अकस्मात् किसी व्याधि-विशेष के कारण से देहान्त हो गया।

काश्यप के निधन के पश्चात् राजा जितशत्रु ने उसके पद पर किसी और विद्वान् ब्राह्मण को नियुक्त कर दिया। राजपण्डित के पद को प्राप्त करके वह ब्राह्मण भी काश्यप की तरह राजपुरुषों के द्वारा सत्कृत होता हुआ छत्र-चामरादि युक्त अश्वारूढ़ होकर समय-समय पर नगर मे भ्रमण करने लगा और थोड़े ही दिनों में वह अपने प्रतिभा-बल से राजा का विश्वासपात्र बन गया।

एक दिन की बात है कि जब वह राज्य की ओर से लब्धप्रतिष्ठ होकर अपने घर को जो रहा था, तब रास्ते में काश्यप की पत्नी यशा ने उसको देखा। उसकी अद्भुत प्रतिष्ठा को देखकर उसे अपने पिछले ऐश्वर्य का एकदम स्मरण हो उठा और उसके स्मरण होते ही वह फूट-फूटकर रोने लगी।

माता को रोते हुए देखकर कपिल ने पूछा कि 'माता! तुम क्यों रो रही हो?' पुत्र के पूछने पर यशा ने कहा कि 'पुत्र! देख, जिस प्रकार इस समय राज्य में इस ब्राह्मण की प्रतिष्ठा हो रही है उसी प्रकार किसी समय तेरे पिता की भी प्रतिष्ठा होती थी, परन्तु उसके मरने और तेरे अविद्वान्/ मूर्ख रह जाने के कारण तेरे अधिकार में आने वाला यह 'राज-पण्डित का पद' इस ब्राह्मण को मिल गया है। सो मैं अपने पति के अतीत-वैभव का स्मरण करके रोने लगी हूं।''

माता के इन वचनों को सुनकर कपिल ने कहा कि 'माता! तू रो मत। मैं अब विद्या का सम्पादन कर लेता हूं।'

कपिल के इस कथन का उत्तर देते हुए माता ने कहा कि 'बेटा! उस राजपण्डित ब्राह्मण के भय से तुझे इस नगरी में तो कोई पढ़ाएगा नहीं, किन्तु एक काम कर, तू श्रावस्ती नाम की नगरी में जा, वहां पर तेरे पिता का मित्र इन्द्रदत्त नाम का एक विद्वान ब्राह्मण रहता है, वह तुझे पढ़ाएगा।'' कपिल ने माता के इस आदेश को विनयपूर्वक स्वीकार किया और वह वहा से चल दिया।

श्रावस्ती नगरी में पहुचने के बाद जब कपिल इन्द्रदत्त के घर मे आया तब इन्द्रदत्त ने कपिल को अपरिचित व्यक्ति जानकर पूछा कि 'तू कौन है? कहां से और किसलिए आया है?' यह सुनकर कपिल ने अपना परिचय देते हुए और आगमन का कारण बताते हुए अथ से इति तक अपना सब वृत्तान्त कह सुनाया। उस पण्डित ने अपने मित्र का पुत्र समझकर कपिल का उचित सत्कार किया और अपने पास बैठाकर उसे विद्याभ्यास कराने का वचन दिया। अब कपिल विद्याभ्यास करने लगा और विद्वान् इन्द्रदत्त भी उसे बड़े प्रेम से विद्याभ्यास कराने लगा।

परन्तु इन्द्रदत्त जितना बड़ा विद्वान् था उतना ही निर्धन भी था। घर में खाने का ठिकाना नही। अपने कुटुम्ब का निर्वाह भी वह बड़े कष्ट से कर पाता था। अब कपिल की और फिकर पड़ गई। तब वह सोचने लगा कि कपिल के लिए विद्याभ्यास की तो कुछ कमी नही, किन्तु इसके लिए भोजन का प्रबन्ध होना कठिन है। इन्द्रदत्त अभी सोच ही रहा था कि इतने में उसकी उसी नगर के शालिभद्र नामक एक धनी-मानी प्रतिष्ठित वैश्य व्यक्ति से भेंट हो गई।

इन्द्रदत्त ने शालिभद्र से कहा कि यह मेरे एक मित्र का पुत्र है और विद्याभ्यास के लिए मेरे पास आया है, परन्तु इसके भोजन का कोई योग्य प्रबन्ध अभी तक नहीं हो सका। यदि आप कृपा करके इसके भोजन का कोई उचित प्रबन्ध कर दें तो यह विद्या का अभ्यास सुगमता से कर सकेगा। शालिभद्र ने पंडित जी की बात को आदर-पूर्वक स्वीकार करके कपिल के भोजन का अपने यहां पूरा

प्रबन्ध कर दिया। अब तो कपिल का विद्याभ्यास आनन्द-पूर्वक होने लगा और पण्डित जी भी उसे निश्चिंत होकर पढ़ाने लगे।

परन्तु कर्मों की गति बड़ी विचित्र है। कर्मों का लोहा कंगाल से लेकर चक्रवर्ती राजा तक सब को मानना पड़ता है। भावी-वश उस शालिभद्र नाम के सेठ के घर में एक दासी रहा करती थी, परन्तु दासी होने पर भी उसके रूप-लावण्य में प्रकृति ने अपनी ओर से सुन्दरता प्रदान करने में कोई कमी बाकी नहीं रखी थी। इधर कपिल भी युवावस्था में अपने ब्रह्मचर्य के तेज से देदीप्यमान हो रहा था। प्रतिदिन के अधिकाधिक परिचय से युवक और युवती परस्पर प्रेम-जाल—मोहजाल में फंस गए। अब तो कपिल विद्यार्थी कपिल नहीं रहा। अब तो उसका पाठ्य विषय पुस्तकगत विषय के बदले दासी के हाव-भावों का चिन्तन ही रह गया। तात्पर्य यह है कि कपिल अपने पठन-पाठन को छोड़कर सर्वदा दासी में ही अपना मानसिक अनुराग रखने लगा।

कपिल के विद्याभ्यास मे आलस्य और उपेक्षा की ओर जब कुछ गम्भीरता से विद्वान् इन्द्रदत्त ने ध्यान दिया तो उसको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसको तो विद्याव्यसनी कपिल अब दासी-सेवक प्रतीत होने लगा। कपिल की आराध्य देवी अब विद्या नहीं रही, किन्तु वह दासी का पुजारी बना हुआ था।

गुरु को कपिल के विद्याभ्यास में उपस्थित होने वाले इस भयंकर उत्पात को देखकर बहुत दुख हुआ। उसने कपिल को बहुत समझाया, बहुत कुछ कहा, परन्तु सब व्यर्थ हो गया, क्योंकि कपिल कामदेव के जिस माया-जाल मे फस गया था उसको तो बड़े-बड़े चतुर और प्रवीण पुरुष भी तोड़ने मे असमर्थ ही रहे है। इसलिए दासी के त्याग के बदले में कपिल ने विद्याभ्यास को ही तिलांजलि दे दी।

कुछ समय व्यतीत होने के बाद दासी गर्भवती हो गई। तब उसने कपिल से कहा कि 'हे स्वामिन् ! अब तो मै आपकी पत्नी और आप मेरे पति हो गए, क्योंकि मेरे उदर में आपका गर्भ विद्यमान है। अब तो आपको ही मेरे भरण-पोषण का प्रबन्ध करना पड़ेगा।'

यह बात सुनकर कपिल को बहुत चिन्ता हुई। इसी विचार मे उसे रात्रि भर निद्रा नहीं आई। तब दासी ने कहा कि 'स्वामिन ! तुम चिन्ता मत करो! मै तुमको एक उपाय बताती हूं।'

इस नगर में एक धनदत्त नाम का सेठ रहता है। वह बड़ा दानी है। उसका एक नियम है कि कोई भी ब्राह्मण प्रातः काल सबसे प्रथम उसके पास जाकर उसको बधाई दे तो वह उसे दो मासे सोना देता है। इसलिए आप प्रातःकाल सबसे पहले उसके पास जाइए और दो मासे सोना वहां से ले आइए।

कपिल ने दासी के इस आदेश को स्वीकार कर लिया और तदनुसार वहां प्रातःकाल जाने की मन में ठान ली, परन्तु दो मासे सोने की लालसा से उसके मन में यह भाव उत्पन्न हुआ कि कोई अन्य ब्राह्मण मेरे से पहले जाकर स्वर्ण न ले आवे। इसलिए वह प्रातःकाल की भ्रान्ति में अर्द्ध रात्रि में ही घर से चल पड़ा। कुछ दूर जाने पर उसको चोर समझकर राजपुरुषों ने पकड़ लिया और रात भर उसको अपने पास रखा।

प्रातःकाल होते ही उसको न्यायालय मे राजा के सामने उपस्थित किया गया। तब राजा ने उसको आधी रात के समय घर से बाहर निकलने का कारण पूछा और अपना पूरा परिचय देने के लिए कहा।

कपिल ने राजा की आज्ञा को सुनकर अपना नाम, ग्राम और घर से आधी रात के समय में निकलने का प्रयोजन आदि सारा ही सत्य वृत्तान्त कह सुनाया। कपिल की सारी बातों को सुनकर और उन पर विश्वास करके उसे बन्धनों से मुक्त कर दिया गया तथा उसकी दरिद्रावस्था को देखकर उस पर करुणा प्रकट करते हुए राजा ने कहा कि 'हे ब्राह्मण! तू जो कुछ मागना चाहता है सो मांग ले। यह सुनकर कपिल ने उत्तर दिया कि 'महाराज! कुछ सोच-विचार कर ही मागूगा।'

तब राजा ने कहा कि अच्छा यह समीप मे हमारी एक वाटिका है, तुम वहां चले जाओ। वहां जाकर जो कुछ मागना हो उसके विषय में विचार कर लो।

राजा के आदेश से कपिल वाटिका मे चला गया और एक वृक्ष के नीचे बैठकर मांगने के बारे में निम्नलिखित विचार करने लगा, 'यदि मै अब दो मासे सोना ही मांगता हूं, तो उससे तो घरवाली के वस्त्र ही मुश्किल से आएंगे। अस्तु, एक हजार मुद्राए माग लेता हू। परन्तु एक हजार मुद्राओं से तो सभवत' घरवाली के आभूषण ही बन सकेगे। चलो, दस हजार मांग लेते है। परन्तु इतने से केवल निर्वाह-मात्र ही हो सकेगा, हाथी-घोड़े आदि तो नही रखे जा सकेंगे। तो फिर एक लाख मुद्राए मांग लेता हू। परन्तु यह भी पर्याप्त नही होगा, क्योकि हाथी और घोड़ो के साथ सुन्दर महल और दास-दासियो का खाना भी आवश्यक है। इसलिए एक करोड़ मांग लेना चाहिए।'

इत्यादि विचार तरंगो के प्रवाह मे बहते हुए कपिल के मन ने एकदम पलटा खाया और प्रबुद्ध होकर वह सोचने लगा—'अहो! तृष्णा की विचित्रता! कहा दो मासे स्वर्ण और कहा यह एक करोड़ मोहर! कितना अन्तर है! फिर भी तृप्ति नही। तृष्णे देवी! तुझे बार-बार नमस्कार, बार-बार प्रणाम! जिस जीव पर तेरी कृपा हो जाती है वह लाखो और करोड़ों का धनी होते हुए भी सदा दरिद्र और कगाल बना रहता है। धिक्कार है ऐसी तृष्णा-वृद्धि पर!'

कुछ और विचार करने पर उसने सोचा, 'कितनी भयानकताा! कितनी यातना! दो मासे स्वर्ण के लिए मैने रात्रि भर कष्ट भोगा, राजकर्मचारियो की भर्त्सनाए सही, राजपुरुषो के द्वारा बाधा गया और एक चोर की स्थिति मे राजसभा में उपस्थित होना पड़ा। इतना कष्ट दो मासे सोना मागने के उपलक्ष्य मे हुआ। यह एक करोड़ मोहरें माग ली गई तो न मालूम कितनी कल्पनातीत यातनाए भोगनी पड़ेगी। यह सब कुछ तृष्णा राक्षसी का ही कौतुक है। धिक्कार है मुझे जो कि मै एक उत्तम कुल मे पैदा होकर एक दासी के जाल मे फसकर इस हीन दशा को प्राप्त हुआ हूं।'

इत्यादि विचार-परम्परा मे निमग्न होते हुए कपिल को जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। तब उसने वहा पर ही केशो का लोच* करके साधु-वृत्ति को स्वीकार कर लिया और उस समय शासन देवता ने

★ इति भावयन् जातिस्मृत्याबुध्यत, स्वयकृतलोचनसाधुलिंग देवतादत्तमग्रहीत्। (सर्वार्थसिद्धि टीका)

उसे साधु का वेष भी दे दिया जिसको कि उसने ग्रहण कर लिया।

इसके बाद वह कपिल द्रव्य और भाव से पूर्णतया साधु बनकर राजा के पास से होकर जब जाने लगा तो राजा ने उससे पूछा, 'क्या तुमने अब तक मांगने के विषय में निश्चय किया है या नही?'

राजा के इस बचन को सुनकर कपिल मुनि बोले—'राजन्! जहां पर लाभ है वहां पर ही लोभ है, क्योंकि लाभ से ही लोभ की वृद्धि होती है। देखो, इस तृष्णा की विचित्रता! जो कि दो मासे स्वर्ण से बढ़ती हुई करोड़ों तक पहुंचने पर भी पूरी नहीं हो सकी। इसलिए इसका सर्वथा त्याग कर देना ही मैंने अपने लिए परम श्रेयस्कर समझा है। अब तो मुझे न लाख की आवश्यकता है, न करोड़ों की। मेरी दृष्टि में तो अब लाख और राख में तथा कौड़ी और करोड़ में कुछ भी अन्तर दिखाई नहीं देता। अतः हे राजन्! मुझे अब किसी भी वस्तु की आवश्यकता नही है?"

यह कहकर कपिल मुनि आगे को चल दिए और संयम की सतत आराधना में लगे हुए स्वतत्रता-पूर्वक विचरने लगे।

इस प्रकार विचरते हुए कपिल मुनि के छ. मास बीत गए। छः मास के बाद चारों घाती कर्मों का क्षय होने के बाद कपिल मुनि को केवल-ज्ञान की प्राप्ति हो गई। अब वह कपिल मुनि केवली हो गए और कपिल केवली के नाम से ही संसार में विख्यात हुए।

किसी समय श्रावस्ती नगरी के अन्तराल में बसने वाली पांच सौ चोरों की एक टोली को प्रतिबोध देने के लिए कपिल केवली ने श्रावस्ती की ओर विहार किया। वहां पर जब उनकी उस टोली से भेंट हुई, तब चोरो ने उनको पकड़कर उपसर्ग देना चाहा। तब अपने साथियों के द्वारा कपिल केवली मुनि को पीड़ित होते हुए देख उनके सरदार बलभद्र ने उनको ऐसा अनर्थ का काम करने से रोका और कहा कि इनको कुछ मत कहो, इनके पास कुछ नहीं है, ये तो निर्ग्रन्थ साधु हैं, इनको किसी प्रकार का कष्ट पहुंचाना बहुत ही अनर्थ का कारण है। इसलिए आओ, इनसे कोई सुन्दर गीत सुनाने की प्रार्थना करे।

अपने नायक बलभद्र के आदेश को सुनकर उन चोरो ने कपिल केवली को छोड़ दिया और उनसे गीत सुनाने के लिए प्रार्थना करने लगे। उनकी प्रार्थना को स्वीकार करके कपिल मुनि ने उन पांच सौ चोरों की टोली के मध्य मे बैठकर जो गीत उनको सुनाया था, वह यही आठवां अध्ययन है अर्थात् इस आठवे अध्ययन को ही उन्होंने गीत के रूप मे उनको सुनाया। जब उनके मध्य में बैठकर कपिल केवली ने इस अध्ययन की गाथाओं को संगीत के रूप में उनको सुनाना आरम्भ किया तो उनमें से कोई पहली गाथा से प्रतिबोध को प्राप्त हो गया, कोई दूसरी और कोई तीसरी से। बीसवीं गाथा के सुनने तक सारे के सारे चोर प्रतिबोध को प्राप्त हो गए।

इस प्रकार प्रतिबोध करने के अनन्तर भगवान् कपिल केवली उनको दीक्षा देकर अपने साथ लेकर चल दिए। यही कपिलाख्यान है। इस अध्ययन में जिन गाथाओं को कपिल केवली ने उन चोरों

के प्रति गाकर सुनाया था, उन्ही का उल्लेख किया जाता है।

काविलियं अध्ययन की प्रथम गाथा इस प्रकार है—

अधुवे असासयंमि, संसारंमि दुक्खपउराए ।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाहं दोग्गइं न गच्छेज्जा ॥ १ ॥

अध्रुवेऽशाश्वते, संसारे दुखप्रचुरे ।
कि नाम तद्भवेत्कर्मकं, येनाहं दुर्गतिं न गच्छेयम् ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—अधुवे—अध्रुव, **असासयंमि**—अशाश्वत, **संसारंमि**—ससार में, **दुक्खपउराए**—दु:ख-प्रचुर मे, **तं**—वह, **किं नाम**—कौन-सा, **कम्मयं**—कर्म, **होज्ज**—होता है, **जेण**—जिससे, **अहं**—मै, **दोग्गइं**—दुर्गति को, **न गच्छेज्जा**—न जाऊं।

मूलार्थ—इस अध्रुव, अशाश्वत और दुख-बहुल संसार में ऐसा कौन-सा कर्म है—कौन सा क्रियानुष्ठान है जिससे कि मैं दुर्गति मे न जाऊं?

टीका—जिस समय पांच सौ चोरो की टोली भगवान् कपिल के सामने धर्म-गीत सुनने को बैठ गई तब उन्होने उनकी ओर लक्ष्य करके इस प्रकार से उपदेश देना आरम्भ किया—''यह संसार अध्रुव है, इसमे कोई भी वस्तु सदा स्थिर रहने वाली नहीं है तथा पर्याय रूप से इसकी प्रत्येक वस्तु समय-समय पर उत्पन्न और विनष्ट होती रहती है, इसलिए यह अशाश्वत है। इसमे शारीरिक और मानसिक अनेक प्रकार के दुख भरे हुए है, अत: यह दुख-प्रचुर भी है। तब इस प्रकार 'अध्रुव, अशाश्वत और दुखमय ससार मे वह ऐसा कौन-सा क्रियानुष्ठान है कि जिसके अवलम्बन से मैं दुर्गति को न जाऊं?'

इसका अभिप्राय यह है कि यह ससार दुखो का घर है और इसमे बहुत दुख भरे पड़े है और साथ मे यह अस्थिर और विनश्वर भी है। तब वह कौन सा कर्मानुष्ठान है कि जिसके प्रभाव से यह जीव दुर्गति को प्राप्त न हो सके?

यद्यपि भगवान् कपिल केवली को न तो कोई सशय है और न वे दुर्गति मे जाने वाले है, तब यहा पर जो उत्तम पुरुष की क्रिया का प्रयोग किया गया है उसका उद्देश्य उन चोरो को प्रतिबोध देना है।

अब इस उक्त प्रश्न का उत्तर भगवान् कपिल मुनि इस प्रकार देते है—

विजहित्तु पुव्वसंजोगं, न सिणेहं कहिंचि कुव्वेज्जा ।
असिणेह सिणेहकरेहिं, दोसपओसेहिं मुच्चए भिक्खू ॥ २ ॥

विहाय पूर्वसंयोगं न स्नेहं क्वचित् कुर्वीत ।
अस्नेहः स्नेहकरेषु, दोष प्रदोषेभ्यो मुच्यते भिक्षुः ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—विजहित्तु—छोड़कर, **पुव्वसंजोगं**—पूर्व संयोग को फिर, **सिणेहं**—स्नेह, **कहिंचि**—किसी वस्तु में भी, **न कुव्वेज्जा**—न करे, **असिणेह**—स्नेह-रहित, **सिणेहकरेहिं**—स्नेह करने वालों में, **दोस**—दोष और, **पओसेहिं**—प्रदोषों से, **भिक्खू**—साधु, **मुच्चए**—छूट जाता है।

मूलार्थ—साधु पूर्व संयोगों को छोड़कर फिर कहीं पर भी स्नेह न करे, स्नेह करने वालों में स्नेह-रहित होकर दोष और प्रदोषों से साधु छूट जाता है।

टीका—उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् कपिल मुनि कहते है कि माता-पिता और स्त्री-पुत्र आदि के सम्बन्ध को छोड़कर अर्थात् छोड़ देने के बाद साधु फिर किसी वस्तु पर भी स्नेह न करे, किन्तु जो स्नेह करने वाले गृहस्थ लोग हैं उनमें भी स्नेह रहित-होकर विचरने वाला साधु सम्बन्धी जनों के वियोग से मन मे उत्पन्न होने वाले दुख-सन्ताप आदि से तथा परलोक में दुर्गति को प्राप्त करने से उत्पन्न होने वाले सभी कष्टो से छूट जाता है।

ससार मे इस जीव को जितने भी कष्ट होते है उन सब कष्टों का मूल कारण स्नेह है, इसलिए भिक्षु को सांसारिक सम्बन्धों का विच्छेद कर देने के बाद फिर किसी वस्तु में भी स्नेह नहीं रखना चाहिए और स्नेह का परित्याग कर देने के बाद भिक्षु को इस लोक तथा परलोक में किसी प्रकार का भी दुख नही होगा, किन्तु वह दोष-प्रदोष रूप सर्व प्रकार के दुखों से मुक्त हो जाता है।

तब इस उत्तर का साराश यह निकला कि दुर्गति से बचने के लिए स्नेह का परित्याग करना परम आवश्यक है, क्योकि स्नेह के कारण से ही यह जीव दुर्गति में ले जाने वाली अशुभ क्रियाओं का अनुष्ठान करता है, अतः सिद्ध हुआ कि स्नेह-रहित जो कर्मानुष्ठान है वही दुर्गति से इस जीव को बचाने वाला है।

अब फिर इसी विषय का सूत्रकार प्रतिपादन करते हैं—

तो नाणदंसणसमग्गो, हियनिस्सेसाए सव्वजीवाणं ।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए, भासइ मुणिवरो विगयमोहो ॥ ३ ॥

ततो ज्ञानदर्शनसमग्रः, हित निःश्रेयसाय सर्वजीवानाम् ।
तेषां विमोक्षणार्थं, भाषते मुनिवरो विगतमोहः ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—**तो**—तदनन्तर, **नाण**—ज्ञान, **दंसण**—दर्शन, **समग्गो**—समग्र—संयुक्त, **हिय**—हित, **निस्सेसाए**—मोक्ष के लिए, **सव्वजीवाणं**—सब जीवों को—तथा, **तेसिं**—उन चोरों को, **विमोक्खणट्ठाए**—मोक्ष के वास्ते, **मुणिवरो**—मुनिश्रेष्ठ केवली भगवान्, **विगयमोहो**—विगतमोह हैं, **भासइ**—कहते हैं।

मूलार्थ—तदनन्तर वे मुनि-प्रवर कपिल केवली जो केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन वाले और मोह से रहित हैं, सब जीवों के हित और कल्याण के लिए तथा उन पांच सौ चोरों के प्रतिबोध के लिए इस प्रकार कहने लगे।

टीका—केवल-ज्ञानी, केवल-दर्शी और विगत-मोह मुनिप्रवर कपिल ने सर्व-जीवों के हित और कल्याण के लिए तथा उन पांच सौ चोरों के कर्म-बन्धन को तोड़ने के लिए इस प्रकार से उपदेश दिया।

इस प्रकरण से मुनिवर शब्द के साथ जो 'विगतमोह' विशेषण दिया गया है उसका तात्पर्य उनमें यथाख्यात चारित्र का बोधन कराना है, अथवा केवलज्ञान-युक्त वीतरागता के प्रतिपादन से उनमें आप्तता या उनके इस उपदेश को आप्तोपदेश सिद्ध करना है।

'हित' शब्द यद्यपि द्रव्य अर्थ में ही प्रायः आता है, परन्तु यहां पर तो वह भावरूप मे आरोग्यादि के लिए ही गृहीत हुआ है। जिस समय कोई पवित्र आत्मा किसी भव्य जीव को उपदेश देने के लिए प्रवृत्त होता है तो उस समय उसकी आत्मा में उपदिश्यमान जीव के हित और कल्याण की भावना ही जागृत होती है।

प्राकृत भाषा मे यद्यपि चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग होता है, तथापि तादर्थ्य में चतुर्थी के एक वचन का प्रयोग भी किया जाता है, जैसे इसी गाथा मे '**निस्सेसाए**' '**विमोक्खणट्ठाए**' ये चतुर्थी के एकवचनान्त प्रयोग दिए गए हैं, परन्तु चतुर्थी के बहुवचन के स्थान पर तो षष्ठी का बहुवचन ही आता है।

इसके अतिरिक्त उक्त गाथा मे उपदेष्टा मुनि के विशेषणों द्वारा जो ऊपर गुण वर्णन किए गए है उनका अभिप्राय उक्त उपदेश को केवली भगवान् का उपदेश प्रमाणित करना है।

अब भगवान् कपिल केवली के उपदेश का वर्णन करते हैं—

सव्वं गंथं कलहं च, विप्पजहे तहाविहं भिक्खू।
सव्वेसु कामजाएसु, पासमाणो न लिप्पई ताई ॥ ४ ॥

सर्वं ग्रन्थं कलहं च, विप्रजह्यात् तथाविधं भिक्षुः।
सर्वेषु कामजातेषु, प्रेक्ष्यमाणो न लिप्यते त्रायी ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**सव्वं**—सब, **गंथं**—धन, **कलहं**—कलह क्रोध आदि, **च**—और, **विप्पजहे**—छोड़ दे, **तहाविहं**—तथाविध कर्म-बन्ध का हेतु, **भिक्खू**—साधु, **सव्वेसु**—सभी, **कामजाएसु**—कर्मजात मे, **पासमाणो**—देखता हुआ, **ताई**—आत्मा की रक्षा करने वाला, **न लिप्पई**—लिप्त नहीं होता।

मूलार्थ—सर्व प्रकार के धन और कलह आदि को कर्मबन्ध का हेतु जानकर साधु उसे छोड़ दे, क्योंकि सर्व प्रकार के काम-भोगों के कटु परिणाम को देखने वाला आत्म-रक्षक साधु कर्मों से लिप्त नही होता।

टीका—भगवान कपिल ने कर्मो से छूटने का यह उपाय बताया है कि भिक्षु सर्व प्रकार के आभ्यन्तर और बाह्य धन को तथा मिथ्यात्व आदि आन्तरिक परिग्रह को एवं क्रोध, मान, माया और

लोभ को कर्म-बन्ध का हेतु जानकर छोड़ दे। तथा सर्व प्रकार के रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श आदि विषयों के कटु परिणामों को देखता हुआ उनका भी परित्याग कर दे। इस प्रकार दुर्गति से आत्मा की रक्षा करने वाला भिक्षु कर्मों से कभी लिप्त नहीं होता।

'त्रायी' शब्द का अर्थ है दुर्गति से आत्मा की रक्षा करने वाला। **'त्रायते रक्षति आत्मानं दुर्गतेरिति त्रायी'** यहां पर तथाविध शब्द से कर्मबन्ध के हेतुभूत परिग्रह के त्याग का जो उपदेश दिया गया है, उसमें साधु के उपकरणों का समावेश नहीं है, क्योंकि साधु के उपकरण किसी प्रकार का परिग्रह नहीं है, वे तो धर्म-साधन के कारण हैं, अर्थात् धर्म-साधना के अत्यन्त साधक हैं।

वस्तु की हेयोपादेयता के विषय में उसके फलाफल का विचार होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी अभिप्राय से गाथा में **'पासमाणो—प्रेक्ष्यमाणः'** शब्द का उल्लेख किया गया है।

जो जीव ग्रन्थ आदि को नहीं छोड़ते, किन्तु उनमें अनुरक्त ही रहते हैं, अब उनकी दशा का वर्णन करते हैं—

भोगामिसदोसविसण्णे, हियनिस्सेयसबुद्धि वोच्चत्थे।
बाले य मन्दिए मूढे, बज्झइ मच्छिया व खेलंमि ॥ ५ ॥

भोगामिषदोषविषण्णः, हित निःश्रेयसबुद्धिविपर्यस्तः।
बालश्च मन्दो मूढः, बध्यते मक्षिकेव श्लेष्मणि ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—**भोगामिस**—भोग रूप आमिष, **दोस**—वही दोष—उसमें, **विसण्णे**—निमग्न, **हिय**—हित, **निस्सेयस**—मोक्ष—उसमें, **बुद्धि**—बुद्धि, **वोच्चत्थे**—विपरीत, **बाले**—अज्ञानी, **य**—और, **मंदिए**—मन्द, **मूढे**—मूढ, **मच्छिया**—मक्षिका की, **व**—तरह, **खेलंमि**—श्लेष्म मे, नाक और मुख के मल मे, **बज्झइ**—बन्ध जाता है।

मूलार्थ—भोग-रूप आमिष अर्थात् दोषों में निमग्न हित और मोक्ष के विषय में विपरीत बुद्धि रखने वाला अज्ञानी, मन्द और मूर्ख जीव श्लेष्म में फंसने वाली मक्षिका की भान्ति कर्म-जाल में बंध जाता है।

टीका—विषय-भोग रूप आमिष आत्मा के लिए अहितकर होने से अत्यन्त दोष रूप है। उसमे आसक्त होने वाला आत्मा भी दुष्ट हो जाता है, अतएव विषय-भोगों में निमग्न रहने वाला जीव अत्यन्त बाल अर्थात् मूर्ख और महा जड़ है। उसको अपने हिताहित का कुछ भी भान नहीं होता, इसीलिए वह शास्त्रकारों के हित-मित वचनों में और मोक्ष के विषय में विपरीत विचार रखने वाला होता है। विषय-भोगो में प्रचुर आसक्ति रखने से उसकी वही दशा होती है, जो कि दुर्गन्ध में आसक्त होने में श्लेष्म में फंसी हुई मक्षिका की होती है, अर्थात् जैसे वह मक्षिका श्लेष्म की दुर्गन्ध से आकर्षित होकर वहां जाकर फंस जाती है, ठीक उसी प्रकार राग-द्वेष के कारण विषय-भोगों से खिंचा हुआ यह जीव भी कर्मों के जाल में फंस जाता है एवं उस श्लेष्म से जैसे मक्षिका के लिए वहां से निकलना

कठिन हो जाता है उसी प्रकार इस पामर जीव का भी कर्मों के जाल से निकलना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

हिताहित के ज्ञान से शून्य जीव को बाल कहते है, एव धर्म के अनुष्ठान में उद्योग-शून्य व्यक्ति मन्द या मन्दमति कहलाता है तथा धर्म से उपरति और अधर्म मे प्रीति रखने वाला जीव मूढ़ कहलाता है।

रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्शादि विषय आमिष रूप हैं, अर्थात् मास के समान हैं। जैसे मांसाहारी को अन्य भोज्य पदार्थो की अपेक्षा मांस अधिक प्रिय होता है, उसी प्रकार विषयी व्यक्ति को अन्य धर्म कार्यो की अपेक्षा शब्द-स्पर्शादि विषय-भोग विशेष प्रिय होते है। इसी अभिप्राय को लेकर सूत्रकार ने उक्त गाथा मे '**भोगामिष**' शब्द का प्रयोग किया है, जिससे कि विषय-भोगो और मांस में समानता का बोध सुगमता से हो सके। जैसे मासाहारी की बुद्धि मे तमोगुण की प्रधानता के कारण विपरीतता आ जाती है, उसी प्रकार विषयभोगानुरागी व्यक्ति भी बुद्धि-विपर्यय को प्राप्त कर लेता है, जिसके कारण उसे मोक्ष के विषय मे विपरीत ज्ञान ही रहता है।

साराश यह है कि यह सब कुछ विषय-भोगानुरक्ति की विलक्षण शक्ति का ही प्रभाव है जो कि मुमुक्षु जनो के लिए सर्वथा त्याग कर देने योग्य है, परन्तु इसका त्याग करना सहज नही है।

अब इसके त्याग की कठिनता के विषय में कहते हैं—

दुप्परिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह सन्ति सुव्वया साहू, जे तरन्ति अतरं वणिया वा ॥ ६ ॥

दुष्परित्यजा इमे कामाः, नो सुत्यजा अधीरपुरुषैः ।
अथ सन्ति सुव्रताः साधवः, ये तरन्त्यतरं वणिज इव ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—**दुप्परिच्चया**—दुख से त्यागे जाते है, **इमे**—ये, **कामा**—काम-भोग, **नो**—नहीं, **सुजहा**—सुत्यज्य, **अधीरपुरिसेहिं**—अधीर पुरुषों के द्वारा, **अह**—अथ, **सुव्वया**—सुव्रती, **साहू**—साधु, **संति**—है, **जे**—जो, **तरंति**—तैरते है, **अतरं**—दुस्तर, **वणिया**—वणिक् की, **व**—तरह (समुद्र को)।

मूलार्थ—**ये काम-भोग दुस्त्यज्य हैं, अतः ये अधीर पुरुषों के द्वारा आसानी से त्यागे नहीं जा सकते। जो सुव्रती साधु हैं वे धनाढ्य वणिक की तरह इस विषय रूप समुद्र को तैर जाते हैं।**

टीका—ये काम-भोग अधीर पुरुषो से सुख-पूर्वक त्यागे नहीं जा सकते, इसलिए ये दुस्त्यज्य हैं। तथा जो शुद्ध वृत्तियों वाले अर्थात् सुन्दर आचार वाले साधु जन है वे इस विषय-भोग रूप दुस्तर ससार-समुद्र को इस प्रकार तैर जाते है जिस प्रकार व्यापारी—वणिक् जहाज के द्वारा समुद्र को तैर जाता है।

इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि जो जन अल्पसत्त्व वाले है उनके लिए ये काम-भोग दुस्त्यज्य है

और जो महासत्त्व वाले तथा धैर्यादि गुणों से युक्त है वे इन काम-भोगादि विषयों का त्याग करके अपने संयम के द्वारा इस संसार-समुद्र से इस प्रकार पार हो जाते हैं जैसे जहाज के द्वारा कोई व्यापारी—वणिक् समुद्र को पार कर लेता है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो कायर व्यक्ति हैं, उनके लिए तो इन विष-मिश्रित मधु रूप काम भोगादि का त्याग करना कठिन है और जो धीर पुरुष हैं वे इनका सहज ही में परित्याग कर सकते है। जिस प्रकार एक व्यापारी व्यक्ति समुद्र को पार करने के लिए जहाज का आश्रय लेता है उसी प्रकार धीर पुरुष को इस संसार-समुद्र को पार करने के लिए संयम का सहारा लेना आवश्यक है।

इस गाथा में '**व**' शब्द 'इव' के अर्थ में है और '**साहू**' (साधु) शब्द, प्राकृत के नियम से बहुवचनान्त (साधवः) समझना चाहिए। तभी गाथा में आए हुए 'संति' इस क्रिया-पद से उसका सम्बन्ध उपयुक्त हो सकता है।

अब नाम मात्र के साधुओं के विषय में कहते हैं—

समणा मु एगे वयमाणा, पाणवहं मिया अयाणन्ता।
मन्दा नरयं गच्छन्ति, बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ॥ ७ ॥

श्रमणाः (स्मः) वयम् एके वदन्तः, प्राणवधं मृगा अजानन्तः।
मन्दा नरकं गच्छन्ति बालाः, पापिकाभिर्दृष्टिभिः ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—**समणा**—साधु, **मु**—हम हैं, **एगे**—कुछ, **वयमाणा**—बोलते हुए, **पाणवहं**—प्राण-वध को, **अयाणंता**—न जानते हुए, **मिया**—मृगवत्—अज्ञानी, **मंदा**—मंद, **नरयं**—नरक को, **गच्छंति**—जाते हैं, **बाला**—अज्ञानी, **पावियाहिं**—पापकारी, **दिट्ठीहिं**—दृष्टियों से—अभिप्रायों से।

मूलार्थ—**'हम साधु हैं' इस प्रकार बोलने वाले, किन्तु प्राण-वध के फल को न जानते हुए मृग की भान्ति अज्ञानी और मूर्ख जीव अपनी पापकारी दृष्टियों से नरक में जाते हैं।**

टीका—कुछ मिथ्या-दृष्टि जीव इस प्रकार बोलते हैं कि 'हम साधु हैं', परन्तु वे प्राण-वध के फल और प्राणियों के स्वरूप के ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, दुराग्रह रोग से ग्रस्त और विवेक से रहित हैं। इतना ही नहीं, अपितु उनकी आत्माएं पापमयी प्रवृत्तियो से सर्वथा मलिन हो रही हैं। इसी कारण वे नरक-गति की यात्रा के लिए अपने आपको प्रस्तुत कर रहे है। उनकी दृष्टि में प्राणियों की हिंसा करना दोषावह नही है, अतएव वे '**ब्रह्मणे ब्राह्मणमिन्द्राय क्षत्रियं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रमालभेत्***'—इत्यादि वैदिक वाक्यों के द्वारा अपनी पापमयी प्रवृत्ति का समर्थन करते हुए अपने आपको साधु कहलाने का यत्न करते है। वास्तव में देखा जाए तो उनकी यह जघन्य हिसक प्रवृत्ति उनको साधुता की कोटि से बहुत नीचे गिरा रही है।

---

* ब्रह्मा के लिये ब्राह्मण का, इन्द्र के लिए क्षत्रिय का, मरुत् के लिए वैश्य का और तप के लिए शूद्र का वध करे।

गाथा मे आए हुए 'मु' पद को 'वय' के स्थान में ग्रहण करना चाहिए। ऐसा दो वृत्तिकारों का मत है और एक वृत्तिकार इसको 'स्म:' क्रिया का स्थानापन्न मानते हैं। परन्तु 'वय' के लिए अधिक सम्मतियां है और 'मिया—मृग.' शब्द के आगे रहने वाले 'इव' का लोप हुआ है तथा 'मृगा इव मृगा:'।

अब सूत्रकार इस विषय में जानने योग्य कुछ और कहते हैं—

न हु पाणवहं अणुजाणे, मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं।
एवं आयरिएहिं अक्खायं, जेहिं इमो साहुधम्मो पन्नत्तो ॥ ८॥

न खलु प्राणवधमनुजानन् , मुच्येत कदाचित्सर्वदुःखानाम् ।
एवमाचार्यैराख्यातं, यैरयं साधुधर्मः प्रज्ञप्तः ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—**पाणवहं**—प्राण-वध का, **अणुजाणे**—अनुमोदन करता हुआ, **कयाइ**—कदाचित् भी, **सव्वदुक्खाण**—सर्व दुखो से, **हु**—निश्चय ही, **न मुच्चेज्ज**—नही छूटता है, **एवं**—ऐसा, **आयरिएहि**—आचार्यो ने, **अक्खायं**—कहा है, **जेहि**—जिन्होंने, **इमो**—यह, **साहुधम्मो**—साधु धर्म का, **पन्नत्तो**—प्रतिपादन किया है।

मूलार्थ—जिन आचार्यों ने इस साधु-धर्म का वर्णन किया है वे आचार्य कहते हैं कि प्राण-वध की अनुमोदना करने वाला कभी भी दुखों से नही छूट सकता।

टीका—जो जीव हिसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह रूप आस्रवों का सेवन करते है, दूसरो से कराते है और करने वालो का अनुमोदन करते है वे शारीरिक और मानसिक दुखो से कदाचित् भी मुक्त नहीं हो सकते। इस प्रकार से साधु-धर्म का प्रतिपादन करने वाले आचार्यो ने कहा है।

पाचो आस्रवों से निवृत्त होना ही साधु-धर्म है, यह आचार्यो का कथन है। इसलिए जहा पर इन पाचो में प्रवृत्ति है वहा पर साधु धर्म भी नही है। इस प्रकार साधु-धर्म और असाधु-धर्म दोनों का ही अर्थतः निरूपण हो जाता है तथा दुखो की निवृत्ति का यदि कोई प्रधान कारण है तो वह साधु-धर्म ही है। उसी का सम्यग् अनुष्ठान करने से यह जीव दुखों से मुक्त हो जाता है। यह भाव भी भली भान्ति स्पष्ट हो जाता है।

गाथा मे आए हुए आचार्य शब्द से सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थकर भगवान का ही ग्रहण अभिप्रेत है किसी साधारण आचार्य का नही, क्योकि वास्तविक रूप मे वे ही धर्म के प्ररूपक अथवा स्थापक हो सकते है। यद्यपि कपिलदेव स्वयं भी केवली अर्थात् केवल ज्ञान से युक्त है तथापि उन पांच सौ चोरों को प्रतिबुद्ध करने और ज्ञानपद को बहुमान देने के निमित्त से ही ऐसा वर्णन किया गया है तथा **'सव्व-दुक्खाणं'** यह तृतीया विभक्ति के स्थान में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग है।

अब साधु-जनोचित कर्त्तव्य का वर्णन करते हैं—

पाणे य नाइवाएज्जा, से समिए त्ति वुच्चई ताई ।
तओ से पावयं कम्मं, निज्जाइ उदगं व थलाओ ॥ ९ ॥

प्राणान् यो नातिपातयेत्, स समित इत्युच्यते त्रायी ।
ततोऽथ पापकं कर्म, निर्याति उदकमिव स्थलात् ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः—**पाणे**—प्राणों का, **नाइवाएज्जा**—अतिपात—विनाश न करे, **य**—और मृषावाद आदि का सेवन न करे, **से**—वह, **समिए त्ति**—इस प्रकार समिति वाला, **वुच्चई**—कहा जाता है, **ताई**—रक्षा करने वाला, **तओ**—तदनन्तर, **से**—अथ—उससे, **पावयं**—पाप, **कम्मं**—कर्म, **निज्जाइ**—निकल जाता है, **उदगं**—उदक, **व**—जैसे, **थलाओ**—स्थल से ।

मूलार्थ—जो व्यक्ति किसी प्राणी का वध न करे और मिथ्या भाषण आदि भी न करे, वह समित अर्थात् समिति वाला कहलाता है, फिर उससे पाप-कर्म इस प्रकार दूर हो जाता है जिस प्रकार ऊंचे स्थल से पानी चला जाता है—गिर जाता है ।

टीका—जो व्यक्ति जीवों का स्वय घात न करे और दूसरों से न करावे तथा घात करने वालों को भला भी न समझे एव इसी प्रकार झूठ और चोरी आदि से भी उपरत रहे, अर्थात् अन्य स्तेय, मैथुनादि का भी त्यागी हो वह जीव समित अर्थात् समिति युक्त होने से त्रायी अर्थात् रक्षक या रक्षा करने वाला हो जाता है, तब उस साधक जीव से पाप-कर्म ऐसे दूर चले जाते हैं जैसे स्थल से—ऊचे स्थान से पानी बह जाता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार समिति-युक्त साधक से पाप-कर्म पृथक् हो जाते है ।

यहा पर इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उक्त गाथा में जो केवल पाप कर्मों के पृथक् करने के कारणो का निर्देश किया गया है, उसका तात्पर्य सांसारिक अवस्था में रहे हुए जीवों की धर्म-कार्यो मे विशेष रुचि उत्पन्न करने का है, किन्तु मोक्ष-प्राप्ति के लिए तो पुण्य और पाप दोनो के ही क्षय करने की आवश्यकता है, क्योकि जब तक पुण्य और पाप ये दोनों ही कर्म सर्वथा क्षय नहीं हो जाते, अर्थात् इन दोनों से ही आत्मा पृथक् नही हो जाती, तब तक मोक्ष का प्राप्त होना असम्भव है ।

तथा जैसे पाप-कर्मों का अनुष्ठान नरक-गति का हेतु है, उसी प्रकार पुण्य-कर्म का संचय मात्र स्वर्ग-प्राप्ति का साधन है और सांसारिक जनों की जो पाप कर्म में प्रवृत्ति है वह दूर होकर धर्म की ओर, पुण्य की ओर अभिरुचि बढ़ जाए तथा अन्त मे दोनों ही प्रकार के शुभाशुभ कर्मों से निवृत्त होकर मोक्ष के सुख को प्राप्त कर सकें, इसी अभिप्राय से उक्त उपदेश दिया गया है। जैसे पांचों आस्रव बन्ध के कारण है वैसे ही पांचो संवर मोक्ष के हेतु है। जब यह जीव सवर और निर्जरा में प्रविष्ट होता है तब इसके पुण्य और पाप-कर्म इस प्रकार बह जाते है जैसे ऊंचे स्थान से पानी बह

जाता है और यह आत्मा शुद्ध हो जाती है।

अब फिर इसी विषय का अधिक स्पष्ट और ग्रहणीय रूप में वर्णन करते हैं—

जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च ।
नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव ॥ १० ॥

जगन्निश्रितेषु भूतेषु, त्रसनामसु स्थावरेषु च ।
न तेषु दण्डमारभेत, मनसा वचसा कायेन चैव ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—**जग**—लोक मे, **निरिसएहिं**—आश्रित, **भूएहिं**—जीवों मे, **तसनामेहिं**—त्रसों में, **च**—और, **थावरेहि**—स्थावरो मे, **तेसिं**—उन मे, **दंडं**—दड का, **नो आरभे**—आरम्भ न करे, उन्हें दण्ड न देवे, **मणसा**—मन से, **वयसा**—वचन से, **कायसा**—काया से, **च**—अर्थात् सब अंगों से, **एवं**—अवधारणार्थक है।

मूलार्थ—लोकाश्रित जो त्रस और स्थावर जीव है उनको मन, वचन और काया से तथा अन्य किसी भी प्रकार से दंड न दे।

टीका—इस लोक में जितने भी जीव है वे सब त्रस और स्थावर इन दो राशियो मे विभक्त है, इनमे जो चलते-फिरते जीव है उनकी त्रस सज्ञा है और जो स्थिर रहने वाले पृथ्वी आदि पांच जीव हैं उनको स्थावर कहते है। त्रस नाम-कर्म के उदय से जिन जीवों को त्रस रूप की प्राप्ति होती है वे त्रस कहे जाते है और स्थावर नाम कर्म के उदय से स्थावरता को प्राप्त होने वाले जीवो को स्थावर कहा जाता है। इस प्रकार लोक में रहने वाले त्रस और स्थावर सभी जीवों को मन, वचन और काया से विचारशील पुरुष कभी दंड न दे। तात्पर्य यह है कि अपने आत्म-परिणामो को किसी भी जीव के प्रतिकूल धारण न करे। इस प्रकार का आचरण करने पर ही यह जीव समिति वाला माना जा सकता है। इसके प्रतिकूल अर्थात् जीवो के प्रति अशुभ भाव रखने वाला कभी समिति-युक्त नही हो सकता।

'**चकार**' से यावन्मात्र हिंसा के भग अर्थात् प्रकार है, उन सबकी निवृत्ति अभीष्ट है और मूल गाथा मे सप्तमी के स्थान मे जो तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है वह प्राकृत नियम के अनुसार समझना चाहिए।

इस प्रकार सूत्रकर्त्ता ने अथवा यूं कहिए कि कपिल केवली ने मूल गुणों का वर्णन करके दिखा दिया। अब वे उत्तर गुणों का वर्णन करते हैं। उनमें प्रथम एषणा-समिति के विषय में कहते हैं—

सुद्धेसणाओ नच्चाणं, तत्थ ठविज्ज भिक्खू अप्पाणं ।
जायाए घासमेसेज्जा, रसगिद्धे न सिया भिक्खाए ॥ ११ ॥

शुद्धैषणाः ज्ञात्वा, तत्र स्थापयेद् भिक्षुरात्मानम् ।
यात्रायै ग्रासमेषयेत् , रसगृद्धो न स्याद् भिक्षादः ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—**सुद्धेसणाओ**—शुद्ध एषणाओं को, **नच्चाणं**—जान करके, **तत्थ**—उनमें,

भिक्खू—साधु, **अप्पाणं**—आत्मा को, **ठवेज्ज**—स्थापित करे, **जायाए**—संयम-यात्रा के लिए, **घासं**—ग्रास की, **एसेज्जा**—गवेषणा करे, **भिक्खाए**—साधु, **रसगिद्धे**—रस में मूर्च्छित, **न सिया**—न हो, **णं**—वाक्यालंकार में है।

मूलार्थ—साधु शुद्ध एषणा को जानकर उसी में अपनी आत्मा को स्थापित करे और संयम-यात्रा के निर्वाहार्थ ही ग्रास की गवेषणा करे, परन्तु मुनि को चाहिए कि वह रसों में मूर्च्छित न हो।

इस गाथा में साधु की एषणा-समिति का वर्णन किया गया है। जैसे कि उद्गमन और उत्पादन आदि जो दोष हैं उनसे रहित शुद्ध भिक्षा को जानकर उसमें अपनी आत्मा को स्थित करे अर्थात् दोष-रहित भिक्षा का ग्रहण करे और उस निर्दोष भिक्षा का ग्रहण भी केवल संयम-निर्वाहार्थ ही करे, किन्तु शरीर को पुष्ट और बल-वीर्य युक्त बनाने के लिए आहार का ग्रहण न करे। शुद्ध निर्दोष आहार के मिल जाने पर भी साधु उसके स्वादिष्ट रस आदि में मूर्च्छित भी न हो, किन्तु जैसे शकट के धुरा को भली-भांति चलने के लिए तेल आदि चिकने पदार्थों को लगाते है और व्रण आदि पर किसी औषधि विशेष का लेप करते हैं उसी प्रकार केवल शरीर को धर्म-साधनार्थ टिकाए रखने के उद्देश्य से स्वल्प आहार करे, अर्थात् मनोहर आहार के मिल जाने पर उसमें आसक्त होता हुआ अधिक आहार न करे।

तात्पर्य यह है कि साधु को एषणा-गवेषणा-रसैषणा अर्थात् अहार की शुद्धि को देखना, फिर लेना, फिर खाना इन तीनो में यत्न रखना चाहिए। इसी प्रकार अन्य उत्तर गुणों के विषय में भी समझ लेना चाहिए, क्योकि आहार की शुद्धि होने पर अन्य अशुद्धियां भी ठीक हो सकती हैं।

इसके अतिरिक्त इतना और समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार रस-आसक्ति के त्याग का उपदेश दिया गया है उसी प्रकार रसो के प्रति द्वेष रखने का भी निषेध है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार राग का त्याग करना आवश्यक है उसी प्रकार द्वेष का भी परित्याग कर देना जरूरी है।

रस-विषयक आसक्ति के त्यागने के अनन्तर साधु किस प्रकार के पदार्थों को ग्रहण करे, अब इसके सम्बन्ध में कहते है—

पंताणि चेव सेवेज्जा, सीयपिंडं पुराणकुम्मासं ।
अदु बुक्कसं पुलागं वा, जवणट्ठाए निसेवए मंथुं ॥ १२ ॥

प्रान्तानि चैव सेवेत, शीतपिण्डं पुराण-कुल्माषान् ।
अथ बुक्कसं पुलाकं वा, यापनार्थं निषेवेत मन्थुम् ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—**पंताणि**—नीरस आहार, **च**—प्राग्वत्, **इव**—पूर्ववत्, **सेवेज्जा**—सेवन करे, **सीयपिंडं**—शीत आहार, **पुराण**—पुराने, **कुम्मासं**—कुल्माषों का आहार करे, **अदु**—अथवा, **बुक्कसं**—मूंग-उड़द आदि का आहार, **वा**—अथवा, **पुलागं**—असार आहार, **जवणट्ठाए**—संयमयात्रा के निर्वाहार्थ, **मंथुं**—बदरी फलों के चूर्ण को, **निसेवए**—सेवन करे।

मूलार्थ—नीरस आहार, शीत आहार, पुराने कुल्माषों का आहार, अर्थात् दले हुए एवं भुने हुए मूंग-उड़द आदि पदार्थों का आहार, असार आहार, बदरी (बेर) फलों के चूर्ण का आहार आदि का संयम-निर्वाह के लिए सेवन करे।

टीका—इस गाथा मे संयम-शील साधु को किस प्रकार का आहार करना चाहिए, इस बात का वर्णन बड़ी सुन्दरता से किया गया है। यथा—साधु का जो आहार हो वह नीरस अर्थात् रूक्ष हो, कारण कि स्निग्ध आहार के सेवन से मोहनीय कर्म का शीघ्र उदय होता है, इसीलिए साधु को अन्त और प्रान्त आहार करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त साधु शीत-पिंड का आहार करे, क्योकि उष्ण आहार भी प्रायः बाधा कारक एव उत्तेजक ही होता है। बहुत काल के पुराने कुल्माषादि धान्य नीरस हो जाते है, अतः उन कुल्माषादि पदार्थो का साधु को आहार करना चाहिए। अथवा साधु बुक्कस आहार का सेवन करे। जिस धान्य का रस निकाल लिया हो, उसे बुक्कस कहते है, अथवा मूंग और उड़द आदि एकत्रित किए हुए पदार्थो का आहार करे, अर्थात् निस्सार पदार्थों का सेवन करे एवं बदरी फल अर्थात् बेर के चूर्ण का आहार करे, क्योकि वह भी नीरस हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि साधु को स्निग्ध और स्वादिष्ट भोजन नही करना चाहिए तथा वह आहार भी केवल सयम-यात्रा के निर्वाहार्थ ही करना चाहिए और वह भी रागद्वेष के भाव से रहित होकर ही करना उचित होता है।

यहां पर इतना स्मरण रहे कि आहार-विषयक यह जो कुछ भी लिखा गया है वह सब उत्सर्ग मार्ग को लेकर तथा जिन-कल्प को लेकर लिखा गया है। आपवादिक अवस्था में तो उक्त प्रकार के आहार से यदि साधु की संयम-यात्रा मे किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित हो, अथवा वायु आदि के किसी रोग का उपद्रव दिखाई पड़ता हो, तो साधु उष्ण और स्निग्ध आहार का भी सेवन कर सकता है। स्थविर-कल्पी साधु के लिए संयम-यात्रा के निमित्त इन स्निग्ध आदि पदार्थो का सेवन, अपवाद मार्ग को लेकर दोष-प्रद नही होता, किन्तु जो जिनकल्पी है उसके लिए तो उक्त प्रकार के नीरस पदार्थो के आहार का ही विधान है, कारण यह है कि जिनकल्पी के लिए स्निग्ध आहार का सर्वथा निषेध है।

इस प्रकार उक्त गाथा मे ध्वनि रूप से जिनकल्पी और स्थविरकल्पी के स्वरूप का भी वर्णन आ जाता है, परन्तु इन दोनो ही कल्पो मे एषणा-समिति की तो पूर्ण आवश्यकता रहती है, इसलिए सयम-शील साधु को एषणा-समिति के विषय मे पूर्ण रूप से सावधान रहना चाहिए।

अब शास्त्र विहित साधु-चर्या के विरुद्ध आचरण करने वालों के विषय में कहते है—

जे लक्खणं च सुविणं च, अंगविज्जं च जे पउंजंति।
न हु ते समणा वुच्चंति, एवं आयरिएहिं अक्खायं॥ १३॥

ये लक्षणं च स्वप्नं च, अंगविद्यां च ये प्रयुञ्जन्ति ।
न खुल ते श्रमणा उच्यन्ते, एवमाचार्यैराख्यातम् ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—जे—जो, **लक्खणं**—लक्षण, **च**—और, **सुविणं**—स्वप्न, **अंगविज्जं**—अंगविद्या का, **च**—(पादपूरणार्थ में), जे—जो, **पउंजंति**—प्रयोग करते हैं, ते—वे, **हु**—निश्चय ही, **समणा**—साधु, **न वुच्चंति**—नहीं कहे जाते, एवं—इस प्रकार, **आयरिएहिं**—आचार्यों ने, **अक्खायं**—कहा है।

मूलार्थ—जो साधु लक्षण-विद्या, स्वप्न-विद्या, तथा अंगस्फुरण-विद्या का प्रयोग करते हैं वे निश्चय ही साधु नहीं कहे जाते, ऐसा आचार्यों ने प्रतिपादन किया है।

टीका—इस गाथा में साधु को सामूहिक, स्वप्न और अंगस्फुरण आदि लौकिक शास्त्रो के उपयोग का निषेध किया गया है। यदि साधु इनका प्रयोग करता है तो शास्त्रकारों की दृष्टि से वह साधु नहीं है, क्योंकि वह तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध आचरण कर रहा है, इसलिए संयमशील साधु इन विद्याओं का कभी प्रयोग न करे।

लक्षणविद्या—स्त्री-पुरुषो के लक्षणों अर्थात् चिन्हों को देखकर उनका वर्णन करना, यथा—'**पद्म, वज्रांकुश, छत्र, शंख, मत्स्यादयस्तले पाणिपादेषु दृश्यन्ते यस्यासौ श्रीपतिर्भवेत्**' अर्थात् जिसके हाथो और पैरों मे पद्म, वज्र, अंकुश, छत्र, शख और मत्स्यादि के चिह्न हों वह लक्ष्मी का पति होता है, इत्यादि।

स्वप्नविद्या—स्वप्न का शुभाशुभ कहना, यथा—'**दहि छत्त हेम चामर वन्न-फलं च दीव तंबोलं संख ज्झायाय वसहो दिट्ठो धणं देइ। पढमंमि वास फलया बीए जामंमि होंति छम्मासा। तइयमित्तिमा सफला चरमेसयज्ज फला होंति**—अर्थात् स्वप्न मे दही, छत्र, स्वर्ण, चामर, फलयुक्त वृक्ष, दीपक, ताम्बूल, शख, ध्वजा और वृषभादि के देखने से धन की प्राप्ति होती है, इत्यादि। तथा—रात्रि के प्रथम प्रहर मे देखा हुआ स्वप्न एक वर्ष में फल देता है, दूसरे प्रहर में देखा हुआ छः मास में, तीसरे प्रहर का स्वप्न तीन मास मे और चौथे प्रहर में देखा हुआ स्वप्न तत्काल फल देने वाला होता है।

अंगविद्या—शरीर के अंगो के स्फुरण का शुभाशुभ फल कथन करना, जैसे—'**सिर फुरणे किर रज्जं, पियमेलो होइ बाहु फुरणंमि। अच्छि फुरणंमि य पियं, अहरे पियसंगमो होइ**'—अर्थात् सिर के फरकने से राज्य की प्राप्ति होती है, भुजाओं के फरकने से प्रिय का मिलाप होता है, आंखो के फरकने से प्रिय वस्तु के दर्शन होते है और अधरों के स्फुरण से प्रिया का समागम होता है, इत्यादि। इन उक्त प्रकार की लौकिक विद्याओं का प्रयोग करने वाला साधक साधु-धर्म से सर्वथा बाहर माना जाता है, अतः इन कर्मों से साधु को सर्वथा पृथक् रहना चाहिए।

उक्त क्रियाओं का अनुष्ठान करने वाले को किस फल की प्राप्ति होती है अब इस विषय में कहते हैं—

इह जीवियं अणियमेत्ता, पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं ।
ते कामभोगरसगिद्धा, उववज्जन्ति आसुरे काए ॥ १४ ॥

इह जीवितं अनियम्य, प्रभ्रष्टाः समाधियोगेभ्यः ।
ते कामभोगरसगृद्धाः उपपद्यन्ते आसुरे काये ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—इह—इस मनुष्य-जन्म मे, **जीवियं**—जीवितव्य को, **अणियमेत्ता**—बिना वश किए, **पब्भट्ठा**—भ्रष्ट होकर, **समाहिजोगेहिं**—समाधि योगों से, **ते**—वे, **काम-भोग**—कामभोग, **रस**—रसों में, **गिद्धा**—गृद्धा, **आसुरे**—आसुर, **काए**—काय मे, **उववज्जंति**—उत्पन्न होते हैं।

मूलार्थ—काम-भोग और रसों में मूर्च्छित होते हुए भी वे उक्त साधु इस मनुष्य-जन्म में असंयमी जीवन को वश किए बिना समाधि-योगों से भ्रष्ट होकर असुर कुमारों में उत्पन्न होते हैं।

टीका—जिन जीवो ने साधु-वृत्ति को ग्रहण करके भी अपने असंयमी जीवन को बारह प्रकार के तप के द्वारा वश में नहीं किया वे काम-भोगों के रस मे मूर्च्छित होते हुए समाधि-योगों से सर्वथा भ्रष्ट होकर असुरकाय में उत्पन्न होते है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि जिन मनुष्यों ने मन, वचन और काया के योगों को तप-संयम के द्वारा वश मे नही किया उनकी आत्मा इसी कारण से अनियन्त्रित रहती है तथा जो समाधि मार्ग से पतित हो रहे हैं, वे यत्-किंचित् तपोऽनुष्ठान के बल से असुर-कुमारो की श्रेणी मे उत्पन्न हो जाते है, यदि उनका आत्मा तप और सयम के द्वारा भली-भान्ति नियन्त्रित होता है तब वे सम्पूर्ण कर्मों के क्षय होने पर मोक्ष मे जाते है, अथवा कुछ शेष कर्म रहने पर कल्पादि देवलोकों मे उच्चकोटि के देव बनते है, परन्तु इसके विपरीत जिन्होंने असंयमी जीवन की वृद्धि की होती है वे उच्चकोटि के देव नही बन पाते, क्योंकि सयम-धारण करने पर भी उनकी रुचि काम-भोगो के रसास्वादन मे ही लगी रहती है और इसी हेतु से वे अपने समाधि-मार्ग से गिर जाते हैं, उनमें चित्त की निराकुलता का अश बिल्कुल नही रहता, अतएव साधु जीवन की क्रियाओं में उनकी शिथिलता बढ़ जाती है।

आत्म-ध्यान का नाम समाधि है, अस्तु अब असुर-कुमारों से च्युत होने पर उनको जिस फल की प्राप्ति होती है उसके विषय में कहते हैं—

तत्तोऽवि य उवट्टित्ता, संसारं बहुं अणुपरियडन्ति ।
बहुकम्मलेवलित्ताणं, बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं ॥ १५ ॥

ततोऽपि च उद्वृत्य, संसारं बहुमनुपर्यटन्ति ।
बहुकर्मलेपलिप्तानां, बोधिर्भवति सुदुर्लभा तेषाम् ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—तत्तोऽवि—वहा से भी, **उवट्टित्ता**—निकल करके, **बहुं**—बहुत, **संसारं**—संसार मे, **अणुपरियडन्ति**—परिभ्रमण करते है, **य**—और, **बहु**—बहुत, **कम्मलेवलित्ताणं**—कर्म-लेप से लिप्तों

को, **बोही**—धर्म की प्राप्ति, **सुदुल्लहा**—अति दुर्लभ, **होइ**—होती है, **तेसिं**—उनको जिन्होंने धर्म-विपरीत क्रियाएं की हैं।

मूलार्थ—वे जीव जिन्होंने उक्त क्रियाओं का अनुष्ठान किया है असुर-कुमारों से निकल कर असीम संसार में परिभ्रमण करते हैं। कर्मों के लेप के अधिक लिप्त होने पर उनको पुनः जिन-धर्म की प्राप्ति बहुत दुर्लभ हो जाती है।

टीका—उक्त प्रकार की लक्षण-स्वप्नादि लौकिक विद्याओं का उपयोग करने वाले जीव असुर-कुमारों से निकल कर चौरासी लाख जीव-योनियों में बहुत काल तक परिभ्रमण करते रहते हैं। उनकी आत्मा पर कर्मों का अधिक लेप रहता है इसलिए उनको अत्यन्त दुर्लभ इस बोधि-धर्म की प्राप्ति का होना बहुत कठिन हो जाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि लक्षण आदि विद्याओं के प्रयोग से उत्तर गुणों की विराधना होती है और उत्तरगुणों की विराधना से असुर-कुमारों में उत्पन्न हो कर फिर संसार में भ्रमण करना पड़ता है। इस अवस्था में उनको संसार के अन्यान्य पदार्थों की तो प्राप्ति हो जाती है, परन्तु सत्पथ के प्रदर्शक जैन-धर्म की प्राप्ति का होना कठिन हो जाता है। मुमुक्षु पुरुष को उत्तरगुणों की शुद्धि का अवश्य ध्यान रखना चाहिए जिससे कि संसार-परिभ्रमण का कारण नष्ट हो सके। जब इस प्रकार चारित्र की शुद्धि के लिए प्रयत्न किया जाएगा तब इस जीव को यथार्थ बोध की प्राप्ति हो जाएगी तथा कर्मों के लेप से रहित होकर यह आत्मा संसार के बन्धनों से जल्दी ही छूट जाएगी।

अब यहां पर यह प्रश्न होता है कि जब उन्होंने संसार का सम्बन्ध ही छोड़ दिया तो फिर वे उक्त प्रकार की लक्षणादि विद्याओं का प्रयोग ही क्यो करते है?

इसका उत्तर यह है कि वे उक्त प्रकार की क्रियाओं का अनुष्ठान केवल यश-कीर्ति और मान-बड़ाई आदि के लोभ से करते हैं, उनकी आत्मा लौकिक मान-बड़ाई के लोभ के प्रति आकर्षित रहती है।

अब उनकी आत्मा-सम्बन्धी असन्तुष्टता के विषय में कहते हैं—

कसिणंपि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से ण संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया॥ १६॥

कृत्स्नमपि य इमं लोकं, प्रतिपूर्णं दद्यादेकस्मै।
तेनापि स न संतुष्येत्, इति दुष्पूरकोऽयमात्मा॥ १६॥

पदार्थान्वयः—कसिणंपि—संपूर्ण भी, **इमं**—यह, **लोयं**—लोक, **पडिपुण्णं**—धन-धान्यादि से भरा हुआ, **जो**—जो सुरेन्द्रादि, **दलेज्ज**—दे दें, **इक्कस्स**—किसी एक को, **तेणावि**—उससे भी, **से**—वह, **ण संतुस्से**—सन्तोष को प्राप्त नहीं होता, **इइ**—इस प्रकार, **दुप्पूरए**—दुखों से पूर्ण करने योग्य है, **इमे**—यह, **आया**—आत्मा।

मूलार्थ—धन-धान्य से भरा हुआ सम्पूर्ण लोक भी यदि सुरेन्द्र आदि किसी को दे दें तो इससे भी

लोभी जीव सन्तोष को प्राप्त नहीं होता, इसलिए यह आत्मा दुष्पूर है, अर्थात् इसकी तृप्ति होनी अत्यन्त कठिन है।

टीका—इस गाथा में तृष्णा की दुष्पूरता का वर्णन किया गया है। यदि सारे संसार की धन-धान्यादि सामग्री से भी मनुष्य को सन्तुष्ट करना चाहे तो भी इसका सन्तुष्ट होना कठिन है। यदि कोई महासमृद्धि शाली सुरेन्द्र आदि देवता किसी व्यक्ति को प्रसन्न करने के उद्देश्य से सारे विश्व की विभूति भी उसे दे डाले तो भी लोभ-ग्रस्त आत्मा की सन्तुष्टि में कुछ न्यूनता रह ही जाती है, वह उससे भी अधिक की इच्छा करने लगता है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा को लगा हुआ यह तृष्णा रूपी रोग इन सांसारिक पदार्थरूप औषधियों के द्वारा कभी शान्त नहीं हो सकता। इसकी औषध तो एक सन्तोष ही है, अतः यह आत्मा बाह्य पदार्थों के लाभ से कभी तृप्ति को प्राप्त नही हो सकता। कहा भी है—

न वह्निस्तृणकाष्ठेषु, नदीभिर्वा महोदधिः ।
न चैवात्माऽर्थसारेण, शक्यस्तर्पयितुं क्वचित् ॥

अर्थात्—जिस प्रकार अग्नि तृण-काष्ठ आदि से तृप्त नही होती और समुद्र नदियो से तृप्त नहीं होता उसी प्रकार यह आत्मा भी धन आदि बाह्य पदार्थो से कभी तृप्ति को प्राप्त नही होती। इसलिए अपनी आत्मा को सन्तुष्ट करने की इच्छा रखने वाले मुमुक्षु को ज्ञान की आराधना करनी चाहिए। ज्ञान-शक्ति ही आत्मा को सर्वथा सन्तुष्ट कर सकती है।

'इक्कस्स' यह चतुर्थी के अर्थ मे षष्ठी विभक्ति का प्रयोग है।

यह आत्मा संसार के पदार्थो से क्यों सन्तुष्ट नहीं होता, अब इस विषय पर विचार करते हैं—

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई ।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥ १७ ॥

यथा लाभस्तथा लोभः, लाभाल्लोभः प्रवर्धते ।
द्विमाषकृतं कार्यं, कोट्याऽपि न निष्ठितम् ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जिस प्रकार, **लाहो**—लाभ होता है, **तहा**—उसी प्रकार, **लोहो**—लोभ बढ़ जाता है, **लाहा**—लाभ से, **लोहो**—लोभ, **पवड्ढई**—बढ़ता है, **दोमासकयं**—दो मासे सुवर्ण से होने वाले, **कज्जं**—कार्य, **कोडीए वि**—करोड़ो से भी, **न निट्ठियं**—निष्ठित अर्थात् निष्पन्न नहीं हुए।

मूलार्थ—जैसे-जैसे लाभ होता जाता है, वैसे-वैसे उसके साथ लोभ बढ़ता जाता है, क्योंकि लाभ से लोभ बढ़ता है, अतः दो मासे स्वर्ण से होने वाले कार्य करोड़ों से भी निष्पन्न न हो सके।

टीका—इस गाथा में भगवान कपिल केवली ने अपने निजी वृत्तान्त का उदाहरण देकर आत्मा की दुष्पूर्यता अर्थात् अतृप्ति का अच्छा चित्र खींचा है। लाभ से लोभ उत्पन्न होता है, अर्थात् जैसे-जैसे लाभ होता जाता है, वैसे-वैसे लोभ की मात्रा में अधिकता होती जाती है। उदाहरण के लिए जैसे कपिल केवली। जैसे दासी का कार्य मात्र दो मासे सोने से भली-भांति हो सकता था, परन्तु

करोड़ों तक की सम्पत्ति से भी वह निष्पन्न न हो सका।

तात्पर्य यह है कि कपिल देव कहते हैं कि मैं दासी-कृत कार्य के निमित्त केवल दो मासे स्वर्ण लेने के लिए गया था, परन्तु राजा के प्रसन्न होने पर करोड़ों की प्राप्ति होते हुए भी मेरी तृष्णा का निरोध न हो सका। इसके विपरीत मेरी तृष्णा आगे से आगे बढ़ती ही चली गई, अतः जो व्यक्ति यथा-लाभ में सन्तोष मानकर निश्चिंत रहते हैं वे ही वास्तव में सुखी हैं, इसलिए मुमुक्षु पुरुष को उचित है कि वह अपनी आत्मा में कभी भी लोभ का उदय न होने दे।

यहां पर इतना ध्यान अवश्य रहे कि यह लोभ का निषेध सांसारिक पदार्थों के सम्बन्ध को लेकर ही किया गया है और ज्ञानप्राप्ति के लिए तो जितना भी लोभ किया जाए उतना कम ही है, क्योंकि आत्मा को अनन्त सुख की प्राप्ति ज्ञान से ही हो सकती है, अतः उसकी वृद्धि मे तो जितना भी अधिक प्रयत्न किया जाए उतना ही प्रशसनीय है।

यह तृष्णा क्यों शान्त नहीं होती? इसका उत्तर तो यह है कि जब तक विषयों की आसक्ति दूर नही होती, तब तक तृष्णा का शान्त होना असम्भव है और विषयासक्ति में सबसे प्रधान स्त्री और उसका ससर्ग है, इसलिए अब इसी के विषय में कहते है—

नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा, गंडवच्छासुऽणेगचित्तासु ।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता, खेल्लन्ति जहा व दासेहिं ॥ १८ ॥

न राक्षसीषु गृध्येत्, गण्डवक्षास्वनेकचित्तासु ।
याः पुरुषं प्रलोभ्य, क्रीडन्ति यथा वै दासैः ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—**नो**—नही, **रक्खसीसु**—राक्षसियों में, **गिज्झेज्जा**—मूर्च्छित होवे, **गंडवच्छासु**—कुच है जिनके वक्ष पर, **अणेगचित्तासु**—अनेक चित्त वाली, **जाओ**—जो स्त्रियां, **पुरिसं**—पुरुष को, **पलोभित्ता**—प्रलोभन देकर—फिर, **खेल्लंति**—क्रीड़ा करती है, **जहा**—जैसे, **व**—निश्चय (वा इव अथ मे है), **दासेहिं**—दासो से।

मूलार्थ—जिनके वक्षस्थल पर कुच हैं और जिनके अनेक चित्त हैं तथा जो पुरुषों को मोहित करके फिर उनसे दासों के समान क्रीड़ा करती हैं ऐसी राक्षसी स्त्रियों में आसक्त न होवे।

टीका—इस गाथा में स्त्री-सहवास से अलग रहने का उपदेश दिया गया है। स्त्री को राक्षसी कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार राक्षसी रुधिर को पीकर जीवन का विनाश कर देती है उसी प्रकार यह स्त्री भी आत्मा के ज्ञान आदि गुणो को हरने वाली है। उसके उर-स्थल में दो बड़ी-बड़ी मांस की गांठें होती है, जिनको स्तन कहा जाता है। यद्यपि कामी पुरुषों ने इन कुच-रूप मांस-ग्रंथियो को स्वर्ण-कलश के समान वर्णित किया है, अर्थात् इनको सोने के घड़ों से उपमित किया है, तथापि विरक्त पुरुषों के लिए तो ये मांस की गांठें ही हैं। इनके अनेकविध चित्त अर्थात् अनेक मानसिक संकल्प होते है, अथवा ये अनेक पुरुषो की चाहना का स्थान है, या जिनका अनेक पुरुषों में चित्त रहता है, ऐसी स्त्रियों में विचारशील प्राणी को कभी आसक्त नहीं होना चाहिए। ये स्त्रियां अनेक

प्रकार के प्रलोभनो से—'मेरी तो आप पर ही प्रीति है, आप ही का मेरे को आश्रय है, आपके बिना तो मैं कभी जीवित भी नहीं रह सकती,' इत्यादि स्नेह-युक्त वचनो से कामी पुरुषों को अपने ऊपर मोहित करके फिर उनके साथ दासों का सा बर्ताव करती है।

तात्पर्य यह है कि 'जैसे—इधर आओ! उधर जाओ! यह करो! वह करो! तुम बड़े ही अनुचित काम कर रहे हो!' इत्यादि हलके तुच्छ शब्दों का व्यवहार जैसे एक नौकर के साथ किया जाता है उसी प्रकार यह संमोह-ग्रस्त कामी पुरुषो से व्यवहार करती है, इसलिए मुमुक्षु पुरुषों को इनके जघन्य सहवास से सदा दूर ही रहना चाहिए।

इस गाथा के द्वारा सूत्रकर्त्ता ने स्त्रियो के शरीर, मन और वाणी का वर्णन करने के साथ-साथ स्त्रियों में आसक्त होने वालो पर उनकी वाणी तथा व्यवहार का जो प्रभाव पड़ता है तथा इससे प्रभावित होते हुए ऐसे पुरुष किस दशा का अनुभव करते हैं, इस बात का भी दिग्दर्शन करा दिया है।

स्त्री को राक्षसी के समान कहने का एक यह भी तात्पर्य है कि सयमशील साधु पुरुषों को इनसे सदा ही भयभीत रहना चाहिए, इसी मे उनका श्रेय है।

अब फिर इसी विषय को पुष्ट करते हैं—

नारीसु नोवगिज्झेज्जा, इत्थी विप्पजहे अणगारे ।
धम्मं च पेसलं णच्चा, तत्थ ठविज्ज भिक्खु अप्पाणं ॥ १६ ॥

नारीषु नोपगृध्येत्, स्त्री विप्रजह्यादनगारः ।
धर्मं च पेशलं ज्ञात्वा, तत्र स्थापयेद् भिक्षुरात्मानम् ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—**नारीसु**—स्त्रियो में, **नोवगिज्झेज्जा**—मूर्च्छित न हो, **इत्थी**—स्त्रियो को, **अणगारे**—अनगार—साधु, **विप्पजहे**—छोड़ दे, **धम्मं**—धर्म को, **च**—(निश्चयार्थक है), **पेसलं**—सुन्दर, **णच्चा**—जानकर, **तत्थ**—उस धर्म मे, **भिक्खु**—साधु, **अप्पाणं**—आत्मा को, **ठविज्ज**—स्थापित करे।

मूलार्थ—अनगार अर्थात् भिक्षु स्त्रियों में मूर्च्छित न हो, स्त्रियों के संसर्ग को छोड़ दे और धर्म को सुन्दर जानकर उसी में अपनी आत्मा को स्थापित करे।

टीका—विचारशील साधु स्त्रियों मे आसक्त न हो और उनके सग को अन्तःकरण से त्याग दे। साधु को चाहिए कि वह ब्रह्मचर्य रूप धर्म को अति सुन्दर सर्वोत्कृष्ट जानकर उसी में अपनी आत्मा को स्थापित करे। शास्त्रो में सर्व अधर्मो का मूल मैथुन को ही बताया गया है, अतः मैथुन रूप अधर्म का साधु को सर्वथा परित्याग करके ब्रह्मचर्य रूप उत्तम धर्म में ही अपनी आत्मा को स्थिर करना चाहिए। इस प्रकार करने से ही वह अपने अभीष्ट स्थान पर पहुंच सकता है।

पूर्व गाथा में स्त्री के त्याग का वर्णन कर दिया गया है और फिर दोबारा भी इस गाथा में उसी के त्याग का 'नारी' शब्द के द्वारा जो विधान किया गया है उसका अभिप्राय यह है कि पूर्व गाथा में वर्णित स्त्री शब्द केवल मनुष्य जाति की स्त्री का ही बोधक है और इस गाथा में आए नारी और स्त्री

शब्द से सभी प्रकार की अर्थात् देव और तिर्यञ्च सम्बन्धि सभी स्त्रियों का ग्रहण है, इसलिए पुनरुक्ति दोष की संभावना नहीं है। सारांश यह है कि संयमशील साधु को ब्रह्मचर्य रूप सर्वोत्तम धर्म में ही अपनी आत्मा को सर्वथा स्थिर रखकर मोक्ष-सुख की प्राप्ति में प्रयत्नशील बनना चाहिए।

अब इस अध्ययन का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

इइ एस धम्मे अक्खाए, कविलेणं च विसुद्धपन्नेणं ।
तरिहिन्ति जे उ काहिन्ति, तेहिं आराहिया दुवे लोग ॥ २० ॥
त्ति बेमि ।

इति काविलीयं अट्ठमं अज्झयणं समत्तं ॥ ८ ॥

इत्येष धर्म आख्यातः, कपिलेन च विशुद्धप्रज्ञेन ।
तरिष्यन्ति ये तु करिष्यन्ति, तैराराधितौ द्वौ लोकौ ॥ २० ॥
इति ब्रवीमि ।

इति कापिलीयमष्टममध्ययनम् सम्पूर्णम् ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—**इइ**—इस प्रकार, **एस**—यह, **धम्मे**—धर्म, **अक्खाए**—कहा गया है, **कविलेणं**—कपिल भगवान् ने, **विसुद्धपन्नेणं**—निर्मल प्रज्ञा वाले ने, **तरिहिंति**—तैर जाएंगे— ससार-समुद्र से, **जे**—जो, **काहिंति**—करेगे—धर्म को, **तेहिं**—उन्होंने, **आराहिया**—आराधन कर लिए, **दुवे**—दोनों, **लोग**—लोक, **च-उ**—ये दोनों अव्यय पद पाद-पूर्त्यर्थक है, **त्ति-बेमि**—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—इस प्रकार निर्मल प्रज्ञा वाले केवल-ज्ञानी कपिल भगवान ने यह धर्म प्रतिपादन किया है, जो इस धर्म का सेवन करेंगे वे संसार-समुद्र से तैर जाएंगे और उन्होंने मानो दोनों लोकों का आराधन कर लिया है। इस प्रकार मैं कहता हूं।

टीका—इस प्रकार यति-धर्म का स्वरूप केवली भगवान् कपिल ने वर्णन किया है, क्योंकि केवली भगवान् का अर्थागम—आत्मागम ही होता है, इसलिए उन्होंने यह स्पष्ट रूप से कह दिया है कि जो इस धर्म का आचरण करेंगे वे संसार-समुद्र से तैर जाएंगे। इतना ही नहीं, किन्तु उनके द्वारा दोनों ही लोको की आराधना हो जाती है। जैसे इस लोक मे भी तो वे महान पुरुषों के द्वारा पूजे जाते हैं, अर्थात् बड़े-बड़े भद्र पुरुष उनकी पूजा करते है और परलोक में भी उनको मोक्ष अथवा उत्कृष्ट देवलोक के सुखों की उपलब्धि होती है। इससे सिद्ध हुआ कि धर्म का अनुसरण करने वाले इस लोक और परलोक दोनों में ही पूजनीय होते है।

इस प्रकार भगवान् कपिल केवली के द्वारा उपदेश करने पर वे पांच सौ चार प्रतिबोध को प्राप्त हो गए तथा दीक्षा ग्रहण करके संयमव्रत का आराधन करते हुए वे सारे सद्गति को प्राप्त हुए। **'त्ति बेमि'** का अर्थ पहले लिखा जा चुका है।

अष्टम अध्ययन संपूर्ण

अह णवमं नमिपवज्जाणामज्झयणं

अथ नवमं नमिप्रव्रज्यानामाऽध्ययनम्

आठवे अध्ययन में निर्लोभता विषयक विवेचन किया गया है और बताया गया है कि जो व्यक्ति लोभ-रहित होता है वह देव और देवराज-इन्द्र आदि द्वारा भी पूज्य बन जाता है, अतः इस नवमें अध्ययन मे इसी आशय को लेकर राजर्षि नमि के साथ देवराज इन्द्र के जो प्रश्नोत्तर हुए थे उनका कुछ विस्तृत वर्णन किया जा रहा है। इन्द्र ने राजर्षि नमि को देवलोक से आकर बड़े भाव से वन्दन किया और उनसे इच्छानुसार अनेक प्रश्न किए तथा राजर्षि से उनका यथार्थ उत्तर प्राप्त करके उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। इस नवमें अध्ययन का उक्त आठवे अध्ययन से यही पूर्वोपर सम्बन्ध है।

सर्व प्रथम राजर्षि नमि का पूर्व वृत्तान्त भी जान लेना उपयुक्त होगा—

जबूद्वीप के भारतवर्ष के अवन्ती देशान्तर्गत सुदर्शन नामक नगर में मणिरथ नाम का राजा राज्य करता था। वह किसी समय अपने छोटे भाई युगबाहु की पत्नी मदनरेखा पर मोहित हो गया। एक दिन उसने मदनरेखा को अपना मनोगत प्रेमभाव जताने के लिए एक दासी के द्वारा नाना भान्ति के सुन्दर पदार्थ भिजवाए। मदनरेखा ने दासी को समझा-बुझाकर वापिस भेज दिया। मणिरथ अपनी इच्छा को सफल न देखकर, काम-पीड़ित होते हुए अतीव व्याकुल हो उठा।

एक दिन युगबाहु अपनी प्रिया सहित वन में क्रीड़ा करने गया। रात्रि हो जाने से उसने वहीं शयन किया। मणिरथ ने उसके उद्यान में शयन करने के वृत्तान्त को जानकर और ऐसा विचार कर कि युगबाहु की मृत्यु के पश्चात् मदनरेखा को मेरे अधीन होना पड़ेगा, वह खड्ग लेकर उद्यान में गया और युगबाहु पर बलपूर्वक प्रहार किया। 'कोई देख न ले' इस अपयश के भय से भयभीत होकर अन्धकार होने के कारण वह भागा और उसका पैर एक महाभयंकर अजगर पर पड़ा। अजगर द्वारा दशित होकर उसकी मृत्यु हो गई और वह नरक-गति को प्राप्त हुआ।

इधर मदनरेखा ने अपने पति को घायल देखकर और मृत्यु को समीप जानकर धर्म की शरण ग्रहण की और अपने पति को चार प्रकार के आहार तथा अठारह पापों का प्रत्याख्यान कराया। इस प्रकार युगबाहु विधिपूर्वक अनशन करके धर्मानुरक्ति-पूर्वक मरकर देवलोक में उत्पन्न हुआ।

मदनरेखा गर्भवती थी, तो भी अपने सतीत्व की रक्षा करने के लिए वह वन में चली गई। सुदर्शन नगर का राजसिंहासन सूना हो गया। राजभक्त मंत्रियों ने प्रजा की सहमति प्राप्त कर मदनरेखा के पुत्र चन्द्रयश का राजतिलक कर दिया।

वन में मदनरेखा ने एक पुत्र को जन्म दिया और उसके हाथ में अपने पति की नामाङ्कित मुद्रिका पहिनाकर, किसी वस्त्र की झोली में उसे स्थापित कर एक वृक्ष की शाखा पर उस झोली को लटकाकर, अपने शरीर की शुद्धि करने के लिए किसी जलाशय पर चली गई। वहां एक जलहस्ती ने अपनी सूंड से उसे आकाश में उछाल दिया।

उसी समय मणिप्रभ नामक एक विद्याधर आकाश में जा रहा था। उसने मदनरेखा को आकाश में ही पकड़ लिया और उसे अपने विमान में बिठा लिया। वह उस पर मोहित होकर वापिस घर की तरफ लौटा।

मदनरेखा ने पूछा कि आप आगे न जाकर पीछे की ओर क्यों लौट रहे हैं? तब विद्याधर बोला कि 'हे भद्रे!' मै साधुवृत्तिधारी अपने पिता जी के दर्शनार्थ जा रहा था, किन्तु मार्ग में तुझ जैसी रूपवती स्त्री के मिलने पर घर की तरफ लौट रहा हूं। तुझे घर पर छोड़कर पुनः मुनि-दर्शनार्थ जाऊंगा।

मदनरेखा ने कहा कि मेरे हृदय में भी मुनि दर्शनों की अभिलाषा है, अतः मुझे भी साथ ले चले। तदनुसार वह विद्याधर मदनरेखा के साथ ही मुनिदर्शन के लिए चला गया और वहां पर परिषद् मे बैठकर धर्मोपदेश सुनने लगा। मुनि जी ने अपने ज्ञान से सर्व वृत्तान्त जानकर उस समय ब्रह्मचर्य और स्वदार-सन्तोष व्रत पर हृदयग्राही उपदेश सुनाया। मणिप्रभ का हृदय परिवर्तित हुआ और उसने पर-स्त्री-सेवन तथा वेश्यागमन व्यसन के परित्याग का नियम धारण कर लिया।

तत्पश्चात् मदनरेखा ने जगल मे छुटे हुए अपने पुत्र का वृत्तान्त मुनिवर से पूछा। मुनि जी ने मन·पर्यवज्ञान के बल से कहा कि—"हे श्राविके! मिथिला नगरी का राजा पद्मरथ उस वन मे क्रीड़ा करने आया था, वही तेरे पुत्र को ले गया है और पालन-पोषणार्थ अपनी रानी को सौंपकर उसने समस्त नगर मे उसका जन्म-महोत्सव मनवाया है।

मदनरेखा ने पुन· पूछा—'भगवन्! उस कुमार का उस राजा से पूर्व भव का क्या सम्बन्ध है?'

मुनि बोले—'हे धर्मप्रिये! इसी जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र में मणितोरण नामक नगर में अमितयश राजा राज्य करता था। पुष्पावती नाम की उसकी रानी के पुष्पसिह और रत्नसिंह नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए। क्रमशः आयु बढ़ने पर राज्यभार उन्हें सौपकर चक्रवर्ती मुनि-अवस्था को प्राप्त हुए। वे दोनों ८४ लाख पूर्व तक राज्य-सुख भोगकर तत्पश्चात् संयम धारण कर मृत्यु के अनन्तर १२वें देवलोक में उत्पन्न हुए। वहां से च्यवकर धातकी खण्ड में हरिषेण नामक वासुदेव की रानी समुद्रदत्ता के सागरदेव और सागरदत्त नामक पुत्र हुए। युवावस्था के व्यतिक्रान्त होने पर उन दोनों ने ११वें दृढ़सुव्रत तीर्थकर के पास दीक्षा ग्रहण की। किन्तु काल की विचित्र लीला है। दीक्षा के तीसरे ही दिन उन पर आकाश से अकस्मात् बिजली गिर पड़ी और वे मृत्यु को प्राप्त होकर समाधि-मरण

पूर्वक सातवें शुक्र देवलोक में देवता के रूप में उत्पन्न हुए। वहां से च्यव कर एक तो मिथिला के राजा पद्मरथ के रूप में जन्मा है और दूसरा तेरा पुत्र बनकर उत्पन्न हुआ है।

तेरे पुत्र को जब से वह राजा पद्मरथ नगर मे ले गया है, तब से ही बहुत से शत्रु राजा उसके समक्ष स्वयं ही नमित हो गए हैं, अतः तेरे पुत्र का नाम 'नमि' रखा गया है। इस तरह हे धर्मप्रिये! पद्मरथ और तेरा पुत्र पूर्वभव के बन्धु हैं।"

इस वार्ता की समाप्ति के अनन्तर ही एक देव अपने पूर्ण सौन्दर्य के साथ वहां आया और पहले मदनरेखा को प्रणाम कर पुनः उसने मुनि को नमस्कार किया। यह विपरीत कार्य देखकर मणिप्रभ विद्याधर हंसने लगा।

तब मुनि बोले—"हे मणिप्रभ! यह देव मदनरेखा के पूर्वभव का पति है और इसी की कृपा से यह देवता बना है। तदनन्तर देवता ने पूर्वभव का सर्व वृत्तान्त कहकर मदनरेखा से वाञ्छित अर्थ की याचना करने को कहा और उसने मदनरेखा की इच्छा के अनुसार उसे सुव्रता नाम की आर्या के पास दीक्षित करा दिया तथा स्वय स्वर्ग को चला गया।

इधर मुनि के कथनानुसार ही कुमार का नाम 'नमि कुमार' रखा गया। युवा होने पर १०८ कन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ। तदनन्तर राज्य के भारवहन में समर्थ जानकर राजा पद्मरथ ने उसे राज्य सिहासन पर स्थापित किया और स्वयं दीक्षा धारण कर ली।

कुमार भी सुख-शान्ति-पूर्वक राज्य करने लगा। एक दिन कुमार की हस्तिशाला से सुभद्र जाति का श्वेतहस्ती मदान्ध होकर भाग गया और वह चन्द्रयश राजा की राज्य-सीमा में चला गया, अतः राजा चन्द्रयश के सुभट उसे पकड़कर अपने राजा के पास ले आए।

राजा नमि ने चन्द्रयश के पास दूत भेजकर समाचार कहलवाया कि हाथी को वापिस लौटा दो, परन्तु राजा चन्द्रयश ने यह कहकर कि 'नमि राजा राजनीति से अनभिज्ञ है, जो वस्तु जिसके हस्तगत हो जाती है, वह उसी की हो जाती है' दूत को वापिस लौटा दिया। दूत के द्वारा समाचार सुनकर राजा नमि चतुरगिणी सेना लेकर युद्धार्थ चल पड़ा। इधर चन्द्रयश भी पूरी तैयारी के साथ सम्मुख आ डटा और घोर सग्राम की तैयारी होने लगी।

आर्या मदनरेखा ने जब यह समाचार सुना तो वह गुरु की आज्ञा लेकर वहां आई। राजा नमि ने उसे विधि-पूर्वक नमस्कार किया और उसके पधारने का कारण पूछा। आर्या ने पूर्व सर्व वृत्तान्त सुनाकर कहा कि चन्द्रयश तुम्हारा बड़ा भाई है, अत. उससे युद्ध उचित नहीं है। उन्होने चन्द्रयश को भी इसी प्रकार समझाया। तब तो दोनो भाई बड़े प्रेम से मिले। चन्द्रयश अपने छोटे भाई (राजा नमि) को राज्यभार सौपकर स्वय दीक्षित हो गए और कर्म-निर्जरा कर मोक्ष प्राप्त किया।

राजा नमि सुखपूर्वक दोनो देशों का राज्य करने लगे। एक बार राजा नमि के शरीर में भयंकर दाह ज्वर उत्पन्न हो गया। वैद्यो से उपचार न हो सका। अन्त में वैद्यों ने कहा कि बावना गोशीर्ष

चन्दन के लेप से यह ज्वर शान्त होगा। रानिया तत्क्षण ही गोशीर्षचन्दन घिसने लगीं। घिसते समय रानियों के हाथों के कङ्कण शब्दायमान हो रहे थे। आकुलता के कारण राजा को वह शब्द न रुचा और रानियों से कहा कि इस शब्द को बन्द करो। आज्ञानुसार रानियों ने सौभाग्य का चिह्न जानकर एक-एक कङ्कण तो पहने रखा और शेष उतार दिए। शब्द होना बन्द हो गया।

तब राजा ने पूछा यह शब्द कैसे बन्द हो गया? रानिया बोलीं—'महाराज अब हाथों में एक-एक ही कङ्कण है, शब्द कैसे हो?' इस घटना से राजा के हृदय में वैराग्य भाव का उदय हुआ और वह विचारने लगा कि वास्तव मे देखा जाए तो जीव एकाकी ही सुखी है। समूह में तो इन कङ्कणों के शब्द की तरह मनुष्य कोलाहल-ग्रस्त आकुलता की अवस्था मे ही पड़ा रहता है। क्या ही अच्छा हो कि मैं भी दीक्षा धारण कर एकाकी होकर विचरू ?

इसी विचार-मग्न अवस्था में वे निद्रागत हुए और स्वप्नावस्था में सातवें स्वर्ग का दृश्य देखने लगे। वे निद्रा से मुक्त हुए तो जाति-स्मरण ज्ञान द्वारा अपने पूर्व जन्म को हस्तामलकवत् देखने लग गए। जिसका वर्णन अब सूत्रकार आगामी गाथाओं के द्वारा कर रहे हैं—

चइऊण देवलोगाओ, उववन्नो माणुसम्मि लोगम्मि।
उवसन्तमोहणिज्जो, सरई पोराणियं जाइं ॥ १ ॥

च्युत्वा देवलोकात्, उपपन्नो मानुषे लोके ।
उपशान्तमोहनीयः, स्मरति पौराणिकीं जातिम् ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—चइऊण—च्यव करके, **देवलोगाओ**—देवलोक से, **उववन्नो**—उत्पन्न हुआ, **माणुसम्मि**—मनुष्य, **लोगम्मि**—लोक में, **उवसन्तमोहणिज्जो**—उपशान्त हो गया है मोहनीय कर्म जिसका, **पोराणियं**—पुरानी, **जाइं**—जाति को, **सरई**—स्मरण करता है।

मूलार्थ—वह राजा नमि देवलोक से च्यव कर इस मनुष्य-लोक में उत्पन्न हुआ और मोहनीय-कर्म के उपशान्त होने से उसको अपने पिछले जन्म का स्मरण हो उठा, अर्थात् वह अपने पूर्व जन्म का स्मरण करने लगा।

टीका—इस गाथा में इस विषय पर प्रकाश डाला गया है कि जिस जीव का दर्शन मोहनीय कर्म उपशान्त हो जाता है, वह जीव अपने पिछले जन्मो को ज्ञान के द्वारा देख लेता है। जिस जीव के जीवन में दर्शन-मोहनीय कर्म का उदय होता है, वह पिछले जन्म को तो क्या इस जन्म के किए हुए कार्यों को भी भूल जाता है।

साथ मे सूत्रकर्त्ता ने यह भी बता दिया है कि उच्चकोटि के देवता अपने स्वर्ग स्थान से च्यव कर मनुष्य-योनि में ही आते हैं, पशुयोनि में नहीं।

इसके अतिरिक्त **'पौराणिकीं जाति'** का उल्लेख करने से नास्तिकता के विचारो का भी परिहार कर दिया गया है, क्योंकि इस कथन से जीव का संसार-परिभ्रमण और जन्मान्तर-ग्रहण स्पष्ट रूप से

सिद्ध होता है। इसलिए सातवे शुक्र देवलोक के पुष्पोत्तर विमान से च्यव कर इस मनुष्य-लोक में उत्पन्न होने के अनन्तर दर्शन-मोहनीय कर्म के उपशान्त होने से वह अपने पिछले-देवलोक में होने वाले जन्म का स्मरण करने लगा।

यहां पर '**सरइ-स्मरति**' यह जो वर्तमान काल की क्रिया दी गई है वह उसी काल की अपेक्षा से जानना चाहिए।

जाति-स्मरण ज्ञान के बाद फिर क्या हुआ, अब इस विषय में कहते हैं—

जाइं सरित्तु भयवं, सयसंबुद्धो अणुत्तरे धम्मे ।
पुत्तं ठवेत्तु रज्जे, अभिणिक्खमई नमी राया ॥ २ ॥

जातिं स्मृत्वा भगवान्, स्वयं संबुद्धोऽनुत्तरे धर्मे ।
पुत्रं स्थापयित्वा राज्ये, अभिनिष्क्रमति नमिराजा ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—**जाइं**—जाति को, **सरित्तु**—स्मरण करके, **भयवं**—बुद्धिमान्, **सयसंबुद्धो**—स्वत ही सबुद्ध हुआ, **अणुत्तरे**—सर्वोत्कृष्ट चारित्र रूप, **धम्मे**—धर्म मे, **पुत्तं**—पुत्र को, **रज्जे**—राज्य में—राज सिहासन पर, **ठवेत्तु**—स्थापन करके, **नमी राया**—राजा नमि, **अभिणिक्खमई**—दीक्षा के लिए निकलता है।

मूलार्थ—पूर्व जाति को स्मरण करके एवं स्वयं बोध को प्राप्त होकर सर्वोत्कृष्ट धर्म में निपुण बुद्धिमान् वह राजा नमि पुत्र को राज्य-सिंहासन पर बिठाकर दीक्षा के लिए घर से निकलता है, अर्थात् तैयार होता है।

टीका—वह राजा नमि अपनी पूर्व जन्म की जाति को स्मरण करके अपने आप ही प्रतिबोध को प्राप्त हो गया, अर्थात् सर्वोत्कृष्ट जो चारित्ररूप धर्म है उसके धारण करने की उसमे स्वयमेव रुचि उत्पन्न हो गई, अतः पुत्र को राज्य-सिहासन पर बिठाकर वह स्वय दीक्षा के लिए उद्यत हो गया। तात्पर्य यह है कि ससार का परित्याग करके सन्यास व्रत के ग्रहण करने के लिए कटिबद्ध हो गया। जो दीक्षा बोध-पूर्वक ग्रहण की जाती है वह फलवती होती है, विना बोध के दीक्षा का ग्रहण करना अभीष्ट फल को नही देता है।

यहा 'स्वय' के स्थान पर 'सय' आदेश किया गया है। 'भगवान्' का अर्थ बुद्धिमान है।

'**अभिणिक्खमइ**' यह लट् लकार का वर्तमान कालिक प्रयोग ऐतिहासिक वर्तमान की अपेक्षा से किया गया है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

सो देवलोगसरिसे, अन्तेउर-वरगओ वरे भोए ।
भुंजित्तु नमी राया, बुद्धो भोगे परिच्चयइ ॥ ३ ॥

स देवलोकसदृशान्, अन्तःपुरवरगतो वरान्भोगान् ।
भुक्त्वा नमिराजा, बुद्धो भोगान् परित्यजति ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—**सो**—वह, **देवलोगसरिसे**—देवलोक सदृश, **अन्तेउरवर**—रानियों के साथ, **गओ**—प्राप्त हुआ, **वरे**—प्रधान, **भोए**—भोगों को, **भुंजित्तु**—भोगकर, **नमी राया**—राजा नमि, **बुद्धो**—स्वयं ही प्रबुद्ध होकर, **भोगे**—भोगों का, **परिच्चयइ**—परित्याग करता है।

मूलार्थ—अपनी रानियों के साथ देव समान भोगों को भोगता हुआ वह राजा नमि स्वयं ही प्रतिबोध को प्राप्त होकर उन भोगों को छोड़ देता है—उनका परित्याग कर देता है।

टीका—राजा नमि देवलोक के समान श्रेष्ठ राजमहलों में रहते हुए श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कामभोगों को भोग करके तत्पश्चात् अपने आप प्रतिबोध को प्राप्त होकर उन काम-भोगों का परित्याग कर देता है।

तात्पर्य यह है कि जब राजा नमि ने तत्त्व को समझ लिया तो फिर उसको कामभोगों की विनाशशीलता का भी पता लग गया, अतः उनकी असारता और कटु परिणामों को देखकर उसने उनका परित्याग कर दिया। जब तक मनुष्य किसी पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ रूप से नहीं जान लेता, तब तक उसके ग्रहण अथवा त्याग की ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती, अतः उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध हो गया कि देवलोक-सदृश कामभोग भी सर्वथा दुख रूप ही हैं, इसलिए राजा नमि ने उन राज-भोगों का अन्तःप्रेरणा से त्याग कर दिया।

यहां पर दूसरी बार जो भोगों का ग्रहण किया गया है वह मूढ़ पुरुषों की स्मृति के लिए है, क्योकि मूढ़ पुरुष ही बार-बार काम-भोगों का स्मरण किया करते है। वे भी इनको त्याग दें, एतदर्थ ही इस भोग शब्द का ग्रहण है।'

यहा पर 'वर' शब्द का परनिपात प्राकृत के नियम से जानना, तथा च वृत्तिकारः—**'वरशव्दस्य प्राकृतत्वात् परनिपातः।'**

अब महाराज नमि की प्रव्रज्या का कथन करते हैं—

मिहिलं सपुरजणवयं, बलमोरोहं च परियणं सव्वं ।
चिच्चा अभिनिक्खन्तो, एगन्तमहिट्ठिओ भयवं ॥ ४ ॥

मिथिलां सपुरजनपदां, बलमवरोधं च परिजनं सर्वम् ।
त्यक्त्वाऽभिनिष्क्रान्तः, एकान्तमधिष्ठितो भगवान् ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**मिहिलं**—मिथिला नगरी, **सपुरजणवयं**—नगर और देश के साथ, **बलं**—चतुरंगिणी सेना, **ओरोहं**—अन्तःपुर, **च**—और, **परियणं**—परिजन, **सव्वं**—सब को, **चिच्चा**—छोड़कर, **अभिनिक्खन्तो**—घर से निकलकर—दीक्षा-ग्रहण की, **एगंतं**—एकान्त मोक्ष मे, **अहिट्ठिओ**—अधिष्ठित हुआ, **भयवं**—भगवान्।

मूलार्थ—मिथिला नगरी, मिथिला देश, सेना, अन्तःपुर और परिजन आदि सभी को छोड़कर

भगवान्—धैर्यादिगुण-सम्पन्न राजा नमि घर से निकले और दीक्षा धारण करके मोक्ष-मार्ग में अधिष्ठित हो गए।

टीका—राजर्षि नमि ने मिथिला प्रान्त के सारे नगरों का भी त्याग कर दिया, इतना ही नहीं, किन्तु चारों प्रकार की सेना, अन्तःपुर, परिजन—दास-दासियों आदि को छोड़ करके वे दीक्षित हो गए और दीक्षा ग्रहण करने के बाद एकान्त शान्त उद्यान में जा बैठे।

इस प्रकार द्रव्य रूप से एकान्त मे बैठने के बाद भावरूप से एकान्तवास प्राप्त करने के लिए वे निम्नलिखित विचार करने लगे—

'मै अकेला हूं, न मै किसी का हूं और न कोई मेरा है, संसार के जितने भी भोग-विलास है तथा सासारिक पुरुषों से जितने भी सम्बन्ध है वे सब अनर्थ के कारण है, मुझे तो केवल आत्मा की खोज करके उसी मे रमण करना चाहिए'। इत्यादि।

इस प्रकार से विचार करने के अनन्तर वह राजर्षि सम्यग्-ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय की आराधना करते हुए मोक्ष के मार्ग में प्रवृत्त हो गए। ये तीनों—ज्ञान, दर्शन और चारित्र मोक्ष के मार्ग है, इनका सम्यकृतया आराधन ही भावरूप एकान्तता है।

यहा पर भगवान् शब्द का अर्थ धैर्यादिगुण-सयुक्त बुद्धिमान है, क्योकि जब तक साधक में धैर्यादि गुणों की विद्यमानता न हो तब तक वह द्रव्य और भाव से एकान्त नहीं हो सकता और जब इन उक्त गुणों को साधक प्राप्त कर लेता है तब उससे कोलाहल मे नहीं रहा जाता, इसलिए घर-बार और राज्य-पद आदि सब प्रकार की सम्पत्ति का परित्याग करके स्वयं-बुद्ध वह राजा नमि दीक्षा ग्रहण करके एकान्त उद्यान में जा बैठे। अब उनका मिथिलानगरी या अन्य राज्य-सम्पत्ति में किसी प्रकार का भी ममत्व नही रहा, उनके लिए उद्यान और राजमहल मे अब कोई अन्तर नहीं था। जब तक ममत्व रहता है तब तक ही वस्तुओं मे न्यूनाधिकता अथवा भले-बुरे का विचार रहता है और जिस समय पदार्थों पर से मूर्च्छा हट जाती है उस समय विचारशील व्यक्ति के लिए कोई भी वस्तु अपनी अथवा पराई नही रह जाती, उस समय तो उसका दृष्टि-वैषम्य समता या समानता के रूप में परिणत हो जाता है। अतः ममत्व का त्याग करने वाले मुमुक्षु पुरुष द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से ही एकान्तसेवी होते हैं। जिनके हृदय से ममत्व नही गया, वे द्रव्य रूप से एकान्त मे रहते हुए भी भाव रूप से एकान्तवास करने वाले नही होते। राजर्षि नमि तो द्रव्य और भाव दोनो ही प्रकार से एकान्तवासी हो गए, अर्थात् राज्य-पद को छोड़ कर दीक्षित होकर एकान्त मे जाकर रत्नत्रय की आराधना में प्रवृत्त हो गए।

अब राजर्षि नमि के चले जाने के बाद का वृत्तान्त लिखते हैं—

कोलाहलगभूयं, आसी मिहिलाए पव्वयंतम्मि ।
तइया रायरिसिम्मि, नमिम्मि अभिणिक्खमंतम्मि ॥ ५ ॥

कोलाहलकभूतम् आसीन्मिथिलायां प्रव्रजति (सति) ।
तदा राजर्षौ नमौ, अभिनिष्क्रामति ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—कोलाहलगभूयं—कोलाहल का शब्द, **आसी**—हुआ, **मिहिलाए**—मिथिला में, **पव्वयन्तम्मि**—दीक्षा लेने के समय, **तइया**—उस समय, **रायरिसिम्मि**—राजर्षि, **नमिम्मि**—नमि के, **अभिणिक्खमंतम्मि**—घर से निकल जाने पर।

मूलार्थ—राजर्षि नमि के दीक्षा के लिए घर से निकलने पर मिथिला नगरी में बड़ा भारी कोहराम मच गया।

टीका—दीक्षा के निमित्त राजर्षि नमि के घर से निकल जाने और उद्यान की तरफ प्रयाण करने पर मिथिला में कोहराम-सा मच गया। लोग 'हा तात! हमें छोड़कर कहां जा रहे हो' इस प्रकार का क्रन्दन करते हुए पीछे-पीछे जा रहे थे। जिसको जिसका कुछ सहारा होता है वह उसका वियोग होने पर अवश्य शोकातुर हो जाता है, क्योंकि जो सुख उसे प्राप्त था उसका अब विनाश हो रहा है, इसलिए राजा नमि के प्रव्रजित होने के समय प्रजा का उससे प्राप्त होने वाले सुखों का स्मरण करके आक्रंदन करना एक मानव-प्रकृति-सिद्ध—स्वाभाविक सी बात है।

यद्यपि नमि अभी तक राजा ही है, तथापि शास्त्रकार ने उनको जो ऋषि कहा है, वह भावी नैगमनय की अपेक्षा से कहा है। वे राजा होते हुए भी काम-क्रोधादि कषायों के निग्रह करने में प्रायः ऋषियो की तरह ही रह रहा था, इसीलिए उन्हें ऋषि कहा गया है। कहा भी है—

'कामः क्रोधस्तथा लोभः, हर्षो मानो मदस्तथा।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनं, यः सदा सः सुखी भवेत्॥'

अर्थात्—काम्, क्रोध, लोभ, हर्ष, मान और मद इन षड्विध अन्तरंग शत्रुओं के संसर्ग का जो परित्याग कर देता है, वह सदा ही सुखी रहता है।

अब इसके बाद का वृत्तान्त कहते हैं—

अब्भुट्ठियं रायरिसिं, पव्वज्जाठाणमुत्तमं।
सक्को माहणरूवेणं, इमं वयणमब्बवी॥ ६॥

अभ्युत्थितं राजर्षिं, उत्तमं प्रव्रज्यास्थानं (प्रति)।
शक्रो ब्राह्मणरूपेण, इदं वचनमब्रवीत्॥ ६॥

पदार्थान्वयः—अब्भुट्ठियं—उद्यत हुए, **रायरिसिं**—राजर्षि को, **पव्वज्जाठाणं**—दीक्षास्थान, **उत्तमं**—उत्तम, **सक्को**—इन्द्र, **माहणरूवेणं**—ब्राह्मण के वेष मे आकर, **इमं**—यह, **वयणं**—वचन, **अब्बवी**—कहने लगा।

मूलार्थ—उत्तम दीक्षा-स्थान के लिए उद्यत हुए राजर्षि के पास आकर इन्द्र ने ब्राह्मण के वेष में यह वक्ष्यमाण—आगे कहे जाने वाले वचन कहे।

टीका—जब राजर्षि नमि उत्तम दीक्षास्थान—ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप स्थान के लिए उद्यत

हुए, अर्थात् दीक्षित होने लगे तब प्रथम देवलोक का स्वामी इन्द्र ब्राह्मण का रूप बनाकर उनके पास आया और उनसे यह वक्ष्यमाण वचन कहने लगा। इन्द्र ने राजर्षि नमि से जो कुछ कहा उसका वर्णन आगामी गाथाओं में आएगा।

इन्द्र का राजर्षि नमि के पास आने का बड़ा ही विलक्षण अभिप्राय है। इन्द्र इस बात की स्पष्ट रूप से परीक्षा करना चाहता है कि राजा नमि को जो वैराग्य हुआ है जिसके कारण वह दीक्षा ग्रहण करने के लिए उद्यत हुए है—वह अन्तःकरण से है या बाहरी दिखावे की चेष्टामात्र ही है? यद्यपि यह काम वह किसी अन्य देवता के द्वारा भी करवा सकता था, परन्तु स्वय जिस बात का अनुभव किया जाए उसका महत्व बहुत अधिक होता है। वस्तु-ज्ञान की जो स्पष्टता अनुभव द्वारा होती है वह श्रवण द्वारा कदापि नहीं हो सकती, इसीलिए अपने किसी अनुचर को न भेजकर इन्द्र स्वयं देवलोक से आया।

प्रव्रज्या-स्थान को उत्तम बताने का तथ्य यह है कि 'वास्तव मे गुणो की उत्कृष्टता दीक्षा में ही रही हुई है, अतः यही उत्तम स्थान है' यह भली भान्ति विदित हो सके।

अब इन्द्र ने जो कुछ पूछा है उसी का निम्नलिखित गाथाओं में दिग्दर्शन कराया जाता है—

किण्णु भो! अज्ज मिहिलाए, कोलाहलगसंकुला।
सुव्वन्ति दारुणा सद्दा, पासाएसु गिहेसु य ॥ ७ ॥

किन्नु भो! अद्य मिथिलायां, कोलाहलकसंकुलाः।
श्रूयन्ते दारुणाः शब्दाः, प्रासादेषु गृहेषु च? ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—**किं**—क्यो, **णु**—(वितर्क अर्थ मे है), **भो**—(आमत्रण)—हे नमे! **अज्ज**—आज, **मिहिलाए**—मिथिला मे, **कोलाहलग**—कोलाहल से, **संकुला**—व्याप्त, **सद्दा**—शब्द, **दारुणा**—कठिन, **पासाएसु**—प्रासादो मे—राज-भवनो में, **य**—और, **गिहेसु**—सामान्य घरों मे, **सुव्वन्ति**—सुने जा रहे है।

मूलार्थ—हे नमे! आज मिथिला में इतना कोहराम क्यों मचा हुआ है? राजमहलों तथा सामान्य घरों में इतने दारुण शब्द क्यों सुनाई पड़ रहे हैं?

टीका—राजर्षि नमि को सम्बोधन करके इन्द्र ने पूछा कि हे महाराज! मिथिला नगरी में आज इतना कोलाहल क्यो हो रहा है? आम घरों मे तथा राजमहलो मे एवं आने-जाने के मार्गों मे हृदय विद्रावी जो आर्त्तनाद सुनाई दे रहे है, उनका क्या कारण है? आप जैसे नीतिवान शासक के होते हुए इस प्रकार के शब्दों का सुनाई पड़ना कुछ योग्य प्रतीत नहीं होता।

इसके अनन्तर क्या हुआ, अब इसी विषय में कहते हैं—

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥ ८ ॥

एनमर्थं निशम्य, हेतुकारणनोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—**एयमट्ठं**—इस पूर्वोक्त अर्थ को, **निसामित्ता**—सुन करके, **हेऊकारण**—हेतु और कारण से, **चोइओ**—प्रेरित किया हुआ, **तओ**—तदनन्तर, **नमी रायरिसी**—राजर्षि नमि, **देविन्दं**—देवेन्द्र के प्रति, **इणं**—यह, **अब्बवी**—कहने लगा।

मूलार्थ—इसके अनन्तर इन्द्र के द्वारा किए गए प्रश्न को सुनकर उसके द्वारा हेतु और कारण से प्रेरित किया गया राजर्षि नमि इन्द्र के प्रति इस प्रकार कहने लगा।

टीका—इन्द्र की बात को सुनकर इन्द्र के द्वारा हेतु और कारण से प्रेरित किए जाने पर राजर्षि नमि ने उसके प्रश्न का उत्तर देने के लिए इन्द्र से जो कुछ कहा उसका वर्णन आगे किया जाएगा।

यहा पर हेतु और कारण से प्रेरित किए जाने का तात्पर्य यह है कि जो प्रश्न हेतु और कारण गर्भित होता है वह विचारणीय और उत्तर देने के योग्य समझा जाता है। इन्द्र का जो प्रश्न है वह भी हेतु और कारण-गर्भित है, इसलिए उसका उत्तर देना राजर्षि नमि के लिए परम आवश्यक था। इसके विपरीत राजर्षि नमि के पास आकर इन्द्र यदि हेतु और कारण से शून्य कोई मूर्खता भरा प्रश्न करता तो राजर्षि नमि उसका उत्तर देने मे कभी प्रवृत्त न होते, क्योंकि वाद के विषय में न्यायशास्त्र ने हेतु और कारण को ही प्रधान स्थान दिया है। यद्यपि सामान्य-दृष्टि से तो हेतु और कारण दोनों पर्यायवाची शब्द ही है, परन्तु विशेष दृष्टि से इन दोनों में भेद है, इसीलिए सूत्रकार ने यहां पर दोनों का उल्लेख किया है।

साध्य के साधक को हेतु कहते है। यथा यदि पर्वतगत वह्नि साध्य है तो धूम हेतु है। परार्थानुमान* के पाचों** अवयवो मे इसका दूसरा स्थान है। कारण उसका नाम है जो नियमतः कार्य

★ १ नव्य नैयायिको ने अनुमान दो प्रकार का माना है। एक स्वार्थानुमान, दूसरा परार्थानुमान। अपने लिए जो हो, वह स्वार्थानुमान और दूसरो के लिए जिसका प्रयोग किया जाए वह परार्थानुमान कहलाता है।

★★ २ प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन, ये पाचो परार्थानुमान के अवयव कहे जाते हैं।

१—पक्ष की स्थापना का नाम प्रतिज्ञा है। २—साध्य के साधक को हेतु कहते हैं। ३—हेतु और साध्ययुक्त वस्तु का दृष्टात उदाहरण है। ४—उदाहरण से साध्य का सयोग करना उपनय है। ५—हेतु, उदाहरण और उपनय के द्वारा साध्य का निश्चय करना निगमन कहलाता है। इन्द्र ने राजर्षि नमि के प्रति जो प्रश्न किया है, उसमे ये पाचो ही सघटित हैं। यथा (प्रतिज्ञा) तू धर्मात्मा है, इसलिए तुम्हे नगरी अथवा कुटुम्ब आदि परिवार का परित्याग करके दीक्षित होना उचित नहीं। (हेतु) क्योंकि सारे पौरजन मर्मभेदी कोहराम मचा रहे हैं। व्यतिरेकी (उदाहरण) जहा पर इस प्रकार का आक्रन्दन या कोहराम होता है वहा पर धर्मात्मा पुरुष निमित्त भूत नही बनते, जैसे कि हिसादि कर्म मे उनकी प्रवृत्ति नही होती। जिस प्रकार हिसा के समय आक्रन्दन होता है उसी प्रकार का क्रन्दन यहा पर भी हो रहा है।

(उपनय) अतएव इन पूर्वोक्त कारणो से तुम्हारा घर से निकलना अयोग्य है—योग्य नही।

(निगमन) तुम्हारे निकलने से यह कोहराम मचा, इसलिए तुम्हारा निकलना अयोग्य ठहरा, जैसे हिंसादि व्यापार मे आक्रन्दन होता है वैसे ही तुम्हारे निकलने से हो रहा है। उन आक्रन्दनादि शब्दो के भय से जैसे हिंसा आदि कर्मों का परित्याग किया जाता है, वैसे ही दीक्षा का भी परित्याग कर देना चाहिए, क्योंकि फिर इस प्रकार के शब्द न होगे। दूसरा शब्द है कारण, उसके विषय में उदाहरण इस प्रकार है—

से पूर्ववर्ती हो अथवा जिसके बिना कार्य की उत्पत्ति ही न हो सके। जैसे घट यह कार्य है और मृत्तिका, कुम्हार तथा दण्ड-चक्र आदि कारण है, क्योंकि ये सब घट से प्रथम विद्यमान होते हैं और इनके बिना घट की उत्पत्ति भी नही हो सकती है।

इन्द्र के हेतु और कारण-गर्भित प्रश्न को सुनकर उसके अनुरूप उत्तर देते हुए राजर्षि नमि ने इन्द्र के प्रति जो कुछ कहा अब उसी का वर्णन निम्नलिखित गाथाओं में सूत्रकार करते हैं। राजर्षि नमि ने कहा—

मिहिलाए चेइए वच्छे, सीयच्छाए मणोरमे ।
पत्तपुप्फफलोवेए, बहूणं बहुगुणे सया ॥ ६ ॥

**मिथिलायां चैत्ये वृक्षः, शीतच्छायः मनोरमः ।
पत्रपुष्पफलोपेतः, बहूनां बहुगुणः सदा ॥ ६ ॥**

पदार्थान्वयः—मिहिलाए—मिथिला में, **चेइए**—चैत्य, **वच्छे**—वृक्षों से पूर्ण, **सीयच्छाए**—शीतल छाया से युक्त, **मणोरमे**—मनोरम नाम वाला चैत्य है, **पत्तपुप्फफलोवेए**—पत्र, पुष्प और फलों से युक्त, **बहूणं**—बहुत पक्षियों आदि का, **बहुगुणे**—बहुत गुण वाला, **सया**—सदा उपकार करने वाला है।

मूलार्थ—मिथिला नगरी के चैत्य[1] अर्थात् उद्यान में मनोरम नाम का एक वृक्ष है जो कि पत्र-पुष्प और फलों से युक्त एवं अनेकविध पक्षिगणों को सदा आश्रय देने वाला है, अथवा मिथिलानगरी के समीप पत्र, पुष्प और फलयुक्त वृक्षों से परिपूर्ण अतिरमणीय एक दैत्य अर्थात् उद्यान है जो कि अनेकविध पक्षिगणों का पोषक एवं आश्रयदाता है, तथा विशेष शोभायुक्त होने से उसका नाम भी मनोरम ही है।

पुनः उसी उद्यान रूप अपने जीवन का वर्णन करते हुए राजर्षि नमि कहते हैं—

वाएण हीरमाणम्मि, चेइयम्मि मणोरमे ।
दुहिया असरणा अत्ता, एए कंदंति भो! खगा ॥ १० ॥

**वातेन ह्रियमाणे, चैत्ये मनोरमे ।
दुःखिता अशरणा आर्त्ताः, एते क्रन्दन्ति भोः ! खगाः ॥ १० ॥**

तुम्हारे निकलने पर ही यह भयानक कोहराम सुनाई दे रहा है, अत इन भयानक शब्दों का कारण आपका निकलना है। यदि आप दीक्षा ग्रहण न करे तो ये भयानक शब्द भी सुनाई न पड़े। साराश यह है कि आप धर्मात्मा पुरुष है, आपको इस प्रकार की आर्त्त-रौद्र क्रियाओं का निमित्त-भूत नही होना चाहिए, अन्यथा आपकी महत्ता मे लाछन लग जाएगा।

१ 'उद्याने देवगेहे च वृक्षे चैत्यमुदाहृतम्'—चैत्य शब्द उद्यान, देवगृह और वृक्ष अर्थ मे ग्रहण किया जाता है। सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ मे चैत्य शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है—चितिरिहेष्टिकादिश्चयस्तत्र साधु योग्य-श्चित्य' स्वार्थेऽणि चैत्यस्तस्मिन्—कोर्थ. ? अधोबद्धपीठिके उपरिचोच्छितपताके—मनोरमे—मनोऽभिरति हेतौ को इति शेष , अर्थात् जिस वृक्ष के नीचे ईंटो का चबूतरा बना हुआ हो और ऊपर पताका—झडी बधी हो उस वृक्ष को चैत्य कहते हैं और मन को अति आनन्द देने वाला होने से वह मनोरम कहलाता है

पदार्थान्वयः—वाएण—वायु से, **हीरमाणम्मि**—हिल जाने पर, **चेइयम्मि**—चैत्य में, **मणोरमे**—मनोरम नाम वाला चैत्य वृक्ष, **दुहिया**—दुखित, **असरणा**—शरण-रहित, **अत्ता**—आर्त्त हुए, **एए**—ये प्रत्यक्ष दीखने वाले, **खगा**—पक्षीगण, **कन्दन्ति**—आक्रन्दन अर्थात् रुदन करते है, **भो**—(आमन्त्रण अर्थ में है।)

मूलार्थ—परन्तु एक दिन वह मनोरम नाम का चैत्यवृक्ष वायु के वेग से हिल गया, अर्थात् गिर पड़ा, हे इन्द्र! उसके गिर पड़ने से ही असहाय, दुखी और आर्त्त हुए ये पक्षी गण इस प्रकार का आक्रन्दन कर रहे हैं।

टीका—इन्द्र ने राजर्षि नमि से जो प्रश्न किया है उसका आशय स्पष्ट है। वह कहता है कि आज मिथिला में जितना भी आर्त्तनाद हो रहा है उसके कारण भी आप ही हैं। यदि आप दीक्षा के लिए घर से न निकलते तो ये पुरवासी लोग कभी इतने दुखी न होते, अतः आपका प्रव्रज्या में प्रवृत्त होना ही इनके दुख का मूल हेतु है। यदि आप दीक्षा का विचार छोड़ दें तो ये लोग फिर पूर्ववत् सुखी हो सकते हैं, इसलिए इनके सुख अथवा दुख के कारण आप ही है।

इन्द्र के इस आशय को समझ कर बुद्धिमान राजर्षि ने जो उत्तर दिया है वह भी बड़ा मार्मिक और हृदयग्राही है। राजर्षि नमि कहते हैं कि—"हे इन्द्र! मिथिला के समीपवर्ती इस रमणीय उद्यान में मनोरम नाम का यह बड़ा ही सुन्दर और विशाल वृक्ष था, इसकी शीतल छाया में हजारों जीवों को विश्राम मिलता था, अनेकविध पक्षियो का यह आश्रय-स्थान बना हुआ था। इसके सुगन्धित पुष्पो और स्वादिष्ट फलो से अनेक जीवों को पोषण मिलता था। अधिक क्या कहें, इसके द्वारा अनेक असहाय जीवों का निर्वाह होता था। परन्तु दैवयोग से आज इस वृक्ष की वह दशा नही रही, वायु के प्रबल वेग ने उसे जड़ से हिलाकर नीचे गिरा दिया है। अब वह न फल देने में समर्थ है, न छाया देने मे सहायता कर सकता है और न ही किसी को आश्रय प्रदान करने की अब उसमे शक्ति है। वृक्ष के इस प्रकार गिर जाने से उसके आश्रय मे रहने वाले ये पक्षी गण भी निराश्रित हो गए हैं। जब इनका आश्रय नष्ट हो गया तब असहाय होने से इनका दुखी होना और आर्त्तनाद करना स्वाभाविक है, क्योंकि आधार पर ही आधेय की स्थिति निर्भर होती है। जब आधार ही न होगा तो आधेय कहा रह सकेगा? अतः ये पक्षी गण अपने दुख के लिए यदि वृक्ष को उपालम्भ दें तो यह उनकी भूल है, क्योंकि वृक्ष का इसमे कोई भी दोष नही है। वह तो जब तक स्थिर और हरा-भरा रहा तब तक उसने इन सब पक्षियों को उदारता पूर्वक आश्रय दिया। इसलिए वास्तव मे इन पक्षियो का जो आक्रन्दन है उसका कारण इनके सुख का विनाश है। ये तो अपने अतीत के सुख को रो रहे है, इसमें वृक्ष का कोई दोष नही है।

राजर्षि नमि ने इन्द्र को समुचित उत्तर देते हुए जो कुछ कहा है उसका आशय स्पष्ट है। वे मिथिला नगरी को उद्यान और उद्यान के रमणीय वृक्ष के स्थानापन्न अपने आपको बता रहे हैं तथा पक्षियों के समान उनका स्वजन-वर्ग है एव तीव्र वैराग्य ही वायु का झोका है।

तात्पर्य यह है कि वैराग्य रूप वायु के प्रबल वेग ने वृक्ष रूप मुझ को संसार से पृथक् कर दिया है, अब मै संसारी बन्धु-जनों का भरण-पोषण करने वाला नहीं रहा, इसलिए निराश्रित हुए ये सम्बन्धीजन अपने पूर्व सुखों का स्मरण करते हुए आर्त्तनाद कर रहे हैं, क्योंकि इनको अब उन सुखों की उपलब्धि होना कठिन प्रतीत हो रहा है। ये लोग तो अपने निजी स्वार्थ के लिए रो रहे हैं इसमें मेरा कोई दोष नहीं है, अतः इनके आक्रन्दन या आर्त्तनाद का कारण मुझको बताना या मानना किसी प्रकार से भी न्याय-सगत नहीं कहा जा सकता। मेरी तो इस समय वही स्थिति है जो कि अपनी आयु को पूर्ण करके भूमि पर गिरे हुए वृक्ष की होती है और उसकी आयु मे न्यूनाधिकता कभी हो नही सकती, इसलिए आपके उपालम्भ से मै तो सर्वथा मुक्त हूं।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥ ११ ॥

एनमर्थ निशम्य, हेतुकारणनोदितः ।
ततो नमि राजर्षि, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—तओ—तदनन्तर, एयमट्ठं—इस पूर्वोक्त अर्थ को, निसामित्ता—सुनकर, हेउकारण—हेतु और कारण से, चोइओ—प्रेरित किया गया, देविन्दो—देवेन्द्र, नमिं रायरिसिं—राजर्षि नमि को, इणं—ऐसे, अब्बवी—कहने लगा।

मूलार्थ—तदनन्तर पूर्वोक्त अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुआ इन्द्र राजर्षि नमि से इस प्रकार कहने लगा।

राजर्षि नमि के समुचित उत्तर को सुनकर इन्द्र ने फिर उनसे इस प्रकार कहा, अर्थात् इन्द्र ने अपने प्रश्न के अनुरूप उत्तर प्राप्त करके अब दूसरे प्रश्न का आरम्भ किया। यथा—

एस अग्गी य वाऊ य, एयं डज्झइ मन्दिरं ।
भयवं ! अन्तेउरं तेणं, कीस णं नावपेक्खह? ॥ १२ ॥

एषोऽग्निश्च वायुश्च, एनं दह्यते मन्दिरम् ।
भगवन् ! अन्तःपुरं तेन, कस्मात् खलु नावप्रेक्षसे? ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—एस—यह—प्रत्यक्ष, अग्गी—अग्नि, य—और, वाऊ—वायु, एयं—इस प्रत्यक्ष, मन्दिरं—मन्दिर को, डज्झइ—जला रहे है, भयवं!—भगवन्, अन्तेउरं—अन्तःपुर, तेणं—किस प्रकार से, कीस—किसलिए, नावपेक्खह—दृष्टिपात नहीं कर रहे, य, णं—(वाक्यालंकार में हैं)।

मूलार्थ—भगवन्! अग्नि और वायु के द्वारा ये मन्दिर जल रहे हैं तथा आपका अन्तःपुर भी दग्ध हो रहा है, फिर आप इनकी ओर दृष्टिपात क्यों नहीं कर रहे?

टीका—मिथिला के जलते हुए मन्दिर अर्थात् राज-महलों और अन्तःपुर की तरफ अंगुली-निर्देश करते हुए इन्द्र ने राजर्षि नमि से कहा कि—'भगवन्! आपके यह मन्दिर और अन्तःपुर जल रहे हैं,

वायु से मिलकर अग्नि इनको भस्मसात् कर रही है, परन्तु आप इनकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देख रहे, इसका क्या कारण है?

इन्द्र का यह प्रश्न भी बड़ा कौतूहल-वर्धक है। इन्द्र के कथन का आशय यह है कि जिस प्रकार आप अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र-रूप रत्नत्रय की रक्षा में प्रवृत्त हुए हो उसी प्रकार आपको अपनी प्रत्येक वस्तु की रक्षा करनी चाहिए। फिर आप दयालु और श्रेष्ठ नीतिज्ञ है, अतः आपका यह भी कर्त्तव्य हो जाता है कि अपनी दग्ध होती हुई राजधानी को बचाने का प्रयत्न करें, परन्तु आप तो इस ओर तनिक ध्यान भी नहीं दे रहे। कृपया बताएं कि इसका क्या कारण है?

यहां पर इतना स्मरण रखना चाहिए कि इन्द्र का यह प्रश्न केवल स्नेह की दृष्टि को ले करके है, अर्थात् राजर्षि नमि का अन्तःपुर आदि मे मोह है या नहीं, इन्द्र इस बात को स्पष्ट रूप से जानना चाहता है। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा मे अग्नि के साथ वायु का जो उल्लेख किया गया है वह इन दोनों का साहचर्य बताने के लिए किया गया है, अर्थात् वायु के बिना अग्नि नहीं रह सकती।

'तव' शब्द का यहा पर अध्याहार कर लेना चाहिए, अथवा—'तेणं' को तृतीयान्त 'तेन' और षष्ठ्यन्त 'ते' ते तव (णं वाक्यालकार में) मानकर भी काम चल सकता है।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ १३ ॥

एनमर्थ निशम्य, हेतुकारणनोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

(पदार्थान्वय स्पष्ट है)

मूलार्थ—हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र के उक्त अर्थ अर्थात् प्रश्न को सुनकर राजर्षि नमि ने इस प्रकार देवेन्द्र से कहा।

टीका—गाथा का भाव स्पष्ट है, अत. व्याख्या अपेक्षित नहीं है।

सुहं वसामो जीवामो, जेसिं मो नत्थि किंचणं ।
मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचणं ॥ १४ ॥

सुखं वसामो जीवामः, येषां मे नास्ति किंचन ।
मिथिलायां दह्यमानायां, न मे दह्यते किंचन ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—सुहं—सुख-पूर्वक, **वसामो**—बसते है, **जीवामो**—जीते हैं, **जेसिं**—जिस करके **मो**—हमारा, **किंचणं**—किंचिन्मात्र भी, **नत्थि**—नहीं है, **मिहिलाए**—मिथिला के, **डज्झमाणीए**—जलने पर, **किंचणं**—किचित् मात्र भी, **मे**—मेरा, **न डज्झइ**—नही जलता है।

मूलार्थ—यहां हम सुख-पूर्वक जी रहे हैं, बसते हैं, हमारा इस नगरी में कुछ भी नहीं है, मिथिला के जलने पर मेरा कुछ भी नहीं जल रहा।

टीका—अग्नि एव वायु के प्रकोप से जलते हुए मिथिला के राज-महलों के सम्बन्ध में किए गए इन्द्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए राजर्षि नमि कहते है कि 'देवेन्द्र! हम तो अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे सुख-पूर्वक बसते हैं और जीते हैं। इस मिथिला-नगरी मे वस्तुतः हमारा कुछ भी नहीं है, इसलिए मिथिला के जलने पर हमारी कोई भी वस्तु नहीं जल रही।

राजर्षि नमि के कथन का अभिप्राय यह है कि जो मेरी वस्तु अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप आत्मा के स्वाभाविक धर्म है उन्हे तो कोई जला नही सकता और जो कुछ जल रहा है वह पर वस्तु है, अर्थात् मेरी नहीं है। तात्पर्य यह है कि अपनी वस्तु के सरक्षण के लिए सावधान रहना ही मेरा कर्त्तव्य है, दूसरों की वस्तुओं से मेरा कोई सम्बन्ध नही, इसलिए मिथिला के दग्ध होने का मेरे ऊपर किसी प्रकार का भी उत्तरदायित्व नही है।

इसी प्रकार रक्षा और दयालुता आदि के भी सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए, क्योंकि मैं उन सम्पूर्ण क्रियाओं से पृथक् हू जिनका कि आरोप आप मेरे ऊपर कर रहे हैं। यदि इन वस्तुओं पर मेरा किसी प्रकार भी ममत्व या स्नेह होता तब तो इनकी ओर मेरा ध्यान आकृष्ट होता, परन्तु इनमें तो मेरा कुछ भी नही है। यही भाव आगामी गाथा में वर्णित है।

अब इसी विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते है—

चत्तपुत्तकलत्तस्स, निव्वावारस्स भिक्खुणो ।
पियं न विज्जई किंचि, अप्पियं पि न विज्जई ॥ १५ ॥

त्यक्तपुत्रकलत्रस्य, निर्व्यापारस्य भिक्षोः ।
प्रियं न विद्यते किंचित्, अप्रियमपि न विद्यते ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—**चत्त**—छोड़ा है, **पुत्त-कलत्तस्स**—पुत्र-पत्नी आदि का सम्बन्ध जिसने, **निव्वावारस्स**—व्यापार-रहित, **भिक्खुणो**—भिक्षु को, **किंचि**—किंचित् मात्र भी, **पियं**—प्रिय, **न विज्जई**—नहीं है, **अप्पियंपि**—अप्रिय भी, **न विज्जई**—नहीं है।

मूलार्थ—जिस भिक्षु ने पुत्र-पत्नी आदि का सम्बन्ध छोड़ दिया है और जो सभी सांसारिक व्यापारों से रहित हो चुका है, उसके लिए संसार का कोई भी पदार्थ प्रिय अथवा अप्रिय नहीं है।

टीका—जो भिक्षु अपने पुत्र तथा पत्नी आदि परिवार से किसी प्रकार का सम्बन्ध नही रखता तथा जिसने सर्व प्रकार के सावद्य व्यापारो का परित्याग कर दिया है ऐसे भिक्षु की ससार के किसी भी पदार्थ मे प्रीति अथवा अप्रीति नही रह जाती। तात्पर्य यह है कि उसका न तो किसी वस्तु मे राग होता है और न किसी पदार्थ से द्वेष होता है। संसार के अन्दर सुख अथवा दुख की उत्पत्ति का कारण ममत्व है, ममत्व से ही ससार में सुख-दुख की भावना का उद्गम होता है। ममत्व के न रहने पर संसार की सुख-दुखमयी सारी विषम भावनाए समता के समुद्र मे विलीन हो जाती है, इसलिए सासारिक पदार्थो पर से ममत्व को हटा लेने वाले मुमुक्षु जन की दृष्टि में कोई भी पदार्थ प्रिय अथवा

अप्रिय नहीं रह जाता एवं किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति से हर्ष और अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति से शोक तथा अप्रिय वस्तु के संयोग से और प्रिय वस्तु के वियोग से किसी प्रकार का विषाद भी नहीं होता।

इस कथन से इन्द्र के उस प्रश्न का भली-भान्ति उत्तर मिल जाता है जिसमें कि उसने राजर्षि नमि से यह कहा था कि—'आपकी मिथिला नगरी और आपके राज-महल अग्नि के द्वारा भस्मसात् हो रहे है और आप उनकी तरफ आंख उठाकर भी नहीं देख रहे। इत्यादि।

यहां पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि राजर्षि नमि और देवराज इन्द के इस प्रश्नोत्तर में इन्द्र तो उनके सांसारिक व्यामोह की परीक्षा कर रहे हैं और मुनि उसको साधु-धर्म का स्वरूप बता रहे हैं।

अब एकान्त निवास और संग-त्याग का फल बताते हैं—

बहुं खु मुणिणो भद्दं, अणगारस्स भिक्खुणो ।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स, एगन्तमणुपस्सओ ॥ १६ ॥

बहु खलु मुनेर्भद्रं, अनगारस्य भिक्षोः ।
सर्वतो विप्रमुक्तस्य, एकान्तमनुपश्यतः ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—**बहुं**—बहुत, **खु**—(निश्चयार्थक है), **मुणिणो**—मुनि को, **भद्दं**—कल्याण—सुख है, **अणगारस्स**—अनगार, **भिक्खुणो**—भिक्षु को, **सव्वओ**—सर्व प्रकार से, **विप्पमुक्कस्स**—बन्धनों से रहित को, **एगन्तं**—एकान्त, **अणुपस्सओ**—देखने वाले को।

मूलार्थ—आत्मा की ओर देखने वाले मुनि को निश्चय ही बहुत सुख है, जो अनगार भिक्षु सर्व प्रकार के बन्धनों से रहित है उसका सदैवकाल सर्वत्र ही भद्र अर्थात् कल्याण होता है।

टीका—राजर्षि नमि इन्द्र से कहते है कि जो मुनि अपनी आत्मा मे रमण करता है उसको निश्चय ही सुख प्राप्त होता है, क्योंकि पुत्र-कलत्रादि सांसारिक पदार्थो का बन्धन ही दुख का कारण है, अतः इन सर्व प्रकार के बन्धनों को तोड़ कर आत्म-दर्शन में निमग्न रहने वाले अनगार भिक्षु को जो कल्याणमय सुख प्राप्त होता है वह अवर्णनीय है।

इस गाथा में एकान्त-वास और एकान्त-भावना के द्वारा निज आत्मा का अवलोकन करना ही एक मात्र सुख का साधन बताया गया है तथा इसी एकान्तवास और एकान्त भावना से साधक सुखों का अधिकारी बन सकता है। जिसने अपनी आत्मा का अनुभव नहीं किया वह प्रतिभाशाली होने पर भी सुख का अनुभव नहीं कर सकता।

यहां पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि इन्द्र ने तो केवल क्षात्र-धर्म को मुख्य रखकर राजर्षि नमि से जलती हुई मिथिला नगरी के सरक्षण आदि के विषय में उनका ध्यान आकर्षित किया था और राजर्षि नमि ने केवल साधु-धर्म को लक्ष्य में रखकर उत्तर में उससे किसी प्रकार का भी अपना

सम्पर्क नहीं है, वह बताया है। तब इन दोनों भिन्न दृष्टियो से इन्द्र का प्रश्न और राजर्षि का उत्तर ये दोनों ही संगत प्रतीत होते हैं।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥ १७ ॥

एनमर्थं निशम्य, हेतुकारणनोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥ १७ ॥

मूलार्थ—इसके अनन्तर अपने प्रश्न का उत्तर प्राप्त कर लेने के बाद पुनः हेतु एवं कारण से प्रेरित इन्द्र राजर्षि नमि से कहते हैं, अर्थात् इन्द्र ने उनसे जो आगे प्रश्न किया है अब उसको बताते हैं।

टीका—मूलार्थ से ही भावार्थ स्पष्ट हो रहा है।

इन्द्र प्रश्न करता है—

पागारं कारइत्ता णं, गोपुरट्टालगाणि य ।
उस्सूलग सयग्घीओ, तओ गच्छसि खत्तिया! ॥ १८ ॥

प्राकारं कारयित्वा, गोपुराट्टालकानि च ।
उस्सूलकाः शतघ्नीः, ततो गच्छ क्षत्रिय! ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—**खत्तिया**—हे क्षत्रिय!, **पागारं**—किला, **कारइत्ताणं**—बनवाकर, **गोपुर**—नगर के मुख्य द्वार, **य**—और, **अट्टालगाणि**—प्राकार के ऊपर युद्ध करने वाले स्थान, **उस्सूलग**—कोट की खाई और, **सयग्घीओ**—शतघ्नी—तोपे आदि शस्त्र-अस्त्र बनवाकर, **तओ**—तदनन्तर **गच्छसि**—तुझे जाना चाहिए।

मूलार्थ—हे क्षत्रिय! प्रथम किला बनवाकर, गोपुर, अट्टालिका और किले की खाई तैयार करवाकर तथा उन पर तोपें आदि अस्त्र-शस्त्र लगवाकर फिर तुम्हें नगर को छोड़कर जाना चाहिए।

टीका—यहां पर इन्द्र ने राजर्षि नमि को जो सुझाव दिया है वह साधना-क्षेत्र के लिए एक विलक्षण सुझाव है। इन्द्र कहते है कि हे राजन्! यदि आप का दीक्षा के लिए दृढ़ आग्रह है तो आप प्रथम इतने काम करके फिर दीक्षा ग्रहण करे। प्रथम तो मिथिला नगरी की रक्षा के लिए एक किला बनवाओ, फिर उसका अर्गलायुक्त दुर्ग-द्वार बनवाओ, दुर्ग के ऊपर अट्टालिकाएं तैयार कराओ, जिनमे खड़े होकर योद्धा युद्ध कर सके तथा शत्रुओं को रोकने के लिए किले के चारो ओर एक गहरी खाई खुदवाओ एवं आक्रमणकारी शत्रुओं को परास्त करने के लिए तोपें और बन्दूकें आदि शस्त्रों को स्थापित कराओ। इन समस्त युद्ध-साधनो के तैयार हो जाने पर फिर आप खुशी से जा सकते है।

ये सब बाते मैंने इसलिए आपसे कही है कि आप क्षत्रिय है। क्षत्रियो का मुख्य धर्म है प्रजा का पालन करना और भय से उसकी रक्षा करना। **'क्षतात्-भयात् त्रायते इति क्षत्रियः'** अर्थात् जो भय से रक्षा

करे उसे क्षत्रिय कहते हैं। अतः इस नगरी को सुरक्षित और भय-रहित बनाकर आपको जाना चाहिए।

गाथा में आए हुए **'शतघ्नी'** शब्द का अर्थ है—जो एक बार चलाने पर सैकड़ों मनुष्यों का विनाश कर डाले अर्थात् 'तोप' या इसी प्रकार का कोई अस्त्र विशेष। वृत्तिकार ने तो इसका अर्थ यन्त्र विशेष किया है, परन्तु आजकल के नवीन शोध-कर्त्ताओं ने इसका अर्थ 'तोप' ही माना है।

'गच्छसि' इस क्रियापद में प्राकृत के—**'व्यत्ययश्च'** इस नियम के अनुसार तिङ् का व्यत्यय समझना अर्थात् लट् लकार की **'गच्छसि'** क्रिया के स्थान मे लोट् की **'गच्छ'** क्रिया का ग्रहण करना चाहिए।

'खत्तिया' यहां पर भी प्राकृत के नियमानुसार ही सम्बोधन में अकार को दीर्घ किया गया है। यथा **'हे गोयमा'** इत्यादि। **'गच्छसि खत्तिया'** का सस्कृत प्रतिरूप **'गच्छ क्षत्रिय'** है।

इन्द्र के द्वारा दिए गए सुझाव का अभिप्राय समझ कर राजर्षि नमि ने क्या कहा, अब सूत्रकार इस विषय का वर्णन करते हैं —

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥ १६ ॥

एनमर्थं निशम्य, हेतुकारणनोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥ १६ ॥

मूलार्थ—तदनन्तर देवेन्द्र के इस विचार को सुनकर राजर्षि नमि हेतु और कारण से प्रेरित होकर इन्द्र से इस प्रकार कहने लगे।

टीका—इस गाथा का अर्थ सर्वथा स्पष्ट है, अत. विशेष विवेचना की आवश्यकता नही है।

राजर्षि उत्तर देते हैं—

सद्धं च नगरं किच्चा, तवसंवरमग्गलं ।
खन्तिं निउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥ २० ॥

श्रद्धां च नगरं कृत्वा, तपः संवरमर्गलाम् ।
क्षान्तिं निपुणप्राकारां, त्रिगुप्तं दुष्प्रधर्षकम् ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः—सद्धं—श्रद्धा को, **नगरं**—नगर, **किच्चा**—बना करके, **तव-संवरं**—तप और संवर को, **अग्गलं**—अर्गला बनाकर, **खंतिं**—क्षमा को, **निउणपागारं**—निपुण अर्थात् सुदृढ़ प्राकार—कोट बनाकर, **तिगुत्तं**—त्रिगुप्त, **दुप्पधंसयं**—जो वैरी से नहीं जीता जा सके ऐसा दुर्ग मैंने पहले ही तैयार कर लिया है, इस अर्थ का यहां पर अध्याहार कर लेना चाहिए।

मूलार्थ—हे ब्राह्मण! कर्मरूप शत्रुओं से अपने आपको सुरक्षित रखने के लिए, श्रद्धारूप नगर, तप-संवररूप अर्गल, क्षमारूप प्राकार-कोट, मनोगुप्तिरूप खाई, वचनगुप्ति रूप अट्टालक और कायगुप्तिरूप शतघ्नी इत्यादि ये सब मैंने पहले ही तैयार कर लिए हैं।

टीका—राजर्षि नमि ने देवेन्द्र को उत्तर देते हुए कहा कि मैंने शत्रुओं से संरक्षित रहने के लिए तुम्हारे कथन के अनुसार प्रथम से ही सब कुछ तैयार कर लिया है। यथा श्रद्धा अर्थात् तत्त्वाभिरुचि रूप तो नगर बनाया है जो कि समस्त गुणो का आधार भूत है और उपशम-संवेग आदि उसके गोपुर—दुर्गद्वार बनाए है। फिर उन द्वारो के कपाटों पर षड्विध बाह्यतप और पंचविध आश्रव के निरोध करने वाले संवर रूप अर्गल भी लगवा दिए है ताकि मिथ्यात्व आदि शत्रुओं का नगर में प्रवेश न हो सके। श्रद्धा रूप नगर को विशेष रूप से सुरक्षित रखने के लिए मैंने उसके चारों तरफ उत्तम क्षमा का दृढ़तर प्राकार अर्थात् कोट बना दिया है और साथ ही उसके त्रिगुप्ति रूप अट्टालक-खाई और शतघ्नी आदि शस्त्र भी तैयार कर लिए है, जैसे कि मनो-गुप्ति अट्टालक, वचन-गुप्ति खाई और शरीर-गुप्ति शतघ्नी तथा अन्य अस्त्र-शस्त्र आदि है।

इस नगरी में अब किसी शत्रु के आने का भय नही है, क्योकि इसका क्षमा-रूप प्राकार-कोट इतना दृढ़ और मजबूत बना है कि कोई भी शत्रु इसको सहज ही तोड़ नहीं सकता। इस पर भी यदि कोई शत्रु इस पर आक्रमण करे तो मै अवश्य ही अपने अस्त्र-शस्त्रो के द्वारा उसके साथ युद्ध करूंगा और हर प्रकार से नगर को बाहर के शत्रुओं से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करूंगा।

राजर्षि नमि ने इन्द्र के प्रति उसके प्रश्न का उत्तर देते हुए आत्म-संरक्षण के लिए संयमशील मुनि को किस प्रकार के आध्यात्मिक दुर्ग का निर्माण करके, राग-द्वेष आदि प्रबल शत्रुओं के आक्रमण से अपने साधक जीवन को बचाए रखने का यत्न करना चाहिए, यह सब कुछ बताते हुए अपने वास्तविक क्षत्रियत्व का पूर्ण रूप से परिचय दे दिया है। जिससे कि देवेन्द्र उनके आध्यात्मिक जीवन के आन्तरिक स्वरूप को भली-भाति समझ सके।

यद्यपि मूल गाथा मे 'अट्ट' पद का प्रयोग नही किया गया, तथापि उसका अध्याहार कर लेना चाहिए।

अब इसी विषय में फिर कहते हैं—

धणुं परक्कमं किच्चा, जीवं च इरियं सया।
धिइं च केयणं किच्चा, सच्चेणं पलिमंथए॥ २१॥

धनुः पराक्रमं कृत्वा, जीवां चेर्यां सदा।
धृतिं च केतनं कृत्वा, सत्येन परिमथ्नीयात्॥ २१॥

पदार्थान्वयः—धणुं—धनुष, **परक्कमं**—पराक्रमरूप, **किच्चा**—करके, **च**—और, **जीवं**—जीवा अर्थात् डोरी को, **इरियं**—ईर्या समिति रूप, **सया**—सदा, **धिइं**—धृतिरूप, **केयणं**—केतन, **किच्चा**—करके, **च**—और फिर, **सच्चेणं**—सत्य से, **पलिमंथए**—धनुष को बाधे।

मूलार्थ—संयम के लिए किए गए पराक्रम रूप धनुष में ईर्या-समिति रूप जीवा अर्थात् प्रत्यंचा

को बांधकर सदा धृतिरूप केतन* करके फिर उस धनुष को सत्य से बांधे।

टीका—इस गाथा में धनुष की द्रव्य और भाव से उपपत्ति की गई है, द्रव्य-धनुष तो संयम-शील धर्मात्मा पुरुषों के द्वारा बांधने योग्य नहीं होता है, वे तो भाव-धनुष को ही अपने पास रखते है। उस भाव-धनुष का परिचय इस प्रकार है।

मुमुक्षु पुरुष संयम-पराक्रम का धनुष बनाकर उसमें ईर्या-समिति आदि पांचों समितियों की जीवा अर्थात् डोरी बांधे तथा धर्म-मार्ग में निरन्तर धारण किए जाने योग्य धैर्य का केतन बनाए। उस धनुष को स्नायु स्थान से सत्य की रस्सी द्वारा बान्धना चाहिए, अर्थात् सत्य की डोरी से उसको बान्धना चाहिए।

साराश यह है कि संयमशील पुरुषों का यह भावरूप धनुष है जिससे कि संयमी साधक अपनी आत्मा की रक्षा करता हुआ राग-द्वेषादि शत्रुओं से युद्ध करने में सफलता प्राप्त करता है।

इस गाथा के भाव रूप धनुष की रचना का विचार करते हुए यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वकाल मे इस देश में धनुर्विद्या का अधिकाधिक प्रचार था, क्योंकि द्रव्य को ही मुख्य रखकर उसकी भाव में कल्पना की जाती है, जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है।

अब शास्त्रकार उक्त विधि से तैयार किए गए धनुष के उपयोग-सम्बन्धी विषय का वर्णन करते हैं—

तव नारायजुत्तेणं, भेत्तूणं कम्मकंचुयं ।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥ २२ ॥

तपोनाराचयुक्तेन, भित्त्वा कर्मकंचुकम् ।
मुनिर्विगत-संग्रामः, भवात्परिमुच्यते ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः—**तव**—छ प्रकार का आभ्यन्तर तप रूप, **नाराय**—बाण, **जुत्तेणं**—युक्त, **कम्म कंचुयं**—कर्म रूप कचुक को, **भेत्तूणं**—भेदन करके, **मुणी**—साधु, **विगयसंगामो**—बाह्य संग्राम रहित होकर, **भवाओ**—संसार से, **परिमुच्चए**—सर्वथा मुक्त हो जाता है।

मूलार्थ—तप रूप बाण से युक्त करके उस संयम-रूप धनुष के द्वारा कर्म-कंचुक का भेदन करके फिर वह मुनि संग्राम से रहित होकर इस संसार से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

टीका—जब संयम-पराक्रम रूप धनुष का निर्माण कर लिया गया, तब उस पर बाण की आवश्यकता हुई, इसलिए छ. प्रकार के आभ्यन्तर तप रूप बाण को उस पर चढ़ाकर उसके द्वारा कर्म रूप कंचुक अर्थात् कवच का भेदन करके विगत-सग्राम होने पर विचारशील मुनि इस ससार से सर्वथा छूट जाता है।

★ १ धनुष के मध्यभाग मे उसके पकड़ने के लिए जो काष्ठमय मुष्टि लगी हुई होती है उसको 'केतन' कहते हैं। 'केतन श्रृगमयधनुर्मध्येकाष्ठमयमुष्ट्यात्मकम्' इति वृत्तिकार.।

भावार्थ यह है कि कर्मो की सेना पर विजय प्राप्त करने के लिए इस प्रकार के धनुषधारी वीर आत्मा ही समर्थ हो सकते है।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥ २३ ॥

एनमर्थं निशम्य, हेतु-कारण-नोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

(शब्दार्थ पूर्ववत्)

मूलार्थ—तदनन्तर इस पूर्वोक्त अर्थ को सुनकर राजर्षि नमि के प्रति इन्द्र ने इस प्रकार कहा।

टीका—इस गाथा का अर्थ तो स्पष्ट ही है, किन्तु विशेष रूप से इतना और समझ लेना चाहिए कि राजर्षि नमि ने इन्द्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए उसको यह समझाने का प्रयत्न किया है कि जो पुरुष जिस आश्रम में प्रविष्ट हो चुका है उसको उसी आश्रम के नियमो का अनुसरण करना चाहिए। यही आत्मा के विकास की पद्धति है। मैने गृहस्थाश्रम का परित्याग करके अब संन्यास आश्रम में प्रवेश किया है, इसलिए सन्यासी अर्थात् भिक्षु के लिए आप्त पुरुषों ने जिन नियमों का विधान किया है मुझे उन्ही का अनुसरण करना चाहिए, इसी धारणा से आत्मिक गुणों का विकास हो सकता है।

आपने मिथिला की रक्षा के निमित्त कोट आदि के निर्माण करने का जो मुझ से प्रस्ताव किया है वह समुचित नही है, क्योकि मेरा अब इन बातों से कोई सम्बन्ध नहीं रहा, मै तो ससार को त्याग चुका हू, अत. इस प्रकार के सुझाव तो आपको किसी गृहस्थ क्षत्रिय को देने चाहिएं। यहा पर आत्म-रमणता या आत्म-समाधि के अतिरिक्त अन्य किसी विचार की प्रवृत्ति नहीं है, इसलिए आपका यह सम्भाषण युक्ति-युक्त प्रतीत नही होता।

राजर्षि नमि के इस प्रकार के साधु-जीवन के अनुरूप उत्तर को सुन करके भी इन्द्र ने अपना फिर वही राग आलापना आरम्भ किया, अर्थात् फिर भी वह उनको प्रासाद आदि के निर्माण करने की ही प्रेरणा देता रहा, यह विस्मय की बात है। परन्तु इसमे जो रहस्य है वह भी स्पष्ट है। वह यह कि इन्द्र राजर्षि नमि को बार-बार परीक्षा की कसौटी पर परखना चाहता है कि देखें ये कितने दृढ़ विचारों वाले है?

इन्द्र का पुनर्प्रश्न—

पासाए कारइत्ता णं, वद्धमाणगिहाणि य ।
वालग्गपोइयाओ य, तओ गच्छसि खत्तिया! ॥ २४ ॥

प्रासादान्कारयित्वा खलु वर्धमानगृहाणि च ।
बालाग्रपोतिकाश्च, ततो गच्छ क्षत्रिय! ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः—**पासाए**—प्रासादो को, **कारइत्ताणं**—करवा करके, **वद्धमाण**—वर्धमान,

गिहाणि—घर, **य**—और—तथा, **बालग्गपोइयाओ य**—और वलभी घर—बनवाओ, **तओ**—तदनन्तर, **खत्तिया**—हे क्षत्रिय! **गच्छसि**—तुम्हे जाना चाहिए।

मूलार्थ—हे क्षत्रिय! प्रासादों—महलों को बनवाकर तथा वर्धमान एवं सामान्य वलभी घर—जल-महल बनवाकर बाद में तुम्हें जाना चाहिए।

टीका—देवेन्द्र राजर्षि नमि से कहते है कि यदि आपने जाना ही है तो प्रथम, प्रासाद—महल बनवाओ और फिर वास्तुशास्त्र के अनुसार अनेक प्रकार के सामान्य और वर्धमान घरों का निर्माण कराओ! जैसे कि चन्द्रशाला—(चौबारे) से युक्त तथा आगे से बढ़े हुए अर्थात् छज्जे वाले घर बनवाओ तथा वलभीगृहों का निर्माण करवाओ जो कि छ ऋतुओं में सुख देने वाले हो। **'बालग्गपोइया—बालाग्रपोतिका'** यह देशीनाममाला मे प्रयुक्त प्राकृत भाषा का शब्द है जो कि वलभीघर का वाचक है। बालाग्र-पोतिका उस गृहविशेष को कहा जाता था जिसके चारों ओर जल हो। प्राचीन काल मे इस प्रकार के घर बनवाने की प्रथा विशेष रूप से प्रचलित थी। इन्द्र कहता है—तुम्हे ऐसे स्थान भी बनवाने चाहिए जो कि दर्शको के लिए आनन्द-प्रद हो, क्योंकि जो बाहर से दर्शक आते है वे नगरी के वास्तु-शास्त्र के अनुसार बने हुए स्थानों को देखकर बहुत ही प्रसन्न होते है। नगरी का सौन्दर्य आपके हाथ मे है, आप जैसा चाहो, बनवा सकते हैं, अतः प्रव्रज्या से पूर्व यह काम आपको अवश्य करना चाहिए।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥ २५ ॥

एनमर्थं निशम्य, हेतु-कारण-नोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥ २५ ॥

(शब्दार्थ पूर्ववत्)

मूलार्थ—ब्राह्मण रूपधारी इन्द्र की इस बात को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित होकर राजर्षि नमि ने इस प्रकार कहा—

टीका—इस गाथा का अर्थ सर्वथा स्पष्ट है, अत· विशेष विवेचना की आवश्यकता नहीं है।

राजर्षि का समाधान—

संसयं खलु सो कुणई, जो मग्गे कुणई घरं ।
जत्थेव गन्तुमिच्छेज्जा, तत्थ कुव्वेज्ज सासयं ॥ २६ ॥

संशयं खलु स कुरुते, यो मार्गे कुरुते गृहम् ।
यत्रैव गन्तुमिच्छेत्, तत्र कुर्वीत शाश्वतम् ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—संसयं—संशययुक्त, **खलु**—(निश्चयार्थक है), **सो**—वह, **कुणई**—करता है,

जो—जो, **मग्गे**—मार्ग में, **घरं**—घर, **कुणई**—करता है, **जत्थेव**—जहां पर, **गन्तुं**—जाने की, **इच्छेज्जा**—इच्छा करे, **तत्थ**—वहां—उसी स्थान पर, **सासयं**—अपना (शाश्वत) आश्रय, **कुव्वेज्ज**—बनाए।

मूलार्थ—जो पुरुष संशययुक्त होता है वही मार्ग में घर बनाता है, अतः जहां पर जाने की इच्छा हो वहीं पर अपने आश्रय के लिए घर बनाए।

टीका—राजर्षि नमि देवेन्द्र से कहते हैं कि जिस पुरुष को अपने जाने में सन्देह है, अर्थात् जो यह समझता है कि मैंने सदैव इसी संसार मे ही रहना है, वही व्यक्ति मार्ग में प्रासाद—घर आदि का निर्माण करता है और जिसको अपने जाने का निश्चय हो चुका हो, अर्थात् जिसने मरकर संसार को छोड़ने का निश्चित ज्ञान प्राप्त कर लिया हो वह पुरुष अपने आश्रय के लिए यहां पर घर नही बनाता है। मुझे तो अपने जाने में किसी प्रकार का सन्देह नही रहा, अर्थात् मुझे तो इस बात का पूर्ण निश्चय हो चुका है कि मैने अवश्य जाना है तो फिर मुझे इस मार्ग-स्थान में घर बनाने की क्या आवश्यकता है? मुझे तो जिस स्थान पर जाना है, अपने आश्रय के लिए मै तो उसी स्थान में पहुंचकर घर बनाऊगा।

तात्पर्य यह है कि मैने तो मुक्ति-धाम मे जाना है, इसलिए वहीं पर अपना नूतन घर बनाने की मेरी इच्छा है, क्योकि वही शाश्वत स्थान है।

नमि राजर्षि इन्द्र से कहते हैं कि मैं तो इस स्थान को—संसार को गमन का मार्ग मात्र समझता हूं और जो मार्ग में घर बनाने की चेष्टा करता है वह बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता, इसलिए मुझे इस स्थान पर घर बनाने की आवश्यकता नहीं है।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥ २७ ॥

एनमर्थ निशम्य, हेतु-कारण-नोदितः ।
ततो नमि राजर्षिं देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

(शब्दार्थ पूर्ववत्)

मूलार्थ—इस पूर्वोक्त विचार को सुनकर और नवीन हेतु और कारण से प्रेरित होकर इन्द्र फिर नमि राजर्षि से कहते हैं—

टीका—उक्त गाथा आगामी प्रश्न का उपक्रम मात्र है, अतः विशेष व्याख्या की आवश्यकता नही है।

इन्द्र कहता है—

आमोसे लोमहारे य, गंठिभेए य तक्करे ।
नगरस्स खेमं काऊणं, तओ गच्छसि खत्तिया! ॥ २८ ॥

आमोषान् लोमहारान्, ग्रंथिभेदांश्च तस्करान् ।
नगरस्य क्षेमं कृत्वा, ततो गच्छ क्षत्रिय! ॥ २८ ॥

पदार्थान्वयः—**आमोसे**—लुटेरो को, **य**—और **लोमहारे**—प्राणघात करने वालों को, **गंठिभेए**—गांठ कतरने वालों को, **तक्करे**—चोरो को, **नगरस्स**—नगर का, **खेमं**—कल्याण, **काऊणं**—करके, **तओ**—तदनन्तर, **खत्तिया**—हे क्षत्रिय!, **गच्छसि**—तुझे जाना चाहिए।

मूलार्थ—हे क्षत्रिय! लुटेरों, प्राण हरने वालों, गांठ कतरने और प्रत्यक्ष चोरी करने वालों से इस नगर को सुरक्षित करके फिर आपको जाना चाहिए।

टीका—इस गाथा में इन्द्र ने राजर्षि नमि से पुन उसी क्षत्रियोचित कर्त्तव्य के पालन करने का प्रस्ताव किया है। देवेन्द्र कहते है कि महाराज! इन चोरों, डाकुओं, लुटेरों और ठगों से इस नगरी को हर प्रकार से सुरक्षित करके आप जाए और फिर निश्चित होकर दीक्षा ग्रहण करें, क्योंकि आप क्षत्रिय है, इसलिए अपनी प्रजा को निर्भय करने का आपको अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। यह कार्य आपके लिए कुछ कठिन भी नहीं है।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ २९ ॥

एनमर्थं निशम्य, हेतु-कारण-नोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥ २९ ॥

(शब्दार्थ पूर्ववत्)

मूलार्थ—इन्द्र के इस पूर्वोक्त विचार को सुनकर राजर्षि नमि ने हेतु और कारण से प्रेरित होकर इन्द्र के प्रति इस प्रकार कहा—

टीका—मूलार्थ से ही प्रस्तुत गाथा का भाव स्पष्ट हो रहा है, अतः विशेष व्याख्या अपेक्षित नही है।

नमि का उत्तर—

असइं तु मणुस्सेहिं, मिच्छादंडो पउञ्जई ।
अकारिणोऽत्थ बज्झंति, मुच्चई कारओ जणो ॥ ३० ॥

असकृत्तु मनुष्यैः, मिथ्यादण्डः प्रयुज्यते ।
अकारिणोऽत्र बध्यन्ते, मुच्यते कारको जनः ॥ ३० ॥

पदार्थान्वयः—**असइं**—अनेक बार, **मणुस्सेहि**—मनुष्यों के द्वारा, **मिच्छादंडो**—मिथ्या दण्ड का, **पउञ्जई**—प्रयोग किया जाता है, **अकारिणो**—चोरी आदि अपराध न करने वाले, **अत्थ**—यहा—लोक मे, **बज्झंति**—बाध दिए जाते है और, **कारओ**—चोरी आदि अपराध करने वाले, **जणो**—जन, **मुच्चई**—छोड़ दिए जाते है, **तु**—निश्चय से।

मूलार्थ—यहां मनुष्यों के द्वारा अनेक बार मिथ्या दंड का प्रयोग होता है, जैसे कि चोरी आदि अपराध न करने वाले बांधे जाते हैं और अपराध करने वाले छोड़ दिए जाते हैं।

टीका—राजर्षि नमि इन्द्र से कहते है कि इस लोक में दंड के सम्बन्ध में बहुत कुछ विपरीत देखने मे आता है। अज्ञानी जीवों के द्वारा मिथ्या दड का अधिक प्रयोग होता है। बहुधा देखा गया है कि जो लोग निरपराध होते हैं, उनको कठोर-से-कठोर दंड दिया जाता है और जिन लोगों ने अपराध किया होता है वे मुक्त हो जाते है। इस विपर्यय का कारण अज्ञान ही है। इसलिए जब तक अज्ञान को दूर करके यथार्थ ज्ञान का सम्पादन नही किया जाता, तब तक यथार्थ रक्षा-कार्य का होना दुशक्य होता है।

राजर्षि नमि के कथन का वास्तविक अभिप्राय बड़ा ही सुन्दर है। वे इन्द्र को एक उत्तम आध्यात्मिक रहस्य बड़े सादे से रूपक मे समझा रहे है। उनके कथन का आशय यह है कि आत्मा की इस शरीर रूपी नगरी में पाच इन्द्रियां और चार कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) रूप चोर बसते है। वे इस आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप धन का अपहरण करने के लिए हर समय उद्यत रहते है, अतः जब तक उन चोरो को पकड़कर दंड न दिया जाएगा तब तक शाति नहीं हो सकती। मैने तो उन चोरो का अब भली-भाति पता लगा लिया है और उनको पकड़कर निर्वासित करने का मैं यत्न कर रहा हू।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥ ३१ ॥

एनमर्थं निशम्य, हेतु-कारण-नोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—राजर्षि नमि के इस पूर्वोक्त कथन को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित इन्द्र फिर उनसे इस प्रकार कहने लगा—

टीका—मूलार्थ की स्पष्टता के कारण व्याख्या की अपेक्षा नही है।

जे केइ पत्थिवा तुज्झं, नानमन्ति नराहिवा! ।
वसे ते ठावइत्ताणं, तओ गच्छसि खत्तिया ॥ ३२ ॥

ये केचन पार्थिवास्तुभ्यं, न नमन्ति नराधिप! ।
वशे तान्स्थापयित्वा, ततो गच्छ क्षत्रिय! ॥ ३२ ॥

पदार्थान्वयः—**जे केइ**—जो कोई, **पत्थिवा**—राजा लोग, **तुज्झं**—आपको, **नराहिवा**—हे नराधिप!, **नानमन्ति**—नमस्कार नही करते है, **ते**—उनको, **वसे**—अपनी आधीनता मे, **ठावइत्ता**—स्थापित करके, **तओ**—तदनन्तर, **खत्तिया**—हे क्षत्रिय!, **गच्छसि**—तुम्हे जाना चाहिए। **णं**—(वाक्यालकार मे है)।

मूलार्थ—जो राजा लोग आपको नमस्कार नहीं करते हैं उनको अपनी आधीनता में स्थापित करके फिर आपको साधना-पथ पर जाना चाहिए।

टीका—इस प्रश्न से इन्द्र ने राजर्षि नमि के अन्तःकरण की परीक्षा करने का प्रयत्न किया है, अर्थात् उनके अन्दर द्वेष और मान की मात्रा है या नहीं, इसकी परीक्षा लेने के लिए उसने यह प्रस्ताव राजर्षि के समक्ष रखा है, क्योंकि जिस व्यक्ति के अन्दर द्वेष की अग्नि सुलग रही हो, उसके सम्मुख यदि उसके किसी शत्रु की प्रशंसा की जाए तो उसकी आन्तरिक द्वेष-ज्वाला एकदम भड़क उठती है और उसके अन्दर रहा हुआ मान उस ज्वाला को अधिक प्रदीप्त करने के लिए पवन के तीव्र वेग का काम करता है। इसलिए राजर्षि नमि से इन्द्र कहता है कि महाराज! आप सबसे पहले उन राजाओं को अपने वश में कर लें जो राजा आपको नमस्कार नहीं करते है, आपकी आज्ञा मे नहीं चलते हैं। उसके अनन्तर ही इस दीक्षा-मार्ग मे प्रवृत्त हों, यदि आपने ऐसा न किया तो सम्भव है कि आपके चले जाने के बाद वे आपके राज्य को छिन्न-भिन्न करके आपके उत्तराधिकारी को अपने वश में कर लें, यदि आप उनको पराजित करके अपने वश मे कर ले तो फिर किसी प्रकार के उपद्रव की सम्भावना ही न रहेगी।

इन्द्र का आन्तरिक संकेत यही है कि पहले बाह्य शत्रुओं को वश में करके ही आप सयम पथ पर कदम बढ़ाएं जिससे कि आपकी आत्मा को सयम-मार्ग पर चलते हुए कोई कष्ट न हो।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ ३३ ॥

एनमर्थं निशम्य, हेतु-कारण-नोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥ ३३ ॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—देवेन्द्र के इस प्रश्न को सुनकर राजर्षि नमि ने हेतु और कारण से प्रेरित होकर उत्तर में देवेन्द्र से इस प्रकार कहा।

टीका—भावार्थ भी स्पष्ट है, अतः व्याख्या नही की जा रही है।

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ* ॥ ३४ ॥

★ १ तुलना करो धम्मपद (बौद्ध ग्रन्थ) की इस गाथा से—

'ये सहस्सं सहस्सेन संगामे मानुसे जिने।
एक च जेय्यमत्तानं, स वै सगाम जुत्तमो' ॥
(सहस्स वग्ग-४ गा)

'य सहस्र सहस्रेण सग्रामे मानुषान् जयेत्।
एक च जयेदात्मान, स वै सग्रामजिदुत्तम ' ॥

यः सहस्रं सहस्राणां, संग्रामे दुर्जये जयेत् ।
एकं जयेदात्मानं एष तस्य परमो जयः ॥ ३४ ॥

पदार्थान्वयः—**जो**—जो, **सहस्सं**—हजार को, **सहस्साणं**—हजार से गुणा करने पर अर्थात् दस लाख सुभंटों को, **दुज्जए**—दुर्जय, **संगामे**—सग्राम में, **जिणे**—जीत ले, **एगं**—एकं, **अप्पाणं**—आत्मा को, **जिणेज्ज**—जीत ले, **एस**—वह, **से**—उसका, **परमो**—उत्कृष्ट, **जओ**—जय है।

मूलार्थ—दुर्जेय संग्राम में दस लाख सुभटों की जीतने वाले की अपेक्षा एक आत्मा को जीतने वाला अधिक बली है तथा उसकी वह विजय सर्वोत्कृष्ट विजय है।

टीका—राजर्षि नमि इन्द्र से कहते हैं कि दस लाख योद्धाओं को संग्राम-भूमि मे पछाड़ने वाले बलशाली योद्धा की अपेक्षा आत्म-निग्रह करने वाला आत्मा पर विजय प्राप्त करने वाला अधिक बलवान् और पराक्रमशील है, क्योंकि लाखो सुभटो के साथ युद्ध करने वाला और उनको पराजित करने वाला शूरवीर भी आत्म-निग्रह करके कषायों पर विजय प्राप्त करने मे असफल रहता है। उसका शारीरिक बल भी आत्म-निग्रह के सामने कुण्ठित हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि कषायो पर विजय प्राप्त करने के बदले वह उनसे स्वय पराजित हो जाता है, इसलिए विषय-कषायों को जीतना ही वास्तव में विजय है और इनको जीतने वाला ही सच्चा सुभट और सच्चा विजेता है। जिस पुरुष ने आत्म-निग्रह करके कषायों पर विजय प्राप्त कर ली है उसी का अन्य जीवो पर शासन हो सकता है, वही सबको वश मे करने की शक्ति अपने अन्दर रखता है, क्योकि अपने आप पर विजय प्राप्त किए बिना दूसरो को पराजित नहीं किया जा सकता, अतएव आत्म-निग्रह करने वाले ऋषि-मुनि अपने वरदानों और अभिशापों से जो कार्य कर सकते है, वह बड़े-से-बड़े चक्रवर्ती के लिए भी अशक्य है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा पर विजय प्राप्त करने के लिए ही विवेकशील साधकों को यत्न करना चाहिए जिससे कि वह सब पर विजय प्राप्त कर सके।

अब रही इन राजाओं को वश में करने की बात, वह तो इस कषाय-विजय या आत्म-निग्रह के सामने बहुत ही तुच्छ है। आत्म-विजय प्राप्त करने के बाद तो ये सब बाह्य शत्रु स्वयं आकर साधक के चरणों में गिर पड़ते है, इसलिए उनके विजय की आप कोई चिन्ता न करे। यही राजर्षि नमि के उक्त कथन का आशय है।

सहस्र से सहस्र को गुणा करने से दस लाख बनता है। सहस्सं+सहस्साणं का अभिप्राय हजार गुणा हजार, अर्थात् दस लाख ही है, हजारो नही।

अन्य सुभटों पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा आत्म-विजय को सबसे अधिक कठिन बताने के बाद अब उसी आत्मा के साथ युद्ध करने का उपदेश देते हुए कहते हैं—

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ?
अप्पाणमेवमप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥ ३५ ॥

आत्मनैव युद्ध्यस्व, किं ते युद्धेन बाह्यतः ।
आत्मनैवात्मानं, जित्त्वा सुखमेधते ॥ ३५ ॥

पदार्थान्वयः—अप्पाणं—आत्मा के साथ, **एव**—ही, **जुज्झाहि**—युद्ध करो, **किं ते**—क्या है तुझ को, **बज्झओ**—बाहर के, **जुज्झेण**—युद्ध से, **अप्पाणमेव**—आत्मा से ही, **अप्पाणं**—आत्मा को, **जइत्ता**—जीत कर, **सुहं**—सुख को, **एहए**—(यह जीव) प्राप्त कर सकता है।

मूलार्थ—हे साधक! तू आत्मा से ही युद्ध कर, तेरा बाहर के युद्ध से क्या काम? क्योंकि आत्मा से आत्मा को जीत करके ही यह जीव सुख को प्राप्त कर सकता है।

टीका—राजर्षि नमि कहते है कि हे साधक! तू आत्मा से ही युद्ध कर, अर्थात् आत्मा के मान-अहकार आदि शत्रुओं से युद्ध कर, बाहर के युद्धो से तेरा कोई भी प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है, अर्थात् इन बाहर के शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेने से तू सर्व विजयी नहीं बन सकता, जब तक कि तेरे अन्दर के काम-क्रोध आदि प्रबल शत्रु परास्त न हो जाएं। इसलिए यदि तू सर्वविजयी बनना चाहता है तो प्रथम इन अन्तरंग शत्रुओं के साथ युद्ध कर तथा इन समस्त शत्रुओं का नायक—सेनापति अज्ञान या अज्ञानात्मा है। उसको जीत लेने से अन्य सबका जीतना आसान हो जाता है, अत. अज्ञानात्मा को ज्ञानात्मा के द्वारा युद्ध मे परास्त करके तू अपने अभिलषित सुख को प्राप्त कर सकता है।

यहा पर 'धातुओ के अनेक अर्थ होते है' इस व्यापक नियम के आधार पर **'एधते'** का प्राप्ति अर्थ किया गया है। **'अप्पाणं'** यह तृतीया के अर्थ में द्वितीया का होना प्राकृत के नियमानुसार जानना चाहिए।

यहा पर आत्मा शब्द से मन का ग्रहण किया गया है, इसलिए आत्म-निग्रह अर्थात् मनो-निग्रह तथा आत्मा को जीतना अर्थात् मन को जीतना यह भाव अभिप्रेत है*।

मन और आत्मा का समानाधिकरण होने से ही सूत्रकर्त्ता ने यहां मन के अर्थ में आत्म शब्द का प्रयोग किया है।

अब इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए राजर्षि नमि फिर इन्द्र के प्रति कहते हैं—

पंचिन्दियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वं अप्पे जिए जियं ॥ ३६ ॥

पंचेन्द्रियाणि क्रोधं, मानं मायां तथैव लोभं च ।
दुर्जयं चैवमात्मानं, सर्वमात्मनि जिते जितम् ॥ ३६ ॥

पदार्थान्वयः—पंचिन्दियाणि—पांचो इन्द्रियों, **कोहं**—क्रोध, **माणं**—मान, **मायं**—माया,

---

★ अत्रात्मशब्देन मन'। सर्वत्र सूत्रत्वान्नपुस्त्वञ्च, अतति-गच्छति-प्राप्नोति नवनवानि अध्यवसायस्थानान्तराणीत्यात्मा मन उच्यते'—इति वृत्तिकार ।

तहेव—इसी प्रकार, **लोहं**—लोभ, **च**—और मिथ्यात्वादिक, **दुज्जयं**—दुर्जय, **अप्पाणं**—आत्मा, **अप्पे जिए**—आत्मा के जीते जाने पर, **सव्वं**—सब, **जियं**—जीते गए, **च-एव**—(पादपूर्ति में हैं)।

मूलार्थ—हे साधक! पांचों इन्द्रियों, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि को जीतकर तब दुर्जय जो मन है उसको जीतो, क्योंकि एक मन को जीत लेने पर अन्य सब जीते हुए ही हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मा का जीतना सबसे अधिक कठिन है।

टीका—राजर्षि नमि कहते है कि आत्मा दुर्जेय है, अर्थात् मन का निग्रह करना अत्यन्त कठिन है। उसका निग्रह करना ही आत्म-विजय है। इस मन को जीत लेने पर फिर किसी वस्तु का जीतना शेष नही रह जाता। इन्द्रिया और कषाय आदि तो मन के अनुचर विशेष है, इसीलिए इनको दुर्जेय न कहते हुए केवल मन को ही दुर्जेय बताया गया है। क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषाय—जो आत्मा के वैभाविक परिणाम है वे सब इसी मन रूप आत्मा से प्रेरित होकर अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होते है, इसीलिए आत्म-निग्रह ही इस ज्ञानात्मा की सर्वतोभावी विजय है। इससे सिद्ध हुआ कि जिसने पाचो इन्द्रियों और उनके पाचो विषयों तथा क्रोध, मान, माया और लोभ अथवा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इत्यादि पर आत्मा के निग्रह के द्वारा विजय प्राप्त कर ली है, उसने मानो सबको जीत लिया है—वह विश्व-विजयी बन गया है। फिर उसके लिए कोई अजेय वस्तु नहीं रह जाती। ऐसे आत्म-विजेता के सामने विश्व की सारी, विभूतिया हाथ जोड़े खड़ी रहती है। वास्तव में देखा जाए तो—'मन जीते जग जीत' यह लोकोक्ति सर्वथा सत्य और निर्भ्रान्त है, क्योंकि मन के निग्रह पर ही आत्मा की उत्क्रान्ति या आत्मिक गुणों का विकास निर्भर है, इसलिए मुमुक्षु पुरुषों को सर्व प्रकार से आत्म-निग्रह मे ही यत्नशील होना चाहिए, यही उसकी सच्ची विजय है*।

राजर्षि नमि ने इन्द्र के सांसारिक क्षात्र-धर्म सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देते हुए त्याग-प्रधान क्षात्र-धर्म का जो रहस्यपूर्ण स्वरूप का प्रतिपादन किया है, वह उसके बुद्धि-चमत्कार का सजीव चित्रण है। त्याग-मार्ग मे प्रविष्ट हुए एक सच्चे क्षत्रिय को किस प्रकार के युद्ध मे प्रवृत्त होना चाहिए, तथा किसके साथ युद्ध करना चाहिए एव किस प्रकार के शस्त्रास्त्रो से सन्नद्ध होकर किस प्रकार की रणभूमि मे उतरना चाहिए और इस प्रकार के युद्ध मे उसे किस अश तक विजय प्राप्त हो सकती है, इत्यादि समस्त बातों का उन्होंने इस प्रसंग में अतीव युक्ति-संगत वर्णन कर दिया है और इन्द्र के प्रश्न का उत्तर भी यथार्थ रूप से दे दिया है, परन्तु इन्द्र अभी ऋषि के मुखारविन्द से कुछ और ग्रहणीय उपदेश श्रवण करना चाहता है, इसलिए उसने अपने प्रश्नो की परम्परा को अभी बन्द नहीं किया और फिर कहा—

---

* वैदिक सम्प्रदाय के सर्व-मान्य ग्रन्थो मे भी इस विषय का पूर्ण समर्थन मिलता है। भगवद्गीता में लिखा है कि—

'उद्धरेदात्मनात्मान नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन'॥

अर्थात् आत्मा से (ज्ञानात्मा से) आत्मा का उद्धार करो, किन्तु उसका पतन न करो, क्योंकि आत्मा—ज्ञानात्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा—अज्ञानात्मा ही आत्मा का शत्रु है।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥ ३७ ॥

एनमर्थं निशम्य, हेतु-कारण-नोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—इस प्रकार राजर्षि नमि के उक्त वक्तव्य को सुनकर देवेन्द्र ने फिर हेतु और कारण से प्रेरित होकर उनसे इस तरह का प्रश्न किया—

टीका—इस गाथा का अर्थ सर्वथा स्पष्ट है, अतः विशेष विवेचना की आवश्यकता नहीं है।

जइत्ता विउले जन्ने, भोइत्ता समणमाहणे ।
दत्ता भोच्चा य जिट्ठा य, तओ गच्छसि खत्तिया! ॥ ३८ ॥

याजयित्वा विपुलान् यज्ञान्, भोजयित्वा श्रमणान् ब्राह्मणान् ।
दत्त्वा भुक्त्वा च इष्ट्वा च, ततो गच्छ क्षत्रिय! ॥ ३८ ॥

पदार्थान्वयः—**विउले**—बहुत से, **जन्ने**—यज्ञो को, **जइत्ता**—करवा करके, **समण**—शाक्यादि भिक्षुओं, **माहणे**—ब्राह्मणादि को, **भोइत्ता**—भोजन करा कर, **दत्ता**—दक्षिणा देकर, **य**—और, **भोच्चा**—भोजन करके, **य**—और, **जिट्ठा**—स्वय यज्ञ करके, **तओ**—फिर, **खत्तिया**—हे क्षत्रिय!, **गच्छसि**—तुम्हे जाना चाहिए।

मूलार्थ—बहुत से विशाल यज्ञ करके, श्रमणों और ब्राह्मणों को भोजन करा कर, दक्षिणा देकर, शब्दादि विषयों को भोगकर तथा स्वयं यज्ञ करके हे क्षत्रिय! फिर तुम्हें संयम-पथ पर जाना चाहिए।

टीका—राजर्षि नमि मे राग-द्वेष की मात्रा कहा तक है, इस बात का निर्णय करने के बाद, अब देवेन्द्र उनके तत्त्वार्थ-श्रद्धान का निश्चय करने के लिए उनसे फिर प्रश्न करता है। इन्द्र के प्रश्न का भावार्थ यह है कि—

हे क्षत्रिय! दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व आपको बड़े-बड़े वेदोक्त यज्ञो का अनुष्ठान करना चाहिए, श्रमणो अर्थात् शाक्य-भिक्षुओं और ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए तथा दक्षिणा देनी चाहिए एव मनोज्ञ पदार्थो का भली प्रकार उपयोग करके और यज्ञादि का सम्पादन करके फिर आपको दीक्षा के लिए प्रयाण करना चाहिए, क्योंकि क्षत्रियो के लिए राजसूय और अश्वमेधादिक यज्ञों का स्पष्ट विधान है और क्षत्रिय लोग ही उनका सम्पादन कर सकते है। इन यज्ञों से अनेक प्राणियों का हित होता है, सबका हित करना यह भले पुरुषो का सबसे मुख्य कार्य है, इसलिए इन उक्त कर्मों को करने के बाद आपको दीक्षा के लिए उद्यत होना चाहिए।

यहां पर श्रमण शब्द से बौद्ध-भिक्षु या अन्य संन्यासियों का ग्रहण ही अभिप्रेत है, जैन साधुओं

का नही। क्योंकि जैन साधु किसी भी प्रकार का निमंत्रण स्वीकार करके किसी के घर में बैठकर भोजन नहीं करते है। एतदर्थ ही 'श्रमण' शब्द के साथ 'ब्राह्मण' शब्द का उल्लेख किया गया है।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥ ३९ ॥

एनमर्थं निशम्य, हेतु-कारण-नोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—इन्द्र के इस यजन-सम्बन्धी कथन को सुनकर राजर्षि नमि ने हेतु और कारण से प्रेरित होकर इन्द्र को इस प्रकार उत्तर दिया—

टीका—मूलार्थ से ही भावार्थ स्पष्ट हो रहा है।

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए ।
तस्सावि संजमो सेओ, अदिन्तस्स वि किंचणं* ॥ ४० ॥

यः सहस्रं सहस्राणां, मासे मासे गवां दद्यात् ।
तस्मादपि संयमः श्रेयः, अददतोऽपि किञ्चन ॥ ४० ॥

पदार्थान्वयः—जो—जो, **सहस्सं**—सहस्र को, **सहस्साणं**—सहस्र गुणा करके अर्थात् दस लाख, **गवं**—गायों को, **मासे-मासे**—प्रति मास, **दए**—दे, **तस्सावि**—उससे भी, **संजमो**—सयम, **सेओ**—श्रेयस्कर और, **किंचणं**—जो किंचित् मात्र भी, **अदिन्तस्स वि**—नही देता, उससे भी (सयम श्रेयस्कारी है)।

मूलार्थ—जो व्यक्ति प्रतिमास दस लाख गौओं का दान करता है, उसके उस दान से संयम ही श्रेष्ठ है तथा जो कुछ नहीं देता उसके लिए भी संयम ही श्रेयस्कारी है।

टीका—इस गाथा मे सावद्य और निरवद्य वृत्ति का विवेचन किया गया है तथा निरवद्य वृत्ति की श्रेष्ठता और उसके द्वारा ही प्राणियो का अधिक उपकार बताया गया है। एक व्यक्ति प्रतिमास दस लाख गौओं का दान करता है तथा दूसरा व्यक्ति दान आदि कुछ भी नहीं करता, परन्तु इन दोनो के लिए वास्तविक हित का साधन सयम ही है, क्योकि संयम निरवद्य प्रवृत्ति है, आश्रवों का निरोध होने

★ तुलना करो धम्मपद की इस गाथा से—

'मासे मासे सहस्सेन जो यजेथ सत सम।
एक च भावितत्तान मुहुत्तमिपि पूजये॥'

(सहस्स वग्ग ७ गा.)

छाया—मासे-मासे सहस्रेण, यो यजेत शत समा ।
एक च भावितात्मान मुहूर्तमपि पूजयेत् ॥

इसके सम्बन्ध मे अन्य विचारणीय बातो के लिए देखो परिशिष्ट न १।

से उसमें हिंसा-जनक किसी भी व्यापार का प्रवेश नहीं होता है तथा यज्ञ और गोदान आदि जितने भी सकाम-कर्म है वे सावद्य होने से कर्मबन्ध के हेतु है और संयम से कर्मों की निर्जरा होती है। अतः बन्ध के हेतु इन यज्ञ-दानादि सकाम कर्मों में प्रवृत्त होने की अपेक्षा संयम का धारण करना ही श्रेयस्कर है, इसी मे आत्मा का हित निहित है तथा प्राणि-समुदाय का उपकार भी इसी से सिद्ध हो सकता है।

इसके अतिरिक्त ज्योतिष्टोमादि वेदोक्त यज्ञों की हिंसकता तो प्रसिद्ध ही है, इन यज्ञों में अनेक मूक प्राणियों का वध होता है और गोदानादि सकाम-कर्म भी सावद्य प्रवृत्ति के अन्तर्भूत ही है, इसलिए मोक्षपथगामी जीव को इन सदोष प्रवृत्तियो से पराङ्मुख होकर स्वपर-कल्याण के निमित्त केवल सयममयी निर्दोष प्रवृत्तियो में ही प्रवृत्त होना चाहिए। अतः इन्द्र ने राजर्षि नमि के प्रति जो यज्ञ, दानादि के अनुष्ठान का प्रस्ताव किया था, उसका महात्मा नमि ने बहुत ही युक्ति-युक्त तथा मननीय उत्तर दिया है।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥ ४१ ॥

एनमर्थं निशम्य, हेतु-कारण-नोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—राजर्षि नमि के इस पूर्वोक्त उत्तर को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित होकर इन्द्र उनसे फिर इस प्रकार कहने लगा—

टीका—इस गाथा का भावार्थ सर्वथा स्पष्ट है, अतः विशेष विवेचनिका की आवश्यकता नही है।

घोरासमं चइत्ताणं, अन्नं पत्थेसि आसमं ।
इहेव पोसहरओ, भवाहि मणुयाहिवा! ॥ ४२ ॥

घोराश्रमं त्यक्त्वा खलु, अन्यं प्रार्थयसे आश्रमम् ।
इहैव पौषधरतः, भव मनुजाधिप! ॥ ४२ ॥

पदार्थान्वयः—घोरासमं—घोराश्रम—गृहस्थाश्रम को, **चइत्ताणं**—त्यागकर, **अन्नं**—अन्य, **आसमं**—आश्रम की, **पत्थेसि**—प्रार्थना करते हो, चाह करते हो, **इहेव**—यहां पर ही तुम, **पोसह**—पौषध मे, **रओ**—अनुरक्त, **भवाहि**—होओ, **मणुयाहिवा**—हे मनुजाधिप!

मूलार्थ—हे मनुजाधिप! आप घोराश्रम अर्थात् गृहस्थाश्रम का परित्याग करके अन्य आश्रम की प्रार्थना कर रहे हो यह ठीक नहीं, आप यहां पर ही रहकर पौषध व्रत का आचरण करें।

टीका—शास्त्रो मे चार प्रकार के आश्रमो का उल्लेख है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। इन चारों मे गृहस्थ आश्रम को ही सबसे अधिक भारवाही होने से घोर कहा गया है, क्योंकि

अन्य तीनों आश्रमों के भरण-पोषण का भार इसी घोर आश्रम अर्थात् गृहस्थाश्रम पर है। इस गृहस्थाश्रम को अन्य आश्रमों की अपेक्षा उत्कृष्ट प्रमाणित किया गया है तथा इस गृहस्थाश्रम का यथाविधि पालन करना भी धीर-वीर-गम्भीर और तत्त्वशाली पुरषों का ही काम है, कायरों का नहीं। इसी अभिप्राय को लेकर देवेन्द्र ने राजर्षि नमि से कहा है कि आज जो गृहस्थाश्रम को छोड़कर अन्य आश्रम का अवलम्बन कर रहे है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि आप क्षत्रिय हैं और यह गृहस्थाश्रम भी शूर-वीरों के धारण करने योग्य तथा अन्य आश्रमों से उत्कृष्ट है, इसमें पराक्रमशाली व्यक्ति ही प्रवेश कर सकते हैं, कायरों का रहना इसमें कठिन है, क्योंकि इसमें रहने वाले व्यक्तियों को शारीरिक परिश्रम सबसे अधिक करना पड़ता है और मांगकर खाने की प्रवृत्ति को निंदनीय माना गया है। इस महिमाशाली गृहस्थाश्रम के भार को कायर पुरुष नही उठा सकते। इसके लिए आप जैसे धैर्यशील पुरुषों की ही आवश्यकता होती है।

नीतिशास्त्र मे भी इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा गया है—

गार्हस्थ्येन समो धर्मो, न भूतो न भविष्यति ।
पालयन्ति नराः शूराः, क्लीवाः पाषण्डमाश्रिताः ॥
सुदुर्वहं परिज्ञाय, घोरं गार्हस्थ्यमाश्रमं ।
मुण्डनग्न-जटावेषाः, कल्पिताः कुक्षिपूर्तये ॥
सर्वतः सुन्दरा भिक्षा, रसा यत्र पृथक्-पृथक् ।
स्यादेकयामिकी सेवा, नृपत्वं साप्तयामकम् ॥

तात्पर्य यह है कि गृहस्थाश्रम के समान घोर—अतिविकट दूसरा कोई आश्रम नही है, उसका पालन शूरवीर व्यक्ति ही कर सकते हैं। कायर पुरुष तो उसका त्याग करके केवल भिक्षावृत्ति के द्वारा उदरपूर्ति के लिए अनेक प्रकार के पाखण्डमय वेष बनाकर फिरते है, परन्तु आप तो शूरवीर है, अतः आप इसी आश्रम में रहकर पौषध आदि व्रत-नियमो का पालन करे, क्योंकि अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वो में पौषध-उपवास आदि के करने से तथा गृहस्थोचित अणुव्रतों का पालन करने से त्याग-प्रधान साधु कर्त्तव्य की भी आंशिक पूर्ति हो जाएगी और गृहस्थाश्रम का भी यथा-विधि पालन हो सकेगा।

यद्यपि अनशनादि व्रतो की भाति गृहस्थ-धर्म का पालन करना भी अति कठिन है, तो भी आप शूरवीर और प्रज्ञा-सम्पन्न है, इसलिए गृहस्थाश्रम का त्याग करके संन्यास धारण करने का विचार अभी तो आप सर्वथा त्याग दे।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥ ४३ ॥

एनमर्थं निशम्य, हेतु कारण-नोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥ ४३ ॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—इन्द्र के इस कथन को सुनकर राजर्षि नमि ने हेतु और कारण से प्रेरित होकर इन्द्र के प्रति इस प्रकार कहा—

टीका—इस गाथा का अर्थ सर्वथा स्पष्ट है, अतः विशेष विवेचना की आवश्यकता नहीं है।

मासे मासे उ जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए ।
न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं* ॥ ४४ ॥

मासे मासे तु यो बालः, कुशाग्रेण तु भुङ्क्ते ।
न स स्वाख्यातधर्मस्य, कलामर्हति षोडशीम् ॥ ४४ ॥

पदार्थान्वयः—मासे-मासे—प्रतिमास, उ—ही, जो—जो, **बालो**—बाल—अज्ञानी, **कुसग्गेणं**—कुशाग्रमात्र, तु—ही, **भुंजए**—आहार करता है, **सो**—वह, **सुयक्खाय**—सुविख्यात, **धम्मस्स**—धर्म को **सोलसिं**—सोलहवीं, **कलं**—कला को भी, **न अग्घइ**—प्राप्त नहीं होता।

मूलार्थ—जो बाल अर्थात् अज्ञानी जीव प्रतिमास कुशाग्र-मात्र आहार करता है, वह तीर्थङ्कर देव के कहे हुए इस सर्व-विरति रूप धर्म की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं कर सकता, अर्थात् इस प्रकार की विकट तपस्या भी सर्व-विरति धर्म के आगे कुछ मूल्य नहीं रखती है।

टीका—जो विचार-शून्य पुरुष प्रतिमास उपवास तप करता है, अर्थात् एक मास के अनशन के बाद पारणा करता है और वह भी परिमाण मे अत्यन्त सूक्ष्म होता है, ऐसा व्रती भी इस प्रकार के अज्ञानजन्य क्लिष्ट तप से सर्वज्ञ-भाषित सर्व-विरतिरूप धर्म के सोलहवें हिस्से जितनी भी योग्यता नहीं प्राप्त कर सकता, अर्थात् उक्त प्रकार का अज्ञान तप तीर्थङ्कर भगवान द्वारा कथन किए गए सर्वविरति धर्म के सोलहवे हिस्से की भी बराबरी नही कर सकता।

इससे सिद्ध हुआ कि अज्ञान-मूलक तपश्चर्या का सर्व-विरति धर्म के समक्ष कुछ भी मूल्य नहीं है, सर्वविरति धर्म तो कर्म-निर्जरा के द्वारा मोक्ष का हेतु है और अज्ञान-कष्ट का फल अधिक से अधिक देव-गति की प्राप्ति है। अतः गृहस्थाश्रम मे सावद्य प्रवृत्तियो की अधिकता होने से वह मुमुक्षु पुरुषो के लिए आदरणीय नहीं है और भिक्षु-चर्या—सन्यासाश्रम में सावद्य व्यापार का सर्वथा अभाव होने से वह सबके लिए उपादेय है। इसी अभिप्राय से मै गृहस्थाश्रम का त्याग करके संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के लिए कटिबद्ध हुआ हूं।

★ १ इस गाथा के साथ धम्मपद की इस निम्नलिखित गाथा की तुलना कीजिए।

'**मासे मासे कुसग्गेन, बालो भुंजेज भोजनम्।**
न सो संखत्त-धम्मान कल अग्घति सोलसीं ॥ (बाल वग्ग गाथा ११)
मासे मासे कुशाग्रेण, बालो भुञ्जति भोजनम्।
न स सख्यात-धर्मोणा कलामर्हति षोडशीम् ॥

गृहस्थाश्रम में भी देश-विरति-धर्म का पालन है, परन्तु वह सर्वथा निर्दोष नहीं और उसका त्याग भी इसी हेतु से किया गया है, इसलिए आपका जो प्रश्न है वह अप्रासंगिक एवं अनुपादेय है।

इस गाथा में दो बातों का उल्लेख किया गया है, १—सर्वविरति धर्म की सर्वश्रेष्ठता और २—अज्ञानतप की निरर्थकता। इससे यही प्रमाणित हुआ कि गृहस्थाश्रम की अपेक्षा साधु-धर्म ही अधिक श्रेष्ठ और उपादेय है।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥ ४५ ॥

एनमर्थं निशम्य, हेतु-कारण-नोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥ ४५ ॥

(शब्दार्थ पूर्ववत्)

मूलार्थ—यह सुनने के बाद देवेन्द्र ने हेतु और कारण से प्रेरित होकर राजर्षि नमि के प्रति इस प्रकार कहा—

हिरण्णं सुवण्णं मणिमुत्तं, कंसं दूसं च वाहणं ।
कोसं च वड्ढावइत्ता णं, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥ ४६ ॥

हिरण्यं सुवर्णं मणिमुक्तं, कांस्यं दूष्यं च वाहनम् ।
कोषं च वर्धयित्वा, ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥ ४६ ॥

पदार्थान्वयः—हिरण्णं—हिरण्य, **सुवण्णं**—सुवर्ण, **मणिमुत्तं**—मणि-मोती, **कंसं**—कांसी के पात्र, **दूसं**—वस्त्र, **च**—और, **वाहणं**—वाहन, **च**—और, **कोसं**—कोश, **वड्ढावइत्ताणं**—बढ़ा करके, **तओ**—तदनन्तर, **खत्तिय**—हे क्षत्रिय!, **गच्छसि**—तुम्हें जाना चाहिए।

मूलार्थ—हे क्षत्रिय! पहले तुम्हें हिरण्य, सुवर्ण, मणि और मुक्ताफल तथा कांस्य, वस्त्र और वाहनादि से कोश को बढ़ाकर फिर साधना-पथ पर जाना चाहिए।

टीका—इस प्रश्न मे इन्द्र राजर्षि नमि के लोभ की परीक्षा कर रहे है। घड़ा हुआ सोना अर्थात् आभूषण रूप मे परिवर्तित हुआ सुवर्ण हिरण्य कहलाता है, सामान्य सोने को सुवर्ण कहते हैं*। चान्दी, सोना, मणि-मोती, पात्र, वस्त्र और यान-वाहन आदि पदार्थो से कोश की भरपूर वृद्धि करने के बाद आपको जाना चाहिए।

इस कथन से यह सिद्ध किया गया है कि राजा को कोश की अभिवृद्धि का पूरा ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि पडितो और राजाओं का कोश ही सर्वस्व है। जैसे कोश अर्थात् शब्द-कोश के ज्ञान से रहित पंडित शब्द-बोध से अपरिचित ही रह जाता है, उसी प्रकार कोश अर्थात् खजाने से रहित राजा

★ १ 'हिरण्य घटित हैम, सुवर्णमघटितम्' इति वृत्ति ।

भी चिरकाल तक स्थायी नही रह सकता।

तात्पर्य यह है कि जैसे शब्दों का अर्थ जानने के लिए विद्वान् को शब्द कोश अर्थात् शब्द राशि के ज्ञान की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार शासन को स्थिर और प्रभावशाली बनाए रखने के लिए राजा को सुव्यवस्थित कोश अर्थात् खजाने की आवश्यकता होती है। इसलिए हे महाराज! सबसे पहले आप अपने कोश को समृद्ध करें, तदनन्तर ही आपको दीक्षा के लिए प्रस्तुत होना चाहिए।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ ४७ ॥

एनमर्थं निशम्य, हेतु-कारण-नोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥ ४७ ॥

(शब्दार्थ पूर्ववत्)

मूलार्थ—इन्द्र के इस धन-संग्रह-सम्बन्धी प्रश्न को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित राजर्षि नमि इन्द्र के प्रति इस प्रकार बोले—

टीका—शब्दार्थ से ही भाव स्पष्ट हो रहा है, अतः व्याख्या अपेक्षित नहीं है।

सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ॥ ४८ ॥

सुवर्ण-रूप्यस्य च पर्वता भवेयुः स्यात् (कदाचित्) खलु कैलाशसमा असंख्यकाः।
नरस्य लुब्धस्य न तैः किंचित् इच्छा खलु आकाशसमा अनन्तिका ॥ ४८ ॥

पदार्थान्वयः—**केलास**—कैलाश के, **समा**—समान, **असंखया**—असंख्यात, **सुवण्ण**—सोने, **उ**—और, **रुप्पस्स**—चान्दी के, **पव्वया**—पर्वत, **सिया**—कदाचित्, **भवे**—होवे, **हु**—निश्चय ही, **लुद्धस्स**—लोभी, **नरस्स**—व्यक्ति को, **तेहि**—उनसे, **न किंचि**—किंचित् मात्र भी सन्तोष नहीं हो सकता, **हु**—निश्चय ही, **इच्छा**—तृष्णा, **आगाससमा**—आकाश के समान, **अणन्तिया**—अनन्त कही गई है।

मूलार्थ—कैलाश अर्थात् सुमेरु पर्वत के समान सोने-चांदी के कदाचित् असंख्य पर्वत भी हों तो भी लोभी पुरुष के आगे वे कुछ नही हैं, अर्थात् इनसे भी लोभी पुरुष की इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती, क्योंकि यह तृष्णा आकाश के समान अनन्त है, इसकी पूर्ति कभी नहीं हो सकती।

टीका—इन्द्र ने राजर्षि नमि के समक्ष धन आदि से खजाने को समृद्ध करने का प्रस्ताव किया था, उनका उत्तर देते हुए राजर्षि नमि कहते है कि सुवर्णादि पदार्थों का सग्रह निष्प्रयोजन है, क्योंकि इसकी आत्म-शान्ति के लाभ में कोई उपयोगिता नही है। इसके विपरीत यह धन-संग्रह कुछ विघ्न अवश्य उपस्थित करता है।

धन के संग्रह से भी तृष्णा की शान्ति होनी अशक्य है, क्योंकि लोभी पुरुष के आगे यदि सोने-चान्दी के पर्वतों के समान असंख्य ढेर भी लगा दिए जाए तो भी उसकी तृप्ति नहीं होती, वह उससे भी अधिक के लिए ललचाता है। यह तृष्णा आकाश की भांति अनन्त है, **इसकी धन-धान्यादि से कभी पूर्ति नहीं हो सकती।** अतएव नीतिकारों का कथन है कि यह तृष्णा, हजारों, लाखों और करोड़ों से तो क्या, साम्राज्य, देवत्व और इन्द्रत्व पद की प्राप्ति पर भी सन्तुष्ट नहीं होती—

न सहस्राद् भवेतुष्टिर्न लक्षान्न च कोटिभिः ।
न राज्यान्न च देवत्वान्नेन्द्रत्वादपि देहिनाम् ॥

जैसे-जैसे धन की वृद्धि होती है, वैसे-वैसे तृष्णा भी बढ़ती जाती है, इसलिए धन से तृष्णा की पूर्ति का होना अत्यन्त अशक्य है।

जब यह सत्य है तब फिर सोने-चांदी आदि से कोश के भरने की इच्छा करना या उसके लिए किसी प्रकार का प्रस्ताव करना किसी तरह भी उचित नहीं कहा जा सकता। वृद्ध सम्प्रदाय के अनुसार यहां पर कैलाश का अर्थ मेरु पर्वत ही है।

अब फिर इसी विषय की पुष्टि के लिए नमि प्रकारान्तर से इन्द्र के प्रश्न का उत्तर देने में प्रवृत्त होते हैं—

पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह ।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥ ४६ ॥

पृथिवी शालिर्यवाश्चैव, हिरण्यं पशुभिः सह ।
प्रतिपूर्णं नालमेकस्मै, इति विदित्वा तपश्चरेत् ॥ ४६ ॥

पदार्थान्वयः—पुढवी—पृथिवी, **साली**—लाल चावल, **जवा**—यव—जौ, **च**—अन्य धान्य, एव—(अवधारण अर्थ मे), **हिरण्णं**—सुवर्ण, **पसुभि**—पशुओं के, **सह**—साथ—समस्त पृथिवी, **पडिपुण्णं**—परिपूर्ण, **अलं**—समर्थ, न—नही है, **एगस्स**—एक जीव की इच्छा पूर्ण करने मे, **इइ**—इस प्रकार, **विज्जा**—जानकर—विद्वान्, **तवं**—तप का, **चरे**—आचरण करे।

मूलार्थ—भूमि, शाली, यव, हिरण्य और पशु आदि पदार्थों से परिपूर्ण यह सारी पृथ्वी भी एक जीव की इच्छा को पूर्ण करने में समर्थ नहीं हो सकती, यह जानकर विद्वान् पुरुष तप का आचरण करे।

टीका—इस गाथा में भी पूर्वोक्त विषय का ही समर्थन किया गया है। राजर्षि नमि कहते है कि संसार के पदार्थो मे तृष्णा की पूर्ति करने की सामर्थ्य नहीं है। ये तो तृष्णा को शमन करने के स्थान में उसके सवर्धक ही है। जिस प्रकार अग्नि की ज्वाला घृत डालने से शान्त होने की बजाय तीव्र होती है उसी प्रकार ससार के पदार्थो से भी तृष्णा घटने के स्थान पर बढ़ती ही है। अतः यदि किसी लोभी पुरुष को, धन-धान्य, चादी-सोना और हाथी-घोड़े आदि से परिपूर्ण सारा भूमंडल भी दे दिया जाए, तो

भी उसकी तृष्णा शान्त होने की बजाय कुछ और अधिक प्राप्त करने के लिए दौड़ेगी, अर्थात् इतनी कल्पनातीत और अमर्यादित सामग्री से भी तृष्णा की पूर्ति नहीं हो सकती है। इसलिए बुद्धिमान् विचारशील पुरुष को इन धन-धान्यादि पदार्थों के संग्रह का व्यामोह छोड़कर केवल तपोऽनुष्ठान की ओर ही प्रवृत्त होना चाहिए। आत्मा के साथ लिप्त हुआ तृष्णारूप मल तप के बिना दूर नही हो सकता। जिस प्रकार सुवर्ण में रहे हुए मल की शुद्धि अग्नि के द्वारा होती है, उसी प्रकार आत्मा की शुद्धि के लिए तपश्चर्या की आवश्यकता है। तृष्णारूप मल से दूषित हुआ आत्मा शांति से बहुत दूर रहता है, उसमें आकुलता अधिक रहती है। अतः आत्मा की शांति और निराकुलता के लिए सब से प्रथम तृष्णा को उससे पृथक् करना चाहिए। परन्तु तृष्णा को क्षय करने के लिए सन्तोष (द्वादश विध बाह्याभ्यन्तर तप) ही समर्थ है। इसलिए मुझे सांसारिक पदार्थों के द्वारा कोशपूर्ति की कुत्सित अभिलाषा का त्याग करके तपोऽनुष्ठान में ही निरन्तर प्रवृत्त होना चाहिए।

उक्त गाथा में 'पसुभि' इस प्रकार का तृतीया विभक्ति का प्रयोग आर्ष प्रयोग समझना चाहिए, अन्यथा प्राकृत व्याकरण के अनुसार भिस् विभक्ति के स्थान मे तो 'हि या हिं' का आदेश होता है।

तथा '**वज्जा**' के विदित्वा, विद्वान् और विद्वासः, ये तीनो प्रतिरूप होते हैं, इसलिए अर्थ-ग्रहण मे तीनों ही स्वीकृत हैं।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥ ५० ॥

एनमर्थं निशम्य, हेतु-कारण-नोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥ ५० ॥

(शब्दार्थ पूर्ववत्)

मूलार्थ—इसके अनन्तर हेतु और कारण से प्रेरित होकर महाराज इन्द्र ने राजर्षि नमि से फिर कहा—

टीका—भावार्थ स्पष्ट है, अतः व्याख्या नही की जा रही।

अच्छेरगमब्भुदए, भोए चयसि पत्थिवा ! ।
असन्ते कामे पत्थेसि, संकप्पेण विहम्मसि ॥ ५१ ॥

आश्चर्यमद्भुतान्, भोगान् त्यजसि पार्थिव! ।
असतः कामान्प्रार्थयसे, संकल्पेन विहन्यसे ॥ ५१ ॥

पदार्थान्वयः—अच्छेरगं—आश्चर्य है, **अब्भुदए**—अद्भुत, **भोए**—भोगों को, **पत्थिवा**—हे राजन्!, **चयसि**—त्यागते हो, **असन्ते**—असत्, **कामे**—कामो की, **पत्थेसि**—प्रार्थना करते हो, **संकप्पेण**—सकल्प से, **विहम्मसि**—पीड़ित किए जाते हो।

मूलार्थ—हे राजन्! आश्चर्य है कि आप अति अद्‌भुत प्राप्त हुए भोगों का परित्याग करते हो और असत् अर्थात् अविद्यमान, अप्राप्त काम-भोगों की प्रार्थना करते हो तथा अपने ही संकल्प के द्वारा पीड़ित हो रहे हो।

टीका—राजर्षि नमि के धन-धान्यादि विषयक अभिलाषा के त्याग और तप के अनुष्ठान आदि से सम्बन्ध रखने वाले विचारों को सुनकर इन्द्र ने उनसे जो प्रश्न किया है वह भी बड़ा विलक्षण है। देवेन्द्र कहते हैं कि—

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि आप जैसे बुद्धिमान् राजा अयत्न-प्राप्त इन अद्‌भुत काम-भोगों का परित्याग करके अविद्यमान और आयास-साध्य काम-भोगो की अभिलाषा कर रहे हैं तथा मानसिक संकल्पों के द्वारा आत्मा को बाधित कर रहे है। उपस्थित का परित्याग करके अनुपस्थित की कल्पना कोई बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती, अत' इष्ट और स्वतः प्राप्त लौकिक काम-भोगों की अवहेलना करके अदृष्ट एवं अप्राप्त मोक्ष और स्वर्गादि के सुखो की अभिलाषा से नाना प्रकार के संकल्प- विकल्पों द्वारा आत्मा को खेदित करना भी आप के लिए उचित नहीं है। प्रथम तो अदृष्ट वस्तु की सत्ता ही प्रमाण-बाधित है, अर्थात् किसी प्रमाण के द्वारा उसकी सिद्धि ही नही हो सकती, कदाचित् हो भी जाए तो उसकी प्राप्ति मे सन्देह रहता ही है। फिर आप जैसे बुद्धिमान् पुरुष स्वतः-सिद्ध और बिना यत्न प्राप्त हुए इन काम-भोगो का तो त्याग कर दे और असत् तथा अप्राप्त अदृष्ट काम-भोगो की इच्छा करें, इससे अधिक आश्चर्य की बात क्या हो सकती है ! इसलिए आपको उचित है कि कल्पित एव संदिग्ध पारलौकिक सुखों की अभिलाषा के व्यामोह में पड़कर इन हस्तगत दिव्य काम-भोगो का परित्याग न करे। यही आपके लिए हित-कर मार्ग है, क्योकि जो विचारशील पुरुष होते है वे कल्पना-प्रसूत अनागत सुखो की आशा से वर्तमान काल मे प्राप्त हुए सुखों का तिरस्कार नही करते। इसलिए अनेकविध उपदेशो के मिलने पर भी ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने अपने वर्तमान कालीन सुखो का परित्याग नही किया, तब योग्य तो यही है कि आप भी इन उपलब्ध सुखों का परित्याग न करे।

एयमट्ठं निसामित्ता हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ ५२ ॥

एनमर्थं निशम्य, हेतु-कारण-नोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥ ५२ ॥

(शब्दार्थ पूर्ववत्)

मूलार्थ—इन्द्र के इस उक्त कथन को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित होकर राजर्षि नमि देवेन्द्र से इस प्रकार बोले—

टीका—मूलार्थ से ही प्रस्तुत गाथा का भाव स्पष्ट हो रहा है, अतः विशेष व्याख्या अपेक्षित प्रतीत नही होती है।

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दोग्गइं ॥ ५३ ॥
शल्यं कामा विषं कामाः, कामा आशीविषोपमाः ।
कामांश्च प्रार्थयमानाः, अकामा यान्ति दुर्गतिम् ॥ ५३ ॥

पदार्थान्वयः—सल्लं—शल्यरूप, **कामा**—काम हैं, **विसं**—विषरूप, **कामा**—काम हैं **कामा**—काम, **आसीविसोवमा**—सर्प के समान हैं, **य**—और, **कामे**—कामों की, **पत्थेमाणा**—प्रार्थन करते हुए अर्थात् चाहते हुए, **अकामा**—काम-रहित, **दोग्गइं**—दुर्गति को, **जन्ति**—जाते है।

मूलार्थ—वे काम-भोग शल्यरूप हैं तथा सर्प के तुल्य हैं, इन काम-भोगों का सेवन न करने वाले भी इनकी प्रार्थना अर्थात् चाह से दुर्गति में जाते हैं।

टीका—राजर्षि नमि कहते हैं कि—'हे इन्द्र! ये काम-भोग शल्य के समान हैं, अर्थात् जिस प्रकार शरीर के किसी भी अंग मे प्रविष्ट हुए शल्य अर्थात् बाण के आगे का तीक्ष्ण अंश या काट मांस के साथ मिलकर सारे शरीर मे तीव्र वेदना उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार काम-भोगासक्त चित्त भी व्यक्ति को रात-दिन शल्य की भांति पीड़ित करता रहता है।

ये काम-भोग विष के तुल्य हैं। तात्पर्य यह है कि जिस तरह मधु-मिश्रित विष खाने में मधुर और परिणाम में अति दारुण दुख देने वाला होता है, उसी तरह ये काम-भोग भी पहले तो बड़े प्रिय लगते है और परिणाम में ये विष से भी अधिक भयंकर होते है। ये काम-भोग सर्प-विष के समान अत्यन्त भयंकर है। जैसे सर्प फण उठाकर नाचता हुआ तो अत्यन्त प्रिय लगता है, परन्तु स्पर्श होते ही—शरीर के किसी अग को छूते ही प्राणों को हरने वाला हो जाता है, वैसे ही ये काम-भोग भी देखने मे अत्यन्त रमणीय प्रतीत होते है, परन्तु इनका थोड़ा सा स्पर्श भी आत्मा के लिए महान् अनर्थकारी बन जाता है।

इतना ही नही, अपितु जो जीव इन काम-भोगों का केवल स्मरणमात्र या इनके पाने की इच्छा मात्र भी करते है, वे भी दुर्गति अर्थात् नरक-गति मे जाते है, अतः मुमुक्षु पुरुष को इन काम-भोगों का सेवन तो क्या, इनका स्मरण भी नहीं करना चाहिए, इसी में उनकी भलाई है। अतएव मेरे लिए ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के काम-भोग सर्वथा त्याज्य है।

तात्पर्य यह है कि मै न तो इनका सेवन करता हूं और न ही अपने मन में इन्हे भोगते रहने का कभी सकल्प करता हूं। इसलिए काम-भोग सम्बन्धी आपका यह प्रश्न सर्वथा अनुपयुक्त है। तथा—

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई ।
माया गइ-पडिग्घाओ, लोहाओ दुहओ भयं ॥ ५४ ॥
अधो व्रजति क्रोधेन, मानेनाधमा गतिः ।
मायया (सु) गति-प्रतिघातः, लोभाद् उभयतः भयम् ॥ ५४ ॥

पदार्थान्वयः—कोहेणं—क्रोध से, **अहे**—नीचे-नरक गति में, **वयइ**—जाता है, **माणेणं**—मान से, **अहमा**—अधम, **गई**—गति प्राप्त होती है, **माया**—माया से, **गइ-पडिग्घाओ**—अच्छी गति का विनाश हो जाता है, **लोहाओ**—लोभ से, **दुहओ**—दोनों लोकों में, **भयं**—भय होता है।

मूलार्थ—क्रोध करने से जीव नरक गति में जाता है, मान से अधोगति प्राप्त होती है, माया से सुगति का विनाश और लोभ से दोनों लोकों में भय होता है।

टीका—जहा पर काम-भोगों का सेवन अथवा चिन्तन है वहां पर क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायो का न्यूनाधिक रूप में अस्तित्व अवश्य ही रहता है। इनमें क्रोध तो जीव को नीची गति में ले जाता है, मान अर्थात् अहंकार अधम गति में धकेलता है, माया अर्थात् कपट से जीव सद्गति का विनाश करता है और लोभ इस लोक में तथा परलोक में भय को देने वाला है। इसलिए काम-भोगो का सेवन और इनकी प्राप्ति का सकल्प दोनों ही महान् अनिष्ट के देने वाले है।

किसी भी कार्य मे सकल्प से ही मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। जब तक किसी विषय का प्रथम चिन्तन न होगा तब तक उसके लिए प्रयत्न नही किया जाता, अतः मन से वस्तु का ग्रहण अथवा त्याग ही वास्तविक त्याग या ग्रहण माना जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि जिसका मन त्याग में प्रवृत्त नही, वह साधक ऊपर से त्यागी होता हुआ भी वास्तव में त्यागी नही है। यथा—

'वत्थगन्धमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य ।
अच्छन्दा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ* ॥'

अर्थात् पदार्थो मे जिसकी अभिलाषा विद्यमान है, वह उनका उपभोग न करता हुआ भी उनका त्यागी नही है, अत. मानसिक त्याग ही सच्चा त्याग है। इसलिए हे ब्राह्मण' मुझे तो ऐहिक और पारलौकिक दोनो ही प्रकार के काम-भोगो की अभिलाषा नही है, मेरे लिए इष्ट भोगो का त्याग और अदृष्ट भोगों की चाह आदि का प्रश्न ही नही उत्पन्न होता।

इस प्रकार अनेकविध यत्न करने पर भी जब राजर्षि नमि ने अपने विचारो का परित्याग नहीं किया, तब धारण किए हुए कृत्रिम ब्राह्मण स्वरूप का त्याग करके अपने वास्तविक स्वरूप में आकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए इन्द्र कहते हैं—

अवउज्झिऊण माहणरूवं, विउव्विऊण इन्दत्तं ॥
वन्दइ अभित्थुणन्तो, इमाहि महुराहिं वग्गूहिं ॥ ५५ ॥

अपोह्य ब्राह्मणरूपं, विकुवित्वा इन्द्रत्वम् ।
वन्दतेऽभिष्टुवन्, आभिर्मधुराभिर्वाग्भिः ॥ ५५ ॥

पदार्थान्वयः—अवउज्झिऊण—छोड़कर, **माहणरूवं**—ब्राह्मण रूप को, **विउव्विऊण**—उत्तर

---

* वस्त्रगन्धमलकार, स्त्रिय शयनानि च।
अच्छन्दा (परवशा) ये न भुञ्जते, न ते त्यागिन इत्युच्यते।। (दशवै अ २ गा २)

वैक्रिय रूप, **इन्दत्तं**—इन्द्र रूप को धारण करके, **वन्दइ**—वन्दना करता है, **अभित्थुणन्तो**—स्तुति करता हुआ, **इमाहि**—इन, **महुराहिं**—मधुर, **वग्गूहिं**—वचनों से।

मूलार्थ—इसके अनन्तर इन्द्र धारण किए ब्राह्मण रूप का त्याग करके और अपना यथार्थ रूप बनाकर इन मधुर वचनों से स्तुति करता हुआ राजर्षि नमि से कहता है—

टीका—इस गाथा में धर्म पर दृढ़ रहने वाले आस्तिक पुरुषों को अन्त में देवता तक भी वन्दन करते है, यह भाव ध्वनित किया गया है। जब देवेन्द्र किसी भी प्रकार से राजर्षि नमि को अपने विशुद्ध भावों से रत्ती भर भी विचलित न कर सका तब उसने उत्तर वैक्रिय रूप की लब्धि के द्वारा अपने नकली ब्राह्मण वेष का परित्याग करके असली इन्द्र-स्वरूप को धारण कर लिया और आगे लिखे मधुर वचनों से स्तुति करते हुए ऋषि को वन्दन किया।

यहां पर ब्राह्मण के अर्थ में '**माहण**' शब्द का प्रयोग आर्ष माना गया है, अन्यथा प्राकृत में तो ब्राह्मण का '**बंमणं**' यह प्रतिरूप होता है।

इन्द्र ने जिन वचनों के द्वारा ऋषि का स्तवन किया अब उन्हीं वचनों का दिग्दर्शन कराया जाता है—

अहो! ते णिज्जिओ कोहो, अहो! माणो पराजिओ।
अहो! निरक्किया माया, अहो! लोहो वसीकओ ॥ ५६ ॥

अहो! त्वया निर्जितः क्रोधः, अहो ! मानः पराजितः ।
अहो! निराकृता माया, अहो ! लोभो वशीकृतः ॥ ५६ ॥

पदार्थान्वयः—**अहो**—आश्चर्य है, ते—तुमने, **णिज्जिओ**—जीत लिया है, **कोहो**—क्रोध को, **अहो**—आश्चर्य है, **माणो**—गर्व को, **पराजिओ**—पराजित कर दिया है, **अहो**—आश्चर्य है, **निरक्किया**—जीत लिया है, **माया**—छल-कपट को, **अहो**—आश्चर्य है, **लोहो**—लोभ को वसीकओ—वश में कर लिया है।

मूलार्थ—हे ऋषे! आपने क्रोध को जीत लिया है, अहंकार को पराजित कर दिया है, छल-कपट को दूर करके लोभ को भी अपने वश में कर लिया है, यह बहुत बड़ा आश्चर्य है!

टीका—क्रोधादि कषाय ही आत्मा के सबसे अधिक और बलवान् शत्रु हैं। ये प्रतिक्षण आत्मा को उन्मार्ग की तरफ ही ले जाने का प्रयत्न करते है। इनके वशीभूत हुआ आत्मा कभी सन्मार्ग में प्रवृत्त नही हो सकता, ये जितने दुष्ट है, उतने ही बलवान् भी है, इनको जीतना सहज नहीं है। बड़े-बड़े बलवान् और बुद्धिमान् व्यक्ति भी इनके सामने ठहर नही सकते। कोई विरला वीरात्मा ही इनको पराजित कर सकता है, इसलिए इन दुर्जय कषायो पर जिसने विजय प्राप्त कर ली, वही सच्चा विजेता और वीर आत्मा है। वह मनुष्य और देवता सभी के लिए पूज्य और वन्दनीय है। राजर्षि नमि उन वीरात्माओं में से एक है जिन्होंने कषायों पर विजय प्राप्त करके अपनी लोकोत्तर वीर-चर्या का

परिचय दिया है। यही कारण है कि प्रथम देवलोक का, इन्द्र उनके चरणों में झुकता हुआ उनकी मुक्तकंठ से स्तुति करता है।

कषायों की दुर्जेयता को ध्यान में रखकर उनके विजेता राजर्षि नमि को इन्द्र कहता है कि—

'हे ऋषे! आप धन्य है, क्योंकि आपने क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों को सर्व प्रकार से जीत लिया है। सर्व प्रकार से अपने वश में कर लिया है। इसलिए आप सर्व-वन्द्य और सर्व पूज्य हैं। यह भाव गाथा में अनेक बार आए हुए 'अहो' शब्द से ध्वनित हो रहा है।

इसके अतिरिक्त इन्द्र ने राजर्षि नमि से जितने भी प्रश्न किए हैं, उन सबमें इन्हीं कषायों की भावना ओत-प्रोत है, क्योंकि संसार की छोटी-बड़ी, उत्तम-अधम जितनी भी सकषाय प्रवृत्तियां हैं, उन सबका कारण अथवा मूल स्रोत ये कषाय ही हैं। कषायों के वशवर्ती दुर्बल आत्मा पर संसार की विभूतियों का प्रभाव बहुत जल्दी होता है। अतएव कहीं पर तो वह इनके सबल चंगुल में जरूर फंस जाता है। इन्द्र ने भी इसी धारणा से महर्षि नमि की आत्मा को टटोलने का प्रयत्न किया, परन्तु इन्द्र का वह प्रयास विफल हुआ। उसे महात्मा नमि की आत्मा मे किसी प्रकार की भी कमजोरी नजर न आई। उसने नमि की आत्मा को अग्नि द्वारा परीक्षण किए गए शुद्ध सुवर्ण की भांति सर्वथा निर्मल और देदीप्यमान पाया। इसीलिए इन्द्र की हर प्रकार की परीक्षा/कसौटी पर वे सर्वथा पूरे उतरे। तब इन्द्र ने उनके प्रति अपना जो कर्त्तव्य था उसका पालन करते हुए उनके चरणो में वन्दन किया।

अब निम्नलिखित गाथा में फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हैं—

अहो! ते अज्जवं साहु, अहो ते साहु मद्दवं ।
अहो! ते उत्तमा खन्ती, अहो! ते मुत्ति उत्तमा ॥ ५७ ॥

अहो! ते आर्जवं साधु, अहो! ते साधु मार्दवम् ।
अहो! तवोत्तमा क्षान्तिः, अहो! ते मुक्तिरुत्तमा ॥ ५७ ॥

पदार्थान्वयः—अहो—आश्चर्य है, ते—आपकी, **अज्जवं**—सरलता, **साहु**—श्रेष्ठ है, **अहो ते**—आपका, **मद्दवं**—मृदुभाव—कोमलता, **साहु**—सुन्दर है, **अहो-ते-खन्ती**—आपकी क्षमा, **उत्तमा**—उत्तम है, **अहो-ते**—आपकी, **मुत्ति**—निर्लोभता, **उत्तमा**—उत्तम है।

मूलार्थ—हे ऋषे! आपकी सरलता, कोमलता, क्षमा और निर्लोभता सर्व प्रकार से श्रेष्ठ, सुन्दर और उत्तम हैं, यह बड़े आश्चर्य और हर्ष की बात है।

टीका—जिस प्रकार क्रोधादि चारो दुर्गुण इस आत्मा के निकटवर्ती बलवान् शत्रु हैं, उसी प्रकार आर्जवादि सद्गुण भी इस आत्मा के अत्यन्त निकटवर्ती हितकारी मित्र है। उनके जीवन में आने से यह आत्मा कभी कुमार्ग में प्रवृत्त नही होता। उक्त दुर्गुणों के सम्पर्क से उन्मार्ग में प्रवृत्त हुए आत्मा को सन्मार्ग मे लाने वाले भी यही सद्गुण ही है, एवं क्रोधादि दुर्गुणों के जघन्य संग से इस आत्मा को मुक्त कराने वाले अर्थात् उक्त दुर्गुणो पर विजय दिलाने वाले भी ये सद्गुण ही हैं। अतएव इनका

जीवन में आना भी अत्यन्त दुर्लभ है। ये स्वार्थ-रहित सच्चे मित्र किसी पुण्यशाली जीव को ही प्राप्त होते हैं। आपको ये सब प्राप्त है, इसलिए आप सबसे अधिक पुण्यवान् है, अतएव वन्दनीय है।

यहां पर इतना स्मरण रहे कि इन्द्र के द्वारा की जाने वाली राजर्षि नमि के उक्त आर्जवादि सद्गुणों की प्रशंसा कुछ विशेष तात्पर्य रखती है, क्योंकि इन्द्र हर प्रकार से परीक्षा करने के बाद ही उनकी श्लाघा में प्रवृत्त हुए है, अतएव उनका निर्वचन अधिक विश्वसनीय है।

यह एक स्वाभाविक सी बात है कि प्रतिवादी के प्रश्नो में कठोरता या धृष्टता की मात्रा रहती ही है, जैसे कि इन्द्र के प्रश्नों में भी कुछ दृष्टिगोचर होती है। परन्तु उत्तर दाता ने अपनी भाषा समिति और धैर्य-पुरस्सर आत्म-संयम का ही सर्वत्र परिचय दिया है। इन सब बातों का परिचय उसके उत्तर से भली-भांति मिल सकता है। बस, इसी तत्व को इन्द्र ने राजर्षि नमि के उत्तर के सन्दर्भ में देखा है। उसने उनसे जितने भी प्रश्न किए उन सबका उत्तर देते हुए उन्होंने अपने स्वभाव-सिद्ध क्षमा और निर्लोभता आदि सद्गुणो का विशिष्ट परिचय देने में किसी प्रकार की भी कमी नही रखी। उनके इन्हीं गुणों पर मुग्ध हुआ इन्द्र कहता है—कि हे ऋषे! आपकी सरलता, कोमलता, क्षमायुक्तता और निर्लोभता निस्सन्देह सर्वश्रेष्ठ, सर्वसुन्दर और सर्वोत्तम है, क्योंकि मेरे प्रश्नों का उत्तर देते समय आप मे अणुमात्र भी विकृति नही आई है।

तात्पर्य यह है कि मेरे औद्धत्य-पूर्ण वचनों के उत्तर में भी आपने अपनी सहृदयता, सहनशीलता आदि सद्गुणो की परम्परा का लेशमात्र भी उल्लंघन नहीं किया जो कि सर्वसाधारण के लिए प्राय. अनिवार्य सा है।

उक्त गाथा मे आए हुए 'अहो' और 'साधु' ये दोनो शब्द अव्यय है और क्रमशः आश्चर्य तथा सुन्दरता के वाचक हैं।

अब फल द्वारा स्तुति के विषय में कहते हैं—

इहं सि उत्तमो भन्ते!, पेच्चा होहिसि उत्तमो ।
लोगुत्तमुत्तमं ठाणं, सिद्धिं गच्छसि नीरओ ॥ ५८ ॥

इहास्युत्तमो भदन्त ! पश्चात् भविष्यस्युत्तमः ।
लोकोत्तमोत्तमं स्थानं, सिद्धिं गच्छसि नीरजः ॥ ५८ ॥

पदार्थान्वयः—**भन्ते**—हे भगवन्!, **इहं**—इस जन्म में, **उत्तमो**—(आप) उत्तम, **सि**—हैं, **पेच्चा**—परलोक में, **उत्तमो**—उत्तम, **होहिसि**—होंगे, **लोगुत्तं**—लोकोत्तर जो, **उत्तमं**—उत्तम, **ठाणं**—स्थान है, **सिद्धिं**—सिद्धि को, **नीरओ**—कर्म-रज से रहित होकर, **गच्छसि**—जाओगे।

मूलार्थ—हे भगवन्! आप इस लोक में उत्तम हैं, परलोक में भी उत्तम होंगे, तथा कर्म-रज से रहित होकर लोक में परम उत्तम जो मोक्ष स्थान है उसको प्राप्त करेंगे।

टीका—यद्यपि छद्मस्थ व्यक्ति के लिए निश्चय रूप से यह कहना कठिन है कि यह जीव मोक्ष मे जाएगा अथवा नहीं जाएगा, परन्तु जीव के परिणामो का विचार करते हुए उसके मोक्ष में जाने या न जाने का अनुमान अवश्य किया जा सकता है। इन्द्र ने भी इसी आशय से राजर्षि नमि के मोक्ष जाने की बात कही है, अर्थात् ऋषि की विशुद्ध उत्कट परिणाम-धारा से उनके मोक्ष-गमन का निश्चय करके ही इन्द्र ने ऐसा कहा है जो कि उचित ही है।

'लोगुत्तमुत्तमं' इस शब्द में मकार प्राकृत नियम से आया हुआ है एवं भविष्य अर्थ में **'गच्छसि'** यह वर्तमान काल का प्रयोग भी 'व्यत्ययश्च' इस प्राकृत नियम के अनुसार हुआ है। 'भन्ते!' का (भदन्त)—(हे पूज्य!) प्रतिरूप है।

अब स्तुति के विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

एवं अभित्थुणन्तो, रायरिसिं उत्तमाए सद्धाए ।
पयाहिणं करेन्तो, पुणो-पुणो वन्दई सक्को ॥ ५९ ॥

एवमभिष्टुवन्, राजर्षिमुत्तमया श्रद्धया ।
प्रदक्षिणां कुर्वन् पुनःपुनर्वन्दते शक्रः ॥ ५९ ॥

पदार्थान्वयः—**एवं**—इस प्रकार, **अभित्थुणन्तो**—स्तुति करता हुआ, **रायरिसिं**—राजर्षि की, **उत्तमाए**—उत्तम, **सद्धाए**—श्रद्धा से, **पयाहिणं**—प्रदक्षिणा, **करेन्तो**—करता हुआ, **सक्को**—इन्द्र, **पुणो-पुणो**—बार-बार, **वन्दई**—वन्दना करता है।

मूलार्थ—इस प्रकार उत्तम श्रद्धा से राजर्षि की स्तुति और प्रदक्षिणा करता हुआ इन्द्र उनको बार-बार वन्दना करता है।

टीका—गुणो के द्वारा मनुष्य सर्वत्र और सबका पूज्य बन जाता है। सद्गुणी पुरुषों का साधारण मनुष्य तो क्या देवता भी आदर करते है। वास्तव मे होना भी ऐसा ही चाहिए, क्योंकि गुणानुराग मनुष्योचित गुणों मे से एक विशिष्ट गुण है। जो व्यक्ति गुणानुरागी नही, वह मनुष्यत्व के आदर्श से बहुत दूर है, इसलिए बिना किसी पक्षपात के गुणवानो की प्रशसा करना, उनका आदर-सत्कार करना, उनकी यथाशक्ति सेवा-भक्ति करना और उनके प्रति निर्मल श्रद्धाभाव को प्रदर्शित करना गुणानुरागी पुरुष का सबसे पहला कर्त्तव्य है। इसी भाव से प्रेरित होकर इन्द्र ने राजर्षि नमि को बार-बार वन्दन किया और उनकी स्तुति तथा प्रदक्षिणा द्वारा अपनी असीम श्रद्धा-भक्ति का विशिष्ट परिचय दिया। यही इस गाथा का फलितार्थ है।

तो वन्दिऊण पाए, चक्कंकुसलक्खणे मुणि-वरस्स ।
आगासेणुप्पइओ, ललियचवलकुंडलतिरीडी ॥ ६० ॥

ततो वन्दित्वा पादौ, चक्रांकुशलक्षणौ मुनिवरस्य ।
आकाशेनोत्पतितः, ललितचपलकुण्डलकिरीटी ॥ ६० ॥

पदार्थान्वयः—**तो**—तदनन्तर, **मुणिवरस्स**—मुनिवर के, **चक्कंकुसलक्खणे**—चक्र और अंकुश के चिह्न वाले, **पाए**—दोनों चरणों को, **वन्दिऊण**—वंदन करके, **ललिय**—ललित—सुन्दर, **चवल**—चंचल, **कुंडल**—कुंडल, **तिरीडी**—मुकुट वाला, **आगासेणुप्पइओ**—आकाश में चला गया।

मूलार्थ—**तदनन्तर चक्र और अंकुश के चिन्हों से युक्त मुनिवर के दोनों चरणों को वन्दन करके, अति चंचल सुन्दर कुंडल और मुकुट को धारण किए हुए इन्द्र आकाश-मार्ग से अपने देवलोक को चला गया।**

टीका—जो महापुरुष होते हैं, उनके चरणों के तले मे ध्वज, अंकुश, पद्म और चक्र आदि के अन्यतम चिह्न होते है तथा इन उत्तम लक्षणों वाले महापुरुषो की सेवा-भक्ति भी उच्चकोटि के भव्य जीवों को ही प्राप्त होती है। इसीलिए प्रसन्न हुए इन्द्र ने राजर्षि नमि को श्रद्धा-पूर्वक वन्दन-नमस्कार करके आनन्द पूर्वक अपने देवलोक को प्रस्थान किया।

इन्द्र की प्रसन्नता के प्रदर्शक उनके अतिरमणीय चंचल स्वर्ण कुंडल है। कुण्डल और मुकुट इन्द्र के चिह्न भी है।

इन्द्र के देवलोक में चले जाने के बाद राजर्षि नमि ने जो कुछ किया, अब इसी विषय में कहते हैं—

नमी नमेइ अप्पाणं, सक्खं सक्केण चोइओ ।
चइऊण गेहं वेदेही, सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ॥ ६१ ॥

नमिर्नमयत्यात्मानं, साक्षाच्छक्रेण नोदितः ।
त्यक्त्वा गृहं च वैदेही, श्रामण्ये पर्युपस्थितः ॥ ६१ ॥

पदार्थान्वयः—**नमी**—राजर्षि नमि, **अप्पाणं**—आत्मा को, **नमेइ**—नमाता है, **सक्खं**—साक्षात्, **सक्केण**—इन्द्र के द्वारा, **चोइओ**—प्रेरित हुआ, **गेहं**—घर, च—और, **वेदेही**—विदेह देश को, **चइऊण**—छोड़कर, **सामण्णे**—श्रमण भाव को, **पज्जुवट्ठिओ**—प्राप्त हो गया।

मूलार्थ—**तदनन्तर साक्षात् इन्द्र के द्वारा प्रेरित अर्थात् नमस्कृत होने पर भी राजर्षि नमि अपनी आत्मा को नमाते हुए अर्थात् विनम्र करते हुए घर और विदेह देश के राज्य को छोड़कर संयम में प्रतिष्ठित होते हैं, अर्थात् संयम में दीक्षित होते हैं।**

टीका—सच्चे महात्मा पुरुष किसी बड़े पुरुष की वन्दन एव स्तुति से अभिमान में आने की अपेक्षा और विनम्र हो जाते है। यही उनके आत्मिक गुणो के उत्तरोत्तर विकास का हेतु है, इसी कारण से देवराज की स्तुति-प्रार्थना से अपनी आत्मा मे किसी प्रकार भी अभिमान न लाते हुए राजर्षि नमि ने आत्मा को पहले से अधिक विनम्र कर दिया तथा अपने राज्य-वैभव का परित्याग करके वे संयम-व्रत मे दीक्षित हो गए यही सत्पुरुषों के अन्तरंग-विशुद्धि परिणाम का निर्मल आदर्श है।

क्या इस प्रकार से राजर्षि नमि ने ही किया है अथवा और भी कोई इस प्रकार से अपनी आत्मा को संयम में आरूढ़ करने का प्रयत्न करते हैं, अब इस विषय का उल्लेख किया जाता है—

एवं करेन्ति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टन्ति भोगेसु, जहा से नमी रायरिसी ॥ ६२ ॥
त्ति बेमि ।

इति नमिपव्वज्जा नाम नवममज्झयणं समत्तं ॥ ६ ॥

एवं कुर्वन्ति संबुद्धाः, पण्डिताः प्रविचक्षणाः ।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः, यथा स नमी राजर्षिः ॥ ६२ ॥
इति ब्रवीमि ।

इति नमिप्रव्रज्या नाम नवममध्ययनं सम्पूर्णम् ।

पदार्थान्वयः—**एवं**—इसी प्रकार, **संबुद्धा**—तत्ववेत्ता, **करेन्ति**—करते है, **पंडिया**—पण्डित, और, **पवियक्खणा**—विचक्षण, **भोगेसु**—भोगों से, **विणियट्टन्ति**—निवृत्त होते हैं, **जहा**—जैसे, **से**—वह, **नमी रायरिसी**—राजर्षि नमि, **त्ति बेमि**—इस प्रकार मै कहता हूं।

मूलार्थ—इसी प्रकार से अन्य तत्त्ववेत्ता, विचारशील पंडित लोग भी भोगों से निवृत्त होकर दीक्षा ग्रहण करते हुए परम निर्वाण-पद को प्राप्त करते हैं, जिस प्रकार कि नमि ने किया है, ऐसे मैं कहता हूं।

टीका—तत्त्वों का यथार्थ रूप से ज्ञान प्राप्त करने वाले को तत्त्ववेत्ता और आत्म-अनात्म पदार्थो का यथार्थ निर्णय करने वाले को विचक्षण कहा जाता है। सदसद् वस्तु के विवेकी का नाम पंडित है। कुशल कर्म एवं मोक्ष मार्ग के साधनो में सभी विचारशील पुरुषो का समान मत होता है और समान ही प्रवृत्ति होती है। अतः निवृत्ति प्रधान सयम-मार्ग में प्रवृत्त होने के लिए विषय-भोगों का त्याग और धार्मिक क्रियाओं के यथाविधि अनुष्ठान में वे पूर्ण दृढ़ता से प्रवृत्त होते है। उनकी इस दृढ़ प्रवृत्ति को सामान्य पुरुष तो क्या देवता तक भी शिथिल नही कर सकते।

जैसे कि राजर्षि नमि को अपने धार्मिक विश्वास से गिराने के लिए अनेक विध प्रयत्न करने पर भी इन्द्र निष्फल ही रहा तथा उक्त ऋषि अपने निश्चय मे पूर्ण दृढ़ रहे। जो पुरुष संयम ग्रहण करने के बाद अपने आध्यात्मिक विचारों को पूर्ण रूप से पुष्ट करते हुए तदनुकूल आचरण करने मे निशंक और निर्भय होते है, उनको निर्वाण-पद की प्राप्ति अवश्यभावी होती है। यही इस गाथा का फलितार्थ है।

इस प्रकार श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते है। इत्यादि सब पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

नवम अध्ययन संपूर्ण

अह दुमपत्तयं दसमं अज्झयणं

अथ द्रुमपत्रकं दशममध्ययनम्

नवमे अध्ययन में चारित्र-निष्ठा का वर्णन किया गया है, परन्तु चारित्र में दृढ़ता का होना अधिकतया गुरुजनों की शिक्षा पर ही निर्भर है, इसलिए दसवें अध्ययन में गुरुजनों के द्वारा प्राप्त होने वाली श्रेष्ठ शिक्षाओं का वर्णन किया जाता है। यद्यपि यहां पर गुरुजनों के भी परमगुरु वीतराग भगवान् श्री वर्धमान स्वामी ने इन अनन्तरोक्त शिक्षाओं का उपदेश अपने मुख्य शिष्य गौतम स्वामी को दिया है, तथापि उपलक्षणतया यह सभी के लिए उपादेय है, अर्थात् श्री गौतम स्वामी को मुख्य रखकर यह उपदेश सभी के लिए दिया गया है। इस अध्ययन का नाम 'द्रुमपत्रक अध्ययन' है और इसकी यह प्रथम गाथा है—

दुमपत्तए पंडुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए॥ १॥

द्रुमपत्रकं पाण्डुरकं यथा, निपतति रात्रिगणानामत्यये।
एवं मनुष्याणां जीवितं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः॥ १॥

पदार्थान्वयः—दुमपत्तए—वृक्ष-पत्र, **जहा**—जैसे, **पंडुयए**—पीला, **निवडइ**—गिर जाता है, **राइगणाण**—रात्रियो के समूह, **अच्चए**—व्यतीत होने पर, **एवं**—इसी प्रकार, **मणुयाण**—मनुष्यों का, **जीवियं**—जीवन है, **गोयम**—हे गौतम!, **समयं**—समय मात्र भी, **मा पमायए**—प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—जैसे रात्रि और दिवसों के व्यतीत होने पर वृक्ष का पत्र पीला होकर गिर पड़ता है, इसी प्रकार मनुष्यों का जीवन भी है, इसलिए हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—इस गाथा मे भगवान् गौतम स्वामी को सम्बोधन करके साधु-जनोचित कर्त्तव्य में पूर्णतया सावधान रहने का उपदेश करते है। इस परिणमनशील संसार में समय अपना काम बराबर करता रहता है। पदार्थों की परिणति के प्रवाह का चक्र निरन्तर घूम रहा है, समय जाते कुछ पता नहीं लगता। जो व्यक्ति कल बालक था, वह आज युवा दिखाई देता है और जो जवान था वह बूढ़ा हो जाता है। कल जो पत्र वृक्ष के साथ लगे हुए थे और उसकी शोभा को बढ़ा रहे थे, आज वे उससे

गिरकर भूमितल पर पड़े हुए पैरो से मसले जा रहे है। यही दशा संसार के प्रत्येक पदार्थ की है। ससार की कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। इस बात का विचार करके मनुष्य को अपने स्वल्प जीवन में कर्त्तव्य-कार्यों में यत्किंचित् भी प्रमाद नही करना चाहिए। यही इस गाथा में उपदिष्ट विषय का सार है। जिस प्रकार वृक्ष मे लगा हुआ पत्ता कुछ समय के बाद अपनी हरियाली का त्याग करके पीला पड़कर एक दिन वृक्ष से सदा के लिए अलग हो जाता है, उसी प्रकार यह जीव भी अपनी न्यूनाधिक भव-स्थिति अर्थात् आयु-मर्यादा को पूरी करके इस वर्तमान पर्याय, शरीर का सदा के लिए त्याग करने के लिए विवश हो जाता है। जिस प्रकार वृक्ष में लगा हुआ पत्ता वायु के प्रबल झोकों से एक क्षण भर मे वृक्ष से पृथक् होकर भूमि पर गिर पड़ता है, उसी तरह इस मनुष्य-शरीर का भी किसी प्रबल रोग के आक्रमण से पतन होते देरी नहीं लगती।

तात्पर्य यह है कि जीवन बहुत चचल एव अस्थायी है। पता नही कि यह किस वक्त जवाब दे जाए, अत विचारशील साधकों को अपने साधु-जनोचित धार्मिक कृत्यो मे कभी प्रमाद नही करना चाहिए। जो प्रमादी जीव है वे समय का दुरुपयोग करने से अन्त मे बहुत पश्चात्ताप करते है, परन्तु समय के अतिक्रमण के बाद का पश्चात्ताप निरर्थक है। इसलिए भगवान् कहते है कि हे गौतम! समय-मात्र का भी प्रमाद मत करो। अत्यन्त सूक्ष्मकाल को समय कहते है।

अब सूत्रकार आयु की अस्थिरता के विषय में कहते हैं—

कुसग्गे जह ओसबिंदुए, थोवं चिट्ठइ लंबमाणए ।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए ॥ २ ॥

कुशाग्रे यथावश्यायबिन्दुकः, स्तोकं तिष्ठति लम्बमानकः ।
एवं मनुजानां जीवितं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—**कुसग्गे**—कुशा के अग्रभाग पर, **जह**—जैसे, **ओसबिंदुए**—ओस का बिन्दु, **थोवं**—थोड़े काल तक, **चिट्ठइ**—ठहरता है, **लंबमाणए**—सुन्दरता धारण करता हुआ, **एवं**—इसी प्रकार, **मणुयाण जीवियं**—मनुष्यो का जीवन है, **गोयम**—हे गौतम! **समयं**—समय मात्र का भी, **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—हे गौतम! जैसे कुशा के अग्रभाग पर पड़ा हुआ ओस का बिन्दु अपनी शोभा को धारण किए हुए थोड़े काल पर्यन्त ठहरता है, इसी प्रकार मनुष्यों का जीवन है, इसीलिए हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—भगवान् महावीर स्वामी ने यौवन अवस्था की अनित्यता को बताते हुए गौतम से कहा है कि कुशा के अग्रभाग पर लटककर सुन्दर प्रतीत होता हुआ ओस का बिन्दु जैसे थोड़े ही काल तक ठहरता है, उसी प्रकार मनुष्य का यह जीवन भी स्वल्पकालस्थायी है, इसलिए धर्म-कृत्यो के अनुष्ठान में समय मात्र का भी प्रमाद नही करना चाहिए।

इस गाथा में मनुष्य की युवावस्था को ओस बिन्दु के समान और शरीर को कुशा के समान बताया गया है। जैसे कुशा के अग्रभाग पर टिका हुआ ओस का बिन्दु उज्ज्वल मोती की सी शोभा को धारण किए हुए होता है, उसी प्रकार इस शरीर पर जब यौवन का चक्र आता है, तब इसका सौन्दर्य भी अपूर्व ही दिखाई देता है, परन्तु जैसे ओस के बिन्दु की स्थिति बहुत स्वल्प काल की होती है, उसी प्रकार यह यौवन भी सर्वथा अचिरस्थायी ही होता है। जिस प्रकार ओस के बिन्दु का सौन्दर्य उसके पतन के साथ ही विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य-जीवन के साथ ही इस सौन्दर्य का भी अन्त हो जाता है। जब कि कुशाग्र-लग्न जलबिन्दु के समान क्षणमात्र-स्थायी यह मनुष्य-जीवन है। इसीलिए बुद्धिमान पुरुष को धर्मानुष्ठान में क्षणमात्र के लिए भी प्रमाद का सेवन नहीं करना चाहिए। यही इस गाथा का भावार्थ है।

यहा पर इतना स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् ने गौतम को लक्ष्य मे रखकर यह उपदेश प्राणिमात्र के लिए दिया है, अतः प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के लिए यह उपादेय है।

अब इसी विषय को दृढ़ करने के लिए फिर कहते हैं—

इइ इत्तरियंमि आउए, जीवियए बहुपच्चवायए ।
विहुणाहि रयं पुरे कडं, समयं गोयम! मा पमायए ॥ ३ ॥

इतीत्वर आयुषि, जीवितके बहुप्रत्यपायके ।
विधुनीहि रजः पुराकृतं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—**इइ**—इस प्रकार, **इत्तरियंमि**—थोड़ी, **आउए**—आयु मे तथा, **जीवियए**—जीवन मे, **बहु**—बहुत, **पच्चवायए**—जिसमे विघ्न है, **रयं**—कर्म-रज, **पुरेकडं**—पहले संचित की हुई को, **विहुणाहि**—दूर कर, **समयं**—समय मात्र का भी, **गोयम**—हे गौतम! **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—इस प्रकार इस स्वल्प स्थिति वाले जीवन में जिसमें कि विघ्न भी बहुत हैं, पूर्व काल में संचित की हुई कर्म-रज को दूर करो और इस कार्य में समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—जीवो की आयु दो प्रकार की होती है, एक निरुपक्रम, दूसरी सोपक्रम। जो किसी भी बाहर के निमित्त से न टूटे, किन्तु अपनी नियत मर्यादा को पूर्ण करके ही समाप्त हो वह निरुपक्रम आयु है तथा जो किसी बाह्य निमित्त के मिलने से अपनी नियत मर्यादा को पूर्ण किए बिना बीच में ही टूट जाए उसे व्यवहारनय की अपेक्षा से सोपक्रम आयु कहते है। ससार में निरुपक्रम आयु वाले जीव तो बहुत ही स्वल्प है, विशेष सख्या तो सोपक्रमी जीवो की ही है। अतः इस सोपक्रम वाले जीवों को लक्ष्य मे रखकर भगवान् कहते है कि—

हे गौतम! आयु बहुत अल्प है और उसमे भी अनेक प्रकार के विघ्न है, अर्थात् आयु को बीच में ही तोड़ देने वाले अनेकविध आतक (भयानक रोग), शस्त्र, जल, अग्नि, विष, भय और शोक आदि अनेक विघ्न विद्यमान है। पता नही कि किस समय इन उपद्रवो के द्वारा इस जीवन का अन्त हो जाए,

इसलिए पूर्व जन्मो की अर्जित की हुई कर्म-रज को तू इस जीवन में अपने आत्मा से पृथक् कर दे और इस काम में समय मात्र का भी प्रमाद न कर, यही इसके दूर करने का उपाय है।

यद्यपि गौतम स्वामी सोपक्रम आयु वाले प्रतीत नहीं होते, तथापि यह उपदेश अन्य साधारण जीव समुदाय को लक्ष्य में रखकर किया गया है। गौतम स्वामी को तो भगवान् ने केवल निमित्त मात्र रखा है। इसलिए संसार के सभी भव्य जीवों के लिए उनका उपदेश है कि इस विघ्नयुक्त स्वल्प जीवन में बुद्धिमान् व्यक्ति को समय मात्र का भी प्रमाद न करना चाहिए। तभी यह आत्मा परम श्रेय को प्राप्त हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि हम फिर मनुष्य बनकर धर्म का उपार्जन कर लेंगे, इस पर शास्त्रकार अब मनुष्य-जन्म की दुर्लभता के विषय में कहते हैं—

दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवाग कम्मुणो, समयं गोयम! मा पमायए ॥ ४ ॥

दुर्लभः खलु मानुषो भवः, चिरकालेनापि सर्वप्राणिनाम्।
गाढश्च विपाकः कर्मणां, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**दुल्लहे**—दुर्लभ है, **खलु**—विशेष रूप से, **माणुसे**—मनुष्य, **भवे**—जन्म, **चिर-कालेण**—चिरकाल से, **वि**—भी, **सव्व**—सब, **पाणिणं**—प्राणियो को, **य**—और, **गाढा**—अति कठिन है, **विवाग**—विपाक, **कम्मुणो**—कर्म का अतः, **गोयम**—हे गौतम! **समयं**—समय मात्र का भी, **मा पमायए**—प्रमाद करो।

मूलार्थ—निश्चय ही मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है और चिरकाल से प्राणियों का कर्म-विपाक प्रगाढ़ है, अतः हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—भगवान कहते है कि जिन आत्माओं ने सुकृत का उपार्जन नही किया उनको मनुष्य-जन्म का प्राप्त होना बहुत कठिन है। इसका चिरकाल तक मिलना दुष्कर है। यह कथन एक जीव की अपेक्षा से नही, किन्तु सभी जीवो की अपेक्षा से कहा गया है, क्योकि मनुष्य-जन्म की प्राप्ति सभी के लिए दुर्लभ है। कर्मो का विपाक अर्थात् उदय इतना प्रगाढ़ है कि मनुष्य-गति की प्राप्ति मे वह विशेष रूप से प्रतिबन्धक हो जाता है, अर्थात् मनुष्य-गति की प्राप्ति मे विघ्न करने वाली कर्म-प्रकृतियों का उदय इस प्रकार का होता है कि सहज मे उनका दूर करना बहुत ही कठिन हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि तीव्र कषायो के उदय से कर्म-प्रकृतियो का बन्धन अति निविड़ अर्थात् गहन हो जाता है, अत. सभी जीवो के लिए मनुष्य-जन्म का मिलना अत्यन्त कठिन है, परन्तु किसी पुण्य विशेष के उदय से ही यह मनुष्य-जन्म मिल पाया है, इसलिए इसको प्राप्त करके समय मात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

इस सारे कथन का अभिप्राय यही है कि मनुष्य-जन्म का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। यदि यह मिल गया तो इसको सफल करने के लिए अहर्निश धर्म-कृत्यों के आचरण में तत्पर रहना चाहिए और समय मात्र भी प्रमाद में न खोना चाहिए।

अब मनुष्य-जन्म क्यों दुर्लभ है, इस प्रश्न का समाधान करने के लिए प्रथम सब जीवों की काय स्थिति का वर्णन करते हैं।

पुढविक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम! मा पमायए ॥ ५ ॥

पृथिवीकायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—पुढविक्कायं—पृथ्वीकाय को, **अइगओ**—बार-बार प्राप्त हुआ, **उक्कोसं**—उत्कृष्टता से, **जीवो**—जीव, **उ**—तो, **संवसे**—रहते हैं, **संखाईयं**—संख्यातीत, **कालं**—काल तक, **समयं**—समय मात्र भी, **गोयम**—हे गौतम! **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—पृथ्वीकाय में गया हुआ जीव उत्कृष्ट भाव से संख्यातीत अर्थात् असंख्यातकाल पर्यन्त रहता है, अतः हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—इस गाथा मे पृथ्वी के जीवो की कायस्थिति का वर्णन किया गया है। कल्पना करो कि कोई जीव मरकर पृथ्वी-काय में चला गया और फिर मरकर उसी पृथ्वी-काय में जन्म-मरण करने लग जाए अर्थात् पृथ्वी का जीव मरकर पृथ्वी-काय में ही उत्पन्न होता रहे, इस क्रम से उसकी उत्कृष्ट स्थिति असख्यात काल पर्यन्त रहती है। तात्पर्य यह है कि यावन्मात्र असंख्यात-असख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के समय है, तावत्कालपर्यन्त जीव पृथ्वी-काय के रूप मे रह सकता है।

मिट्टी की जाति का नाम पृथ्वी-काय है। तात्पर्य यह है कि पृथ्वी ही जिस जीव का काय अर्थात् शरीर है, उसको पृथ्वी काय कहते है। अत. उत्कृष्ट दशा मे यह जीव असंख्यात काल तक पृथ्वी काय मे जन्म-मरण कर सकता है। ऐसी अवस्था में गया हुआ जीव संसार के आवागमन के चक्र में फस जाता है और वहां से उसका निकलना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इसलिए मनुष्य-जन्म प्राप्त किए हुए प्राणियों को समय-मात्र का भी धर्म कृत्यों मे प्रमाद नही करना चाहिए।

अब अप्काय अर्थात् जल-काय की स्थिति का वर्णन करते हैं—

आउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम! मा पमायए ॥ ६ ॥

अप्कायमतिगतः, उत्कर्ष जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—आउक्कायं—जल-काय में, **अइगओ**—गया हुआ, **उक्कोसं**—उत्कृष्टता से, **जीवो**—जीव, **संवसे**—रहे तो, **संखाईयं**—संख्यातीत, **कालं**—कालपर्यन्त रहता है, उ—(वितर्क में) **गोयम**—हे गौतम! **समयं**—समय मात्र का भी, **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—अप्काय में गया हुआ जीव उत्कृष्टता से वहां रहे तो असंख्यात काल-पर्यन्त रह सकता है, इसलिए हे गौतम! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—इस गाथा मे यह भाव दिखाया गया है कि यदि आत्मा जल-काय में चला गया और उसी में जन्म-मरण करने लग गया तो उत्कृष्टता से असंख्यात काल तक उसी काय में रह सकता है। उक्त गाथा मे आए हुए सख्यातीत शब्द का अर्थ असंख्यात काल-पर्यन्त है।

तात्पर्य यह है कि जो सख्या से रहित है वह असंख्य वा अनन्त ही होता है, परन्तु यहां पर सख्या से रहित का अर्थ असख्यात ही लिया गया है। पन्नवणासूत्र के अठारहवे पद में लिखा है—

'पुढविकाइए णं भंते कालओ केवच्चिरं होइ?

गोयम! जहण्णेणं अन्तो मुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, असंखेज्जाओ उवसप्पिणीओ कालओ खेत्तओ असंखेज्जा लोगा एवं आउ, तेउवाउकाइयावि।'

अर्थात् गौतम स्वामी प्रश्न करते है कि भगवन्! पृथ्वी-काय मे, अप्काय में, तेज और वायुकाय में जीव कब तक रह सकता है?

भगवान् उत्तर मे कहते है कि हे गौतम! कम से कम अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट असख्यात काल प्रमाण, अर्थात् काल से असंख्यात् उत्सर्पिणी-अवसर्पिणिओं के समय प्रमाण और क्षेत्र से यावन्मात्र असख्यात लोक के आकाश प्रदेश है तावन्मात्र उक्त चारो स्थावरो में जीव रह सकता है। अतएव यदि जीव अप्काय मे चला गया और उसी मे जन्म-मरण करने लग गया तो असख्यात काल पर्यन्त उसी मे जन्म-मरण करता रहता है, इसलिए इस मनुष्य-जन्म को प्राप्त करके धर्माचरण के लिए पुरुषार्थ करते रहना चाहिए और समय मात्र भी प्रमाद करना योग्य नहीं है।

अब तेजस्काय की स्थिति का वर्णन करते हैं—

तेउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम! मा पमायए ॥ ७ ॥

तेजस्कायमतिगतः, उत्कर्ष जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—तेउक्कायं—तेजस्काय मे, **अइगओ**—प्राप्त हुआ, **उक्कोसं**—उत्कृष्टता से, उ—तो, **जीवो**—जीव, **संवसे**—रहता है, **संखाईयं**—सख्यातीत, **कालं**—काल तक, **समयं**—समयमात्र का भी, **गोयम**—हे गौतम! **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—तेजस्काय में जन्म-मरण को प्राप्त हुआ जीव उत्कृष्टता से वहां रहे तो असंख्यात काल तक रहता है, अतः हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—यदि कोई जीव अशुभ कर्मों के प्रभाव से अग्नि-काय में चला जाए और उसी काय में जन्म-मरण करने लग जाए तो उत्कृष्टता से असंख्यात काल तक उसी में जन्म-मरण करता रहता है, अतः हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

तात्पर्य यह है कि यह असंख्यातकाल भी असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के तुल्य है तथा असख्यात काल-चक्रों के समयों के प्रमाण में है। अतः धर्म-कार्यों में विलम्ब न करना चाहिए एवं तेजस्काय मे दाहकत्व-शक्ति गुण होने से जीवत्व-जीवपन भी प्रमाणसिद्ध है। यदि उसमें जीवत्व न होता तो उसमें दाहकता भी न होती और दाहकत्वगुण से ही तेजस्कायरूपता की स्थिति है यह तेजस्काय असंख्यात जीवों का पिण्डरूप अर्थात् समूहरूप होता है। सूक्ष्म और बादर तेजस्काय की जो असंख्यात-काल की स्थिति वर्णन की गई है उसमें बादर तेजस्काय तो केवल अढ़ाई द्वीप प्रमाण में ही होता है और सूक्ष्म तेजस्काय सारे लोक में व्याप्त हो रहा है।

इस गाथा मे 'सुप्' का व्यत्यय प्राकृत के नियम से हो रहा है। **'उक्कोसं'**—उत्कर्षतः—पद तस् प्रत्ययान्त है। 'अति' अव्यय अतिशय अर्थ का बोधक है जिसका भाव है—उसी काय में जन्म-मरण की परम्परा। 'तु' शब्द पादपूर्ति के लिए है। एव 'समय' शब्द के साथ ही 'अपि' शब्द का भी अध्याहार कर लेना चाहिए। सूत्र मे 'अपि' अर्थ का बोधक 'पि' लुप्त है।

तेजस्काय का वर्णन करने के अनन्तर अब क्रम-प्राप्त वायु-काय का वर्णन करते हैं—

वाउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम! मा पमायए ॥ ८ ॥

वायुकायमतिगतः उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—वाउक्कायं—वायुकाय मे, **अइगओ**—जन्म-मरण को प्राप्त हुआ, **जीवो**—जीव, उ—तो, **उक्कोसं**—उत्कृष्टता से, **संखाईयं**—सख्यातीत, **कालं**—काल तक, **संवसे**—रहता है, **समयं**—समयमात्र भी, **गोयम**—हे गौतम! **या पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—वायुकाय में जन्म-मरण को प्राप्त हुआ जीव उत्कृष्टता से रहे तो असंख्यात काल तक रह सकता है, अतः हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—भगवान् श्री महावीर स्वामी कहते है कि—'हे गौतम! यदि यह आत्मा वायुकाय में ही जन्म-मरण धारण करने लग जाए तो उत्कृष्टता से असंख्यात-काल पर्यन्त उसी काय में जन्म-मरण करता रहता है, अतः धर्म-कार्य के अनुष्ठान में कभी प्रमाद नही करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि वायुकाय में जो जीव जन्म-मरण के चक्र को प्राप्त हो चुके हैं, उनका वहां से निकलना बहुत ही कठिन हो जाता है, अतएव बुद्धिमान् पुरुष धर्माचरण में कभी प्रमाद न करें।

यद्यपि पर-मत* वालो ने रूप, रस, गन्ध से रहित और स्पर्श वाला वायु को स्वीकार किया है, परन्तु उनका यह कथन युक्तिसगत नही है, क्योंकि जो भी स्पर्श वाला द्रव्य होता है, वह रूप, रस और गन्धवाला ही होता है, इसलिए वायु स्पर्श वाला होने के अतिरिक्त रूप, रस, गन्ध और कर्म-क्रिया-संयुक्त भी है। इस मे अन्तर सिर्फ इतना ही है कि वायु-काय का रूप इन चर्म-चक्षुओं का विषय नही है। आज-कल के वैज्ञानिको ने तो वायु-मापक यन्त्र के द्वारा इसका वजन भी सिद्ध कर दिया है। तब जिस वस्तु में गुरुत्व की सिद्धि हो फिर उसमें रूप, रस, गन्ध का न मानना किसी प्रकार से भी युक्ति-युक्त नहीं कहा जा सकता। इसलिए वायु का रूप यद्यपि चक्षुः-प्रत्यक्ष नहीं, तथापि आगम और युक्ति से उसकी रूप-सिद्धि अवश्य होना है, अन्यथा आकाश की भांति यह भी अरूपी सिद्ध होगा।

अब क्रम-प्राप्त वनस्पति-काय की स्थिति का वर्णन करते हैं—

वणस्सइकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालमणंतं दुरंतं, समयं गोयम! मा पमायए ॥ ६ ॥

वनस्पतिकायमतिगतः, उत्कर्ष जीवस्तु संवसेत् ।
कालमनन्तं दुरन्तं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—वणस्सइकायं—वनस्पति काय मे, **अइगओ**—प्राप्त हुआ, **जीवो**—जीव, **उ**—तो, **उक्कोसं**—उत्कर्षता से, **अणंतं**—अनन्त, **दुरंतं**—दुख से जिसका अन्त हो सके, उतना, **कालं**—काल-पर्यन्त, **संवसे**—रहता है, **समयं**—समय मात्र भी, **गोयम**—हे गौतम! **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—वनस्पति-काय में जन्म-मरण को प्राप्त हुआ जीव उत्कृष्टता से दुरन्त—दुखपूर्वक जिसका अन्त हो सके—उसमें अनंत काल पर्यन्त रहता है, इसलिए हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—जब यह आत्मा वनस्पतिकाय मे चला गया और उसी में जन्म-मरण को धारण करने लग गया तो उत्कृष्टता से वह अनन्त काल-पर्यन्त उसी में रहता है, इसलिए विवेकशील व्यक्ति को कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। वनस्पति मे तो जीव का अस्तित्व युक्ति और प्रमाण दोनों से सिद्ध है। आजकल के वैज्ञानिको ने तो वृक्षो मे जीव के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए अनेक प्रकार के सूक्ष्मदर्शक यन्त्रो का आविष्कार किया है जिनसे मनुष्य आदि अन्य जीवो की भाति वृक्षो में भी हर्ष-शोक का अनुभव होता पाया गया है। इस विषय में भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉक्टर वसु

★ न्याय और वैशेषिक मत के अनुयायी वायु को रूप-रहित और स्पर्शगुण वाला मानते हैं, 'रूपरहित स्पर्शवान् वायु'—तर्कसंग्रह.

ने सबसे अधिक श्रेय प्राप्त किया है। परन्तु भगवान् ने तो प्रथम ही से इसमें जीवात्मा का होना बता दिया है। अपि च इसका बढ़ना-घटना और म्लान होना प्रत्यक्ष रूप से इसमें जीव के अस्तित्व को प्रमाणित कर रहा है, अतः कर्मवश वनस्पतिकाय को प्राप्त हुआ जीव इसमें अनन्त काल तक निवास कर सकता है और वहां से इसका निकलना बहुत ही कठिन हो जाता है। प्रज्ञापना सूत्र के अठारहवें पद में लिखा है—

'सुहुमवणस्सइक्काइए, सुहुमनिगोएवि, जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जकालं— असंखेज्जाओ उस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ—असंखेज्जा लोगा। बादर वणस्सइक्काइए बादर पुच्छा, गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जकालं जाव खेत्तओ अंगुलस्स असंखेज्जइ भागं। पत्तेय-सरीर बादर-वणस्सइक्काइयाणं पुच्छा, गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सत्तरिकोडाकोडीओ। णिगोदेणं भंते! णिगोदे जहण्णेणं अन्तोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ ओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ—अड्ढाइज्जा पोग्गलपरियट्टा। बादरनिगोदेणं भंते! बादर, पुच्छा—गोयमा! जहण्णेणं अन्तोमुहुत्तं उक्कोसेणं सत्तरि कोडाकोडीओ'।

इसका भावार्थ केवल इतना ही है कि सूक्ष्म और बादर वनस्पतिकाय में असंख्यातकाल पर्यन्त यह जीव रह सकता है और निगोद में अनन्त कालपर्यन्त रहता है तथा बादर निगोद में सत्तर कोटा-कोटि सागरोपमकाल पर्यन्त रहता है। सो यदि यह जीव निगोद में चला जाए तो उत्कृष्ट अनन्तकाल पर्यन्त उसे वहां ही रहना होगा, किन्तु वहां से उसका निकलना बहुत ही कठिन है, अथवा अत्यन्त कष्ट साध्य है। इसीलिए मूलगाथा में 'दुरंत'[1] यह विशेषण दिया गया है।

अब विकलेन्द्रिय जीवों के विषय में कहते हैं—

बेइंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम! मा पमायए ॥ १० ॥

द्वीन्द्रियकायमतिगतः, उत्कर्ष जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्येयसंज्ञितं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—**बेइंदियकायं**—द्वीन्द्रियकाय मे, **अइगओ**—गया हुआ, **जीवो**—जीव, **उक्कोसं**—उत्कर्ष से, **संवसे**—रहे, उ—तो, **संखिज्ज**—सख्येय, **सन्नियं**—संज्ञक, **कालं**—काल तक रहता है अतः, **समयं**—समय मात्र भी, **गोयम**—हे गौतम! **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—द्वीन्द्रियकाय में गया हुआ जीव उत्कृष्टता से रहे तो संख्यात संज्ञा वाले काल-प्रमाण तक रहता है, अतः हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

---

१ कथ भूत अनन्त काल? दुरन्तम्—दुष्ट अन्तो यस्य स दुरन्तस्तम्। ते हि वनस्पतिकायमध्यगता जीवास्ततृस्थानादुद्धृता अपि प्रायो विशिष्ट नरादिभव न लभंते, तस्मात् दुरन्तमिति विशेषणम्।
(इति दीपिका टीकायाम्।)

टीका—दो इन्द्रियों वाले जीवो में यदि जीव जन्म-मरण करने लग जाए तो उत्कर्षता से संख्यात[1] वर्षसहस्र काल पर्यन्त वह उसी काय मे जन्म-मरण करता रहता है। जिन जीवों के स्पर्श और जिह्वा यह दो इन्द्रियां होती हैं वे द्वीन्द्रिय जीव कहलाते हैं। सीप, शंख, गंडोआ आदि जीव द्वीन्द्रिय में परिगणित है। इसलिए विचारशील मनुष्य को समय मात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि हाथ से निकला हुआ समय फिर मिलना कठिन है। जैसे वृद्ध पुरुष को उसी जन्म में फिर से युवा अवस्था का प्राप्त होना कठिन है, उसी प्रकार इस जीव को पुण्य-संयोग से प्राप्त हुआ यह मनुष्य-जन्म फिर से मिलना नितान्त कठिन है। अतः इस मनुष्य-जन्म को प्राप्त करके धर्मानुष्ठान में कभी प्रमाद न करना चाहिए।

अब त्रीन्द्रियकाय जीवों के विषय में कहते हैं—

तेइंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम! मा पमायए ॥ ११ ॥

त्रीन्द्रियकायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्येयसंज्ञितं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—**तेइंदियकायं**—तीन इन्द्रियो वाले काय में, **अइगओ**—प्राप्त हुआ, **जीवो**—जीव, **उक्कोसं**—उत्कृष्टता से, **संखिज्जसन्नियं**—सख्येयसज्ञक, **कालं**—काल तक, उ—तो, **संवसे**—रहता है, **समयं**—समय मात्र भी, **गोयम**—हे गौतम! **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—त्रीन्द्रिय काय में गया हुआ जीव उसमें उत्कृष्टता से रहे तो संख्येय-संज्ञक काल तक रह सकता है, अतः हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—भगवान् कहते है कि हे गौतम! यदि यह जीव त्रीन्द्रियकाय मे चला जाए तो वहा पर भी यह सख्येय-सज्ञक काल-पर्यन्त जन्म-मरण धारण करता रहता है, अर्थात् संख्यात सहस्र वर्षो तक वहां पर यह जन्म-मरण करता है। इसका निवास भी वहा पर दुख-पूर्ण होता है, इसलिए विचारशील पुरुषों को धर्म-कार्यो के सम्पादन में समय मात्र का भी प्रमाद नही करना चाहिए।

यहा पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि उक्त सूत्र की दीपिका टीका में '**अइगओ**' का सस्कृत प्रतिरूप '**अधिगतः**' बताया गया है और सर्वार्थसिद्धि नाम की व्याख्या मे '**अतिगतः**' रूप निर्दिष्ट किया गया है। परन्तु प्रस्तुत प्रकरण मे ये दोनों ही प्रतिरूप ठीक है। इनमे '**अधिगतः**' का अर्थ भव-प्राप्त है और '**अतिगतः**' का अर्थ ऊपर आ चुका है। कीड़ी आदि जीव तीन इन्द्रियो वाले होते है।

अब चतुरिन्द्रिय जीवों के विषय में कहते हैं—

---

१ 'सख्यातवर्षसहस्रात्मक' इति वृत्ति ।

चउरिंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम! मा पमायए ॥ १२ ॥
चतुरिन्द्रियकायमतिगतः उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्येयसंज्ञितं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—चउरिंदियकायं—चतुरिन्द्रियकाय मे, **अइगओ**—अतिशय करके गया हुआ, **जीवो**—जीव, **उक्कोसं**—उत्कृष्टता से, **संखिज्जसन्नियं**—संख्येयसंज्ञक, **कालं**—कालपर्यन्त, उ—ती, **संवसे**—निवास करता है, **समयं**—समय मात्र भी, **गोयम**—हे गौतम! **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—चतुरिन्द्रिय-काय में प्राप्त हुआ जीव उत्कृष्टता से वहां पर संख्यात् सहस्त्र वर्षों तक निवास करता है, अतः हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—इस गाथा का तात्पर्य यह है कि कर्म-गति से चतुरिन्द्रिय योनि को प्राप्त हुआ यह जीव संख्यात (संख्या वाले) सहस्त्रों वर्षो तक इसी मे जन्म-मरण को धारण करता रहता है, इसलिए इस दुर्लभ मनुष्य-जन्म को प्राप्त करके धर्म-कृत्यों के अनुष्ठान मे लेशमात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए, क्योकि यदि यह जीव इन उक्त योनियों में चला गया तो फिर वहां से इसका निकलना अत्यन्त कठिन हो जाता है। स्पर्श, जिह्वा, घ्राण और चक्षु इन चार इन्द्रियों वाले जीव चतुरिन्द्रिय कहलाते है। जैसे मक्खी, मच्छर इत्यादि जीव।

अब पञ्चेन्द्रिय जीवों के विषय में कहते हैं—

पंचिंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
सत्तट्ठभवग्गहणे, समयं गोयम! मा पमायए ॥ १३ ॥
पंचेन्द्रियकायमतिगतः, उत्कर्ष जीवस्तु संवसेत् ।
सप्ताष्टभवग्रहणानि, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—पंचिंदियकायं—पञ्चेन्द्रियकाय मे, **अइगओ**—प्राप्त हुआ, **जीवो**—जीव, **उक्कोसं**—उत्कृष्टता से, **संवसे**—रहे, उ—तो, **सत्तट्ठभव**—सात आठ भव, **ग्गहणे**—ग्रहण करता है, **समयं**—समय मात्र भी, **गोयम**—हे गौतम, **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—पञ्चेन्द्रियकाय में गया हुआ जीव यदि उत्कृष्टता से वहां रहे तो सात-आठ भवों तक वहां रहता है, अतः हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—भगवान् उपदेश करते है कि यह आत्मा कर्म-वशात् यदि तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय-भव को प्राप्त हो जाए तो वहा पर अधिक से अधिक सात-आठ भव ही ग्रहण कर सकता है, अर्थात् सात भव तो तिर्यच पचेन्द्रिय के संख्यात आयु वाले कर लेता है और आठवा भव असख्यात आयु वाले युगलियो का कर सकता है। तात्पर्य यह है कि पचेन्द्रिय जीव मरकर पंचेन्द्रिय ही होता रहे तो वह

सात अथवा आठ बार ही हो सकता है, इससे आगे उसको तिर्यंच पंचेन्द्रियत्व का परित्याग करना ही पड़ता है। यद्यपि उक्त गाथा में पंचेन्द्रिय केवल शब्द का उल्लेख है, तिर्यचपंचेन्द्रिय का नहीं, तथापि प्रकरण से यहां पर तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय का ग्रहण ही अभीष्ट है, क्योंकि यहां पर मनुष्य-भव की दुर्लभता का प्रकरण चल रहा है। उसमें पांच स्थावर और तीन विकलेन्द्रिय जीवों का स्वरूप ऊपर कहा जा चुका है तथा देव और नारकी का वर्णन आगे आने वाला है, अतः पंचेन्द्रियों में शेष तिर्यंच ही रह जाते है, सो उन्हीं का वर्णन यहां पर अभिप्रेत है।

इससे सिद्ध हुआ कि यदि यह जीव मरकर निरन्तर तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय भव में उत्पन्न होता रहे तो अधिक से अधिक सात अथवा आठ बार हो सकता है। मनुष्य-जन्म अत्यंत दुर्लभ है, इसको प्राप्त करके धर्म-कार्यों में किसी प्रकार से भी प्रमाद नही करना चाहिए, यही इस गाथा का भावार्थ है।

अब फिर प्रस्तुत विषय का ही वर्णन करते हुए देव और नारकी की काय और भवस्थिति का उल्लेख करते हैं—

देवे नेरइए य अइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
इक्केक्कभवगहणे, समयं गोयम! मा पमायए ॥ १४ ॥

देवान्नैरयिकांश्चातिगतः उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।
एकैक-भव-ग्रहणं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—**देवे**—देव, **नेरइए**—नारकियो में, **य अइगओ**—और गया हुआ, **जीवो**—जीव, **उक्कोसं**—उत्कृष्टता से यदि, **संवसे**—रहे, **उ**—तो, **इक्केक्कं**—एक-एक, **भवगहणे**—भव (जन्म) करता है, **समयं**—समयमात्र भी, **गोयम**—हे गौतम! **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—देव और नरकगति में गया हुआ जीव उत्कृष्टता से यदि वहां पर रहे तो एक ही भव अर्थात् जन्म धारण करता है, अतः हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—यदि यह आत्मा देव बन गया, अथवा नरक गति मे चला गया तो अधिक से अधिक एक ही जन्म धारण कर सकता है, क्योकि देवता मरकर देवता नहीं बनता और नारकी जीव मरकर नरक मे नही जाता है, अतः जीव वहां से निकलकर मनुष्य-योनि मे आता है या पशुयोनि को प्राप्त होता है। देवों और नारकीयो की आयु का प्रमाण अधिक से अधिक ३३ सागरोपम का है, अर्थात् इतने काल तक जीव उस भव में रह सकता है। इसलिए भगवान् महावीर कहते है कि विचारशील व्यक्ति को कर्म के क्षय करने मे क्षणमात्र के लिए भी प्रमाद का सेवन नही करना चाहिए।

अब उक्त विषय का उपसंहार करते हैं—

एवं भव-संसारे, संसरइ सुहासुहेहिं कम्मेहिं।
जीवो पमायबहुलो, समयं गोयम! मा पमायए ॥ १५ ॥

एवं भव-संसारे, संसरति शुभाशुभैः कर्मभिः ।
जीवः प्रमादबहुलः समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—**एवं**—इस प्रकार, **भव-संसारे**—जन्म-मरण रूप संसार में, **संसरइ**—परिभ्रमण करता है, **सुहासुहेहिं**—शुभाशुभ, **कम्मेहिं**—कर्मों से, **जीवो**—जीव, **पमायबहुलो**—बहुत प्रमाद वाला, **समयं**—समय मात्र भी, **गोयम**—हे गौतम! **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—इस प्रकार यह प्रमादी जीव अपने किए हुए शुभाशुभ कर्मों के द्वारा पृथ्वी आदि की कायस्थिति में, अथवा जन्म-मरण रूप संसार में परिभ्रमण करता रहता है, इसलिए हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—गौतम को लक्ष्य बनाकर भगवान कहते हैं कि प्रमादवश हुआ यह जीव अपने शुभाशुभ कर्मो के द्वारा पृथ्वी आदि कायस्थितियों में वा जन्म-मरण रूप संसार-चक्र में परिभ्रमण करता है। प्रमाद कर्मबन्ध का कारण है और कर्मबन्ध के द्वारा ही यह जीव नानाविध-योनियों में भ्रमण करता है, अत प्रमाद का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

यद्यपि आगमों में मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा इन पांचों का ही प्रमाद के नाम से वर्णन प्राप्त होता है और बताया गया है कि इन्ही के द्वारा यह जीव नानाविध कर्मो का बन्ध करता है, तथापि प्रस्तुत प्रकरण मे प्रमाद शब्द से धर्म-कार्यो के अनुष्ठान मे उपेक्षा एव विमुखता ही अभिप्रेत है, अर्थात् सासारिक कार्यों मे अधिकाधिक प्रवृत्त होना ही यहां पर प्रमाद माना गया है।

ऊपर बताया गया है कि आत्मा के ससार मे अर्थात् जन्म-मरण के नानाविध चक्रों मे परिभ्रमण का हेतु उसके शुभाशुभ कर्म है, इन्ही के प्रभाव से यह जीव देव, मनुष्यादि गतियो मे चक्कर लगाता है और कर्मबन्ध का कारण इसका प्रमाद है। प्रमाद की बहुलता से ही यह जीव अनेक प्रकार के ऊच-नीच कर्मो का बन्ध करता है तथा मनुष्य गति की प्राप्ति मे प्रतिबन्ध करने वाले कर्मो का उपार्जन करता है।

तात्पर्य यह है कि शास्त्रकारो ने ससार के परिभ्रमण का हेतु प्रमाद को ही माना है, अतः प्रमाद का सर्वथा परित्याग करना चाहिए।

पूर्व की गाथाओं में मनुष्य-जन्म की दुर्लभता का वर्णन किया गया है। अब मनुष्य-जन्म के प्राप्त होने पर भी उसमें उत्तरोत्तर प्रधान गुणों की दुर्लभता का प्रतिपादन निम्नलिखित गाथा के द्वारा किया जा रहा है—

लद्धूण वि माणुसत्तणं, आयरियत्तं पुणरावि दुल्लहं ।
बहवे दसुया मिलक्खुया, समयं गोयम! मा पमायए ॥ १६ ॥

लब्ध्वाऽपि मानुषत्वं, आर्यत्वं पुनरपि दुर्लभम् ।
बहवो दस्यवो म्लेच्छाः, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—**लद्धूण वि**—मिलने पर भी, **माणुसत्तणं**—मनुष्य-जन्म के, **पुणरावि**—फिर भी,

आयरियत्तं—आर्यत्व—आर्यदेश का मिलना, **दुल्लहं**—दुर्लभ है, **बहवे**—बहुत, **दसुया**—चोर है, **मिलक्खुया**—म्लेच्छ हैं, **समयं**—समय मात्र का भी, **गोयम**—हे गौतम! **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—मनुष्य-जन्म के मिलने पर भी आर्य देश का मिलना फिर भी कठिन है, क्योंकि अन्य देशों में बहुत से चोर और म्लेच्छ रहते हैं, अतः हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—इस गाथा मे यह बताया गया है कि यदि पुण्यवश किसी जीव को मनुष्य-जन्म मिल जाए तो भी आर्य देश में जन्म का होना अति दुर्लभ है, क्योंकि आर्य-देश पुण्यात्मा जीवों का देश है। इससे बाहर के अन्य देशों मे ऐसी जातियां रहती है जिनका चोरी ही मुख्य धन्धा है और वे जातियां म्लेच्छ है, इसलिए उन जातियों के देश म्लेच्छ देश एवं अनार्य देश कहलाते हैं। उन देशों में धर्माधर्म, भक्ष्याभक्ष्य और गम्यागम्य का कुछ भी बोध नहीं। वे लोग अव्यक्त भाषाओं के भाषी है जो कि आर्य भाषा से सर्वथा विपरीत है। शक, यवन आदि लोगों के देशों को अनार्य देश कहा जाता है।

तात्पर्य यह है कि यदि दस्यु अथवा म्लेच्छ जाति में जन्म हो भी गया तो क्या हुआ? क्योंकि ये जातियां प्रायः धर्म से रहित और मांसाहारी है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि हे गौतम! उत्तम कुल और उत्तम आर्य-देश मे जन्म लेने की इच्छा रखने वाले साधको को समय मात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

आर्य-देश का प्रमाण साढ़े पच्चीस देशो का है, अर्थाते सेतुबन्ध रामेश्वर से लेकर हिमालय पर्वत के अन्तर्गत आने वाले देश आर्य देश हैं। इस सीमा से बाहर के देश अनार्य देश हैं। उन देशों के मनुष्यों का जीवन और आचरण प्रायः आर्य-धर्म के अनुकूल नही है और उनमे से बहुत से मनुष्यों का आहार-व्यवहार प्रायः पशुओं के सदृश है।

अब आर्य देश के मिलने पर भी शरीर के सम्पूर्ण अवयवों की दुर्लभता के विषय में कहते हैं—

लद्धूण वि आरियत्तणं, अहीणपंचेंदियया हु दुल्लहा।
विगलिंदियया हु दीसई, समयं गोयम! मा पमायए॥ १७॥

लब्ध्वाप्यार्यत्वं, अहीनपंचेन्द्रियता हु दुर्लभा।
विकलेन्द्रियता हु दृश्यते, समयं गौतम! मा प्रमादीः॥ १७॥

पदार्थान्वयः—लद्धूण वि—मिलने पर भी, **आरियत्तणं**—आर्य देश के, **अहीण**—सम्पूर्ण, **पंचेंदियया**—पंचेन्द्रियपन, **हु**—निश्चय ही, **दुल्लहा**—दुर्लभ है, **हु**—जिससे कि, **विगलिंदियया**—विकलेन्द्रियपन, **दीसई**—देखा जाता है, **समयं**—समय मात्र का भी, **गोयम**—हे गौतम, **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—मनुष्य-जन्म और आर्य देश के मिलने पर भी सम्पूर्ण पांचों इन्द्रियों का मिलना निश्चय ही दुर्लभ है, क्योंकि जीवों में प्रायः विकलेन्द्रियता अधिक देखी जाती है।

टीका—यदि किसी जीव को मनुष्य-जन्म के साथ आर्य देश की प्राप्ति भी हो जाए तो उसको

स्वस्थ पांचो इन्द्रियों का प्राप्त होना तो बहुत ही कठिन है, क्योंकि अधिकतर मनुष्यों में रोगादि के कारण प्रायः विकलेन्द्रियता—अंगों में विकृति अधिक देखी जाती है।

तात्पर्य यह है कि रोगादि के निमित्त से उनकी इन्द्रियां विकृत हो जाती हैं, जैसे कि अन्धा, बहरा और गूंगा आदि होना। इस कथन का अभिप्राय यह है कि शरीर के किसी भी अंग में निकृति होने से अर्थात् शरीर का कोई भी अंग बिगड़ जाने से मनुष्य पुरुषार्थहीन होकर धर्म-कार्यों के अनुष्ठान से वंचित रह जाता है। इसलिए धर्म-कार्यों के सम्पादन द्वारा मनुष्य-जन्म को सार्थक करने के लिए शरीर का नीरोग और सम्पूर्ण होना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए भगवान् कहते है कि समय मात्र के लिए भी प्रमाद का सेवन करना हानिकारक है। जिन पुण्यवान जीवों को मनुष्यत्व, आर्यत्व एवं सम्पूर्ण अंगों सहित शरीर आदि मिल गए है तो कदापि प्रमाद का सेवन नहीं करना चाहिए।

यहां पर धर्म साध्य है और उक्त सामग्री—सम्पूर्णेन्द्रियता साधन है, इसलिए जब तक यह शरीर नीरोग है और पाचो इन्द्रियां पूर्ण एवं कार्य-क्षम है, तब तक विचारशील जनों को धर्म के आचरण में सर्वथा अप्रमत्त रहना चाहिए।

अब सम्पूर्णेन्द्रियता के प्राप्त होने पर भी धर्म-श्रुति की दुर्लभता के विषय में कहते हैं—

अहीणपंचेंदियत्तं पि से लहे, उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए जणे, समयं गोयम! मा पमायए ॥ १८ ॥

अहीनपंचेन्द्रियत्वमपि स लभेत्, उत्तमधर्मश्रुतिर्हि दुर्लभा।
कुतीर्थिनिषेवको जनो, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—**अहीणपंचेंदियत्तं पि**—सम्पूर्ण पंचेन्द्रियपन भी, **से**—वह, **लहे**—प्राप्त कर ले, **उत्तम**—उत्तम, **धम्मसुई**—धर्म की श्रुति, **हु**—निश्चय ही, **दुल्लहा**—दुर्लभ है, **कुतित्थि**—कुतीर्थ के, **निसेवए**—सेवन करने वाले, **जणे**—जन बहुत है, **समयं**—समय मात्र भी, **गोयम**—हे गौतम! **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—यह जीव यदि सम्पूर्ण पञ्चेन्द्रियत्व को प्राप्त कर भी ले तो भी उत्तम धर्म की श्रुति अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि कुतीर्थ का सेवन करने वाले व्यक्ति बहुत हैं, अतः हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—कदाचित् पुण्यवशात् शरीर के अवयवो की पूर्णता भी प्राप्त हो जाए तो भी उत्तम धर्म के श्रवण का प्राप्त होना और भी कठिन है, क्योकि कुतीर्थ का सेवन करने वाले मनुष्य संसार मे अधिक उपलब्ध होते है।

जो नास्तिक मतावलम्बी है, अर्थात् जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है, अथवा विषय-वासना के पोषण-मात्र का उपदेष्टा है तथा कुदेव, कुगुरु और अधर्म के आराधन मे तल्लीन है उसे कुतीर्थी कहते हैं। अथवा आगम ग्रन्थों में वर्णन किए गए ३६३ पाषडमत कुतीर्थ कहे जाते है। उन मतों के अनुयायी पुरुष संसार में अधिक देखे जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि अधिकतर लोग यश, ख्याति और विषय-पूर्ति के लिए उनके अनुगामी बनकर पशु-वध आदि हिंसक प्रवृत्तियों में अपने आपको लगा देते हैं एवं अनाप्त पुरुष प्रणीत आगमों में दृढ़ विश्वास रखने वाले होते हैं, इसलिए भगवान् कहते है कि हे गौतम! समय मात्र के लिए भी प्रमाद का आचरण मत करो।

अभिप्राय यह है कि कुतीर्थ की सेवा से यह जीव उत्तम धर्म की प्राप्ति से वंचित रह जाता है और विषय-वासनाओं मे लिप्त होकर फिर से जन्म-मरण रूप संसार-चक्र में परिभ्रमण करने लग जाता है, क्योंकि कुतीर्थ की सेवा वीतरागदेव के सर्वोत्तम धर्म की प्राप्ति नहीं होने देती। अतः विचारशील पुरुष को धर्म के विषय में सदैव ही सावधान रहना चाहिए।

यदि उस धर्म की प्राप्ति भी कदाचित् पुण्य के संयोग से हो जाए तो भी उसमें श्रद्धा का प्राप्त होना और भी कठिन है। अब इसी विषय का वर्णन करते हैं—

लद्धूण वि उत्तमं सुइं, सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा ।
मिच्छत्तनिसेवए जणे, समयं गोयम! मा पमायए ॥ १६ ॥

लब्ध्वाप्युत्तमां श्रुतिं, श्रद्धानं पुनरपि दुर्लभम् ।
मिथ्यात्वनिषेवको जनो, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—लद्धूण वि—मिलने पर भी, **उत्तमं**—उत्तम, **सुइं**—श्रुति के, **सद्दहणा**—तत्त्व ज्ञान के प्रति श्रद्धा, **पुणरावि**—फिर भी, **दुल्लहा**—दुर्लभ है, **मिच्छत्त**—मिथ्यात्व के, **निसेवए**—सेवन करने वाले, **जणे**—जन, **समयं**—समय मात्र भी, **गोयम**—हे गौतम!, **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—उत्तम धर्म-श्रुति के मिलने पर भी तत्त्व के प्रति श्रद्धा फिर भी दुर्लभ है, क्योंकि जगत् में मिथ्यात्व-सेवी जन बहुत अधिक देखे जाते है, अतः हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—यदि पुण्य योग से किसी जीव को उत्तम धर्म के श्रवण का अवसर मिल भी जाए तो भी उसको तत्त्व-ज्ञान पर दृढ़ निश्चय होना अत्यन्त कठिन होता है, क्योंकि यह जीव अनादिकाल से अधिकतर मिथ्यात्व का सेवन ही करता चला आ रहा है और मिथ्यात्व के कारण से अधिकतर अनिष्ट कर्मो का उपार्जन करता है। इसीलिए उसकी रुचि तत्त्वश्रद्धान की ओर नही होती, अतः उत्तम धर्म-श्रुति के प्राप्त होने पर भी अधिक जीव मिथ्यात्व मे ही प्रवृत्त रहते है।

इस गाथा मे यह भाव व्यक्त किया गया है कि अनादिकाल से मिथ्यात्व-वासना के कारण बहुत से जीवों में मोहनीयकर्म का विशिष्ट उदय होने से यथार्थ वस्तु-तत्त्व पर उनका निश्चय ही नही हो पाता। वे उक्त कर्म के प्रभाव से वस्तु-तत्त्व को मिथ्या प्रलाप ही समझते है।

यद्यपि स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार वस्तु में नित्यत्व और अनित्यत्व ये दोनों ही धर्म पाए जाते है, परन्तु जो जीव निरपक्षरूप से नित्य वस्तु को अनित्य और अनित्य को नित्य मानने लगता है उसका विचार, एकान्त रूप होने से मिथ्यात्व भाव मे समाविष्ट हो जाता है और धीरे-धीरे वह इन्हीं एकान्त सापेक्ष विचारों का प्रचार करता हुआ अन्य जीवों को भी मिथ्यात्व मे प्रविष्ट कर देता है।

यदि संक्षेप से कहें तो जीव में अजीव, अजीव में जीव, धर्म में अधर्म, अधर्म में धर्म, असाधु मे साधु और साधु में असाधु बुद्धि का नाम ही मिथ्यात्व है। यही मिथ्यात्व इस जीव को संसार में परिभ्रमण करा रहा है। इसलिए विचारशील पुरुषों को धर्म-कार्यों के सम्पादन में कभी प्रमाद का सेवन नहीं करना चाहिए।

यदि किसी प्रकार धर्म में श्रद्धा हो भी जाए तो भी उसका शरीर द्वारा आचरण करना बहुत ही कठिन है, सो अब उसकी दुर्लभता का वर्णन करते हैं—

धम्मं पि हु सद्दहंतया, दुल्लहया काएण फासया ।
इह कामगुणेहिं मुच्छिया, समयं गोयम! मा पमायए ॥ २० ॥

धर्ममपि हु श्रद्दधतः, दुर्लभकाः कायेन स्पर्शकाः ।
इह कामगुणेषु मूर्च्छिताः, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः—धम्मं पि—धर्म में भी, **हु**—(वाक्यालंकारार्थ मे है), **सद्दहंतया**—श्रद्धा करता हुआ, **दुल्लहया**—दुर्लभ है, **काएण**—काया के द्वारा, **फासया**—स्पर्श करना, **इह**—इस संसार में, **कामगुणेहिं**—काम-गुणों में, **मुच्छिया**—मूर्च्छित है, **समयं**—समय मात्र का भी, **गोयम**—हे गौतम, **मा पमायए**—प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—धर्म में श्रद्धान होने पर भी धर्म का शरीर के द्वारा सेवन करना बहुत ही कठिन है, क्योंकि इस संसार में काम-गुणों में मूर्च्छित जीव अधिक देखे जाते हैं, अतः हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—भगवान् कहते है कि बहुत से जीव सर्वज्ञ-कथित धर्म में श्रद्धा रखते हुए भी उसका आचरण नही कर पाते, क्योंकि सासारिक नानाविध वासनाओं में ही जीव आसक्त रहते हैं। इसलिए वे धर्माचरण के लिए उद्यत ही नही हो पाते।

यद्यपि सूत्रकार ने यहा पर केवल काय शब्द का उल्लेख किया है, तथापि वह मन और वचन का भी उपलक्षण है। इस जगत् मे अधिक जीव प्रायः विषयो मे ही आसक्त हो रहे है, अतः उनको सत्यधर्म का निश्चय यदि हो भी जाए तो भी मन, वचन और शरीर के द्वारा उसका अनुष्ठान नहीं कर पाते। जब तक धर्म को आचरण मे न लाया जाए तब तक चारित्र-धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती और चारित्र-धर्म के बिना आत्म-शुद्धि का होना अशक्य है, इसलिए विवेकशील व्यक्तियों के लिए यही उचित है कि वे समय के सदुपयोग के लिए ही सर्वदा उद्यत रहे।

यहां पर '**कामगुणेहिं**' यह सप्तमी विभक्ति के अर्थ मे तृतीया विभक्ति का प्रयोग है, तब इसका सस्कृत प्रतिरूप '**कामगुणेषु मूर्च्छितः**' यह समझना चाहिए।

धर्म का सम्पादन, शरीर की शक्ति पर निर्भर है और शरीर की शक्ति अनित्य है, सदा स्थिर रहने वाली नहीं है। इसलिए विवेकशील जनों को सदा अप्रमत्त रहने का प्रयत्न करना चाहिए। अब इसी आशय को निम्नलिखित गाथा के द्वारा व्यक्त किया जाता है—

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते ।
से सोयबले य हायई, समयं गोयम! मा पमायए ॥ २१ ॥

परिजीर्यति ते शरीरकं, केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते ।
तच्छ्रोत्रबलं च हीयते, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः—**परिजूरइ**—सर्व प्रकार से जीर्ण हो रहा है, **ते**—तेरा, **सरीरयं**—शरीर, **य**—और, **ते**—तेरे, **केसा**—केश, **पंडुरया**—सफेद, **हवंति**—हो रहे हैं, **से**—वह, **सोयबले**—श्रोत्रेन्द्रिय का बल, **य**—(समुच्चय के अर्थ में), **हायई**—क्षीण होता जा रहा है, **गोयम**—हे गौतम !, **समयं**—समय मात्र भी, **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—हे गौतम ! तेरा शरीर जीर्ण होता चला जा रहा है, तेरे काले केश अब सफेद हो रहे हैं वह जो श्रोत्र आदि इन्द्रियों का बल है वह भी अब क्षीण हो रहा है, इसलिए समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—गौतम स्वामी को लक्ष्य में रखकर जीव मात्र के शरीर की अनित्यता का प्रतिपादन करते हुए भगवान कहते है कि "हे गौतम ! तेरा शरीर इस समय सर्व प्रकार से जीर्ण होता चला जा रहा है, कारण कि आयु की हानि प्रति समय हो रही है। अतएव जो केश कल तक काले थे वे अब श्वेत होते जा रहे है और श्रुति (श्रोत्रेन्द्रिय) का बल भी क्षीण होता जा रहा है, इसलिए बुद्धिमान जनो को प्रमाद का सेवन कदापि नही करना चाहिए।

यहा पर श्रोत्र का प्रधान रूप से उल्लेख करने का अभिप्राय यह है कि श्रोत्र के अस्तित्व पर ही अन्य सभी इन्द्रियों का अस्तित्व निर्भर है तथा इसकी प्रधानता इसलिये भी है कि इसकी उत्पत्ति अत्यन्त क्षयोपशम भाव से होती है एवं श्रुत-धर्म के श्रवण का साधन भी यही है। वृद्धावस्था के समीप आने पर इसका बल भी क्षीण हो जाता है, अर्थात् युवावस्था मे इसके ज्ञान की जैसी निर्मलता रहती है, वृद्धावस्था में इसका ज्ञान निर्मल नहीं रह जाता।

इसके अतिरिक्त गाथा मे जो 'ते' श्ब्द का प्रयोग किया गया है उसका तात्पर्य प्रत्यक्ष अनुभव से है, अर्थात् 'ते' कहने से प्रत्यक्ष अनुभव होता है। तथा केशों का उल्लेख इसलिए किया गया है कि शरीर की सुन्दरता युवावस्था में काले केशों से प्रतीत होती है। इसलिए केशो के श्वेत होने का उल्लेख करके आयु की पूर्णता की निकटता का संकेत किया गया है

श्रोत्र के बाद अब चक्षु इन्द्रिय के विषय में कहते हैं—

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते ।
से चक्खुबले य हायई, समयं गोयम! मा पमायए ॥ २२ ॥

परिजीर्यति ते शरीरकं, केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते ।
तच्चक्षुर्बलं च हीयते, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः—**परिजूरइ**—सर्व प्रकार से जीर्ण हो रहा है, **ते**—तेरा, **सरीरयं**—शरीर, **य**—और, **ते**—तेरे, **केसा**—केश, **पंडुरया**—सफेद, **हवंति**—हो रहे हैं, **से**—वह, **चक्खुबले**—चक्षुओं का बल, **हायई**—क्षीण हो रहा है, **समयं**—समय मात्र का भी, **गोयम**—हे गौतम! **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—हे गौतम! तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, तेरे केश सफेद हो गए हैं और यौवनावस्था में जो आंखों का बल था वह भी अब क्षीण होता जा रहा है, अतः समय मात्र का भी तू प्रमाद मत कर।

टीका—श्रोत्र के बाद अब चक्षुर्बल की क्षीणता का वर्णन किया जाता है, जैसे श्रोत्र का बल कम होने से धर्म का श्रवण नहीं हो सकता, इसी प्रकार नेत्र का बल क्षीण होने पर भी धर्म-कार्य का सम्पादन नहीं हो पाता। नेत्रों की ज्योति के ठीक रहने पर ही मनुष्य अपनी लौकिक और पारलौकिक क्रियाओं को यथावत चला सकता है, अन्यथा नही। इसलिए जब तक शरीर स्वस्थ और चक्षु आदि इन्द्रियों का बल क्षीण नहीं होता, तब तक धर्म-कार्यों को बड़ी सावधानी से करना चाहिए। अतः विचारशील व्यक्तियों के लिए समय मात्र के लिए प्रमाद का सेवन करना उचित नही होता है।

यद्यपि ज्ञान सदा प्रकाशस्वरूप है, तथापि मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणीय आवरणों से आवृत्त होने पर उसकी प्रकाशक शक्ति भी मंद हो जाती है।

अब घ्राणेन्द्रिय के विषय में कहते हैं—

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते ।
से घाणबले य हायई, समयं गोयम! मा पमायए ॥ २३ ॥

परिजीर्यति ते शरीरकं, केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते ।
तद्घ्राण-बलं च हीयते, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः—**परिजूरइ**—सर्व प्रकार से जीर्ण हो रहा है, **ते**—तेरा, **सरीरयं**—शरीर, **केसा**—केश, **पंडुरया**—सफेद, **हवंति**—हो रहे है, **य**—और, **ते**—तेरा, **से**—वह, **घाण-बले**—घ्राणबल, **हायई**—हीन हो रहा है, **गोयम**—हे गौतम! **समयं**—समय मात्र का भी, **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—हे गौतम! तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और घ्राणेन्द्रिय का बल भी क्षीण होता चला जा रहा है, अतः समय मात्र का भी तू प्रमाद मत कर।

टीका—यद्यपि व्यवहार-पक्ष में घ्राणेन्द्रिय की निर्बलता से कोई विशेष हानि उपलब्ध नहीं होती, परन्तु वास्तविक रूप में घ्राणेन्द्रिय की हानि भी ज्ञान की पूर्णता न होने देने मे सहायक है, क्योंकि सुगन्ध और दुर्गन्ध की पहचान में उसका ही विशेष उपयोग होता है। इसलिए घ्राणेन्द्रिय की निर्बलता से इन्द्रिय-जन्य ज्ञान में न्यूनता अवश्य रहती है। यदि ऐसा न हो तो एकेन्द्रिय जीव की शीघ्र ही मुक्ति होनी चाहिए।

तात्पर्य यह है कि पांचों इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है वही पूर्ण ज्ञान कहलाता है। उसमें किसी एक इन्द्रिय की न्यूनता होने से ज्ञान में कमी आ जाती है। फिर जिस समय केवलज्ञान होने पर राग-द्वेष का भली प्रकार दमन किया जाए, वही समय मोक्ष को देने वाला है।

अब जिह्वा के विषय में कहते हैं—

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते ।
से जिब्भबले य हायई, समयं गोयम! मा पमायए ॥ २४ ॥

परिजीर्यति ते शरीरकं, केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते ।
तज्जिह्वाबलं च हीयते, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः—परिजूरइ—सब प्रकार से जीर्ण हो रहा है, **ते**—तेरा, **सरीरयं**—शरीर, **केसा**—केश, **ते**—तेरे, **पंडुरया**—सफेद, **हवंति**—हो रहे है, **य**—और, **से**—वह, **जिब्भबले**—जिह्वा का बल, **हायई**—क्षीण हो रहा है, **समयं**—समय मात्र का भी, **गोयम**—हे गौतम! **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—हे गौतम! तेरा शरीर सर्व प्रकार से जीर्ण हो रहा है और तेरे केश श्वेत हो गए हैं एवं जिह्वा का बल भी क्षीण होता जा रहा है, इसलिए तू समय-मात्र का भी प्रमाद मत कर।

टीका—जिह्वेन्द्रिय के बलयुक्त होने पर ही स्वाध्याय आदि धर्म-कार्य भली प्रकार से हो सकते है। यदि रसनेन्द्रिय का बल क्षीण हो जाए तो शास्त्र-स्वाध्याय मे बहुत कमी हो जाती है। शब्दो का उच्चारण भी भली प्रकार से नहीं हो सकता। अतः जिन जीवो को जिह्वेन्द्रिय का बल मिला है उनको उचित है कि वे उसे अपने वश में रखने का प्रयत्न करें और अपने जीवन के अमूल्य समय को प्रमाद मे न खोकर केवल स्वाध्याय मे लगाएं।

इसके अतिरिक्त जो स्वल्प भाषण करते है, उनकी जिह्वा में एक प्रकार की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। उनके मुख से यदि कोई स्वभावत भी वाक्य निकल जाए तो वह भी मिथ्या नहीं होता तथा रोग और विवाद, जिह्वा को वश मे न रखने से ही होते है। इसलिए जिह्वेन्द्रिय को वश में करने के लिए समय का किंचित् मात्र भी दुरुपयोग न करना चाहिए तथा भोजनादि के अवसर में तो उसे विशेष रूप से सयम में रखने का यत्न करना चाहिए।

अब स्पर्शनेन्द्रिय के विषय में कहते हैं—

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते ।
से फासबले य हायई, समयं गोयम! मा पमायए ॥ २५ ॥

परिजीर्यति ते शरीरकं, केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते ।
तत् स्पर्शबलं च हीयते, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः—**परिजूरइ**—सर्वथा जीर्ण हो रहा है, **ते**—तेरा, **सरीरयं**—शरीर, **केसा**—केश, **पंडुरया**—श्वेत, **हवंति**—हो गए है, **य**—और, **से**—वह, **ते**—तेरा, **फासबले**—स्पर्शनेन्द्रिय का बल, **हायई**—क्षीण हो रहा है, **समयं**—समय मात्र का भी, **गोयम**—हे गौतम!, **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—हे गौतम! तेरा शरीर सर्व प्रकार से जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो गए हैं और स्पर्शनेन्द्रिय अर्थात् त्वचा का बल भी क्षीण हो रहा है, अतः तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

टीका—इस गाथा में इस भाव को व्यक्त किया गया है कि शरीर का बल जैसा युवावस्था में होता है वैसा वृद्धावस्था का आगमन होने पर नहीं रह जाता तथा रोगादि के होने पर भी वह बल क्षीण हो जाता है, इसलिए जब तक यह शरीर बलवान् है, तब तक ही धर्म का सम्यक् रूप से आराधन किया जा सकता है, परन्तु इसके निर्बल अथवा पराधीन होने पर कोई भी लौकिक अथवा पारलौकिक कार्य नही हो सकता।

फिर यह शरीर क्षण-भंगुर है, इसके नाश होने मे कोई देरी नहीं लगती। इसलिए जहां तक हो सके इस शरीर के द्वारा परोपकार आदि धर्म-कार्यों में कदापि प्रमाद नहीं करना चाहिए।

उक्त प्रकार से इन्द्रियों की निर्बलता का वर्णन करने के बाद अब सर्व शरीर की निर्बलता के विषय का उल्लेख करते हैं—

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते ।
से सव्वबले य हायई, समयं गोयम! मा पमायए ॥ २६ ॥

परिजीर्यति ते शरीरकं, केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते ।
तत् सर्वबलं च हीयते, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—**परिजूरइ**—सब प्रकार से जीर्ण हो रहा है, **ते**—तेरा, **सरीरयं**—शरीर, **य**—और, **ते**—तेरे, **केसा**—केश, **पंडुरया**—सफेद, **हवंति**—हो गए है, **से**—वह, **सव्व**—सब, **बले**—बल, **हायई**—हीन हो गया है, **गोयम**—हे गौतम! **समयं**—समय मात्र का भी, **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—हे गौतम! तेरा शरीर सर्व प्रकार से जीर्ण हो रहा है, तेरे केश सफेद हो गए हैं और सारे शरीर का बल क्षीण होता जा रहा है, इसलिए तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

टीका—वृद्धावस्था में शरीर के सारे ही अवयव निर्बल हो जाते है। जैसे उष्णकाल मे गर्मी के अधिकता से शरीर के रोमकूपों में से स्वेद-पसीना निकलने लग जाता है, उसी प्रकार वृद्धा अवस्था के आगमन पर शरीर की समस्त शक्तिया शरीर से निकलने लग जाती हैं—समाप्त होने लगती हैं, इसलिए जब तक वृद्धावस्था का आगमन नहीं होता तब तक अप्रमत्त भाव से धर्म का आराधन करना चाहिए, जिससे कि पुण्य-संयोग से प्राप्त हुआ यह मनुष्य-जन्म सार्थक हो सके। भगवान् का यह

उपदेश गौतम को लक्ष्य में रखकर प्राणिमात्र के लिए है, यह बात ऊपर अनेक बार दोहराई जा चुकी है।

उक्त गाथाओं में जरा-अवस्था के द्वारा शरीर की निर्बलता का वर्णन किया गया है, अब निम्न गाथा में रोगों के द्वारा शरीर की निर्बलता का वर्णन करते हैं—

अरई गंडं विसूइया, आयंका विविहा फुसंति ते ।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं, समयं गोयम! मा पमायए ॥ २७ ॥

अरतिर्गण्डं विषूचिका, आतंका विविधाः स्पृशन्ति ते ।
विघटते विध्वंसति ते शरीरकं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ २७ ॥

पदार्थान्वयः—अरई—चित्त का उद्वेग, **गंडं**—स्फोटक—फोड़े आदि, **विसूइया**—विषूचिका, **विविहा**—नाना प्रकार के, **आयंका**—रोग, **ते**—तेरे शरीर को, **फुसंति**—स्पर्श कर रहे हैं, **विहडइ**—तेरा शरीर गिर रहा है, **विद्धंसइ**—नष्ट हो रहा है, **ते**—तेरा, **सरीरयं**—शरीर, **गोयम**—हे गौतम! **समयं**—समय मात्र का भी, **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—चिन्ता, विस्फोटक—फोड़े आदि और विषूचिका अर्थात् हैजा आदि नाना विध रोग तेरे शरीर को स्पर्श कर रहे हैं, जिससे तेरा शरीर गिरता जा रहा है और नष्ट हो रहा है, इसलिए हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—पूर्व गाथाओं में वृद्धावस्था के द्वारा शरीर की निर्बलता का वर्णन किया जा रहा था, अब रोगादि के द्वारा शरीर की जो दशा हो जाती है उसका दिग्दर्शन प्रस्तुत गाथा में कराया गया है। भगवान् कहते हैं कि हे गौतम! तेरे शरीर को नाना प्रकार के रोग घेरे हुए हैं, जैसे कि चौरासी प्रकार के वायु के प्रकोपों से चित्त का उद्वेग, रुधिर-प्रकोप से स्फोटक अर्थात् फोड़े-फुन्सिया आदि, अजीर्ण की वृद्धि से विषूचिका (हैजा)—जो वमन और विरेचन को साथ लिए हुए होता है और सद्यःप्राणहर शूलादिरोग आदि रोगों के आक्रमण से तेरा शरीर अत्यन्त निर्बल हो रहा है और जीवनी-शक्ति से भी रहित होता जा रहा है, इसलिए जब तक किसी भयकर रोग का आक्रमण नही होता, उससे पूर्व ही तुझे पूरी सावधानी से धर्म-कार्यो मे लगे रहना चाहिए, क्योकि रोगो के आक्रमण से यह शरीर किसी भी कार्य के सम्पादन मे समर्थ नही रह जाता।

यहां पर इस बात की अनेक बार चर्चा की गई है कि गौतम के माध्यम से भगवान् ने सभी प्राणियों को शारीरिक दुर्बलता आदि का उपदेश दिया है, क्योकि पूज्य गौतम मुनि में उक्त इन्द्रिय वैकल्य और जरा-रोगादि का होना सम्भव ही नहीं है। **(तथा च वृत्तिकारः 'केशपाण्डुरत्वादिकं यद्यपि गौतमे न सम्भवति, तथापि तन्निश्रय्या शेषशिष्यप्रतिबोधनार्थत्वादुपदिष्टम्' इति।')**

भगवान् ने इसी बात का पुनः-पुनः उपदेश दिया है कि हे भव्य जीवो! तुम्हें इस समय किसी प्रकार से भी प्रमाद करना योग्य नही है, क्योकि जो दुर्लभ मनुष्य-जन्म था वह तुमको प्राप्त हो गया है,

अब तो केवल चारित्र-धर्म की ही तुमको आवश्यकता है, इसलिए किसी समय भी प्रमाद का सेवन मत करो।

प्रमाद के परित्याग का जो प्रकार है, अब उसके विषय में कहते हैं—

वोच्छिंद सिणेहमप्पणो, कुमुयं सारइयं व पाणियं ।
से सव्वसिणेहवज्जिए, समयं गोयम! मा पमायए ॥ २८ ॥

व्युच्छिन्धि स्नेहमात्मनः, कुमुदं शारदमिव पानीयम् ।
तत्सर्व-स्नेह-वर्जितः, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ २८ ॥

पदार्थान्वयः—सिणेहं—स्नेह-राग, **अप्पणो**—अपना, **वोच्छिंद**—दूर कर, **कुमुयं सारइयं व पाणियं**—चन्द्र विकासी कमल अर्थात् कुमुद का फूल (शरद् ऋतु के) जल को छोड़कर जैसे (अलग हो जाता है), **से**—अनंतर, **सव्व**—सब, **सिणेहवज्जिए**—स्नेह से रहित होकर, **समयं**—समय मात्र का भी, **गोयम**—हे गौतम! **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—हे गौतम! जैसे कुमुद का फूल शरद् ऋतु के पानी को छोड़कर अलग हो जाता है उसी प्रकार तू भी अपना स्नेह दूर कर तथा स्नेह से सर्वथा अलग हो जा, इस कार्य में समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

टीका—गौतम स्वामी से भगवान् कहते हैं कि हे गौतम! तुम्हारा मेरे ऊपर जो स्नेह-राग है उसको दूर कर, अर्थात् जैसे शरद्ऋतु मे उत्पन्न होने वाला चन्द्रविकासी कमल, अर्थात् कुमुद का फूल कीचड़ से उत्पन्न होकर और जल के द्वारा वृद्धि पाकर भी उससे ही पृथक् रहता है, उसी प्रकार तू भी मेरे ऊपर रहे हुए स्नेह को दूर करके कमल की भांति पृथक् रहने का यत्न कर। इस प्रकार स्नेह को दूर करके अर्थात् सर्वथा राग-रहित होकर तू केवलज्ञान को प्राप्त कर लेगा। इसलिए प्रस्तुत कार्य के सम्पादन में तू समय मात्र भी प्रमाद का सेवन मत कर।

उक्त गाथा में शरद् ऋतु के कमल की जो उपमा दी गई है उसका आशय यह है कि शरद् ऋतु का जल अत्यन्त शीतल, निर्मल और मनोहर होता है, परन्तु कमल उससे भी पृथक् रहता है, अर्थात् उसमे लिप्त नही होता। उसी प्रकार तुम्हारा स्नेह भी अत्यन्त निर्मल होने से धर्म-राग है, परन्तु उस प्रशस्त राग का भी तेरे को परित्याग कर देना चाहिए, क्योंकि प्रशस्त राग भी पुण्य-बन्ध का कारण होने से मुमुक्षु पुरुष के लिए त्याग करने योग्य है। इसलिए सर्व प्रकार के स्नेह से रहित होने के लिए तेरे को सदैव अप्रमत्त अर्थात् प्रमाद-रहित होना चाहिए।

इस कथन का सारांश यह है कि धर्मराग व धर्म-सम्बन्ध होने पर भी स्नेह-राग न करना चाहिए, क्योंकि यह स्नेह-राग पुण्यबन्ध का कारण होने से मोक्ष का प्रतिबन्धक होता है। तात्पर्य यह है कि धर्म-सम्बन्ध भले ही हो, परन्तु स्नेहभाव नहीं होना चाहिए। इस कथन से भगवान् महावीर स्वामी की वीतरागता भी स्वतः ही प्रत्यक्ष हो जाती है।

अब त्याग-वृत्ति को दृढ़ करने के लिए पुनः शिक्षा देते हैं—

चिच्चा णं धणं च भारियं पव्वइओ हि सि अणगारियं ।

मा वंतं पुणो वि आविए, समयं गोयम! मा पमायए ॥ २६ ॥

त्यक्त्वा खलु धनं च भार्यां, प्रव्रजितो ह्यस्यनगारिताम् ।

मा वान्तं पुनरप्यापिव, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—**चिच्चा**—छोड़कर, **धणं**—धन, **च**—और, **भारियं**—भार्या को, **हि**—जिससे **अणगारियं**—अनगारपन को, **पव्वइओ हि सि**—तू प्रव्रजित हो गया है, **वंतं**—वमन को, **पुणो वि**—फिर भी तू, **मा आविए**—मत पी, **समयं**—समय मात्र का भी, **गोयम**—हे गौतम! **मा पमायए**—प्रमाद मत कर, **णं**—(वाक्यालंकार में)।

मूलार्थ—हे गौतम! तू धन और भार्या आदि को छोड़कर अनगार भाव को प्राप्त हुआ है, अर्थात् दीक्षित हो गया है। अब इस वमन किए हुए को फिर तू मत ग्रहण कर, अतः इस कार्य में समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे इस बात की शिक्षा दी गई है कि धन, धान्य और स्त्री-पुत्र आदि को त्याग कर प्रव्रज्या अर्थात् सन्यास-ग्रहण करने वाले मुमुक्षु जनो को उचित है कि इन त्यागे हुए पदार्थों को फिर कभी भी स्वीकार न करे। जैसे वमन किए हुए पदार्थ को फिर से कोई भी मनुष्य ग्रहण नहीं करता, उसी प्रकार इन धन-कलत्रादि पदार्थो को वमन के तुल्य समझकर इनका सदा त्याग ही रखना चाहिए, अर्थात् इनको फिर से ग्रहण करने का कभी विचार भी न करना चाहिए।

तथा '**पव्वइओ हि सि**'—'**प्रव्रजितो ह्यसि**'—वाक्य मे '**असि**' इस मध्यम-पुरुष की एक वचन की क्रिया में प्राकृत के नियम से 'अकार' का लोप हो गया है और '**हि**' यह अव्यय '**यस्मात्**' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है तथा धन शब्द से चतुष्पदादि सर्व प्रकार के धन का ग्रहण समझना चाहिए।

अवउज्झिय मित्तबन्धवं, विउलं चेव धणोहसंचयं ।

मा तं बिइयं गवेसए, समयं गोयम! मा पमायए ॥ ३० ॥

अपोह्य मित्र-बान्धवं, विपुलं चैव धनौघसंचयम् ।

मा तद् द्वितीयं गवेषय, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ ३० ॥

पदार्थान्वयः—**अवउज्झिय**—त्यागकर, **मित्त-बन्धवं**—मित्र और बाधवो को, **विउलं**—विपुल, **चेव**—(पादपूर्णार्थ में), **धणोह**—धन-राशि के, **संचयं**—संचय की, **बिइयं**—दूसरी बार, **तं**—मित्रादि को, **मा**—मत, **गवेसए**—गवेषणा कर, **समयं**—समय मात्र भी, **गोयम**—हे गौतम! **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—हे गौतम! मित्र-बन्धु और संचित किए हुए धन-समूह का परित्याग करके तुम्हें अब

दोबारा उनके संग अथवा प्राप्ति की गवेषणा नहीं करनी चाहिए, अतएव इसके लिए तुम लेशमात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—इस गाथा में त्यागे हुए मित्र, बन्धु और धन-समूह को पुनः प्राप्त करने के प्रयत्न का निषेध किया गया है, अर्थात् जब हेय समझकर एक बार इनका परित्याग कर दिया तो फिर दूसरी बार उनको प्राप्त करने की जघन्य लालसा करना किसी प्रकार से भी उचित नहीं है। कारण कि इस प्रकार की जघन्य लालसा आत्मा को सर्वथा अधःपतन की ओर ले जाने वाली होती है, अतः इस त्यागवृत्ति को दृढ़ रखने के लिए मुमुक्षु जनों को सदा ही अप्रमत्त रहना चाहिए।

इस गाथा में समूहवाची **'ओह-औघ'** शब्द का धन के साथ इसलिए प्रयोग किया गया है कि संसार मे रहने वाला प्रत्येक प्राणी धन का अधिक से अधिक सग्रह करने का इच्छुक रहता है। बान्धव शब्द समस्त स्त्री आदि पारिवारिक जनों का बोधक है।

अब शास्त्रकार दर्शन-शुद्धि के विषय में कहते हैं—

न हु जिणे अज्ज दिस्सई, बहुमए दिस्सइ मग्गदेसिए।
संपइ नेयाउए पहे, समयं गोयम! मा पमायए ॥ ३१ ॥

न हु जिनोऽद्य दृश्यते, बहुमतो दृश्यते मार्गदिशितः।
सम्प्रति नैय्यायिके पथि, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ ३१ ॥

पदार्थान्वयः—**न**—नही, **हु**—निश्चय ही, **अज्ज**—आज, **जिणे**—जिन भगवान्, **दिस्सई**—देखा जाता है, **बहुमए**—बहुत से मत, **दिस्सइ**—देखे जाते है, **मग्गदेसिए**—मार्ग-दर्शक, **संपइ**—वर्तमान काल मे, **नेयाउए**—न्याययुक्त, **पहे**—मार्ग में, **समयं**—समय मात्र भी, **गोयम**—हे गौतम! **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—(आगामी काल में निश्चय ही भव्य जीव इस प्रकार कहेंगे कि) निश्चय ही आजकल जिन भगवान् दृष्टिगोचर नहीं होते, किन्तु वर्तमान में न्याय-युक्त मार्ग में जिन भगवान् का बहुनयात्मक मत देखा जाता है, अतः हे गौतम! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

टीका—भगवान् कहते है कि हे गौतम! मेरे पीछे भव्य आत्मा अनुमान प्रमाण के द्वारा धर्म मे दृढ़ धारणा करते हुए इस प्रकार के निश्चय पर आएगे कि वास्तव में आजकल तीर्थंकर भगवान् देखे तो नही जाते, परन्तु मुक्ति-मार्ग के दिखाने वाला उनका प्रतिपादन किया हुआ बहु-नयात्मक सिद्धान्त अवश्य दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि इस प्रकार का न्याय-युक्त मार्ग वर्तमान काल में अन्यत्र कहीं पर नहीं है तथा उक्तमार्ग सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप होने के अतिरिक्त नैगम, संग्रह, व्यवहार ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत इन सात नयो से युक्त और स्याद्वाद रूप है। इसलिए यह मोक्ष का सरल और स्पष्ट मार्ग है। इस प्रकार के विचार से भव्य जीव साधु-धर्म व गृहस्थ-धर्म में स्थिर रहेंगे।

यहां पर इतना और स्मरण रखना चाहिए कि जैन-दर्शन में अनेकान्तिक दृष्टि को सम्यग्दर्शन कहा गया है, अर्थात् अनेक विध सद्दृष्टियों का सापेक्ष समुच्चय ही पदार्थ के यथार्थ निश्चय की कुंजी है। इसके विपरीत निरपेक्ष एकान्त दृष्टि को पदार्थ के निर्णयात्मक ज्ञान में अपूर्ण एवं दोषपूर्ण माना गया है। इस विषय का विशद विवेचन अन्यत्र किया जाएगा। इसलिए इस समय अर्थात् मेरे विद्यमान होते हुए तू उक्त न्यायमार्ग के अनुसरण मे किसी प्रकार का भी प्रमाद मत कर।

भगवान् कहते है कि गौतम! इस समय तक यद्यपि तुझे केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, तथापि मेरी विद्यमानता से तेरे सारे ही सन्देह दूर हो सकते है और मुक्ति का लाभ भी तुझे अवश्य मिल सकता है।

अथवा यू समझिए कि हे गौतम! इस समय तू केवली नहीं है, इसलिए मेरे कथन किए हुए इस न्याय-युक्ति बहुनयात्मक मार्ग पर चलने में प्रमाद मत कर तथा मेरे पर तेरा जो अधिक स्नेह है, वह मोक्ष का प्रतिबन्धक है, इसीलिए तेरे को अभी तक केवलज्ञान नही हुआ है। मेरे बाद इस स्नेह-बन्धन के टूटते ही तेरे को अवश्य केवलज्ञान प्राप्त होगा। मेरे इस कथन पर पूर्ण विश्वास करता हुआ तू प्रमाद से सर्वथा दूर रहने का यत्न कर।

अब इसी सम्बन्ध में कुछ और जानने योग्य विषय का वर्णन करते हैं, यथा—

अवसोहिय कंटगापहं, ओइण्णोऽसि पहं महालयं ।
गच्छसि मग्गं विसोहिया, समयं गोयम! मा पमायए ॥ ३२ ॥

अवशोध्य कंटकपथं, अवतीर्णोऽसि पन्थानं महालयम् ।
गच्छसि मार्गं विशोध्य, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ ३२ ॥

पदार्थान्वयः—**अवसोहिय**—दूर करके, **कंटगापहं**—कण्टकयुक्त मार्ग को, **ओइण्णोऽसि**—प्रविष्ट हो गया है तू, **महालयं**—बड़े विस्तार वाले, **पहं**—भाव-मार्ग में, **मग्गं**—मार्ग को, **विसोहिया**—शुद्ध करके, **गच्छसि**—तू जाता है, **समयं**—समय मात्र का भी, **गोयम**—हे गौतम! **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—हे गौतम! कण्टक-युक्त मार्ग को साफ करके अब तू मुक्ति के राज-मार्ग में प्रविष्ट हो गया है, इतना ही नहीं किन्तु निर्णय-पूर्वक उस मार्ग में तू जा रहा है। अतः समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—इस गाथा में भगवान् ने कण्टक-युक्त मार्ग का परित्याग करके विशुद्ध राजमार्ग में चलने का उपदेश दिया है। मार्ग भी द्रव्य-भाव-भेद से दो प्रकार का होता है—एक द्रव्य-मार्ग, दूसरा भाव-मार्ग। द्रव्य-मार्ग तो कंटकादि से आकीर्ण मार्ग प्रसिद्ध ही है और भाव-मार्ग चार्वाकादिक निर्दिष्ट सिद्धान्तरूप कुमार्ग है। इनमें प्रथम पर चलने से तो शारीरिक व्यथा होती है और दूसरा मार्ग भवान्तर मे दुखप्रद है। अतः उक्त दोनो कुमार्गों का परित्याग करके सम्यग्-दर्शनादि रूप निष्कटक और सरल

राजमार्ग पर ही चलना उचित है। यह मार्ग मोक्ष का सीधा और निरुपद्रव मार्ग है। इस पर चलता हुआ प्राणी बिना किसी विघ्न-बाधा के सीधा मोक्ष मन्दिर में पहुच जाता है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि हे गौतम! तुम कण्टकाकीर्ण मार्ग का परित्याग करके उत्तम राजमार्ग का अनुसरण करते हुए अब निर्णयपूर्वक विशुद्ध सन्मार्ग पर चल रहे हो, अतः इस मार्ग पर चलते हुए तुम्हें क्षण भर का भी प्रमाद न करना चाहिए।

इसका अभिप्राय यह है कि चार्वाकादि का कथन किया हुआ मार्ग मिथ्या होने से राग-द्वेषादि भाव-कंटकों से व्याप्त है। उस पर चलने से भव्य जीवों का कल्याण नहीं हो सकता और जो सम्यग्-दर्शनादि का सन्मार्ग है वह निष्कण्टक और सर्वथा सरल है, अतः उस पर चलने से एक न एक दिन अभीष्ट स्थान की प्राप्ति अवश्यभावी है।

स्वीकार किए हुए संयम-मार्ग का परित्याग केवल पश्चात्ताप का कारण होता है, अब इस विषय का वर्णन करते हैं—

अबले जह भारवाहए, मा मग्गे विसमेऽवगाहिया ।
पच्छा पच्छाणुतावए, समयं गोयम! मा पमायए ॥ ३३ ॥

अबलो यथा भारवाहकः, मा मार्गं विषममवगाह्य ।
पश्चात्पश्चादनुतापकः, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ ३३ ॥

पदार्थान्वयः—अबले—निर्बल, **जह**—जैसे, **भारवाहए**—भारवाहक, भार उठाने वाला, **मग्गे**—मार्ग, **विसमेऽवगाहिया**—विषम ग्रहण करके फिर भार को फैककर, **पच्छा**—पीछे, **पच्छाणुतावए**—पश्चात्ताप करने वाला होता है, **मा**—इस प्रकार तू मत हो, **समयं**—समय मात्र का भी, **गोयम**—हे गौतम! **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—जैसे विषम मार्ग में गया हुआ निर्बल भार-वाहक भार को फैंककर पीछे से पश्चात्ताप करने लगता है, उसी प्रकार हे गौतम! तू मत हो, अतः इस विषय में समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—इस गाथा मे भार-वाहक के दृष्टान्त से एक बड़े ही उत्तम और शिक्षा-प्रद विषय का दिग्दर्शन कराया गया है। कोई निर्बल पुरुष किसी स्थान से मन-इच्छित सुवर्णादि पदार्थों के भार को लेकर अपने नगर की ओर चल पड़ा, परन्तु उसने जिस मार्ग का अनुसरण किया, वह मार्ग कण्टको और कंकरों आदि से युक्त था। मार्ग की विकटता के कारण सिर पर उठाए हुए भार से श्रान्त होकर वह मन मे विचार करने लगा कि मै इस भार को यहां पर फैक दू तो ठीक होगा। यह विचार कर उसने उस भार को वही पर गिरा दिया और खाली हाथ अपने घर पहुच गया।

पीछे जब उसको धन की आवश्यकता पड़ी तो उसने मार्ग मे फैके हुए उन बहुमूल्य पदार्थों का स्मरण करके बहुत पश्चात्ताप किया और अपनी मूर्खता के लिए अपने आपको बार-बार धिक्कारने

लगा। इसी प्रकार जिन पुरुषों ने युवावस्था में संयमरूप भार को उठाया हुआ है और वृद्धावस्था के आने पर जब शरीर निर्बल हो जाता है तो किसी परीषह-कष्ट के सम्मुख आने से वे संयम के भार को छोड़ बैठते हैं और उस निर्धन पुरुष के समान वे भी पश्चात्ताप करने लगते है। भगवान् कहते हैं कि हे गौतम! तू इस प्रकार का आचरण मत कर बैठना।

गौतम स्वामी चरमशरीरी—तद्भव-मोक्षगामी भव्यात्मा है, अत. वे ऐसे कदापि नहीं हो सकते, किन्तु अन्य शिष्यों को प्रतिबोध देने के लिए ही ऐसा कहा गया है और उसके साथ इस बात की भी शिक्षा दी गई है कि यदि किसी कारण से संयम-वृत्ति में अरुचि उत्पन्न हो जाए तो भी संयम के त्याग करने के भाव तो कदापि मन में न लाना चाहिए, अपितु सम्मुख आए हुए कष्टों को धीरतापूर्वक सहन करना चाहिए और मन मे यह विचार करना चाहिए कि यह जो कष्ट मुझे इस समय प्राप्त हुआ है, वह सदा या चिरकाल तक रहने वाला नही है तथा यह पूर्वकृत अशुभ कर्म का विपाक है, इसलिए इसको धैर्य-पूर्वक सहन करना ही मेरा परम धर्म है। गजसुकुमार आदि को इन्हीं उच्च भावो ने केवलज्ञान से विभूषित किया था।

भगवान् के इस प्रकार के उपदेश को सुनकर गौतम स्वामी के चित्त में संशय उत्पन्न हुआ कि—'मैंने संसार-समुद्र को पार कर भी लिया है या कि नही?' गौतम के इस मानसिक सन्देह को जानकर उसे दूर करने के लिए भगवान् कहते हैं—

तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ?।
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम! मा पमायए ॥ ३४ ॥

तीर्णोऽसि खलु अर्णवं महान्तं, किं पुनस्तिष्ठसि तीरमागतः?।
अभित्वरस्व पारं गन्तुं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ ३४ ॥

पदार्थान्वयः—तिण्णो सि—तू तर गया है, **हु**—निश्चय ही, **अण्णवं**—संसार-समुद्र को—जो, **महं**—बड़ा है! **किं पुण**—फिर क्यो तू, **चिट्ठसि**—खड़ा है, **तीरं**—तीर के पास, **आगओ**—आया हुआ, **पार**—पार, **गमित्तए**—जाने को, **अभितुर**—शीघ्रता कर, **समय**—समय मात्र का भी, **गोयम**—हे गौतम! **मा पमायए**—प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—हे गौतम ! तू अति विस्तृत संसार-समुद्र को तैर गया है, फिर तू तीर को प्राप्त होकर भी अब क्यों खड़ा है ? पार जाने के लिए शीघ्रता कर और इस विषय में समय मात्र का भी प्रमाद मत करो ।

टीका—भगवान् कहते है कि हे गौतम ! यह मनुष्यादि चारो गतिवाला अति विस्तृत जो संसारसमुद्र है, इसको तू तैर गया है, तू अब इसके किनारे को प्राप्त होकर क्यो खड़ा है ? तात्पर्य यह है कि शुभाशुभ कर्म जन्म-मरण रूप संसार-समुद्र को तैर कर अब तू उदास क्यो हो रहा है ? अब तो इसके सर्वथा पार जाने के लिए शीघ्रता कर, अर्थात् ससार-समुद्र का तीर जो मोक्ष है उसको प्राप्त करने के लिए अब तू शीघ्र तैयारी कर। एतदर्थ किंचिन्मात्र भी प्रमाद का सेवन मत करो।

इस गाथा में भगवान ने गौतम स्वामी के संशय को दूर करने का प्रयत्न किया है, क्योंकि गौतम स्वामी चरमशरीरी हैं, इसलिए संसार समुद्र को पार करके अब उसके किनारे पर आ गए हैं, इसके बाद वे केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में जाएगे। अन्य भव्य झीवों को भी उचित है कि वे इस दुर्लभ मनुष्य-जन्म को प्राप्त करके अप्रमत्त भाव में रहकर इस दुस्तर संसार समुद्र को पार करने का उद्योग करें। यही उक्त गाथा का फलितार्थ है।

अप्रमाद का जो फल है अब उसके विषय में कहते हैं—

अकलेवरसेणि-मूसिया, सिद्धिं गोयम! लोयं गच्छसि ।
खेमं च सिवं अणुत्तरं, समयं गोयम! मा पमायए ॥ ३५ ॥

अकलेवरश्रेणिमुच्छ्रित्य, सिद्धिं गौतम! लोकं गच्छसि ।
क्षेमं च शिवमनुत्तरं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ ३५ ॥

पदार्थान्वयः—**अकलेवर**—शरीर-रहित, **सेणिं**—श्रेणि को, **ऊसिया**—ऊंची करके, **गोयम**—हे गौतम! **सिद्धिलोयं**—सिद्धलोक को तू, **गच्छसि**—जाएगा, **खेमं**—क्षेम, **च**—और, **सिवं**—कल्याण रूप, **अणुत्तरं**—सर्वोत्कृष्ट, **समयं**—समय मात्र का भी, **गोयम**—हे गौतम !, **मा पमायए**—प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—हे गौतम! शरीर से रहित जो सिद्ध-श्रेणी है तू क्षपक-श्रेणी को ऊंची करके उपद्रव रहित, सर्वोत्कृष्ट कल्याण-रूप सिद्धलोक को प्राप्त होगा, अतः हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

टीका—भगवान कहते है कि हे गौतम! जैसे सिद्धो की श्रेणी है, उसके समान पवित्र क्षपक-श्रेणी को ऊची करके तू सिद्धलोक मे जाएगा। वह सिद्धलोक पर-चक्रादि उपद्रवों से रहित और सर्व दुरितो के उपशम के कारण कल्याण-स्वरूप, अतएव सर्वोत्कृष्ट है, अतः उसमे जाने के लिए तू किंचित् मात्र भी प्रमाद मत कर।

इस गाथा मे इस भाव को व्यक्त किया गया है कि जैसे शरीर-रहित सिद्धो की श्रेणी है, उसी के समान जब यह आत्मा क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ होता है, तब उसके भाव-सयम मे विशिष्ट शुद्धि होती है। जैसे सिद्धो की श्रेणी ऊची है, उसी प्रकार क्षपक-श्रेणी को ऊची करके यह जीव सिद्धलोक को चला जाता है तथा वह सिद्धलोक स्वचक्र और परचक्रादि भयों से रहित (सर्व-पापो का उपशम होने के कारण) परम कल्याणरूप और सर्वोत्कृष्ट है।

यहां पर **'व्यत्ययश्च'** इस सूत्र के द्वारा 'गच्छसि' यह वर्तमान कालिक क्रिया **'गमिष्यसि'** रूप मे भविष्य के अर्थ में प्रयुक्त हुई है।

अब उक्त अध्याय का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार सबके हित के लिए कुछ विशेष जानने योग्य बातें कहते हैं—

बुद्धे परिनिव्वुडे चरे, गामगए नगरे व संजए ।
सन्तीमग्गं च बूहए, समयं गोयम! मा पमायए ॥ ३६ ॥

बुद्धः परिनिर्वृतश्चरेः, ग्रामगतो नगरे वा संयतः ।
शान्तिमार्गञ्च बृंहयेः, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ ३६ ॥

पदार्थान्वयः—**बुद्धे**—बुद्ध, **परिनिव्वुडे**—निवृत्त होकर—शान्त रूप होकर, **चरे**—संयम मार्ग में चले, **गामगए**—ग्राम मे गया हुआ, **व**—अथवा, **नगरे**—नगर में, **संजए**—निरन्तर यत्न करके, **सन्तीमग्गं**—शान्ति-मार्ग की, **च**—और, **बूहए**—वृद्धि कर, **गोयम**—हे गौतम! **समयं**—समय मात्र का भी, **मा पमायए**—प्रमाद मत करो।

मूलार्थ—हे गौतम! प्रबुद्ध व शान्तरूप होकर संयम-मार्ग में विचरण कर, पापों से निवृत्त होकर ग्राम वा नगर अथवा अरण्यादि स्थानों को प्राप्त होकर शान्ति-मार्ग की वृद्धि कर, इस काम में हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

टीका—इस गाथा में इस बात का उपदेश दिया गया है कि ग्राम और नगरादि में विचरण करते हुए साधु अपने संयम-मार्ग मे दृढ़ होकर सर्वत्र शान्ति का उपदेश करे, अतएव गौतम स्वामी को भगवान् कहते है कि हे गौतम! तत्त्व-वस्तु को जानकर और कषायरूप अग्नि से बचकर शान्त स्वरूप होकर तू सयम मार्ग मे विचरण कर। ग्राम अथवा नगरादि किसी स्थान मे भी ठहरा हुआ तू शांति रूप मे व्याप्त होकर तथा सर्व प्रकार के पापों से अलग होकर सर्वत्र शान्ति-मार्ग की ही वृद्धि कर, अर्थात् सर्व भव्य जीवो को क्षमा-प्रधान धर्म का ही तू उपदेश कर, जिससे कि वे मोक्ष-प्राप्ति के अधिकारी बन सके।

जिस प्रकार अति शीत गुण को धारण करता हुआ जल हिम/बर्फ के रूप को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार क्षमा-धर्म के अनुष्ठान से यह जीव परम शान्तिरूप निर्वाणपद को प्राप्त कर लेता है। इसीलिए मुमुक्षु पुरुष को इस कार्य के सम्पादन मे सदा अप्रमत्त रहना चाहिए। भगवान् की यह शिक्षा प्रत्येक मुमुक्षु व्यक्ति के लिए समान है।

भगवान के उपदेश को सुनने के अनन्तर गौतम स्वामी पर उसका जो प्रभाव हुआ, अथवा भगवान की उक्त शिक्षा का जो अन्तिम फल है अब उसका दिग्दर्शन गौतम मुनि के व्याज से कराते हैं—

बुद्धस्स निसम्म भासियं, सुकहियमट्ठ-पओवसोहियं ।
रागं दोसं च छिंदिया, सिद्धिगइं गए गोयमे ॥ ३७ ॥

त्ति बेमि।

इति दुमपत्तयं अज्झयणं समत्तं ॥ १० ॥

बुद्धस्य निशम्य भाषितं, सुकथितमर्थपदोपशोभितम् ।
रागं द्वेषं च छित्त्वा, सिद्धिगतिं गतो गौतमः ॥ ३७ ॥
इति ब्रवीमि ।

इति द्रुमपत्रकं अध्ययनं संपूर्णम् ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—**बुद्धस्स**—बुद्ध के, **भासियं**—भाषण को, **निसम्म**—सुनकर जो, **सुकहियं**—सुकथित और, **अट्ठ**—अर्थ, **पओवसोहियं**—तथा पदों से उपशोभित है, **रागं**—राग, **दोसं**—द्वेष को, **छिंदिया**—छेदन करके, **सिद्धिगइं**—सिद्धि अर्थात् मुक्ति को, **गए**—प्राप्त हो गए, **गोयमे**—गौतम मुनि, **त्ति**—इस प्रकार, **बेमि**—मैं कहता हूं।

मूलार्थ—इस प्रकार सुन्दर अर्थ और पदों से सुशोभित स्वयं बुद्ध भगवान् महावीर स्वामी के भाषण किए तत्त्व को सुनकर राग और द्वेष को छेदन करके गौतम मुनि सिद्धि को प्राप्त हो गए, इस प्रकार मैं कहता हूं।

टीका—भगवान् महावीर स्वामी के सदुपदेश को सुनकर जो कि सुन्दर अर्थ और पद-विन्यास से सुशोभित है—श्री गौतम स्वामी राग-द्वेष का त्याग करके परम कल्याणरूप निर्वाणपद को प्राप्त हो गए। इस कथन का तात्पर्य यह है कि भगवान् का जो उपदेश है वह परम शान्त और सर्व प्रकार के उपद्रवो से रहित परम सुखरूप मोक्ष के देने वाला है और निर्वाण-साधक वीतरागता की प्राप्ति ही उसका मुख्य प्रयोजन है।

इस गाथा मे आए हुए 'बुद्ध' शब्द से भगवान् महावीर स्वामी का ही ग्रहण अभिप्रेत है (**बुद्धस्य-केवलालोकावलोकित-समस्त-वस्तुतत्त्वस्य प्रक्रमाच्छ्रीमन्महावीरस्य' इति वृत्तिकारः**) अर्थात् जिसने केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोक के पदार्थो को जान लिया है वही बुद्ध होता है, अतः श्री महावीर स्वामी का नाम ही यहा पर बुद्ध है।

तात्पर्य यह है कि बौद्ध मत के प्रचारक शाक्यमुनि के नाम से विख्यात जो बुद्ध हुए है उनका इस प्रकरण से कोई भी सम्बन्ध नही है, अतः प्रस्तुत प्रकरण मे भगवान् महावीर स्वामी का नाम ही बुद्ध है और बुद्ध शब्द स्वयं-बुद्धता का ही व्यजक है।

इसके अतिरिक्त उक्त गाथा का यह भी भाव है कि जिस प्रकार भगवान् के उपदेश से गौतम स्वामी ने निर्वाण-पद को प्राप्त किया उसी प्रकार भगवान् के उपदेशानुसार आचरण करके प्रत्येक विचारशील पुरुष मोक्षपद का अधिकारी बन सकता है।

'त्ति बेमि' इस वाक्य की व्याख्या पहले अनेक बार की जा चुकी है, उसी के अनुसार यहा पर भी इस वाक्य का भाव समझ लेना चाहिए।

दशम अध्ययन संपूर्ण।

अह बहुस्सुयपुज्जं एगारसं अज्झयणं

अथ बहुश्रुतपूजमेकादशमध्ययनम्

दसवे अध्ययन मे प्रमाद-रहित होने का उपदेश दिया गया है। इस उपदेश को विवेकशील आत्मा ही ग्रहण करते है और विवेक की उत्पत्ति का आधार बहुश्रुत की पूजा-सेवा पर अवलम्बित है, अतः इस अध्ययन में बहुश्रुत के युक्ति-संगत गुणों का ही वर्णन किया जाता है और इसीलिए इस अध्ययन का नाम 'बहुश्रुतपूजक अध्ययन' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी आदिम गाथा इस प्रकार है—

संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो ।
आयारं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥ १ ॥

संयोगाद् विप्रमुक्तस्य, अनगारस्य भिक्षोः ।
आचारं प्रादुःकरिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत मे ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—**संजोगा**—सयोग से, **विप्पमुक्कस्स**—रहित, **अणगारस्स**—अनगार, **भिक्खुणो**—भिक्षु के, **आयारं**—आचार को, **पाउकरिस्सामि**—प्रकट करूगा, **आणुपुव्विं**—अनुक्रम से, **सुणेह**—सुनो, **मे**—मुझ से।

मूलार्थ—मै अब संयोग-रहित अनगार भिक्षु के आचार को प्रकट करूंगा, तुम उसको मुझ से क्रम-पूर्वक सुनो।

टीका—शास्त्रकार कहते है कि जिस भिक्षु ने बाह्य और आभ्यन्तर के संयोगों को छोड़ दिया है और घर से भी रहित हो गया है, उसके आचार को अब मै क्रम-पूर्वक प्रकट करूंगा, तुम सुनो। इस कथन से यह ध्वनित होता है कि बहुश्रुत के गुणों का यथावत् वर्णन तो किया नहीं जा सकता, परन्तु यथाशक्ति मै उनके वर्णन करने का यत्न करूगा, इसीलिए वर्तमान काल की क्रिया के स्थान पर भविष्यत्काल की क्रिया का प्रयोग किया गया है।

भिक्षु शब्द से प्रथम जो अनगार शब्द दिया गया है उसका अभिप्राय यह है कि बहुत से तथाकथित त्यागी घर-बार रखते हुए भी भिक्षु कहलाते है, अतः उनके निराकरणार्थ यहां पर भिक्षु से

पूर्व अनगार शब्द का उल्लेख किया गया है। तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत प्रकरण में उसी भिक्षु का ग्रहण किया जाना चाहिए जो कि द्रव्य रूप से किसी प्रकार का भी घर-बार न रखता हो।

संयोग शब्द के साथ प्रयुक्त होने वाले 'विप्रमुक्त' शब्द से 'वि' और 'प्र' उपसर्ग का संयोग, अन्तःकरण से संयोगराहित्य—संयोगरहित होने का ज्ञापक है तथा अनुक्रम से सुनाने का तात्पर्य यह है कि बहुश्रुत और अबहुश्रुत किस प्रकार के होते हैं और उनके क्या-क्या लक्षण होते हैं, इत्यादि सबका स्वरूप सुनना चाहिए।

बहुश्रुत की क्रिया और उसके विनय आदि गुण किस प्रकार के होने चाहिएं, इसके बोधनार्थ आचार शब्द का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार इस गाथा में जितने पद दिए गए हैं वे सब सार्थक और प्रयोजन वाले है। बाह्य और आभ्यन्तर संयोगों का विवरण प्रथमाध्ययन की पहली गाथा के अर्थ में किया गया है।

अब बहुश्रुत के स्वरूप को यथावत् समझाने के लिए प्रथम अबहुश्रुत के स्वरूप का वर्णन किया जाता है जिसके ज्ञान से विपरीत रूप में बहुश्रुत के गुण स्वतः ही समझ में आ जाएं।

जे यावि होइ निव्विज्जे, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
अभिक्खणं उल्लवई, अविणीए अबहुस्सुए ॥ २ ॥

यश्चापि भवति निर्विद्यः, स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः ।
अभीक्ष्णमुल्लपति, अविनीतोऽबहुश्रुतः ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—**जे**—जो कोई, **निव्विज्जे**—विद्या-रहित, **होइ**—होता है, **यावि**—अथवा विद्या सहित होता है, परन्तु जो, **थद्धे**—अहकार-युक्त, **लुद्धे**—लोभी, **अणिग्गहे**—इन्द्रियों के निग्रह से रहित है और, **अभिक्खणं**—बार-बार, **उल्लवई**—बिना विचारे बोलता है, **य**—और, **अविणीए**—विनय-रहित है, वही, **अबहुस्सुए**—अबहुश्रुत है।

मूलार्थ—जो तथाकथित साधक विद्या-रहित अथवा विद्या-सहित है, परन्तु अहंकारी, लोभी तथा इन्द्रियो के अधीन और बिना विचारे बार-बार बोलने वाला एवं विनय से रहित है, वही अबहुश्रुत होता है।

टीका—जो पुरुष शास्त्र के बोध से रहित है, अथवा शास्त्रज्ञ है, परन्तु यदि वह अहंकार से युक्त है, रसादि में मूर्च्छित है, जिसकी इन्द्रियां वश में नहीं है, जो असम्बद्ध एवं अनर्गल भाषण करने वाला है और विनय-धर्म से पतित है—उसी को अबहुश्रुत कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो विद्याहीन होते है, वे उक्त दुर्गुणों मे प्रायः शीघ्र ही प्रविष्ट हो जाते है।

मूल सूत्र मे '**अवि—अपि**' शब्द का इसलिए प्रयोग किया गया है कि कदाचित् शास्त्रज्ञ होकर भी कुछ व्यक्ति उक्त दुर्गुणों में प्रविष्ट हो जाते हैं उनको भी अबहुश्रुत ही समझना चाहिए, क्योंकि बहुश्रुत होने पर भी वे उक्त दुर्गुणो के कारण बहुश्रुत के फल से वंचित ही रहते है।

प्रस्तुत गाथा में यह भाव दिखाया गया है कि जो सद्विद्या से रहित होते हैं वे अहंकारी, लोभी, इन्द्रिय-वशवर्ती, असम्बद्ध-प्रलापी और अविनयी होते हैं, इसीलिए उन्हें अबहुश्रुत कहा जाता है तथा जिनमें थोड़ा बहुत शास्त्रीय ज्ञान होने पर भी उक्त दुर्गुणों की सत्ता मौजूद है वे भी अबहुश्रुत ही हैं, अतः उक्त प्रकार के दुर्गुणों से रहित होना ही बहुश्रुत होने का लक्षण है।

अब अबहुश्रुतता के हेतुओं के विषय में कहते हैं—

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणाऽऽलस्सएण य ॥ ३ ॥

अथ पंचभिः स्थानैः, यैः शिक्षा न लभ्यते ।
स्तंभात्क्रोधात्प्रमादेन, रोगेणाऽऽलस्येन च ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—**अह**—अथ, **पंचहिं**—पांच, **ठाणेहिं**—स्थानों से, **जेहिं**—जिनसे, **सिक्खा**—शिक्षा, **न लब्भई**—नही मिलती, **थम्भा**—अहंकार से, **कोहा**—क्रोध से, **पमाएणं**—प्रमाद से, **रोगेण**—रोग से, **य**—और, **आलस्सएण**—आलस्य से।

मूलार्थ—इन पांच कारणों से शिक्षा की प्राप्ति नहीं होती, जैसे कि गर्व से, क्रोध से, प्रमाद से, रोग से और आलस्य से।

टीका—ऊपर की गाथा में बताए हुए दुर्गुण बहुश्रुतता के विघातक क्यों है, अर्थात् उन दुर्गुणों की विद्यमानता में बहुश्रुतता क्यों नही होती, प्रस्तुत गाथा इसी विषय का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करती है।

प्रस्तुत गाथा मे यह भाव दिखलाया गया है कि निम्नलिखित पाच कारण शिक्षा-प्राप्ति के प्रतिबन्धक हैं, अर्थात् प्रतिबन्धक कारणों के रहते हुए ग्रहण-शिक्षा और आसेवन-शिक्षा की प्राप्ति नहीं हो सकती। वे प्रतिबन्धक कारण गर्व, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य ये पांच हैं। जैसे कि—

(१) किसी विद्यार्थी को किसी बात का गर्व—अहंकार है तो वह भी शिक्षा के अयोग्य होता है।

(२) जो शिक्षित के होने पर भी क्रोध से वशीभूत हो जाता है वह भी शिक्षा के योग्य नहीं है।

(३) तथा जो प्रमाद—मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा में लीन हो रहा है, वह भी शिक्षा-ग्रहण नही कर सकता।

(४) जिसका शरीर रोगी रहता है वह भी शिक्षा-ग्रहण मे समर्थ नही हो सकता।

(५) जो आलस्य में पड़ा रहने वाला है उसे भी शिक्षा का प्राप्त होना दुर्लभ है। इसमे अहकार और क्रोध तो विद्यार्थी की पात्रता को ही बिगाड़ देते है, तथा प्रमाद का बुरा प्रभाव तो आत्मा के ऊपर इनसे भी अधिक होता है, इससे आत्मा की ग्रहण-शक्ति सर्वथा विकृत हो जाती है। रोग से आत्मा की स्वाधीनता नष्ट हो जाती है और आलस्य उसको प्रमादी बना देता है। इस प्रकार ये पांचों ही समुदायरूप से व पृथक्-पृथक् रूप से विद्या-ग्रहण में प्रतिबन्धक है। इनके होने पर विद्यार्थी गुरु से

शास्त्राभ्यास नहीं कर सकता। इस प्रकार इन प्रतिबन्धक कारणों से शिक्षा की प्राप्ति न होने के कारण ऐसा व्यक्ति अबहुश्रुत रह जाता है। तात्पर्य यह है कि ये सब अबहुश्रुतता के कारण हैं जिनका कि उक्त गाथा में उल्लेख किया गया है।

अब बहुश्रुतता के साधनों का उल्लेख करते हैं—

अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीले त्ति वुच्चई ।
अहस्सिरे सया दन्ते, न य मम्ममुदाहरे ॥ ४ ॥

अथाष्टभिः स्थानैः, शिक्षा शीलइत्युच्यते ।
अहसनशीलः सदा दान्तः, न च मर्मोदाहरः ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—अह—अनन्तर, **अट्ठहिं**—आठ, **ठाणेहिं**—स्थानों से विशेषताओं से, **सिक्खा-सीले**—शिक्षाशील—शिक्षा के योग्य, **त्ति**—इस प्रकार, **वुच्चई**—कहा जाता है, **अहस्सिरे**—हास्य न करने वाला, **सया दन्ते**—सदा दान्त—इन्द्रियों का दमन करने वाला, **य**—और, **मम्मं**—मर्म को, **न उदाहरे**—न कहने वाला।

मूलार्थ—आठ स्थानों से अर्थात् आठ विशेषताओं से युक्त व्यक्ति शिक्षाशील अर्थात् शिक्षा के योग्य कहा जाता है। यथा—हास्य न करने वाला, इन्द्रियों का दमन करने वाला और दूसरों के मर्म को न कहने वाला।

टीका—तीर्थकर भगवान् ने आठ विशेषताओं से युक्त जीवों को शिक्षाशील बनने के योग्य बताया है, जैसे कि—हेतु के होने अथवा न होने पर जो किसी का उपहास नहीं करता है, वही शिक्षा के योग्य होता है, क्योकि जिसका उपहास करने का स्वभाव होता है वह कदापि शिक्षा के योग्य नहीं हो सकता तथा पाच इन्द्रियों और छठे मन इनको जो वश में रखता है, अर्थात् इनका जिसने दमन किया है वही शिक्षा के योग्य होता है, कारण कि शिक्षा-ग्रहण करने में ब्रह्मचर्य का सेवन और इन्द्रियों का दमन नितान्त आवश्यक माना गया है।

किसी सतीर्थ के मर्म का उद्घाटन न करने वाला ही शिक्षा के योग्य हो सकता है। जो विद्यार्थी मर्मभेदी वचन कहता है, अर्थात् दूसरों के अन्तःकरण को दग्ध करने वाले वचनों का भाषण करता है वह शिक्षा के योग्य नहीं है। यदि किसी प्रकार से उसको शिक्षा की प्राप्ति हो भी जाए, तो वह शिक्षा उसके फलीभूत नहीं होती। इस प्रकार शास्त्रकार ने हास्यशील न होना, दान्तेन्द्रिय होना और मर्मभाषी न होना, ये तीन गुण शिक्षा-प्राप्ति के साधन रूप मे वर्णन किए है।

अब शेष पांच कारणों का उल्लेख करते हैं—

नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चई ॥ ५ ॥

नाशीलो न विशीलः, न स्यादतिलोलुपः ।
अक्रोधनः सत्यरतः, शिक्षाशील इत्युच्यते ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—असीले—शील-रहित, **न**—नही है, **विसीले**—खंडितशील, **न**—नहीं है, **अइलोलुए**—अति लोलुप, **न सिया**—न होवे, **अकोहणे**—क्रोध से रहित, **सच्चरए**—सत्य भाषण मे रत, **सिक्खासीले**—शिक्षाशील, **त्ति**—इस प्रकार, **वुच्चई**—कहा जाता है।

मूलार्थ—शुद्ध आचार वाला, खंडित आचार से रहित, अलोलुप—रसों में मूर्च्छित न होने वाला, क्रोध-रहित और सत्य बोलने वाला साधक शिक्षाशील कहा जाता है।

टीका—शिक्षा के योग्य वही हो सकता है जो श्रेष्ठ आचार रखता हो। जिसका आचार खण्डित न हुआ हो, रसों में जिसकी आसक्ति बढ़ी हुई न हो और क्षमायुक्तता से युक्त एवं सत्यभाषण करने वाला हो। तात्पर्य यह है कि इन्हीं उक्त गुणों से वह शिक्षित होकर बहुश्रुत के पद को प्राप्त हो सकता है। सारांश यह है कि जिनकी शिक्षा ग्रहण करते समय सदाचार में दृढ़ता नहीं रहती वे न तो शिक्षा से विभूषित हो सकते है और न ही बहुश्रुत हो सकते हैं। इसीलिए इन उक्त सद्‌गुणों की ओर शिक्षाप्रेमी विद्यार्थियो को अवश्यमेव ध्यान देना चाहिए। इनके अतिरिक्त जो व्यक्ति इन उक्त गुणो की अवहेलना करके सद्‌विद्या के ग्रहण की रुचि रखते है, वे मानो अग्निशिखा से पुष्पों की प्राप्ति की आशा करते है। इससे यह बात भली-भाति सिद्ध हो जाती है कि बहुश्रुत होने के लिए उक्त गुणों की प्राप्ति ही मुख्य कारण है।

बहुश्रुत और अबहुश्रुत होने में विनीत और अविनीत भाव की ही प्रधानता है, अतः विनीत भाव को समझने के लिए प्रथम अविनीतता के स्वरूप का वर्णन करते है—

अह चउद्दसहिं ठाणेहिं, वट्टमाणे उ संजए ।
अविणीए वुच्चई सो उ, निव्वाणं च न गच्छइ ॥ ६ ॥

अथ चतुर्दशसु स्थानेषु, वर्तमानस्तु संयतः ।
अविनीत उच्यते स तु, निर्वाणञ्च न गच्छति ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—अह—अब, **चउद्दसहि**—चतुर्दश, **ठाणेहिं**—स्थानो से, **वट्टमाणे**—वर्तमान, **उ**—पादपूर्त्यर्थ है, **संजए**—सयत-साधु, **सो**—वह, **अविणीए**—अविनीत, **वुच्चई**—कहा जाता है, **उ**—पूर्ववत् जानना, **च**—और, **निव्वाणं**—निर्वाण को, **न गच्छइ**—नही जाता।

मूलार्थ—इन अनन्तरोक्त चतुर्दश स्थानों में वर्तता हुआ साधु अविनीत कहा जाता है और वह निर्वाण अर्थात् मोक्ष को प्राप्त नही होता है।

टीका—आगे कहे जाने वाले जो चौदह स्थान है उनमे स्थित हुआ साधु अविनीत कहा जाता है और वह मोक्ष को प्राप्त नही होता। यहा पर 'च' शब्द से इतना और समझ लेना चाहिए कि उसको इस लोक मे ज्ञानादि की प्राप्ति भी नही हो सकती, अत साधक को इन चौदह स्थानो मे वर्तना नही चाहिए।

सूत्र में '**चउद्दसहिं ठाणेहिं**' यहां तृतीया विभक्ति—'चतुर्दशसु स्थानेषु' इस सप्तमी विभक्ति के अर्थ में विभक्ति-व्यत्यय के नियम से प्रयुक्त हुई है एव निर्वाण का दूसरा अर्थ परम शांति भी है, जिसका अभिप्राय यह है कि अविनीत के लिए शाति की प्राप्ति भी अशक्य है।

अब शास्त्रकार उक्त स्थानों का नाम निर्देश करते हैं—

अभिक्खणं कोही भवइ, पबन्धं च पकुव्वइ ।
मेत्तिज्जमाणो वमइ, सुयं लद्धूण मज्जइ ॥ ७ ॥

अभीक्ष्णं क्रोधी भवति, प्रबन्धं च प्रकरोति ।
मैत्रीयमाणो वमति, श्रुतं लब्ध्वा माद्यति ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—अभिक्खणं—बारम्बार, **कोही**—क्रोधी, **भवइ**—होता है, **च**—और, **पबन्धं**—क्रोध का प्रबन्ध, **पकुव्वइ**—करता है, **मेत्तिज्जमाणो**—मित्रता के भाव को, **वमइ**—छोड़ देता है, **सुयं**—श्रुत को, **लद्धूण**—प्राप्त करके, **मज्जइ**—अहंकार करता है।

मूलार्थ—(अविनीत-साधक) बार-बार क्रोध करता है, क्रोध के प्रबन्ध का त्याग नहीं करता, मित्र की मित्रता को त्याग देता है और श्रुत के पढ़ने पर भी अहंकार करता है।

टीका—बार-बार क्रोध करने वाला व्यक्ति भी विनय-धर्म से रहित होता है तथा क्रोध के प्रबन्ध का त्याग न करना भी अविनीतता का ही लक्षण है।

तात्पर्य यह है कि किसी निमित्त वश अथवा बिना निमित्त से क्रोध के आवेश मे आने पर उसे मृदु वचनो से शान्त न करना, किन्तु उसे बढ़ाते ही जाना, अविनीतता का दूसरा स्वरूप है तथा मित्रता का परित्याग करना अर्थात् किसी व्यक्ति के साथ प्रथम की हुई मित्रता का परित्याग कर देना अथवा दीक्षा ग्रहण करने के समय पर छ. काय के जीवों के साथ मैत्री धारण करने की जो प्रतिज्ञा की थी, उसको शिथिलाचार में प्रविष्ट होकर त्याग देना तथा यदि किसी ने कोई उपकार किया हो तो उसको भूल जाना, अर्थात् कृतज्ञ होने के बदले कृतघ्न बन जाना अविनीतता है। स्थानांगसूत्र में लिखा है कि श्रावक चार प्रकार के होते है—१ माता-पिता के समान, २. भ्राता के समान, ३. मित्र के समान और ४. सपत्नी के समान। इनमे जो मित्र के समान बर्ताव करने वाले हितकारी है उन पर मित्र भाव को त्याग देना अविनीतता का तीसरा स्थान है तथा श्रुत-विद्या को प्राप्त करके गर्व करना, जैसे कि मेरे समान दूसरा कोई शास्त्रज्ञ नहीं है, यह अविनीतपन का चौथा स्वरूप है। सद्विद्या का फल नम्रता और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति है, किन्तु उसको प्राप्त करके अहंकारयुक्त होना तो विनय-धर्म की विराधना ही है।

इस प्रकार अविनीतता के चतुर्दश स्थानों में से चार का तो वर्णन ऊपर आ चुका है अब शेष स्थानों का वर्णन किया जाता है—

अवि पावपरिक्खेवी, अवि मित्तेसु कुप्पइ ।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे भासइ पावयं ॥ ८ ॥

अपि पापपरिक्षेपी, अपि मित्रेभ्यः कुप्यति ।

सुप्रियस्यापि मित्रस्य, रहसि भाषते पापकम् ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—अवि—संभावना में, **पाव**—स्खलनादि के कारण से, **परिक्खेवी**—आचार्यादि का तिरस्कार करने वाला, **अवि**—सभावना में, **मित्तेसु**—मित्रों पर, **कुप्पइ**—कोप करता है, **अवि**—संभावना में, **सुप्पियस्स**—अति प्रिय, **मित्तस्स**—मित्र के, **रहे**—एकान्त मे, **पावयं**—अवगुण, **भासइ**—कहता है।

मूलार्थ—जो अविनीत होता है वह गुरु आदि के विचलित होने पर उनका तिरस्कार करता है, मित्रों पर कोप करता है, अति प्यारे मित्र के भी एकान्त में अवगुण बताता है।

टीका—इस गाथा मे अविनीत के तीन लक्षण बताए गए है—१. यदि किसी कारण से आचार्यादि पूज्य महापुरुष समिति वा गुप्ति आदि मे विचलित हो जाए तो उनका तिरस्कार करना, २. मित्रो पर कोप करना, ३. अपने अति प्रिय मित्र के भी एकान्त में अवगुण बताना। अब तक पूर्व की गाथा में चार और इस गाथा में तीन हस प्रकार सात लक्षण अविनीत के बताए गए है।

उक्त गाथा मे आए हुए '**पावपरिक्खेवी**—पापपरिक्षेपी' का वृत्तिकार भी यही अर्थ करते है, यथा—

'असौ पापैः कथञ्चित् समित्यादिषु स्खलितो लक्षणैः परिक्षिपति—तिरस्कुरुते, इत्येवंशीलः पापपरिक्षेपी, आचार्यादीनामिति गम्यते।'

अर्थात् यदि किसी निमित्तवश वृद्धो से भूल हो गई हो तो उस भूल को मुख्य रखकर उनका जो तिरस्कार करता है, वह पापपरिक्षेपी—अविनीत कहलाता है। इसके अतिरिक्त बिना ही कारण मित्रों पर कुपित होना और परोक्ष मे अपने अति प्रिय मित्र के भी अवगुण प्रकट करना अविनीत पुरुष का ही कार्य है।

अब अविनीत के अन्य लक्षणों को दिखाते हैं—

पइन्नवाई दुहिले, थद्धे लुद्धे अनिग्गहे ।

असंविभागी अवियत्ते, अविणीए त्ति वुच्चई ॥ ६ ॥

प्रकीर्णवादी द्रोहशीलः, स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः ।

असंविभाग्यप्रीतिकरः, अविनयीत्युच्यते ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—पइन्नवाई—असंबद्धभाषी, **दुहिले**—द्रोह करने वाला, **थद्धे**—स्तब्ध—अहंकार करने वाला, **लुद्धे**—लोभी, **अनिग्गहे**—असयतेन्द्रिय, **असंविभागी**—संविभाग न करने वाला, **अवियत्ते**—अप्रीतिकर, **अविणीए**—अविनयवान्, **त्ति**—इस प्रकार, **वुच्चई**—कहा जाता है।

मूलार्थ—प्रकीर्णवादी अर्थात् असम्बद्ध भाषी, द्रोह करने वाला, अहंकारी और लोभी तथा

इन्द्रियों को वश में न रखने वाला, संविभाग न करने वाला और अप्रीति रखने वाला अविनयी अर्थात् अविनीत कहलाता है।

टीका—बिना विचार किए बोलने वाला, मित्रों के साथ द्रोह करने वाला, अहंकारी, लोभी, इन्द्रियों के अधीन रहने वाला, असंविभागी—किसी साधारण वस्तु का भी संविभाग न करने वाला और सबके साथ अप्रीतियुक्त व्यवहार करने वाला अविनीत कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के अवगुण जिसमें विद्यमान हों उसको अविनीत—विनयगुणरहित कहते हैं।

ये सब मिलकर अविनीत के चौदह स्थान हैं। इनका समुच्चयरूप से नाम-निर्देश इस प्रकार है—१. क्रोध, २. क्रोधस्थिति-करण, ३. मैत्री त्याग, ४. विद्या का मद, ५. गुरुजनों के छिद्रों को देखना, ६. मित्र पर कोप करना, ७. प्रिय मित्र का भी परोक्ष मे अवर्णवाद करना, ८. असम्बद्ध भाषण करना, ९. मित्र-द्रोह करना, १०. अहंकार करना, ११. लोभी होना, १२. इन्द्रियों का वशवर्ती होना, १३. वस्तु का संविभाग-बंटवारा ठीक न करना, १४. अप्रीति उत्पन्न करने वाले कार्य करना। इन चौदह हेतुओं से इस जीव में अविनीतता उत्पन्न हो जाती है। और उसका फल यह होता है कि इन अवगुणों के कारण अविनीत हुआ पुरुष निर्वाण-पद को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें निर्वाण-प्राप्ति की योग्यता नहीं रहती। अतः विचारशील पुरुषो को इन अवगुणो का परित्याग करके विनीतभाव को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अब शास्त्रकार सुविनीत के विषय में कहते हैं—

अह पन्नरसहिं ठाणेहिं, सुविणीए त्ति वुच्चई।
नीयावत्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥ १० ॥

अथ पंचदशभिः स्थानैः, सुविनीत इत्युच्यते।
नीचवर्त्यचपलः, अमाय्यकुतूहलः ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—**अह**—अब, **पन्नरसहिं**—पचदश, **ठाणेहिं**—स्थान में वर्तने से, **सुविणीए**—सुविनीत, **त्ति**—इस प्रकार **वुच्चई**—कहा जाता है, **नीयावत्ती**—नीचवर्ती, **अचवले**—चपलता से रहित, **अमाई**—कपट से रहित, **अकुऊहले**—कुतूहल से रहित।

मूलार्थ—**(यह बताते हैं कि) अब पंचदश स्थानों में वर्तन से साधक सुविनीत कहा जाता है, जैसे कि गुरु से नीचे वर्तने वाला, चपलता से रहित, छल से रहित और कुतूहलादि से रहित।**

टीका—अविनीत के चौदह स्थानों के अनन्तर अब विनीत के पन्द्रह स्थानों का वर्णन करते हैं। इन अनन्तरोक्त पंचदश स्थानो में स्थित अर्थात् आगे वर्णित चौदह गुणों से युक्त साधक ही विनीत कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस जीव मे ये पन्द्रह लक्षण-विद्यमान हों वही सुविनीत है।

(१) नीचवर्ती—गुरुजनों से अपना आसन नीचा रखना, उनकी अपेक्षा पुराने और कम मूल्य के वस्त्रादि का प्रयोग करना, यह द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से नीचा बर्ताव अर्थात् नम्रता का बर्ताव है।

(२) चपलता-रहित होना—चार प्रकार की चपलताओं का परित्याग करना, जैसे कि गतिचपलता, स्थिति-चपलता, भाषा-चपलता और भाव-चपलता, इस प्रकार चपलता के ये चार भेद हैं। इनमें—अतिशीघ्रता से चलना गति-चपलता है, बैठे हुए बिना प्रयोजन हाथ-पैर हिलाते रहना स्थिति-चपलता है। असत्य और असम्बद्ध भाषण एव विकथा करना भाषा-चपलता कहलाती है और एक कार्य की समाप्ति से पूर्व ही दूसरे का आरम्भ कर देना अथवा पदार्थ के ग्रहण में अधिक चंचलता करना भाव चपलता है। इन चार प्रकार की चपलताओं का त्याग करने वाला विनीत कहलाता है, क्योंकि जहां पर चपलता होती है वहा पर विनय-धर्म की स्थिति नहीं हो सकती।

(३) अमायी—कपटरहित होना, अर्थात् गुरु आदि से किसी प्रकार का छलयुक्त व्यवहार न करना।

(४) अकुतूहली—कुतूहल से रहित अर्थात् इन्द्रजाल और नाटक आदि का न देखना तथा अन्य उपहास-जनक क्रियाओं मे रुचि न रखने वाला विनीत कहा जाता है। इन अवगुणों का त्याग ही करना चाहिए।

अब विनीतता के अन्य स्थानों का वर्णन करते हैं—

अप्पं च अहिक्खिवइ, पबन्धं च न कुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो भयई, सुयं लद्धुं न मज्जई ॥ ११ ॥

अल्पं चाधिक्षिपति, प्रबन्धं च न करोति ।
मैत्रीयमाणो भजते, श्रुतं लब्ध्वा न माद्यति ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—**अप्पं**—थोड़ा भी, **च**—निश्चय में, **अहिक्खिवइ**—तिरस्कार नहीं करता, **पबन्धं**—क्रोध का प्रबन्ध, **न कुव्वई**—नही करता, **च**—और, **मेत्तिज्जमाणो**—मित्र की मित्रता को, **भयई**—सेवन करता है, **सुयं**—श्रुत को, **लद्धुं**—प्राप्त करके, **न मज्जई**—अहंकार नहीं करता।

मूलार्थ—विनीत व्यक्ति किसी का थोड़ा-सा भी तिरस्कार नहीं करता, क्रोध का प्रबन्ध अर्थात्, आवेश चिरकाल तक नही रखता, मित्र की मित्रता का पालन करता है और श्रुत को प्राप्त करके गर्व नही करता।

टीका—जो विनीत अर्थात् विनयशील होता है वह स्वल्पमात्र भी किसी का तिरस्कार नही करता, अपितु तिरस्कार के बदले सत्कार के लिए प्रस्तुत रहता है। यदि कभी किसी कारणवश क्रोध आ जाए तो उसे शीघ्र ही शान्त कर लेता है और उस क्रोध को चिरस्थायी नहीं होने देता। तात्पर्य यह है कि उसकी चेष्टा अनन्तानुबन्धी क्रोध के समान नही होती, किन्तु उसका क्रोध संज्वलन मात्र ही होता है। यदि कोई उसका मित्र बन गया हो तो उसके साथ भी वह सदा मित्रता का ही बर्ताव करता है और यदि हो सके तो उस पर उपकार ही करता है और यदि उपकार करने की उसमें किसी प्रकार की शक्ति न हो तो वह कृतघ्न तो कदापि नही बनता तथा विनीत पुरुष श्रुत-विद्या को प्राप्त करके

मन में किसी प्रकार का अहंकार नहीं करता, अपितु वह फलभार-नमित वृक्ष की तरह पहले से भी अधिक विनम्र हो जाता है। ये सब विनीतता के लक्षण हैं, इनको धारण करने वाला विनयवान् कहा जाता है।

उक्त गाथा में आया हुआ 'अल्प' शब्द अभाव का वाचक है और 'च' शब्द का प्रयोग अवधारण अर्थ में है।

अब विनीत के अन्य लक्षणों का वर्णन करते हैं—

न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पइ ।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई ॥ १२ ॥

न च पापपरिक्षेपी, न च मित्रेभ्यः कुप्यति ।
अप्रियस्यापि मित्रस्य, रहसि कल्याणं भाषते ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—य—और, **न**—नहीं, **पावपरिक्खेवी**—पाप और पर-परिक्षेप करता है, **य**—और, **न**—नहीं, **मित्तेसु**—मित्रों के लिए, **कुप्पइ**—कोप करता है, **अप्पियस्सावि मित्तस्स**—अप्रिय मित्र को भी, **रहे**—एकान्त में, **कल्लाण**—कल्याणकारी वचन, **भासई**—कहता है।

मूलार्थ—विनीत व्यक्ति किसी भी व्यक्ति पर दोषारोपण नहीं करता, मित्रों पर कोप नहीं करता और अप्रिय मित्र का भी एकान्त में गुणानुवाद ही करता है।

टीका—जो व्यक्ति विनीत होता है वह गुरुजनों के अकस्मात् समिति, गुप्ति आदि गुणों से विचलित हो जाने पर भी उनका तिरस्कार कदापि नहीं करता तथा मित्रों पर कुपित नहीं होता। कदाचित् मित्र से कोई अपराध हो भी जाए तो भी उसको हित-शिक्षा मात्र भले ही दे दे, परन्तु उस पर क्रोध नहीं करता, क्योंकि मनुष्य का किसी बात में भूल कर देना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है और किसी अप्रिय मित्र के अपराधों को जानकर भी परोक्ष में उसका अवर्णवाद—निन्दा नहीं करता, अपितु कभी काम पड़े तो उसका गुणानुवाद ही करता है। नीतिकारों ने कहा भी है कि—

'एकसुकृतेन दुष्कृतशतानि ये, नाशयन्ति ते धन्याः।
न त्वेकदोषजनितो, येषां कोपः स च कृतघ्नः ॥'

तथा '**मित्तेसु—मित्रेभ्यः**' यहां चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

अब इसी विषय में फिर कहते हैं—

कलह-डमर-वज्जिए, बुद्धे अभिजाइए ।
हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चई ॥ १३ ॥

कलह-डमर-वर्जितः, बुद्धोऽभिजातिकः ।
ह्रीमान् प्रतिसंलीनः, सुविनीत इत्युच्यते ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—कलह-डमर—कलह और प्राणिघात आदि के, **वज्जिए**—वर्जने वाला, **बुद्धे**—बुद्धिमान्, **अभिजाइए**—संयम का निर्वाह करने वाला, **हिरिमं**—लज्जा वाला, **पडिसंलीणे**—इन्द्रियो को वश में करने वाला, **सुविणीए**—सुविनीत, **त्ति**—इस प्रकार से, **वुच्चई**—कहा जाता है।

मूलार्थ—कलह और डमर अर्थात् प्राणिघात के वर्जने वाला, बुद्धिमान, ग्रहण किए हुए संयम-भार का निर्वाह करने वाला, अकार्य करने से लज्जा करने वाला और इन्द्रियों तथा मन को वश में करने वाला सुविनीत कहा जाता है, अर्थात् उक्त लक्षण जिसमें हों उसे सुविनीत कहते हैं।

टीका—इस गाथा में भी विनीत के लक्षणों का निर्देश करते हुए कहा गया है कि बुद्धिमान् साधक वाणी और मुष्टि आदि के द्वारा युद्ध करने वाला न हो, तथा संयम के भार को उठाने में अपनी कुलीनता का परिचय दे, अर्थात् ग्रहण किए हुए संयम का पूर्ण रूप से निर्वाह करे। अकार्य में प्रवृत्त होने से लज्जा करे और बिना कारण गुरुजनों के पास से इधर-उधर न जाए। ये सब विनयवान् के लक्षण है। इन गुणों के आने से विद्या की प्राप्ति शीघ्र होती है। ये पन्द्रह विनीत के गुणस्थान कहे जाते है। इनका समुच्चयात्मक परिचय इस प्रकार है, १. गुरुजनो के बराबर न बैठना, २. चपलता का त्याग करना, ३. माया-रहित होना, ४. कुतूहल का त्याग करना, ५. किसी का भी तिरस्कार न करना, ६. दीर्घकाल तक रोष न रखना, ७. मित्रो पर उपकार करना, ८. विद्या का मद न करना, ९. आचार्यादि के मर्म को प्रकट न करना, १०. मित्रो पर क्रोध न करना, ११ अपराध होने पर भी मित्र के दोषो को न कहना और परोक्ष मे अमित्र के भी गुणो का ही वर्णन करना, १२. कलह और डमर अर्थात् जीव-हिंसा का त्याग करना, १३. गुरुकुल में वास करना, १४. लज्जाशील होना और १५. प्रतिसलीन अर्थात् जितेन्द्रिय होना। ये पन्द्रह स्थान विनीत पुरुष के कहे जाते है। ये ही बहुश्रुतता के परिचायक गुण हैं।

उक्त गुणों से विभूषित होने वाले व्यक्ति को जो लाभ होता है, अब शास्त्रकार उसी के विषय में कहते है—

वसे गुरुकुले निच्चं, जोगवं उवहाणवं ।
पियंकरे पियंवाई, से सिक्खं लद्धुमरिहइ ॥ १४ ॥

वसेद् गुरुकुले नित्यं, योगवानुपधानवान् ।
प्रियङ्करः प्रियंवादी, स शिक्षां लब्धुमर्हति ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—**गुरुकुले**—गुरुकल में, **निच्चं**—सदा, **वसे**—वास करे, **जोगवं**—योगवान्, **उवहाणवं**—उपधान तप वाला, **पियंकरे**—प्रिय करने वाला, **पियंवाई**—प्रिय बोलने वाला, **से**—वह, **सिक्खं**—शिक्षा, **लद्धुं**—प्राप्त करने के, **अरिहइ**—योग्य होता है।

मूलार्थ—**जो व्यक्ति गुरुकुल में वास करने वाला, समाधि और उपधान तप करने वाला, प्रिय करने और प्रिय बोलने वाला हो वही शिक्षा-प्राप्ति के योग्य होता है।**

टीका—इस गाथा में विद्या-प्राप्ति की योग्यता के साधक गुणो का दिग्दर्शन कराया गया है अर्थात् जिन गुणो को धारण करने से मनुष्य, सद्विद्या की प्राप्ति के योग्य होता है उन्हीं का वर्णन प्रस्तुत गाथा में किया गया है। सदैव गच्छ अर्थात् समुदाय में रहना और गुरुजनों की आज्ञा से बाहर न होना ही गुरुकुलवास है तथा धर्म-व्यापार के योगों में स्थित रहने वाले को योगवान् अथवा अष्टाङ्ग-लक्षण योग का अभ्यास करने वाले को योगवान् कहा जाता है। अपि च अंगोपाङ्गरूप सूत्रों की आराधना के निमित्त आचाम्ल, निर्विकृत्यादि तप के करने वाले को उपधान तपवाला कहते हैं, अतः योगवान और उपधानवान होकर सदा गुरुजनो की आज्ञा मे जो रहे वह विद्या-प्राप्ति के योग्य होता है। यदि किसी ने अपकार भी किया हो तो भी उस पर रोष न करे, किन्तु उक्त कृत्य को अपने ही किए हुए अशुभ कर्म का फल समझकर अपराध करने वाले पर भी प्रीति का ही व्यवहार करने वाला हो तथा जिस कार्य के करने से प्राणिवर्ग को सुख उपजे और आचार्यादि गुरुजनों को भी प्रसन्नता हो, उसी कार्य का अनुष्ठान करने वाला हो। यदि किसी ने प्रतिकूल व कठोर भाषण किया हो तो उसके साथ भी प्रिय भाषण करने वाला हो, अर्थात् उसको भी प्रिय वचनों में ही उत्तर देने की चेष्टा करे। ये सब लक्षण शिक्षा प्राप्त करने की योग्यता रखने वाले विनीत पुरुष के होते हैं। इन से विपरीत आचरण करने वाला अविनीत कहलाता है।

ये पूर्वोक्त शिक्षाएं इस आत्मा को बहुश्रुतता के योग्य बना देती हैं, क्योंकि इन्हीं के द्वारा बहुश्रुत पद की प्राप्ति होती है। अब सूत्रकार बहुश्रुत के प्रतिपत्तिरूप आचार की प्रशंसा कुछ दृष्टान्तों के द्वारा करते हैं! यथा—

जहा संखम्मि पयं, निहियं दुहओ वि विरायइ ।
एवं बहुस्सुए भिक्खू, धम्मो कित्ती तहा सुयं ॥ १५ ॥

यथा शंखे पयो, निहितं द्विधापि विराजते ।
एवं बहुश्रुते भिक्षौ, धर्मः कीर्तिस्तथा श्रुतम् ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैसे, **संखम्मि**—शंख मे, **पयं**—दूध, **निहियं**—रखा हुआ, **दुहओ**—दो प्रकार से, **विरायइ**—विराजता है—शोभा पाता है, **एवं**—इसी प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत, **भिक्खू**—भिक्षु में, **धम्मो**—धर्म, **कित्ती**—कीर्ति, **तहा**—तथा, **सुयं**—श्रुत शोभा पाता है।

मूलार्थ—जैसे शंख मे रखा हुआ दूध दोनों प्रकार की उज्ज्वलता से शोभा पाता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु में धर्म, कीर्ति और श्रुत अर्थात् आगम ज्ञान शोभा पाते हैं।

टीका—शंख में डाला हुआ दूध कुछ विशिष्ट शोभा को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि एक तो दूध स्वयं उज्ज्वल होता है, तिस पर शख में डालने से शंख की उज्ज्वलता भी उसके साथ मिल जाती है, अर्थात् शंख और दूध दोनों एक दूसरे की श्वेतता को ग्रहण करते हुए कुछ विलक्षण रूप से ही सुशोभित होते हैं। इसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु में रहे हुए धर्म, कीर्ति और श्रुत अन्य साधारण जनों की

अपेक्षा कुछ विलक्षण शोभा प्राप्त करने वाले हो जाते है।

तात्पर्य यह है कि जहां पर आधार पूर्णतया शुद्ध हो और उसी के अनुसार यदि वहां पर आधेय पदार्थ भी शुद्ध ही मिल जाए, तब तो उन दोनों की शोभा निस्सन्देह अपूर्व ही हो जाती है। जिस प्रकार शंख में डाला हुआ दूध कालुष्य और अम्लता को धारण नहीं करता, उसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु में धर्म, कीर्ति और श्रुत को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुंचती। इस सारे कथन का सारांश यह है कि जिस प्रकार शंख में रखा हुआ दूध अपने गुणों से हर प्रकार से विशेषता को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार बहुश्रुत में रहे हुए धर्म, कीर्ति और श्रुत भी अपने स्वरूप में विशेष उन्नति को प्राप्त करते हैं, क्योंकि जिस गच्छ में बहुश्रुत साधु होंगे, उस गच्छ की संसार में विशेष प्रतिष्ठा होगी, उसकी ओर भावुक गृहस्थों की रुचि बढ़ेगी, वे धर्म का श्रवण करेंगे, शास्त्रों का स्वाध्याय करेंगे और धर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होंगे, इसलिए बहुश्रुत के सम्बन्ध में उक्त धर्मादि गुणों मे विशेषता का आना आवश्यक और सुनिश्चित है।

अब इसी विषय को दूसरे दृष्टान्त से बताते हैं—

जहा से कम्बोयाणं, आइण्णे कन्थए सिया ।
आसे जवेण पवरे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ १६ ॥

यथा सः काम्बोजानां, आकीर्णः कन्थकः स्यात् ।
अश्वो जवेन प्रवरः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—जहा—जैसे, से—वह, **कम्बोयाणं**—कम्बोज देश के जन्मे हुए घोड़े में, **आइण्णे**—शीलादि गुणों से युक्त, **कन्थए**—प्रधान, **आसे**—घोड़ा, **सिया**—होता है जो, **जवेण**—गति से भी, **पवरे**—उत्तम है, **एवं**—इसी प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत, **हवइ**—होता है।

मूलार्थ—जैसे कम्बोज देश में उत्पन्न हुए घोड़े में शीलादि गुण होते हैं, उन गुणों से युक्त घोड़ा उत्तम माना जाता है और विचित्र गति के कारण भी उत्तम होता है उसी प्रकार बहुश्रुत को भी उत्तम माना गया है।

टीका—जैसे कम्बोज देश के उत्पन्न हुए घोड़ों में जो घोड़ा शीलादि गुणों से युक्त और निर्भीक अर्थात् ऊबड़-खाबड़ मार्ग में भी अस्खलित गति वाला तथा वादित्रादि के तुमुल शब्दों से भी त्रस्त न होने वाला है, और जो अपनी गति मे भी अद्वितीय है वही घोड़ा उत्तम माना गया है उसी प्रकार बहुश्रुत भी ज्ञान और क्रिया के कारण ही प्रधानता को धारण करता है। तात्पर्य यह है कि जैसे वह अश्व वादित्रादि के शब्दों से त्रस्त नही होता उसी तरह बहुश्रुत भी वादियों के प्रवादों से भयभीत नहीं होता, किन्तु निर्भय होकर उन पर विजय प्राप्त करता है।

उक्त गाथा में आए हुए **'आइण्णे'**—आकीर्ण— शब्द का अर्थ है शुद्ध जाति का और कुलवान। क्योंकि जिसके जाति एव कुल उत्तम होगे उसी में गुणों का संचार होना स्वाभाविक है।

जिस प्रकार उक्त गुणों के प्रभाव से वह घोड़ा राजा आदि को अतिप्रिय लगता है उसी प्रकार ज्ञान और क्रिया से युक्त साधु भी जनता के लिए श्रद्धेय होता है। इसी आशय से उक्त गाथा में **'कन्थए—कंथक'** शब्द का उल्लेख किया गया है। इसका अर्थ टीकाकार इस प्रकार लिखते हैं—**'अथवा शस्त्रादीनां प्रहाराद्रणे निर्भीकः कन्थक उच्यते'** अर्थात् शस्त्रादि के प्रहार से रण में जो किसी प्रकार का भय नहीं खाता, उस घोड़े को कन्थक कहते हैं। उस आकीर्ण जाति के अश्व के समान बहुश्रुत साधक भी गुणों का आश्रयभूत हो जाता है।

यहां पर कम्बोज देश के समान जैन वृत्ति और जाति तथा वेग आदि गुणों के समान साधु-वृत्ति के गुणों को समझना चाहिए। कम्बोज देश के अश्व अन्य देशों के अश्वों से श्रेष्ठ माने गए हैं, इसीलिए इनके नाम का निर्देश किया गया है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

जहाऽऽइण्ण-समारूढे, सूरे दढपरक्कमे ।
उभओ नन्दिघोसेणं, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ १७ ॥

यथाऽऽकीर्ण-समारूढः, शूरो दृढपराक्रमः ।
उभयतो नंदिघोषेण, एवं भवति बहुश्रुतः ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैसे, **आइण्ण**—आकीर्ण घोड़े पर, **समारूढे**—चढ़ा हुआ, **सूरे**—सुभट, **दढपरक्कमे**—दृढ़ पराक्रम वाला, **उभओ**—दोनों प्रकार से, **नन्दिघोसेणं**—नन्दिघोष शब्दों से युक्त, **एवं**—इसी प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत, **हवइ**—होता है।

मूलार्थ—जैसे उत्तम जाति वाले घोड़े पर चढ़ा हुआ दृढ़ पराक्रम वाला सुभट, दोनों ओर से नन्दिघोष शब्दों से युक्त हुआ शोभा पाता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी शोभा पाया करता है।

टीका—जैसे वेग आदि गुणों से सम्पन्न विशिष्ट जाति के घोड़े पर चढ़ा हुआ दृढ़पराक्रमी शूरवीर नन्दिघोष और जयध्वनि के शब्दों से प्रतिध्वनित होता हुआ सुशोभित होता है, उसी प्रकार विशिष्ट ज्ञान और क्रिया के द्वारा बहुश्रुत की भी शोभा होती है। तात्पर्य यह है कि जैसे वह सुभट किसी के द्वारा पराजित नहीं होता वैसे ही बहुश्रुत को कोई प्रतिवादी पराजित नहीं कर सकता तथा जिस प्रकार सुभट के दोनों ओर नन्दिघोष वादित्रों के अथवा जयध्वनियों के शब्द होते हैं, उसी प्रकार रात्रि और दिन के स्वाध्याय-घोष के साथ बहुश्रुत रहता है, जिससे कि परवादी भी उसका जय-जय शब्दों के द्वारा स्वागत करते हैं, अर्थात् उसकी विजय का लोहा मानते है। नन्दिघोष द्वादश तूर्य ध्वनिरूप होता है—**'नन्दिघोषेण द्वादशतूर्यध्वनिरूपेण'**।

यहां पर इतना और समझ लेना चाहिए कि शास्त्रकार ने बहुश्रुत को आकीर्ण जाति के घोड़े पर चढ़े हुए पराक्रमी सुभट की जो उपमा दी है, वह सर्वथा उपयुक्त है। यहां पर जिन-प्रवचन ही आकीर्ण जाति का अश्व है, अर्थात् जिन-प्रवचन रूप अश्व पर चढ़ा हुआ बहुश्रुत रूप सुभट शास्त्र-

सभा में किसी भी प्रतिवादी से संत्रस्त नहीं होता, किन्तु उसको पराजित करके स्वपक्ष और परपक्ष के लोगों की जयध्वनि से प्रतिध्वनित होता हुआ जिन धर्म का पूर्ण रूप से प्रभावक होता है। अतः प्रत्येक मुनि को अपने में बहुश्रुतता के सम्पादन का प्रयत्न करना चाहिए।

अब हस्ती की उपमा के द्वारा बहुश्रुत का वर्णन करते हैं—

जहा करेणु-परिकिण्णे, कुंजरे सट्ठिहायणे ।
बलवन्ते अप्पडिहए, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ १८ ॥

यथा करेणुपरिकीर्णः, कुञ्जरः षष्ठिहायनः ।
बलवानप्रतिहतः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैसे, **करेणुपरिकिण्णे**—हथनियों से घिरा हुआ, **कुंजरे**—हस्ती, **सट्ठिहायणे**—साठ वर्ष का, **बलवन्ते**—बलवान्, **अप्पडिहए**—अप्रतिहत—न हारने वाला होता है, **एवं**—इसी प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत, **हवइ**—होता है।

मूलार्थ—जैसे साठ वर्ष की आयु वाला, बलवान् और किसी से न हारने वाला हस्ती अपनी हथनियों से चारों ओर से घिरा हुआ शोभा पाता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी सुशोभित होता है।

टीका—इस गाथा मे परिवार-युक्त वृद्ध हस्ती की उपमा से बहुश्रुत को सर्वप्रधान और अधृष्ट बताने का प्रयत्न किया गया है, अर्थात् जैसे साठ वर्ष का हाथी अपनी हथनियो के परिवार से घिरा हुआ अपूर्व शोभा को प्राप्त होता है तथा बलयुक्त होने से किसी अन्य मदयुक्त हाथी से वह तिरस्कृत नहीं होता, उसी प्रकार बहुश्रुत भी अधिक दीक्षा-पर्याय से अपने अनुभव-बल में उत्तरोत्तर वृद्धि करता हुआ औत्पातिकी आदि चार प्रकार की बुद्धियो से परिवृत होकर अन्य वादियों से पराजित नही होता। जिस प्रकार साठ वर्ष तक हस्ती का बल बढ़ता रहता है और उसके परिवार में वृद्धि होती रहती है, उसी प्रकार बहुश्रुत में भी नाना प्रकार की विद्याओं और शास्त्रों का अनुभव रूप बल उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है और उसके शिष्य परिवार में भी वृद्धि होती रहती है। जिस समय इस आत्मा में ज्ञान-क्रिया के साथ-साथ त्याग का बल बढ़ जाता है उस समय इसका प्रभाव सर्वोपरि हो जाता है तब स्थविर-पद से विभूषित होने वाला वह बहुश्रुत संसार के मायिक पदार्थों और संसार के अन्य क्षुद्र जीवो में से किसी से भी प्रभावित नही हो सकता, प्रत्युत उन सब पर उसका पूर्ण प्रभाव रहता है।

अब वृषभ की उपमा से बहुश्रुत का वर्णन करते हैं—

जहा से तिक्खसिंगे, जायखन्धे विरायई ।
वसहे जूहाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए ॥१९ ॥

यथा स तीक्ष्णशृङ्गः, जातस्कन्धो विराजते ।
वृषभो यूथाधिपतिः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः—जहा—जैसे, **से**—वह, **तिक्खसिंगे**—तीक्ष्ण सींगों वाला, **जायखन्धे**—उन्नत स्कन्धों वाला, **वसहे**—वृषभ—बैल, **जूहाहिवई**—गो-वर्ग का स्वामी, **विरायई**—शोभा पाता है, **एवं**—उसी प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत, **हवइ**—होता है।

मूलार्थ—जैसे तीक्ष्ण शृङ्गों वाला तथा उन्नत स्कन्ध वाला यूथाधिपति—गोवर्ग का स्वामी वृषभ अर्थात् बैल शोभा पाता है, उसी प्रकार वह बहुश्रुत शोभा पाता है।

टीका—इस गाथा में बहुश्रुत को तीक्ष्ण शृङ्ग, उन्नत ककुद और गौओं के यूथ के स्वामी उत्तम वृषभ से उपमित किया गया है। जिस प्रकार अपने तीक्ष्ण शृङ्गों और उन्नत ककुद से युक्त उत्तम वृषभ अपने गो-वर्ग का स्वामी होकर संसार में शोभा पाता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी अपने गच्छ का अधिपति होकर अर्थात् आचार्यादि पद से विभूषित होकर अपनी प्रभामयी गुणगरिमा से संसार में गौरवान्वित होता है।

यहा पर बहुश्रुत का स्व-शास्त्र और पर-शास्त्र विषयक जो विशिष्ट ज्ञान है वही उसके दो तीक्ष्ण शृङ्ग है तथा जिस प्रकार वृषभ का स्कन्ध मांस की उपचिति से पुष्ट होकर भार के उद्वहन में समर्थ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी ज्ञानादि गुणों के द्वारा अनुभव-बल में वृद्धि प्राप्त करके गच्छ के अनेकविध कार्यों के भार को उठाने में समर्थ होता है। इसी प्रकार जैसे वृषभ अपने यूथ—गो वर्ग में प्रधान पद प्राप्त करता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी साधु-समुदाय का अधिपति होकर अपने आचार्य पद को सुशोभित करता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वृषभ धौरेय भारोद्वहन में समर्थ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी शासन के भार को उठाने में समर्थ होता है।

अब शास्त्रकार सिंह की उपमा से बहुश्रुत का वर्णन करते हैं—

जहा से तिक्खदाढे, उदग्गे दुप्पहंसए ।
सीहे मियाण पवरे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २० ॥

यथा स तीक्ष्णदंष्ट्रः, उदग्रो दुष्प्रधर्षकः ।
सिंहो मृगाणां प्रवरः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः—जहा—जैसे, **से**—वह, **तिक्खदाढे**—तीक्ष्ण दाढ़ों वाला, **उदग्गे**—उत्कट, **दुप्पहंसए**—जिसका जीतना कठिन है, **सीहे**—सिंह, **मियाण**—मृगों में, **पवरे**—प्रधान होता है, **एवं**—उसी प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत, **हवइ**—होता है।

मूलार्थ—जैसे उत्कट एवं तीक्ष्ण दाढ़ों वाला और जिसका जीतना अति कठिन है वह सिंह मृगों अर्थात् वन के समस्त जीवों में प्रधान होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी प्रधान होता है।

टीका—इस गाथा मे बहुश्रुत को सिंह से उपमित किया गया है, अर्थात् जैसे सिह जगल के समस्त जीवों में अधृष्ट और प्रधान होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी संसार के जीवो में अधृष्ट और प्रधान होता है।

यहां पर सिंह के समान तो बहुश्रुत है और उसकी तीक्ष्ण दाढ़ों के समान नैगमादि सात नय हैं और उदग्रता के समान बहुश्रुत के प्रतिभा आदि गुण हैं एवं मृगों के सदृश अन्यतीर्थी हैं। जैसे वन के अन्य जीव सिंह का किसी प्रकार से भी तिरस्कार नहीं कर सकते, किन्तु उससे सदा भय-भीत रहते हैं, उसी प्रकार अन्यतीर्थी लोग भी बहुश्रुत को किसी प्रकार से पराजित नहीं कर सकते, किन्तु स्वयं पराजित हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कोई पदार्थ स्याद्वाद की मुद्रा का उल्लंघन नहीं कर सकता। अतएव किसी भी प्रतिवादी का सिद्धान्त स्याद्वाद के सिद्धान्त की अवहेलना करने में समर्थ नहीं हो सकता। इसीलिए वह सिंह की तरह अधृष्य और अजेय है। यहां पर मृग शब्द वन मे रहने वाले सभी जीवों का उपलक्षक है—'मृगाणामारण्यजन्तूनाम्' इति।

अब बहुश्रुत का वासुदेव की उपमा से वर्णन करते हैं—

जहा से वासुदेवे, संखचक्कगदाधरे ।
अप्पडिहयबले जोहे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २१ ॥

यथा स वासुदेवः, शंखचक्रगदाधरः ।
अप्रतिहतबलो योधः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः—जह—जैसे, **से**—वह, **वासुदेवे**—वासुदेव, **संख-चक्क-गदा-धरे**—शंख, चक्र, गदा को धारण करने वाला, **अप्पडिहय**—जिसका कोई पराभव न कर सके, **बले**—बलवान्, **जोहे**—सुभट है, **एवं**—इसी प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत, **हवइ**—होता है।

मूलार्थ—जैसे वह वासुदेव शंख, चक्र, गदा के धारण करने वाला और अप्रतिहतबल रखने वाला, अति बलवान् तथा संग्राम में महान् योद्धा होता है उसी प्रकार बहुश्रुत है।

टीका—वासुदेव के चक्र, धनुष, खड्ग, मणि, गदा, वनमाला और शख ये सात रत्न प्रतिपादित किए गए है, किन्तु इनमें शंख, चक्र और कौमोदकी गदा ये तीन प्रधान रत्न माने गए हैं। इसी प्रकार बहुश्रुत में अनेक गुणो के विद्यमान होने पर भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र ये तीन प्रधान गुण-रत्न है। जैसे वासुदेव युद्ध में शत्रुओं का पराभव करता है उसी प्रकार बहुश्रुत भी काम-क्रोधादि रूप अन्तरग शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है, तथा जैसे वासुदेव बल से परिपूर्ण होता है वैसे ही बहुश्रुत भी अपने स्वाभाविक प्रतिभा-बल से ओत-प्रोत होता है, इसीलिए आगमों में लिखा है कि—युद्ध मे शूरवीर वासुदेव होता है, तप मे शूरवीर अनगार है, भोग मे शूरवीर चक्रवर्ती और क्षमा में शूरवीर अर्हन् प्रभु हैं। यहा पर वासुदेव की उपमा के प्रतिपादन करने का अभिप्राय बहुश्रुत में अन्तरंग शत्रुओं की विजेतृता के निदर्शन से है। इस प्रकार वासुदेव के गुणों के सादृश्य से बहुश्रुत की प्रशंसा की गई है।

अब चक्रवर्ती की उपमा से बहुश्रुत का वर्णन करते हैं—

जहा से चाउरन्ते, चक्कवट्टी महिड्ढिए ।
चोद्दसरयणाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २२ ॥

यथा स चातुरन्तः चक्रवर्ती महर्द्धिकः ।
चतुर्दशरत्नाधिपतिः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—यथा, **से**—वह, **चाउरन्ते**—चारों दिशाओं के अन्त पर्यन्त राज्य करने वाला (भरत क्षेत्र की अपेक्षा), **चक्कवट्टी**—चक्रवर्ती, **महिड्ढिए**—महा ऋद्धि वाला, **चोद्दस**—चौदह, **रयणाहिवई**—रत्नों का स्वामी, **एवं**—इसी प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत, **हवइ**—होता है।

मूलार्थ—जैसे चारों दिशाओं में राज्य करने वाला चक्रवर्ती महाऋद्धि वाला और चौदह रत्नों का स्वामी होता है उसी प्रकार बहुश्रुत होता है।

टीका—चक्रवर्ती का राज्य चारों दिशाओं की सीमा तक होता है, जैसे कि पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशा में समुद्र तक और उत्तर दिशा में हिमवन्तपर्यन्त उसका राज्य हुआ करता है, इसीलिए उसके राज्य को चतुरन्त कहते हैं।

वह गज, अश्व, रथ और पदाति—इन चारों प्रकार की सेनाओं से शत्रुओं का संहार करता है, एवं वैक्रिय आदि ऋद्धियों के होने से महाऋद्धि वाला होता है और वह १. सेनापति २. गाथापति, ३. पुरोहित, ४. गज, ५. तुरङ्ग, ६. वर्धकि, ७. स्त्री, ८. चक्र, ६. छत्र, १०. चर्म, ११. मणि, १२. काकिणी, १३. खड्ग और १४. दण्ड, इन चौदह रत्नों का स्वामी होता है तथा नव प्रकार की निधियों का अधिपति होता है।

जिस प्रकार चक्रवर्ती में उक्त गुण विद्यमान होते हैं उसी प्रकार बहुश्रुत भी उक्त प्रकार के गुणों से विभूषित होता है। जैसे कि चक्रवर्ती की भांति बहुश्रुत की चतुरंगिणी सेना—दान-शील-तप और भावना है, इन्हीं के द्वारा वह अपने रागद्वेषादि अन्तरंग शत्रुओं का संहार करता है। जिस प्रकार चक्रवर्ती चारों दिशाओं का अन्त करने वाला होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी चारों गतियों का अन्त कर देता है, फिर जैसे चक्रवर्ती के पास वैक्रिय आदि लब्धियां होती है उसी प्रकार आमर्षौषध्यादि लब्धियां तथा पुलाक आदि लब्धिया बहुश्रुत की महा ऋद्धियां हैं। चक्रवर्ती के चौदह रत्नों के समान बहुश्रुत चौदह पूर्वों का स्वामी होता है। जिस प्रकार चक्रवर्ती की कीर्ति चारों दिशाओं में उसके उक्त साधनों से फैल जाती है, उसी प्रकार ज्ञानादि गुणो के प्रभाव से बहुश्रुत की कीर्ति का भी चारों दिशाओं मे प्रसार हो जाता है।

अब इन्द्र की उपमा से बहुश्रुत की स्तुति करते हैं—

जहा से सहस्सक्खे, वज्जपाणी पुरन्दरे ।
सक्के देवाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २३ ॥

यथा स सहस्राक्षः, वज्रपाणिः पुरन्दरः ।
शक्रो देवाधिपतिः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—यथा, **से**—वह, **सहस्सक्खे**—सहस्राक्ष, **वज्जपाणी**—वज्रपाणी-वज्र हाथ में

है जिसके, **पुरन्दरे**—दैत्यों का विदारण करने वाला, **सक्के**—इन्द्र, **देवाहिवई**—देवों का अधिपति है, **एवं**—उसी प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत, **हवइ**—होता है।

मूलार्थ—जैसे इन्द्र हजार आंखों वाला, हाथ में वज्र रखने वाला, दैत्यों का विनाश करने वाला है, उसी प्रकार बहुश्रुत होता है।

टीका—जैसे इन्द्र की हजार आंखें होती हैं, उसी प्रकार बहुश्रुत की श्रुत-ज्ञान-रूप हजार आंखें होती हैं। जैसे इन्द्र के हाथ में सदैव वज्र रहता है उसी प्रकार बहुश्रुत के हाथ में वज्र का चिह्न होता है। जैसे इन्द्र दैत्यों के नगरों का विदारण करता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी शरीररूप नगर को तप-कर्म के द्वारा दुर्बल कर लेता है। जैसे इन्द्र देवों का अधिपति है, उसी प्रकार देव-समान साधुओं का बहुश्रुत अधिपति है, क्योंकि हरिकेशिबल मुनि की तरह वह भी देवों के द्वारा पूजा जाता है।

उक्त गाथा में इन्द्र को जो हजार आंखों वाला कहा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि— इन्द्र के एक कम पाच सौ मन्त्री इस प्रकार के हैं कि जिन पर इन्द्रदेव की प्रसन्नता होती है उस पर वे भी प्रसन्न रहते हैं और जिस पर इन्द्रदेव अप्रसन्न होते हैं उस पर उनकी भी प्रसन्नता नहीं रहती। अतः इन्द्र की दो आंखों के साथ मन्त्रियों की ९९८ आंखों को सम्मिलित करने से इन्द्रदेव 'सहस्राक्ष' बन जाता है। वृत्तिकार ने यह भी लिखा है कि हजार आंखों की जितनी ज्योति होती है, उतनी ज्योति इन्द्र महाराज की दो आंखों में है।* इसलिए इन्द्रदेव को 'सहस्राक्ष' कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं है, क्योंकि शास्त्रकारो ने केवलज्ञान की दृष्टि से भगवान को अनन्त-चक्षु कहा है।

अब सूर्य की उपमा देकर बहुश्रुत का वर्णन करते हैं।

जहा से तिमिरविद्धंसे, उत्तिट्ठन्ते दिवायरे ।
जलन्ते इव तेएण, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २४ ॥

यथा स तिमिर-विध्वंसकः, उत्तिष्ठन्दिवाकरः ।
ज्वलन्निव तेजसा, एवं भवति बहुश्रुतः ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—यथा, **से**—वह, **दिवायरे**—सूर्य, **तिमिर**—अन्धकार को, **विद्धंसे**—विध्वंस करने वाला, **उत्तिट्ठन्ते**—सूर्य की तरह, **जलन्ते इव तेएण**—तेज से प्रदीप्त, **एवं**—इस प्रकार—तप-तेज से, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत तेजस्वी, **हवइ**—होता है।

मूलार्थ—जैसे अन्धकार को नष्ट करने वाला उदय होता हुआ सूर्य अपने तेज से तेजस्वी होता है उसी प्रकार बहुश्रुत भी अपने तप-तेज से तेजस्वी होता है।

टीका—जैसे सूर्य उदित होकर अपने तेज की प्रदीप्त ज्वालाओं को चारों ओर फैलाता हुआ अन्धकार का नाश करने वाला होता है, ठीक उसी प्रकार बहुश्रुत भी मिथ्यात्व-रूप अन्धकार को नष्ट

★ यदन्ये नेत्राणा सहस्रेण पश्यन्ति तदसी द्वाभ्या नेत्राभ्या साधिकं पश्यतीति सहस्राक्ष इत्युच्यते, इति सम्प्रदाय.। भावविजयगणिसमर्थितवृत्तौ।

करने वाला होता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार उदय होता हुआ सूर्य अन्धकार का विनाशक है, उसी प्रकार क्रियानुष्ठान में किसी प्रकार के प्रमाद का सेवन न करने वाला, अर्थात् धर्मानुष्ठान में सदा अप्रमत्त रहने वाला बहुश्रुत भी मिथ्यात्वरूप अन्धकार का विनाशक होता है। जैसे अन्धकार के विनाशक तेजस्वी सूर्य के असह्य तेज की ओर आंख नहीं उठाई जा सकती, उसी प्रकार द्वादशविध तप के अनुष्ठान से तेजस्विता को प्राप्त हुए बहुश्रुत की ओर भी कोई प्रतिवादी आंख उठाकर नहीं देख सकता।

इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में जो 'उत्तिष्ठन्'—उदय होता हुआ कहा गया है, उसका अभिप्राय यह है कि—जैसे आकाश में उदय होने पर ही सूर्य अन्धकार का नाश करने में समर्थ होता है उसी प्रकार बहुश्रुत भी अप्रमत्त दशा को प्राप्त हुआ ही अपने तपोबल से देदीप्यमान होकर भव्य जनों के हृदयान्धकार का विनाश करने में समर्थ होता है।

अब चन्द्रमा की उपमा से बहुश्रुत का वर्णन करते हैं—

जहा से उडुवई चन्दे, नक्खत्त-परिवारिए ।
पडिपुण्णे पुण्णमासीए, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २५ ॥

यथा स उडुपतिश्चन्द्रः, नक्षत्र-परिवारितः ।
प्रतिपूर्णः पौर्णमास्यां, एवं भवति बहुश्रुतः ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैसे, **से**—वह, **उडुवई**—नक्षत्रों का स्वामी, **चन्दे**—चन्द्रमा, **नक्खत्त-परिवारिए**—नक्षत्रों से परिवृत्त होकर, **पडिपुण्णे**—प्रतिपूर्ण, **पुण्णमासीए**—पूर्णमासी में विराजता है, **एवं**—इसी प्रकार, **हवइ**—होता है, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत।

मूलार्थ—जैसे नक्षत्रों का स्वामी चन्द्रमा नक्षत्रों से परिवृत एवं सर्व कलाओं से पूर्ण होकर पूर्णिमा को शोभा पाता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी शोभा पाया करता है।

टीका—जिस प्रकार नक्षत्र-गण से घिरा हुआ तारा-मंडल का स्वामी चन्द्र, पूर्णिमा के दिन अपनी पूर्ण शोभा से युक्त होता है, ठीक उसी प्रकार गच्छ मे अथवा श्रीसघ में रहा हुआ बहुश्रुत अपने गुणों द्वारा अपूर्व शोभा को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि जैसे पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा अपनी सारी कलाओं से युक्त होता हुआ ससार को आनन्द देता है, उसी प्रकार सम्यक्त्वादि सद्गुणों से पूर्ण होता हुआ बहुश्रुत भी भव्य जीवों को परम शान्तिरूप आनन्द के देने वाला होता है।

जैसे ग्रह-नक्षत्रादि का स्वामी चन्द्रमा है, वैसे ही संघ का अधिपति बहुश्रुत होता है एवं चन्द्रमा की भांति साधु-संघ से घिरा हुआ बहुश्रुत भी अपने शान्त्यादि गुणों से सदैव प्रसन्न ही दिखाई देता है।

सारांश यह है कि पूर्णिमा के चन्द्रमा में पूर्णता और शीतलता आदि जितने भी गुण विद्यमान हैं वे सब बहुश्रुत में भी पाए जाते हैं, अतः चन्द्रमा की भांति बहुश्रुत भी दर्शनीय, वन्दनीय, पूजनीय और वांछनीय होता है।

अब सूत्रकार धान्यपति की उपमा से बहुश्रुत का वर्णन करते हैं—

जहा से सामाइयाणं, कोट्ठागारे सुरक्खिए ।
नाणाधन्न-पडिपुण्णे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २६ ॥

यथा स सामाजिकानां, कोष्ठागारः सुरक्षितः ।
नानाधान्य-प्रतिपूर्णः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैसे, **से**—वह, **सामाइयाणं**—ग्रामवासियों के, **कोट्ठागारे**—कोष्ठागार, अर्थात् भण्डार, **सुरक्खिए**—सुरक्षित होते है और वह, **नाणाधन्न-पडिपुण्णे**—नाना प्रकार के धान्यों से, **एवं**—इसी प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत, **हवइ**—होता है।

मूलार्थ—जैसे ग्राम-वासियों के नाना प्रकार के धान्यों से परिपूर्ण कोष्ठागार अर्थात् भण्डार सुरक्षित होते हैं, उसी प्रकार से बहुश्रुत भी सुरक्षित रहता है।

टीका—जैसे ग्रामवासी धनाढ्य लोग समय-समय पर नाना प्रकार के धान्यों का कोठों में संग्रह करके रखते है और मूषकादि के उपद्रवों से उनको बचाए रखते हैं, इसी प्रकार बहुश्रुत भी अपने अन्तःकरणरूप कोठे में अंगोपांगरूप धान्य-राशि को एकत्र करके उसे प्रमाद रूप मूषकों से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करता है, क्योकि जैसे मूषकादि जीव धान्य को नष्ट कर देते है, उसी प्रकार प्रमाद भी ज्ञान को विकृत कर देता है। धान्यराशि के कोठों को सुरक्षित रखने के लिए जैसे अन्य पुरुषों का पहरा रहता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी ज्ञान-भण्डाररूप बहुमूल्य धान्य-राशि को भविक गृहस्थों के द्वारा सुरक्षित रखता है।

उक्त गाथा का यह भी भाव है कि जैसे प्राणों का एवं जीवन का आधार होने से जनता संग्रह की हुई धान्य-राशि को सर्व प्रकार से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करती है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी भव्य जीवों के लिए आधारभूत तथा उनके मिथ्यात्व का नाश करने वाला होने से संघ के द्वारा सदा सुरक्षित होना चाहिए।

अब बहुश्रुत की सुदर्शन वृक्ष की उपमा से स्तुति करते हैं—

जहा सा दुमाण पवरा, जम्बू नाम सुदंसणा ।
अणाढियस्स देवस्स, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २७ ॥

यथा सा द्रुमाणां प्रवरा, जम्बूर्नाम सुदर्शना ।
अनादृतस्य देवस्य, एवं भवति बहुश्रुतः ॥ २७ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैसे, **सा**—वह, **दुमाण**—वृक्षो में, **पवरा**—प्रधान, **जम्बू**—जम्बू, **नाम**—नाम वाला वृक्ष है, **सुदंसणा**—सुदर्शन जिसका नाम है, **अणाढियस्स**—अनादृत, **देवस्स**—देवता के द्वारा अधिष्ठित है, **एवं**—उसी प्रकार, **हवइ**—होता है, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत।

मूलार्थ—जैसे वृक्षों में प्रधान जम्बू नामक वृक्ष है, जिसका दूसरा नाम सुदर्शन है तथा जो अनादृत देव के द्वारा अधिष्ठित है उसी प्रकार बहुश्रुत होता है।

टीका—जैसे सुदर्शन नाम से भी पुकारा जाने वाला जम्बू नाम का वृक्ष सब वृक्षों में प्रधान होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी सर्व साधुओं में प्रधान होता है तथा जैसे वह अमृतमय शाश्वत फलों से युक्त होता है उसी प्रकार बहुश्रुत भी मृदुभाषणादिरूप सद्गुणों से सम्पन्न होता है। जिस प्रकार वह वृक्ष देवों का आश्रय दाता है उसी प्रकार बहुश्रुत भी अनेक भव्य जीवों का आश्रयभूत होता है और जैसे वृक्ष के नाम से यह जम्बूद्वीप सुप्रसिद्ध हुआ है वैसे ही बहुश्रुत के नाम से गच्छ की प्रसिद्धि होती है तथा जैसे वह जम्बू वृक्ष* अनादृत नाम के देव द्वारा अधिष्ठित है, उसी प्रकार यह बहुश्रुत भी ज्ञानाधिष्ठित होता है, अतः यहां बहुश्रुत को जम्बू वृक्ष से ठीक ही उपमित किया गया है।

यहां पर उक्त गाथा की दीपिका टीका में तो पुल्लिंग का निर्देश किया गया है और अन्य वृत्तियों में स्त्रीलिंग का निर्देश है—जैसे कि—**जहा से—जहा सा** इत्यादि, सो प्राकृत की शैली से ये दोनों ही रूप मान्य हैं।

अब शास्त्रकार बहुश्रुत के लिए शीता नदी की उपमा देते हैं—

जहा सा नईण पवरा, सलिला सागरंगमा ।
सीया नीलवन्तपवहा, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २८ ॥

यथा सा नदीनां प्रवरा, सलिला सागरंगमा ।
शीता नीलवत्प्रवहा, एवं भवति बहुश्रुतः ॥ २८ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैसे, **सा**—वह, **नईण**—नदियों में, **पवरा**—प्रधान, **सलिला**—नदी, **सागरंगमा**—सागर में जाने वाली, **सीया**—शीता नाम की है—और वह, **नीलवन्त-पवहा**—नीलवंत पर्वत से निकली है, एवं—इस प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत, **हवइ**—होता है।

मूलार्थ—जैसे सागर में मिलने वाली और नीलवन्त पर्वत से उत्पन्न होने वाली शीता नाम की नदी सब नदियों में प्रधान मानी गई है, वैसे ही बहुश्रुत होता है।

टीका—जैसे समुद्र मे जाकर मिलने वाली और मेरु के उत्तर दिशा में स्थित वर्षधर—नीलवन्त पर्वत से उत्पन्न हुई शीता नाम की नदी सभी नदियों में प्रधान मानी जाती है, उसी नदी के समान बहुश्रुत होता है। तात्पर्य यह है कि शीता नदी के समान—मुनियो में बहुश्रुत प्रधान है और उसकी भांति श्रुत-ज्ञान-रूप जल से परिपूर्ण है, तथा शीता नदी की तरह बहुश्रुत भी मोक्षरूप समुद्र में जा मिलता है—जा विराजता है। इसी प्रकार बहुश्रुत का भी शीता नदी की तरह उच्च्व कुल, गोत्रादिरूप नीलवंत पर्वत से ही जन्म होता है तथा जैसे उक्त नदी शीतल जल और विस्तृत प्रवाह से युक्त है उसी प्रकार बहुश्रुत भी क्षमारूप शीतल जल और ज्ञान, दर्शन, चारित्र के विस्तृत प्रवाह से युक्त है।

★ इस वृक्ष का पूर्ण विवरण जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और जीवाभिगम सूत्र में देखना चाहिए।

उक्त गाथा के अर्थ से यह भी ध्वनित होता है कि जैसे ऊंचे पर्वत से निकलने वाली नदी का जल अति स्वच्छ, शीतल और स्वादु होता है उसी प्रकार सद्विद्या आदि गुणों का उद्भव भी प्रायः उच्च कुल में उत्पन्न होने वाले बहुश्रुत में ही होता है।

अब शास्त्रकार बहुश्रुत को मेरु की उपमा से अलंकृत करते हैं—

जहा से नगाण पवरे, सुमहं मन्दरे गिरी ।
नाणोसहिपज्जलिए, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २६ ॥

यथा स नगानां प्रवरः, सुमहान्मन्दरो गिरिः ।
नानौषधि-प्रज्वलितः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैसे, **से**—वह, **नगाण**—पर्वतों मे, **पवरे**—प्रधान, **सुमहं**—अति बड़ा, **मन्दरे**—मेरु, **गिरी**—पर्वत है और, **नाणोसहि**—नाना प्रकार की औषधियों से, **पज्जलिए**—प्रज्वलित है, **एवं**—इसी प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत, **हवइ**—होता है।

मूलार्थ—जैसे पर्वतों में प्रधान और अत्यन्त विस्तार वाला मेरु पर्वत नाना प्रकार की औषधियों से देदीप्यमान है उसी प्रकार बहुश्रुत भी होता है।

टीका—जिस प्रकार मेरु पर्वतों मे प्रधान अति विस्तार वाला तथा शल्या, विशल्या, संजीविनी, संरोहणी, चित्रावल्ली, सुधावल्ली, विषापहारिणी, शस्त्रनिवारिणी, भूतनागदमनी आदि अनेक प्रकार की जड़ी-बूटियों से देदीप्यमान हो रहा है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी मुनियों में प्रधान, श्रुतज्ञान के माहात्म्य से अति महान् और परवादीरूप प्रबल वायु से भी अकम्पित एवं नानाविध लब्धियों से प्रकाशमान होता है तथा जिस प्रकार मेरु पर्वत अन्धकार का नाश करता है, उसी प्रकार बहुश्रुत मिथ्यात्व रूप अन्धकार का नाश करने वाला होता है।

अब सूत्रकार स्वयंभूरमण समुद्र की उपमा देकर बहुश्रुत का वर्णन करते हैं—

जहा से सयंभू-रमणे, उदही अक्खओदए ।
नाणारयणपडिपुण्णे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ ३० ॥

यथा स स्वयंभूरमणः, उदधिरक्षयोदकः ।
नानारत्न-प्रतिपूर्णः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥ ३० ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैसे, **से**—वह, **सयंभू-रमणे**—स्वयंभू-रमण, **उदही**—समुद्र, **अक्खओदए**—अक्षय उदक को धारण करने वाला, **नाणा**—नाना प्रकार के, **रयण**—रत्नों से, **पडिपुण्णे**—प्रतिपूर्ण है, **एवं**—इसी प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत, **हवइ**—होता है।

मूलार्थ—जैसे वह स्वयंभू-रमण समुद्र अक्षय उदक को धारण करने वाला और नानाविध रत्नों से परिपूर्ण है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी होता है।

टीका—स्वयंभू-रमण समुद्र अक्षय जल को धारण करने वाला है, क्योंकि उसका जल कभी शुष्क नहीं होता, इसलिए द्रव्यार्थिक नय के मत से उसका जल अक्षय प्रतिपादन किया गया है, और इसीलिए उसको अक्षयोदक कहते हैं। फिर वह नाना प्रकार के रत्नों से—मरकतादि मणियों से—भरा हुआ है, इसी प्रकार बहुश्रुत भी गांभीर्यादि गुणों से भरपूर होता है, अर्थात् स्वयंभू-रमण समुद्र के समान वह भी अपने में ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप अक्षय जल को धारण करने वाला हुआ करता है। उसमें नाना प्रकार के अतिशय रूप रत्न होते हैं तथा वैक्रिय आदि लब्धियां उसमे बहुमूल्य मणियां कही जा सकती हैं, इसीलिए बहुश्रुत की स्वयंभू-रमण समुद्र से उपमा दी गई है। बहुश्रुत में गम्भीरता का होना परम आवश्यक है, क्योंकि जहां पर शान्ति और गम्भीरता होती है वहां पर सभी सद्गुण आ जाते है।

अब बहुश्रुत के सहज गुणों का वर्णन करते हैं—

समुद्दगम्भीरसमा दुरासया, अचक्किया केणइ दुप्पहंसया ।
सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो, खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया॥ ३१ ॥

समुद्रगंभीरसमा दुराश्रयाः, अचकिताः केनापि दुष्प्रधर्षकाः ।
श्रुतेन पूर्णा विपुलेन त्रायिणः, क्षपयित्वा कर्मगतिमुत्तमां गताः ॥ ३१ ॥

पदार्थान्वयः—**समुद्दगम्भीरसमा**—समुद्र के समान गम्भीर, **दुरासया**—जीतने की बुद्धि से दुराश्रय है, **केणइ**—कोई भी प्रतिवादी, **अचक्किया**—समर्थ नहीं है, **दुप्पहंसया**—न कोई उसका तिरस्कार कर सकता है, **विउलस्स**—विस्तीर्ण, **सुयस्स**—श्रुत से, **पुण्णा**—पूर्ण है, **ताइणो**—षट्काय का रक्षक—पालक, **कम्मं**—कर्मों को, **खवित्तु**—क्षय करके, **उत्तमं**—उत्तम, **गइं**—गति को, **गया**—प्राप्त हुआ।

मूलार्थ—समुद्र के समान गम्भीर, प्रतिवादियों से न जीता जा सकने वाला तथा किसी से भी तिरस्कृत न होने वाला, विस्तृत श्रुत-ज्ञान से परिपूर्ण और षट्काय का रक्षक होता हुआ बहुश्रुत कर्मों का क्षय करके उत्तम गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

टीका—इस गाथा में बहुश्रुत के गुणो का वर्णन किया गया है, जैसे कि बहुश्रुत समुद्र के समान गम्भीर होता है और यदि कोई वादी कपट-बुद्धि से उसे छलना चाहे तो उसके लिए यह काम दुःसाध्य हो जाता है, अर्थात् उसे उसको छलने का कोई अवसर नहीं मिलता। कोई भी वादी उसको त्रस्त अथवा तिरस्कृत नहीं कर सकता, क्योंकि वह श्रुतज्ञान मे प्रत्येक दृष्टि से परिपूर्ण होता है और षट्काय के संरक्षण में पूर्णतया सावधान रहता है। इस प्रकार गुणों का आश्रयभूत जो बहुश्रुत है वह कर्मों का क्षय करके उत्तम गति—मोक्ष में जाता है।

उपलक्षण से उक्त गुणों को धारण करने वाले अन्य साधक भी कर्मों का क्षय करके मोक्ष में गए और आगे भी जाएंगे।

इस प्रकार बहुश्रुत के गुणों का वर्णन करने के अनन्तर अब शिष्यों के उपदेश के विषय में कहते हैं—

तम्हा सुयमहिट्ठिज्जा, उत्तमट्ठगवेसए ।
जेणऽप्पाणं परं चेव, सिद्धिं संपाउणेज्जासि ॥ ३२ ॥
त्ति बेमि ।

इति बहुस्सुयपुज्जं एगारसं अज्झयणं समत्तं ॥ ११ ॥

तस्मात् श्रुतमधितिष्ठेत्, उत्तमार्थगवेषकः ।
येनात्मानं परं चैव, सिद्धिं संप्रापयेत् ॥ ३२ ॥
इति ब्रवीमि ।

इति बहुश्रुतपूजमेकादशमध्ययनं संपूर्णम् ॥

पदार्थान्वयः—**तम्हा**—इसलिए, **सुयं**—श्रुत को, **अहिट्ठिज्जा**—पढ़े, **उत्तमट्ठ**—उत्तम अर्थ के, **गवेसए**—गवेषणा करने वाला, **जेण**—जिससे, **अप्पाणं**—अपने आत्मा को, **च**—और, **परं**—दूसरे को, **सिद्धि**—मोक्ष मे, **संपाउणेज्जासि**—पहुंचाता है, **त्ति**—(समाप्ति अर्थ मे), **बेमि**—मै कहता हूं।

मूलार्थ—इसलिए उत्तम अर्थ का गवेषण करने वाला साधक उस श्रुत को पढ़े, जिस श्रुत से वह अपने तथा पर के आत्मा को मोक्ष में पहुंचाता है, अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

टीका—इस गाथा में यह भाव प्रदर्शित किया गया है कि बहुश्रुत होने का अन्तिम फल मोक्ष की प्राप्ति है, अत· मुमुक्षु जनो को श्रुत का अध्ययन अवश्य करना चाहिए, क्योंकि श्रुत का श्रवण करना, चिन्तन करना आदि जितने भी व्यापार है वे सब श्रुत के अध्ययन के ही कारण है, अतः उत्तम अर्थ अर्थात् मोक्ष की गवेषणा करना ही बहुश्रुत का प्रधान कर्त्तव्य है। तात्पर्य यह है कि अपने आत्मा और पर के आत्मा को मोक्ष मे ले जाने का साधन एक मात्र श्रुत ही है। उसी के आश्रय से वह अपने तथा दूसरे की आत्मा को मुक्ति-मार्ग का पथिक बनाने मे समर्थ हो सकता है। इसलिए बहुश्रुत मुनि को श्रुत के सम्पादन मे सबसे अधिक प्रयत्नशील होना चाहिए, क्योकि उसके आश्रय से बहुश्रुत व्यक्ति स्वयं मोक्षगामी होता हुआ दूसरो को भी मोक्ष मे पहुचने के योग्य बना देता है।

सारांश यह है कि बहुश्रुत स्वय तो मोक्ष को प्राप्त करता ही है, परन्तु अपने श्रुत के प्रभाव से अपने उपासकों को भी उसी मार्ग का अनुसरण कराकर मोक्ष-मन्दिर तक पहुचा देता है, इसलिए दशवैकालिक सूत्र मे कहा गया है कि 'बहुस्सुय पज्जुवासिज्जा' अर्थात् मोक्ष के लिए बहुश्रुत की उपासना, अर्थात् सेवा करे।

'**त्ति** बेमि' की व्याख्या पीछे अनेक बार आ चुकी है, उसी के अनुसार यहा पर भी इन शब्दों का भाव समझ लेना चाहिए।

एकादशम अध्ययन संपूर्ण

अह हरिएसिज्जं बारहं अज्झयणं

अथ हरिकेशीयं द्वादशमाध्ययनम्

एकादशवें अध्ययन में जिस बहुश्रुत की पूजा-सत्कार का वर्णन किया गया है उसके लिए भी तप का अनुष्ठान करना परम आवश्यक है। इसलिए इस वक्ष्यमाण बारहवें अध्ययन में तप का माहात्म्य बताते हुए परम तपस्वी हरिकेशबल नाम के साधु के जीवन-वृत्तान्त का वर्णन करते हैं। हरिकेशबल नामक एक साधु महान् तपस्वी हुए है, उनके तप का माहात्म्य इस अध्ययन में वर्णन किया जाता है। हरिकेशबल साधु का जीवन-वृत्तान्त वृत्तिकारो ने इस प्रकार से वर्णन किया है—

किसी समय मथुरा नगरी में शंख नाम का एक प्रतापी राजा राज्य करता था। वह विषय-भोगों से विरक्त होकर स्थविरो के पास दीक्षित हो गया और कुछ समय के बाद वह गीतार्थ भी बन गया।

एक समय वह शंख मुनि जो कि पहले शख नाम का राजा था पृथ्वी-मण्डल में भ्रमण करता हुआ हस्तिनापुर में आया। उस नगर मे प्रवेश करने के लिए एक बड़ा ही भयंकर और अति उष्ण मार्ग था। गरमी के दिनों में उस मार्ग पर कोई भी पुरुष नंगे पांवों से नहीं चल पाता था, इसी कारण से उस मार्ग का नाम '**हुतवह**' पड़ गया था।

शख मुनि जब इस नगर मे भिक्षा लेने के लिए चले तो मार्ग के समीप ही गवाक्ष में बैठे हुए सोमदेव नाम के पुरोहित से शंख मुनि ने ग्राम में जाने का मार्ग पूछा और कहा कि क्या मैं इस मार्ग से चला जाऊ?

शख मुनि के इन शब्दो को सुनकर सोमदेव ने अपने मन मे विचारा कि इस साधु को 'हुतवह' मार्ग से भेजना चाहिए, क्योंकि यदि यह इस मार्ग से जाएगा तो ऐइसके पाव खूब जलेंगे और इसके सन्ताप को मैं यहा पर बैठा हुआ बड़े कौतूहल से देखूंगा। इस आशय से प्रेरित हुए सोमदेव नाम के उस पुरोहित ने शख मुनि को उसी 'हुतवह' मार्ग से जाने की सम्मति प्रदान की।

शंख मुनि ने भी सोमदेव के निर्देशानुसार उसी मार्ग का अनुसरण किया, परन्तु मुनि के तपोबल के प्रभाव से उस मार्ग की उष्णता दूर हो गई, अर्थात् उसकी तपन जाती रही, वह गर्म होने के बदले बिल्कुल ठंडा प्रतीत होने लगा और वह शंख मुनि ईर्या-समिति-पूर्वक शनैः-शनैः उस मार्ग से जाने लगे।

उक्त मार्ग से आनन्दपूर्वक जाते हुए मुनि को देखकर वह सोमदेव नाम का पुरोहित गवाक्ष से नीचे उतरा और उसी मार्ग से जब वह नंगे पांव चलने लगा तो उसको वह मार्ग बिल्कुल ही ठंडा प्रतीत होने लगा। तब उसने इस बात को मुनिराज के तपोबल का प्रभाव समझकर मन में बहुत पश्चात्ताप किया और वह सोचने लगा कि—

'हा! मैने तो बड़े भारी पापकर्म का उपार्जन किया है जो कि ऐसे मुनीश्वर को इस प्रकार के भयकर मार्ग से जाने को प्रेरित किया, परन्तु इस मुनि के चरणों के प्रताप से मार्ग की अत्यन्त उष्णता भी शान्त हो गई, अतः यदि मै इसी मुनि का शिष्य बन जाऊं तब मुझे कोई भी पाप नहीं लगेगा और यदि मै इनका शिष्य न बना तब तो मैं अवश्य ही किसी भारी पाप का भागी बनूंगा।''

इस प्रकार विचारते हुए उसने शंख मुनि के पास जाकर अपने मन के सारे पाप को प्रकाशित कर दिया और उनके चरणो मे गिर पड़ा। शख मुनि ने उसको आश्वासन देते हुए सम्यक् प्रकार से धर्म का उपदेश दिया। धर्म के उपदेश को सुनकर सोमदेव को वैराग्य उत्पन्न हो गया और उसने उक्त मुनि से दीक्षा ग्रहण कर ली।

सोमदेव ने जहा अपने ग्रहण किए हुए चारित्र व्रत के पालन मे किसी प्रकार की कमी नही रखी, वहां उसको इस बात का तो जरूर मद हो गया कि 'मै ब्राह्मण हूं—उत्तम कुल और उत्तम जाति वाला हू।' तात्पर्य यह है कि परमार्थ को भली प्रकार से न जानता हुआ वह बहुत काल तक सयम का यथाविधि पालन करके आयु-कर्म के समाप्त होने पर देवता बना। वहां पर बहुत काल तक देवोचित सुखो का उपभोग करके वहा से च्यव कर गगा के किनारे बलश्रेष्ठ नाम के स्थान मे हरिकेश नाम के चाण्डाल की गौरी नाम्नी भार्या के गर्भ में आया।

उसके गर्भ मे आने पर उसकी माता ने स्वप्न मे फलो से लदे हुए विशाल आम के वृक्ष को देखा। जब स्वप्न पाठको को वह स्वप्न-सुनाया गया तब उन्होने कहा कि इस स्वप्न का फल यह है कि तुम्हारे घर मे एक बड़ा योग्य पुत्र उत्पन्न होगा।

गर्भ का समय पूरा होने पर गौरी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस प्रकार जाति-मद के कारण उसका चाण्डाल के घर मे जन्म हुआ तथा जाति एवं रूप के मद के फलस्वरूप उसका शरीर सौभाग्य और रूपरहित होने के कारण वह अपने अन्य भाइयो के लिए भी हास्य का कारण बन गया और अन्य बालक भी उसकी शरीर की आकृति को देखकर हसा करते थे। उन्होने उसका नाम 'बल' रख दिया और उसी नाम से वह जनता में प्रसिद्ध हो गया। इस प्रकार धीरे-धीरे बढ़ता हुआ वह सबसे क्लेश करने के कारण सबको अप्रिय लगने लगा।

किसी समय वसन्तोत्सव के दिनों मे हरिकेश चाण्डाल के कुटुम्ब ने नाना प्रकार के खाद्य पदार्थों का संग्रह करके उसे नगर के बाहर ले जाकर रखा और खान-पान के लिए एकत्रित हो गए। परन्तु उस समय बल नाम के उस बालक न अपने अन्य सजातीय बालकों से बहुत क्लेश किया। तब जाति के अन्य वृद्ध पुरुषो ने उसकी इस जघन्य प्रवृत्ति से दुखी होकर उसको पंक्ति से बाहर निकाल दिया, फिर वह दूर खड़ा हुआ ही अपनी जाति के अन्य बालको की क्रीड़ाए देखने लगा। वह चाहता था कि

वहां जाकर उनके साथ मैं भी खेलूं, परन्तु वृद्धों ने उसे अतिक्रोधी जानकर वहां आने से रोक दिया था।

इसी अवसर पर वहां एक सर्प निकल आया। उसको अतिभयंकर विष वाला समझकर वहां पर एकत्रित हुए उन चाण्डालों ने उसको मार डाला और फिर वहां पर ही एक लम्बी गोह आ निकली। तब उन चाण्डालों ने उसे निर्विष समझकर मारा नहीं, किन्तु उठाकर दूर छोड़ दिया।

इस दृश्य को कुछ दूरी पर खड़े हुए उस चांडाल-पुत्र 'बल' ने भी देखा। उसको देखकर उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि वास्तव में प्राणी अपने ही दोषों से सर्वत्र तिरस्कार का पात्र बनता है। यदि मै सांप के समान क्रोध-रूप विष से भरा हुआ हूं तभी तो ये लोग मेरा तिरस्कार कर रहे हैं और यदि मै गोह के समान निर्विष होता तब तो कोई मेरा अनादर न करता। इस प्रकार विचार-परम्परा में निमग्न हुए उसको जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। तब उसने अपने पूर्व भव के जाति-मद के फल और देवोचित्त सुखों की विनश्वरता का विचार करके इस संसार को तुच्छ समझकर वैराग्य-पूर्वक दीक्षाव्रत को अंगीकार कर लिया और वह मुनि हरिकेशबल के नाम से संसार में विख्यात हुआ।

दीक्षाव्रत को स्वीकार करने के अनन्तर हरिकेशीबल साधु ने मुनि धर्मोचित आचार का पालन करते हुए घोर तपश्चर्या आरम्भ कर दी। व्रत, बेला, तेला, चौला, अर्धमास और मास तप का अनुष्ठान करते हुए विहार करके एक समय वह वाराणसी नगरी में पहुंचा और वहां पर तिंदुक वन में बने हुए मण्डिक यक्ष के मन्दिर मे ठहरा। वहां पर उसने मास-क्षमण तप का आरम्भ कर दिया। उसके गुणों में अनुरक्त होकर वह मंडिक यक्ष उसकी निरन्तर सेवा करने लगा।

किसी समय उसी वन मे मडिक यक्ष के पास कोई दूसरा यक्ष—प्राघूर्णक अर्थात् पाहुना बन कर आया। उस आगन्तुक यक्ष ने मंडिक यक्ष से कहा कि तुम आजकल मेरे वन में क्यों नहीं आते?

उत्तर मे मंडिक यक्ष ने कहा कि मै आजकल इस महर्षि की सेवा में रहता हूं। इसके गुणों के अनुराग से मेरा अन्यत्र कहीं पर भी जाने को मन नहीं करता। यह सुनकर यक्ष भी उस मुनि के गुणों पर मुग्ध होकर उसकी सेवा करने लगा।

एक दिन उस आगन्तुक यक्ष ने मंडिक यक्ष से कहा कि 'मित्र! इस प्रकार के एक मुनि मेरे वन मे भी ठहरे हुए है, चलो उनके भी दर्शन करे तथा उनकी सेवा-सुश्रूषा करें। ऐसे कहकर वे दोनों वहां पर गए और जाकर देखा तो मुनि प्रमाद में तत्पर और विकथा आदि में लगे हुए पाए गए। तब वे दोनों यक्ष उनसे विरक्त होकर वहां से वापिस चले आए और दोनों ही बड़ी श्रद्धा-भक्ति से हरिकेशीबल मुनि की सेवा करने लगे।'

एक समय उस यक्ष-मन्दिर में वाराणसी के स्वामी कौशलिक राजा की पुत्री भद्रा अपने दास दासियो के साथ पूजा की सामग्री लेकर आई। यक्ष की प्रतिमा का भली-भान्ति पूजन करने के अनन्तर प्रदक्षिणा करते समय उसने हरिकेशीबल मुनि के मल से मैले वस्त्र और घोर तपस्या के कारण अत्यन्त कृश एव कुरूप शरीर को देखकर उस पर थूक दिया।

उसके द्वारा किए गए उक्त मुनि के इस भयंकर अपमान को देखकर मडिक यक्ष से न रहा

गया। उसने इस अपमान के उत्तर में राजकन्या को योग्य शिक्षा देने का विचार करके उसको दास-दासियों सहित उठाकर राजमहल में फैक दिया। राजपुत्री की भयानक दशा देखकर राजमहल में कोलाहल मच गया। तब राजा ने अपने अमात्यों के द्वारा नगर के अनेक अनुभवी वृद्ध वैद्यों को बुलाकर उसकी चिकित्सा आरम्भ करवाई, परन्तु अनेक प्रकार की औषधियों का प्रयोग करने पर भी उस कन्या के रोग में अणुमात्र भी अन्तर नही पड़ा।

तब उसके मुख मे प्रवेश करके वह यक्ष कहने लगा कि इस कन्या ने मेरे मन्दिर में ठहरे हुए एक संयमशील महातपस्वी साधु का घोर अपमान किया है, इसलिए मैंने ही इसकी यह दशा कर दी है। यदि अब यह उससे विवाह करने को तैयार हो जाए तब मै इसको छोड़ सकता हूं, अन्यथा नहीं। राजा ने यक्ष की बात को जब स्वीकार कर लिया तब यक्ष ने उस कन्या को छोड़ दिया और वह पहले की तरह स्वस्थ हो गई।

इसके अनन्तर राजा ने उस कन्या को नानाविध अलंकारो से अलंकृत किया और कन्या तथा विवाह के योग्य बहुमूल्य उपकरणों को लेकर उस वन मे लाकर उसने कन्या-सहित हरिकेशीबल मुनि के चरणो में नमस्कार किया और हाथ जोड़कर इस प्रकार प्रार्थना करने लगा—

'हे मुने! इस कन्या से आप विवाह कीजिए और इसके सुकोमल करो को अपने तपस्वी करो के स्पर्श से पवित्र कीजिए।' पिता के इस कथन का उस कन्या ने भी बड़ी नम्रता से समर्थन किया। पिता और पुत्री के इस प्रकार के वचनों को सुनकर हरिकेशीबल मुनि बोले कि—

'बुद्धिमान पुरुषो के द्वारा बार-बार निन्दित किए गए इस स्त्री-भोग रूप अधर्म से हम तो सर्वथा निवृत्ति पा चुके हैं और जहां पर स्त्री, पशु और नपुंसक ठहरते हो, वहां पर भी हम नहीं ठहरते तथा न ही स्त्री के साथ एक स्थान मे निवास करते है, तब भला इस कन्या का हाथ किस तरह ग्रहण किया जाए ? वास्तव मे तो साधु मुक्ति के इच्छुक होते है, स्त्रियो से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। कन्या की ओर सकेत करके वे बोले—हे भद्रे! मै तो सयमशील साधु हू, इसलिए मै तो स्त्री का स्पर्श तीन करण और तीन योगो से भी नही कर सकता, इसलिए हे भद्रे! तू मेरे से दूर रह। मैने तेरा हाथ कभी ग्रहण नही किया, किन्तु तेरे साथ जो कुछ भी व्यवहार हुआ है वह सब कुछ इस यक्ष की चेष्टा का फल है, मेरा इससे कोई सरोकार नही है।

मुनि के इन वचनों को सुनकर राजा और राजकन्या दोनो खिन्नचित्त होकर अपने राज-भवन मे वापिस चले आए। तब राजा से रुद्रदेव नाम के पुरोहित ने कहा कि 'हे राजन! यह कन्या अब मुनि-पत्नी हो चुकी है, किन्तु उस मुनि ने यह त्याग दी है, अत अब यह कन्या किसी ब्राह्मण को दे देनी चाहिए, क्योकि ऋषियो का भोज्य पदार्थ ब्राह्मणो के योग्य होता है।

तब राजा ने वह कन्या उस पुरोहित को ही दे दी। फिर वह पुरोहित कुछ समय तक उस राजकन्या से विषय-सुख का उपभोग करता हुए एक दिन राजा से कहने लगा कि अब इसको ऋषिपत्नी के स्थान पर यज्ञपत्नी बनाना है, अतः मैं एक बड़े विशाल यज्ञ का सम्पादन करना चाहता हूं। राजा ने उसको यज्ञ करने की आज्ञा दे दी। तब रुद्रदेव नाम के पुरोहित ने अनेक देशों के अनेक

विद्वानों को आमंत्रित किया और वे सब आ गए। यज्ञमंडप में पधारने वाले उन आगन्तुक विद्वानों के लिए रुद्रदेव ने अनेक प्रकार की भोजन-सामग्री का निर्माण कराया।

इसी अवसर पर वे महर्षि वहां पर मासोपवास के पारणे के निमित्त भिक्षा के लिए आ पहुंचे (इतनी कथा सूत्र में आए हुए विषय से सम्बन्ध मिलाने के लिए वर्णन की गई है) उस समय यज्ञ-मंडप में आए हुए उस मुनि का ब्राह्मणों के साथ जो वार्तालाप हुआ था उसी का दिग्दर्शन प्रस्तुत सूत्र के इस बारहवें अध्ययन मे कराया गया है, जोकि उक्त मुनि के जीवन से सम्बन्ध रखता हुआ बड़ा ही रोचक और शिक्षाप्रद है, यथा—

सोवागकुलसंभूओ, गुणुत्तरधरो मुणी ।
हरिएसबलो नाम, आसि भिक्खू जिइन्दिओ ॥ १ ॥

श्वपाककुलसंभूतः, गुणोत्तरधरो मुनिः ।
हरिकेशबलो नाम, आसीद् भिक्षुर्जितेन्द्रियः ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—सोवाग—चाडाल, **कुल**—कुल मे, **संभूओ**—उत्पन्न हुआ, **गुणुत्तरधरो**—प्रधान गुणो का धारक, **मुणी**—मुनि, **हरिएसबलो**—हरिकेशबल, **नाम**—नाम वाला, **भिक्खू**—साधु, **जिइंदिओ**—जितेन्द्रिय, **आसि**—हुआ।

मूलार्थ—चांडाल-कुल में उत्पन्न एवं मुनियों के प्रधान गुणों के धारक मुनि हरिकेशबल नाम का एक जितेनद्रिय साधु हुआ था।

टीका—हरिकेशबल नामक एक जितेन्द्रिय साधु चांडाल कुल मे उत्पन्न होकर भी प्रधान गुणो का धारक हुआ है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि नीच कुल में उत्पन्न होने पर भी गुणो की विशिष्टता से यह आत्मा उच्च कुल वालों का भी पूजनीय हो सकता है तथा दीक्षा का अधिकार केवल उच्चवर्ग को ही नहीं, किन्तु उसका वास्तविक सम्बन्ध तो वैराग्यभावित सभी आत्माओं से होता है, अर्थात् दीक्षा और ज्ञान का सम्बन्ध किसी उच्च अथवा नीच कुल से नहीं, किन्तु उसका सम्बन्ध केवल शुद्ध आत्मा से है। जाति और कुल गोत्र तो अघातिकर्मो का फल है और ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र ये सब ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन घाति कर्मो के क्षय व क्षयोपशम का परिणाम है, इसलिए ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति से ऊंच-नीच जाति का कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसी अभिप्राय से प्रस्तुत अध्ययन की उत्पत्ति हुई है, अर्थात्, चारित्र-प्राप्ति और गुण-सम्पदा के लाभार्थ आत्मा मे विशिष्ट योग्यता की ही आवश्यकता है और जाति तथा कुल-गोत्र उसमें कारण-भूत नही है। आत्मा के साथ लगे हुए कर्ममल को जलाने के लिए तप-रूप अग्नि को प्रज्वलित करने की आवश्यकता है तथा आत्मा में रहे हुए अज्ञानान्धकार को दूर करने के निमित्त अन्तरात्मा मे ज्ञान-ज्योति के प्रकाश की जरूरत है। इसलिए मोक्ष के कारणभूत ज्ञान और चारित्र के सम्पादन में किसी उच्च जाति अथवा कुल विशेष की कोई आवश्यकता नही। इसी आशय से सिद्धान्त में कहा

गया है—**'न तस्स जातिं व कुलं व ताणं'** तथा—**'नन्नत्थ विज्जा-चरणप्पमोक्खं'** अर्थात् जाति और कुल इस आत्मा को दुर्गति से नहीं बचा सकते तथा विद्या और चारित्र के बिना और कोई मोक्ष का साधन नहीं है, अतः विचारशील पुरुषों को किसी व्यक्ति के कुल-गोत्र का विचार न करते हुए उसके गुणों का ही विचार करना चाहिए, क्योंकि वास्तविक पूज्यता इस आत्मा में उत्तम गुणों के संचार से ही आ सकती है।

अब इस विषय में एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि सारा विचार गुणों पर ही अवलम्बित है तो क्या नीच जाति के साधु के साथ उच्च जाति के साधुओं को आहार कर लेना चाहिए? यदि नहीं तो जाति की भी प्रधानता रही।

इसका समाधान यह है कि सिद्धान्त की दृष्टि से तो हीन जाति के साधु के साथ आहार करने में कोई दोष नहीं है, परन्तु व्यवहार-दृष्टि को लेकर ऐसा करना उचित नही, क्योंकि वीतरागदेव के मार्ग मे निश्चय और व्यवहार दोनों को ही अपनी-अपनी कक्षा मे समान अधिकार दिया गया है। यदि केवल निश्चय मार्ग का ही अवलम्बन करना सदा श्रेयस्कर होता तो केवली भगवान् के लिए रात्रि मे विहार न करना, रात्रि में भोजन न करना तथा स्त्रीयुक्त स्थान मे न बैठना इत्यादि लौकिक मर्यादा के अनुसरण करने की आवश्यकता कदापि न होती, इसीलिए लोक मे यदि नीच जाति के साधु के साथ अन्य साधुओं के आहार आदि के एकत्रित होने की चर्चा नहीं अथवा यदि जनता में इसके लिए अनादर की भावना नही तब तो इस कार्य में कोई आपत्ति नहीं परन्तु यदि लोक मर्यादा इस कार्य का समर्थन नही करती तब तो इसका आचरण करना उचित नहीं है। इसका सारांश यह है कि सिद्धान्त के अनुसार यदि कोई कार्य निन्दाजनक नहीं तो भी यदि लोकमत के विरुद्ध हो तो उस कार्य का भी आदर नहीं होना चाहिए। कहा भी है—**'यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं न करणीयं नाचरणीयम्।'**

अब फिर उक्त मुनि के गुणों के विषय में कहते हैं—

इरिएसणभासाए, उच्चारसमिईसु य ।
जओ आयाणनिक्खेवे, संजओ सुसमाहिओ ॥ २ ॥

ईर्येषणाभाषा, उच्चारसमितिषु च ।
यत आदाननिक्षेपे, संयतः सुसमाहितः ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—**इरि**—ईर्या, **एसण**—एषणा, **भासाए**—भाषा, **उच्चार**—पुरीष, **य**—और, **समिईसु**—समितियो मे, **जओ**—यत्न वाला, **आयाण**—वस्तु ग्रहण करना, **निक्खेवे**—निक्षेप करना, **संजओ**—यत्न करने वाला, **सुसमाहिओ**—सुन्दर समाधि वाला।

मूलार्थ—वह मुनि ईर्या-समिति, एषणा-समिति, भाषा-समिति, उच्चार-समिति, आदान और निक्षेप-समिति, इन पांचों में यत्न करने वाला तथा सुन्दर समाधि वाला था।

टीका—इस गाथा में मुनि के गुणो का वर्णन करते हुए पांचों समितियों का उल्लेख किया गया है, अर्थात् वह हरिकेशबल नामक साधु मार्ग मे चलते समय ईर्यासमिति का उपयोग करता था, बोलते

समय भाषासमिति का पालन करता था और आहार आदि की गवेषणा के समय एषणा-समिति से युक्त रहता था तथा पीठ-पाट आदि के ग्रहण मे और रखने में निरन्तर यत्नवान् था और साथ ही मल और मूत्र आदि पदार्थों के त्याग में सर्वथा विवेक से काम लेता था। इस प्रकार साधु की प्रत्येक क्रिया में यत्नशील होता हुआ वह सदा समाहित था।

इन पांचों समितियों के विस्तृत स्वरूप का उल्लेख इसी सूत्र के चौबीसवें अध्ययन मे किया गया है, अतः वहां पर ही इनका विवेचन किया जाएगा, यहां पर समितियों का जो अनुक्रम से उल्लेख नहीं किया गया उसका कारण केवल छंदोभग दोष से बचना ही है।

एवं भासए यहां पर जो '**भासा**' शब्द के आगे 'ए' यह प्रत्यय दिया है, इसका तात्पर्य सप्तमी विभक्ति के निर्देश से नहीं, किन्तु यहां पर प्राकृत आर्षवाणी के कारण से ही 'एकार' का आगमन हुआ है, ऐसा समझना चाहिए।*

अब फिर उक्त मुनि के गुणों का ही वर्णन किया जाता है—

मणगुत्तो वयगुत्तो, कायगुत्तो जिइन्दिओ ।
भिक्खट्ठा बम्भइज्जम्मि जन्नवाडे उवट्ठिओ ॥ ३ ॥

मनोगुप्तो वचोगुप्तः, कायगुप्तो जितेन्द्रियः ।
भिक्षार्थं ब्रह्मेज्ये, यज्ञपाट उपस्थितः ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—मणगुत्तो—मनगुप्त, **वयगुत्तो**—वचनगुप्त, **कायगुत्तो**—कायागुप्त, **जिइंदिओ**—जितेन्द्रिय, **भिक्खट्ठा**—भिक्षा के लिए, **बंभइज्जम्मि**—ब्राह्मणों के यज्ञ मे, **जन्नवाडे**—यज्ञवाट में, **उवट्ठिओ**—उपस्थित हुआ।

मूलार्थ—मनोगुप्त, वचन और कायगुप्त तथा जितेन्द्रिय वह मुनि भिक्षा के निमित्त से ब्राह्मणों द्वारा सम्पादन किए गए यज्ञ-मंडप में उपस्थित हुआ।

टीका—इन्द्रियों को सर्वथा वश मे रखने वाला वह मुनि भिक्षार्थ भ्रमण करता हुआ एक समय ब्राह्मणो के द्वारा सम्पादित होने वाले एक यज्ञ मे उपस्थित हुआ। उस मुनि के मन, वचन और काय, ये तीनो ही गुप्त अर्थात् सुरक्षित थे। तात्पर्य यह है कि ध्यान-समाधि के द्वारा उसने अपने मन को वश मे किया हुआ था, इसी प्रकार वाणी और शरीर पर भी उसका पूरा अधिकार था।

यहां पर दूसरी बार जो 'जितेन्द्रिय' शब्द का उल्लेख किया गया है, उसका तात्पर्य इन्द्रियों की दुर्जयता को सूचित करना है, क्योंकि इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करना नितान्त कठिन है।

'**मनोगुप्तः**' का अर्थ मनोगुप्ति से गुप्त, इस प्रकार मध्यमपदलोपी-समास से अर्थ करना चाहिए।[1]

★ 'एकारस्यालाक्षणिकत्वाद् वा प्राकृते आर्षत्वाद् एकारस्यागमोऽस्ति'।

१ 'मनोगुप्त्या गुप्तो मनोगुप्त , वचोगुप्त्या गुप्तो वचोगुप्त. कायगुप्त्या गुप्त. कायगुप्त'' इत्यादि।

उक्त यज्ञवाटिका में उपस्थित होने के बाद क्या हुआ, अब इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं, यथा—

तं पासिऊणं एज्जन्तं, तवेण परिसोसियं ।
पन्तोवहिउवगरणं, उवहसन्ति अणारिया ॥ ४ ॥

तं दृष्ट्वाऽऽयान्तं, तपसा परिशोषितम् ।
प्रांतोपध्युपकरणं, उपहसन्त्यनार्याः ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**तं**—उस मुनि को, **एज्जंतं**—आता हुआ, **पासिऊणं**—देख करके, **तवेण**—तप से, **परिसोसियं**—परिशोषित, **पंतोवहि**—प्रान्त उपधि तथा, **उवगरणं**—उपकरणो के धरने वाला, **उवहसंति**—उपहास करते है, **अणारिया**—अनार्य अर्थात् अनार्यों की तरह।

मूलार्थ—उस समय-तप से सूखा हुआ है शरीर जिसका तथा जिसके वस्त्रादि बाह्य उपकरण अत्यन्त जीर्ण हैं, ऐसे उस मुनि को मंडप में आते देखकर वे ब्राह्मण लोग अनार्यों को भांति उस मुनि का उपहास करने लगे।

टीका—जिस समय हरिकेशबल मुनि यज्ञमडप में आए, उस समय यज्ञ-विधान करने वाले ब्राह्मण लोग उस आगन्तुक के शरीर की आकृति को देखकर इस प्रकार उसका उपहास करने लगे जैसे किसी भद्र व्यक्ति का अनार्य लोग उपहास किया करते है। मुनि हरिकेशबल का बाह्य स्वरूप कुछ ऐसा था जिससे कि उसके अन्दर मे रहने वाला आत्म-प्रकाश बिल्कुल तिरोहित सा हो रहा था। एक तो उनके शरीर की आकृति सुन्दर न थी, दूसरे वे तपश्चर्या से अत्यन्त क्षीण हो रहे थे एवं उनकी उपधि और उपकरण दोनों ही अत्यन्त जीर्ण और मलिन थे। उक्त मुनि के आन्तरिक स्वरूप को न समझते हुए यदि वे याज्ञिक लोग उनका उपहास करे तो यह कुछ अस्वाभाविक नहीं है।

तथापि किसी आगन्तुक व्यक्ति का बिना प्रयोजन उपहास करना भी किसी प्रकार से शिष्ट-सम्मत नही कहा जा सकता। इसी अभिप्राय से उक्त गाथा में अनार्य शब्द का प्रयोग किया गया है, अर्थात् जैसे असभ्य व्यक्ति हर किसी का उपहास करने में प्रवृत्त हो जाते है, उसी प्रकार उन ब्राह्मणो ने भी उक्त मुनि से किसी प्रकार का परिचय प्राप्त किए बिना ही उनका उपहास करना आरम्भ कर दिया। निस्सन्देह उनका यह व्यवहार सभ्यता से गिरा हुआ था।

उपधि और उपकरण मे इतना ही भेद है कि साधु के हर समय पहरने तथा उपयोग मे आने वाले वस्त्र-पात्र आदि उपधि है और वर्षा तथा शीतकाल में ओढ़ने योग्य कम्बल आदि उपकरण के नाम से व्यवहृत किए जाते है।

अब उन याज्ञिक ब्राह्मणों के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

जाईमयपडिथद्धा, हिंसगा अजिइन्दिया ।
अबम्भचारिणो बाला, इमं वयणमब्बवी ॥ ५ ॥

जातिमदप्रतिस्तब्धाः, हिंसका अजितेन्द्रियाः ।
अब्रह्मचारिणो बाला, इदं वचनमब्रुवन् ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—जाईमय—जातिमद से, **पडिथद्धा**—अहंकार युक्त, **हिंसगा**—हिंसा करने वाले, **बाला**—अज्ञानी, **अजिइंदिया**—इन्द्रियों के वशीभूत, **अबंभचारिणो**—ब्रह्मचर्य से रहित—मैथुन का सेवन करने वाले, **इमं**—इस प्रकार, **वयणं**—वचन, **अब्बवी**—कहने लगे।

मूलार्थ—जातिमद से प्रतिस्तब्ध, हिंसा करने वाले, अजितेन्द्रिय, ब्रह्मचर्य से रहित अर्थात् मैथुन का सेवन करने वाले वे अनार्य ब्राह्मण उपहास करने के बाद उस मुनि से इस प्रकार कहने लगे।

टीका—इस गाथा मे उन यज्ञ करने वाले ब्राह्मणो के स्वरूप का कुछ वर्णन किया गया है। जब उन्होंने उक्त मुनि को देखा तो वे हंसने लगे, क्योंकि उनको—'हम ब्राह्मण है' इस प्रकार के जाति-मद का गर्व था। इसके अतिरिक्त वे हिंसक है अर्थात् जीवों के वध में प्रवृत्ति रखने वाले और इन्द्रियों के वशीभूत तथा मैथुन का सेवन करने वाले है, अतएव उनको यहां बाल—मूर्ख—अज्ञानी जीव कहा गया है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति को किसी प्रकार का मद होता है वह अपने में रहे हुए अनेक अवगुणों को देख नहीं पाता। इसके अतिरिक्त उस पुरुष की हिंसक प्रवृत्ति भी उसके हृदय में सात्त्विक भाव को उत्पन्न होने नहीं देती तथा जो व्यक्ति इन्द्रियों के वशीभूत है, उसका अन्तःकरण भी धार्मिक भावनाओं से प्रायः शून्य ही होता है और जिसकी ब्रह्मचर्य में निष्ठा नही उसका जीवन तो धार्मिक उद्यान में एक नीरस तरु के समान होता है, इसीलिए उक्त दूषणों से व्याप्त होने वाला जीव अज्ञानी अथवा मूर्ख कहा जाता है, फिर वह यदि किसी परमार्थ-दर्शी तपस्वी साधु-मुनि का उपहास करे या उसकी अवहेलना करे तो इसमे आश्चर्य की कौन-सी बात है?

आए हुए मुनि हरिकेशबल को उन्होंने क्या कहा, अब इसी बात का उल्लेख करते हैं—

कयरे आगच्छइ दित्तरूवे?, काले विकराले फोक्कनासे? ।
ओमचेलए पंसु-पिसायभूए?, संकरदूसं परिहरिय कंठे ॥ ६ ॥

कतर आगच्छति दीप्तरूपः?, कालो विकरालः फोक्कनासः? ।
अवमचेलकः पांशुपिशाचभूतः?, संकर-दूष्यं परिधृत्य कंठे ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—कयरे—कौन, **आगच्छइ**—आ रहा है, **दित्तरूवे**—दीप्तरूप, **काले**—काले वर्ण वाला, **विकराले**—भयंकर, **फोक्कनासे**—ऊंची नासिका वाला, **ओमचेलए**—जीर्ण वस्त्रों वाला, **पंसुपिसायभूए**—रज—धूलि के स्पर्श से जो पिशाच के सदृश है, **संकरदूसं**—रूड़ी के वस्त्रों को, **कंठे**—गले में, **परिहरिय**—धारण करके।

मूलार्थ—वह कौन आ रहा है? दीप्तरूप, काले वर्ण वाला, महाभयंकर और चपटी-नासिका वाला, जिसने कि असार अर्थात्, अत्यन्त जीर्ण वस्त्र पहन रखे हैं तथा रज के स्पर्श से जो पिशाच के तुल्य प्रतीत हो रहा है एवं रूड़ी से उठाए गए वस्त्रों के समान मैले एवं जीर्ण वस्त्र जिसने गले में धारण किए हुए हैं।

टीका—मुनि हरिकेशबल को जब ब्राह्मणों ने दूर से आते देखा तब वे इस प्रकार कहने लगे—यह कौन आ रहा है जिसका कि रूप अति बीभत्स है, वर्ण अति काला है, इतना ही नहीं अति भयंकर होने से विकराल भी है। इसकी नासिका आगे से ऊंची और मध्य में बैठी हुई है, वस्त्र भी बिल्कुल जीर्ण हैं और धूलि के स्पर्श से पिशाच की तरह प्रतीत हो रहा है तथा संकर-दूष्य—ग्राम की रूड़ी से उठाकर लाए हुए अतिनिकृष्ट वस्त्रादि इसने गले मे धारण कर रखे है, तात्पर्य यह है कि जैसे रूड़ी पर पड़े हुए वस्त्र बिल्कुल मलिन होते हैं उन्ही के समान उक्त मुनि के वस्त्र है। पर शास्त्रकार ने जो गले में वस्त्र धारण करने का उल्लेख किया है, उससे यह प्रतीत होता है कि मुनि हरिकेशबल हर समय अपनी उपधि को साथ लेकर ही भ्रमण करते थे।

उक्त गाथा में आए हुए 'विकराल' शब्द का अर्थ वृत्तिकारो ने यद्यपि—'**विकरालो—विकृतांगोपांगधरः लंबोष्ठदंतुरत्वादि—विकारयुक्तः**' यह अर्थ किया है, तथापि यहां पर एतावन्मात्र अर्थ ही युक्ति-संगत प्रतीत होता है कि—'उसके अगोपांग विकृत थे' जिससे कि वे देखने वालों को भयकर प्रतीत होते थे। इसके अतिरिक्त 'विकराल' का अर्थ यदि केवल ओष्ठ और दांतों की विकृति करना ही सूत्रकार को अभीष्ट होता तो जैसे नासिका के लिए—फोक्कनासः' का उल्लेख किया है, उसी प्रकार ओष्ठ और दांतों के लिए भी कोई दूसरा विशेषण अवश्य प्रयुक्त किया जाता, इसलिए विकराल शब्द का इतना ही अर्थ युक्तिसगत प्रतीत होता है कि उसका दर्शन बड़ा भयकर था। '**फोक्कनास**' का अर्थ है—'**फोक्का अग्रे स्थूलोन्नता मध्ये निम्ना-चिप्पटा नासा यस्य स फोक्कनासः**' अर्थात् जिसकी नासिका आगे से स्थूल और ऊची तथा मध्य में निम्न और चिपटी हो उसे फोक्कनासिक कहते है।

इसके अनन्तर समीप आने पर उस आगन्तुक मुनि को वे ब्राह्मण कहते हैं—

कयरे तुमं इय अदंसणिज्जे?, काए व आसा इहमागओऽसि ?
ओमचेलया पंसुपिसायभूया!, गच्छ क्खलाहि किमिहं ठिओऽसि? ॥७॥

कतरस्त्वमित्यदर्शनीयः?, कया वाऽऽशयाइहागतोऽसि ?
अवमचेलक! पांशुपिशाचभूत! गच्छाऽपसर किमिह स्थितोऽसि? ॥७॥

पदार्थान्वयः—कयरे—कौन, **तुमं**—तू, **इय**—इस प्रकार, **अदंसणिज्जे**—अदर्शनीय, **व**—अथवा, **काए**—किस, **आसा**—आशा से, **इहं**—यहां पर, **आगओऽसि**—आया है, **ओमचेलया**—हे जीर्ण वस्त्रो के धारण करने वाले ! **पंसुपिसायभूया**—धूलि से पिशाच की भाति प्रतीत होने वाले! **गच्छ**—जा, **क्खलाहि**, हमारी दृष्टि से परे हो! **कि**—क्यों, **इहं**—यहा पर, **ठिओसि**—खड़ा है?

मूलार्थ—कौन है तू जो कि इस प्रकार से अदर्शनीय है? अथवा किस आशा से यहां पर आया है? हे अतिजीर्ण वस्त्रों के धारण करने वाले पिशाचरूप! जा हमारी दृष्टि से परे हो जा! तू क्यों यहां पर खड़ा है?

टीका—प्रस्तुत गाथा में आमंत्रणार्थ में जो 'रे' शब्द का ग्रहण किया गया है वह अति नीचता का सूचक है और जो '**मागओसि**' में मकार है, वह अलाक्षणिक है। एवं '**क्खलाहि**' यह क्रियापद देशी प्राकृत का है, इसकी प्रतिरूप क्रिया '**अपसर**' है। '**ओमचेलया-पिसायभूया**' में सम्बोधन के विषय में अकार को प्राकृत के नियम से दीर्घ किया गया है, यथा—'हे गोयमा' इसके अतिरिक्त इस पद को दूसरी बार जो गाथा में स्थान दिया गया है, उसका तात्पर्य अत्यन्त भर्त्सना से है।

इस प्रकार ब्राह्मणों के तिरस्कार-युक्त वचनों को सुनकर उक्त तपस्वी मुनि ने तो उनको कुछ भी उत्तर नहीं दिया, परन्तु उनकी सेवा में रहने वाले उनके परम भक्त उस यक्ष ने जो कुछ किया और कहा अब उसी का वर्णन करते हैं—

जक्खे तहिं तिन्दुयरुक्खवासी, अणुकम्पओ तस्स महामुणिस्स।
पच्छायइत्ता नियगं सरीरं, इमाइं वयणाइमुदाहरित्था ॥ ८ ॥

यक्षस्तस्मिन् (काले) तिन्दुकवृक्षवासी, अनुकम्पकः तस्य महामुनेः।
प्रच्छाद्य निजकं शरीरं, इमानि वचनान्युदाहृतवान् ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—**जक्खे**—यक्ष, **तहिं**—उस समय, **तिंदुयरुक्खवासी**—तिन्दुक वृक्ष में रहने वाला, **तस्स**—उस, **महामुणिस्स**—महामुनि पर, **अणुकम्पओ**—अनुकम्पा करने वाला, **पच्छायइत्ता**—प्रच्छन्न करके, **नियगं**—अपने, **सरीरं**—शरीर को, **इमाइं**—इन—वक्ष्यमाण, **वयणाइं**—वचनों को, **उदाहरित्था**—बोलने लगा।

मूलार्थ—उस समय उक्त मुनि पर अनुकम्पा करने वाला तिन्दुक वृक्षवासी यक्ष अपने शरीर को प्रच्छन्न करके, अर्थात् उस मुनि के शरीर में प्रविष्ट होकर उन ब्राह्मणों से इस प्रकार बोला—

टीका—उन ब्राह्मणो के इस प्रकार के तिरस्कार-युक्त वचनों को सुनकर भी वे मुनि तो मौन ही रहे परन्तु उनकी सेवाभक्ति करने वाले यक्ष ने उनके शरीर में प्रविष्ट होकर उन ब्राह्मणों से वक्ष्यमाण वार्तालाप किया।

इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि उस समय उन यज्ञ-दीक्षित ब्राह्मणों के साथ मुनि हरिकेशबल का जो सवाद हुआ है वह वास्तव मे उनका सवाद नही, किन्तु उनके शरीर में प्रविष्ट हुए उस यक्ष से हुआ संवाद है। इसके साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि देवगण केवल गुणो के अनुरागी होते है, उनको किसी जाति अथवा कुल से कोई अनुराग नहीं होता एव धर्मात्मा और गुणिजनों की पूजा मनुष्य तो क्या देवता भी करते हैं '**देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो**'—(दशवैकालिक) यह भी स्पष्ट है।

उक्त मुनि का मौन रहना उनकी आक्रोश-परीषह पर पूर्ण विजयशीलता का परिचायक है।

तब साधुरूप से उस यक्ष का उन ब्राह्मणों से जो वार्तालाप हुआ अब उसी का वर्णन निम्नलिखित गाथा में करते हैं—

समणो अहं संजओ बम्भयारी, विरओ धणपयणपरिग्गहाओ ।
परप्पवित्तस्स उ भिक्खकाले, अन्नस्स अट्ठा इहमागओ मि ॥ ६ ॥

श्रमणोऽहं संयतो ब्रह्मचारी, विरतो धन-पचन-परिग्रहात् ।
परप्रवृत्तस्य तु भिक्षाकाले, अन्नार्थमिहाऽऽगतोऽस्मि ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—**अहं**—मैं, **समणो**—श्रमण हूं, **संजओ**—संयत—और, **बंभयारी**—ब्रह्मचारी हूं, **विरओ**—निवृत्त हो गया हूं, **धण**—धन से, **पयण**—अन्न के पकाने से, **परिग्गहाओ**—परिग्रह से, **पर**—और के वास्ते, **पवित्तस्स**—जो बनाया गया है, उ—निश्चय ही, **भिक्खकाले**—भिक्षाकाल में, **अन्नस्स**—अन्न के, **अट्ठा**—वास्ते, **इहं**—इस यज्ञमंडप मे, **आगओ मि**—मैं आया हूं।

मूलार्थ—यक्ष ने कहा—हे ब्राह्मणों! मैं श्रमण हूं, संयत हूं, ब्रह्मचारी हूं तथा धन के संचय करने, अन्न के पकाने और परिग्रह के रखने से मैं सर्वथा निवृत्त हो गया हूं और पर के लिए जिस आहार को अर्थात् अन्न को बनाया गया है उसमें से भिक्षा के समय पर आहार लेने जाता हूं, अतः इस यज्ञशाला में भी मै भिक्षा के लिए उपस्थित हुआ हूं।

टीका—इस गाथा मे साधु के शरीर मे प्रविष्ट होकर यक्षराज ने ब्राह्मणो के प्रश्न का जो उत्तर दिया है उसका दिग्दर्शन कराया गया है। ब्राह्मणो के दो प्रश्न थे—पहला, तू कौन है, और दूसरा, तू किसलिए यहा पर आया है। इनमे से पहले प्रश्न के उत्तर मे उसने कहा कि मै श्रमण हूं अर्थात् तप के अनुष्ठान मे निरन्तर श्रम करने से मै श्रमण कहलाता हू तथा सावद्य प्रवृत्ति से रहित होने के कारण सयत कहलाता हूं, मैथुन के सर्वथा त्याग से ब्रह्मचारी हू, एवं धन के त्याग से अकिंचन हूं। यह तो उनके प्रथम प्रश्न का उत्तर है।

दूसरे प्रश्न के उत्तर मे वह यक्ष कहता है कि मै स्वय अन्नादि का पाक नही करता, अत. जो अन्न किसी दूसरे के निमित्त से तैयार किया गया हो, उसी से मै भिक्षा के समय आहार लेने के लिए जाता हूं, यही श्रमण का आचार है। इसीलिए इस यज्ञमण्डप मे मै भिक्षा के लिए आया हूं। इस प्रकार उन ब्राह्मणों के दोनो प्रश्नों का यथार्थ उत्तर उस यक्ष ने दे दिया। यक्ष के उत्तर में दो बातों की विशेषता देखने में आती है—पहली यह कि साधु-वृत्ति के यथार्थ स्वरूप का संक्षेप से वर्णन करना और ब्राह्मणो के असभ्यता भरे प्रश्नो का सभ्य भाषा मे उत्तर देना।

एक बात जो उसके उत्तर मे सबसे अधिक आकर्षण पैदा करने वाली है वह यह है कि उसने अपने आपको अतिथि बताने के साथ-साथ अपनी गुण-गरिमा का भी बड़ी सुन्दरता से परिचय दे दिया है।

इसके अनन्तर उस यक्ष ने फिर कहा कि—

वियरिज्जइ खज्जइ भुज्जई, अन्नं पभूयं भवयाणमेयं ।
जाणाहि मे जायणजीविणु त्ति, सेसावसेसं लभऊ तवस्सी ॥ १० ॥

वितीर्यते खाद्यते भुज्यते, चान्नं प्रभूतं भवतामेतत् ।
जानीत मां याचनजीविनमिति, शेषावशेषं लभतां तपस्वी ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—वियरिज्जइ—वितीर्ण किया जाता है, **खज्जइ**—खाया जाता है, **भुज्जई**—भोगा जाता है, **अन्नं**—अन्न, **पभूयं**—अधिक, **भवयाणं**—आपके, **एयं**—यह प्रत्यक्ष है, **जाणाहि**—तुम जानते हो, **मे**—मेरा, **जायण**—याचना से, **जीविणु**—जीवन है, **त्ति**—इस प्रकार, **सेस**—शेष **अवसेसं**—अवशेष, **लभऊ**—प्राप्त करे, **तवस्सी**—तपस्वी।

मूलार्थ—हे ब्राह्मणों! यह सामने रखा हुआ प्रभूत अन्न तुम्हारे पास है—इसमें से वितीर्ण किया जाता है, खाया जाता है और भोगा जाता है, तुम जानते हो कि मेरा जीवन केवल याचना पर ही अवलम्बित है, अतः तपस्वी को शेष व अवशेष अन्न मिलना ही चाहिए।

टीका—प्रस्तुत गाथा के अर्थ का भली-भाति मनन करने से प्रतीत होता है कि उस समय जो यज्ञ किए जाते थे उनमें अन्नादि खाद्य पदार्थो का ही वितरण, भोजन और हवन किया जाता था, अर्थात् इसी निमित्त से यज्ञादि का समारम्भ होता था।

कहने का तात्पर्य यह है कि पशु का वध अथवा मांस का हवन करना इत्यादि आर्यजन-विगर्हित प्रवृत्ति को उस समय में भी कोई स्थान प्राप्त नही था, अन्यथा एक जैन भिक्षु का यज्ञ मण्डप में आकर भिक्षा का मागना सगत नही हो सकता, क्योकि जहा पर सात्त्विक आहार की उपलब्धि नहीं हो सकती वहा पर जैन मुनि का भिक्षार्थ उपस्थित होना कुछ भी अर्थ नही रखता।

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय हिसक यज्ञों के स्थान में सात्त्विक यज्ञों की प्रवृत्ति चल पड़ी थी, इसीलिए ब्राह्मणो के द्वारा आरम्भ किए जाने वाले यज्ञ मे अन्नादि के वितरण और भोजन आदि का वर्णन उपलब्ध होता है।

यक्ष कहता है कि हे ब्राह्मणों! आपके इस यज्ञ में दीन-अनाथो को अन्नादि दिए जाते है। घृत-खंडादि पदार्थो का भोजन किया जाता है, यहां पर प्रभूत अन्नादि पदार्थ विद्यमान है तथा आप लोग यह बात भली प्रकार जानते है कि मै भिक्षु हू और मेरा जीवन केवल भिक्षावृत्ति पर ही निर्भर है। इसलिए आपके पास जो शेष अथवा शेष मे भी जो शेष है—मुझे तपस्वी समझ कर वह आहार दे दो, क्योकि आपका यह यज्ञ सब जीवो की प्रीति को सम्पादन करने वाला है, अतः मुझे भी भिक्षा दे।

मुनि के उक्त भाषण को सुनकर उन ब्राह्मणों ने जो उत्तर दिया अब उसी का वर्णन करते हैं—

उवक्खडं भोयण माहणाणं, अत्तट्ठियं सिद्धमिहेगपक्खं ।
न ऊ वयं एरिसमन्नपाणं, दाहामु तुज्झं किमिहं ठिओऽसि? ॥ ११ ॥

उपस्कृतं-भोजनं ब्राह्मणानां, आत्मार्थिकं सिद्धमिहैकपक्षम् ।
न तु वयमीदृशमन्नपानं, तुभ्यं दास्यामः किमिह स्थितोऽसि? ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—उवक्खडं—संस्कार किया हुआ, अच्छी तरह पकाया हुआ, **भोयण**—भोजन,

माहणाणं—ब्राह्मणो के लिए है, **अत्तट्ठियं**—अपने लिए ही, **सिद्धं**—बनाया गया है—निष्पन्न किया गया है, **इह**—इस यज्ञमण्डप में, **एगपक्खं**—एक पक्ष जो ब्राह्मण है, उन्हीं के लिए है, **न**—नहीं, ऊ वितर्क मे, **वयं**—हम, **एरिसं**—इस प्रकार का, **अन्नं**—अन्न, **पाणं**—पानी, **दाहामु**—देंगे, **तुज्झं**—तुमको, **किं**—क्यों तुम, **इहं**—यहा पर, **ठिओऽसि**—खड़े हो?

मूलार्थ—यह संस्कार किया हुआ भोजन केवल ब्राह्मणों के लिए ही है, अतः अपने लिए ही बनाया गया है, अपिच इस यज्ञमण्डप में, एक पक्ष के निमित्त ही भोजन तैयार हुआ है, अतः इस प्रकार का अन्न और पानी हम तुझे नहीं देंगे, फिर तू क्यों यहां पर खड़ा है?

टीका—ब्राह्मण कहते है कि हे भिक्षो! आप जिस कार्य के लिए यहां पर उपस्थित हुए हैं उसका होना कठिन है, अर्थात् यहां से आपको भिक्षा नहीं मिल सकती, क्योंकि यह लवणादि पदार्थों से सस्कार किया हुआ भोजन केवल ब्राह्मणो के लिए ही है और यह भोजन हमने अपने लिए ही तैयार किया है, इसीलिए इस भोजन को 'एक-पक्ष-भोजन' भी कहते है, अतः जो भोजन केवल ब्राह्मणो के लिए तैयार हुआ है वह बिना ब्राह्मण के ओर किसी को नहीं दिया जा सकता। इसके अतिरिक्त यह भोजन शास्त्रोक्त विधि से तैयार किया गया है, इसलिए भी यह भोजन तुमको नहीं मिल सकता, अतः तेरा यहां पर भोजन के निमित्त से खड़ा रहना व्यर्थ है तथा हमारे शास्त्र में शूद्र को दान, पाठ और हविष्य देने का निषेध भी किया गया है।

प्रस्तुत गाथा मे जो 'एकपक्ष' पद दिया गया है उसके देहली-दीप-न्याय से दो अर्थ किए जाते हैं, जैसे एक वर्ण के लिए तैयार किया गया भोजन एक पक्ष भोजन है और केवल शुद्ध ब्राह्मणों को भी एकपक्ष कहते हैं। **'आत्मर्थे भवं आत्मार्थिकं'** जो केवल अपने लिए ही तैयार किया गया हो वही आत्मार्थिक कहलाता है, इसके आगे आने वाले 'सिद्ध' पद के साथ सम्बन्ध होने से प्रस्तुत वाक्य का यही अर्थ होता है कि जो केवल अपने लिए ही तैयार किया गया हो, वह आत्मार्थिक सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि वह भोजन दूसरे के उपयोग मे नहीं आ सकता, केवल ब्राह्मण ही उसका प्रयोग कर सकते है।

ब्राह्मणों के उक्त प्रकार के उत्तर को सुनकर मुनि के रूप में वह यक्ष उनसे इस प्रकार कहने लगा—

थलेसु बीयाइं ववन्ति कासगा, तहेव निन्नेसु य आससाए।
एयाए सद्धाए दलाह मज्झं, आराहए पुण्णमिणं खु खित्तं ॥ १२ ॥

स्थलेषु बीजानि वपन्ति कर्षकाः, तथैव निम्नेषु चाऽऽशंसया ।
एतया श्रद्धया ददध्व मह्यं, आराधयत पुण्यमिदं खलु क्षेत्रम् ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—**थलेसु**—स्थलो में—खेतों में, **बीयाइं**—बीजों को, **ववंति**—बीजते है, **कासगा**—किसान लोग, **तहेव**—उसी प्रकार, **निन्नेसु**—निम्न स्थानों में बीजते है, **आससाए**—आशा से,

य—फिर, **एयाए**—इसी, **सद्धाए**—श्रद्धा से, **दलाह**—दे दो, **मज्झं**—मुझे, **खु**—निश्चय ही, **आराहए**—आराधन कर लो, **इणं**—यह प्रत्यक्ष, **पुण्ण**—पुण्य रूप, **खित्तं**—क्षेत्र को।

मूलार्थ—जैसे खेती की आशा से किसान लोग स्थलों में अर्थात् खेतों में बीज बोते हैं और निम्न स्थानों में बीजते हैं, उसी श्रद्धा से आप मुझे भिक्षा दे दो। निश्चय ही इस पुण्यरूप क्षेत्र का आराधन कर लो।

टीका—ब्राह्मणों के वक्तव्य को सुनकर कटाक्ष रूप से वह यक्ष बोला कि किसान लोग फल की आशा से जैसे स्थल और निम्न स्थानों में नानाविध धान्यों के बीजों का वपन करते हैं, क्योंकि यदि वृष्टि समय पर अच्छी हो गई तब तो स्थल में भी धान्योत्पत्ति हो जाएगी और यदि कम हुई तो निम्न स्थानों में बोए हुए बीज फल दे जाएंगे। तात्पर्य यह है कि किसान के हृदय में दो ही प्रकार की आशा रहती है। ऐसे ही आप लोग भी मुझे इसी आशा वा श्रद्धा से भिक्षा दे दीजिए, क्योंकि यदि तुम्हारी बुद्धि अपने आप में निम्न भूमि के समान है और मुझे तुम स्थल-भूमि के समान समझते हो, तब भी तुम्हे भिक्षा देनी ही उचित है, कारण कि भिक्षा दिए बिना फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए तुम पुण्यरूप क्षेत्र का आराधन अवश्य कर लो। मैं पुण्यरूप क्षेत्र हूं, मुझे दिया हुआ दान उत्तम भूमि में बोए हुए बीज की तरह विशेष फल देने वाला है, अतः तुम इस पुण्यरूप क्षेत्र का—उत्तम फल-प्राप्ति के लिए अवश्य आराधन कर लो। यहा पर सूत्रकार ने जो उच्च स्थान और निम्न स्थान के खेतों की उपमा दी है वह पर्वत प्रान्त की भूमि को लेकर दी है, क्योंकि वहां पर ही खेती का ऐसा क्रम देखा जाता है। वहां पर अधिक वृष्टि से उच्च भूमि में और न्यून वृष्टि से निम्न भूमि में धान्यों की उत्पत्ति अधिक हो जाती है, क्योंकि ऊंचे स्थल में पानी कम ठहरता है और नीची भूमि में उसका अधिक ठहराव होता है। इसी अभिप्राय से यक्ष कहता है और कुछ नहीं तो मुझे निम्न स्थल के समान जानकर ही भिक्षा दे दो साथ में यह संकेत भी कर दिया गया है कि मैं पुण्यरूप क्षेत्र हूं, मेरा आराधन अवश्य ही उत्तम फल देने वाला है। सो यदि तुम्हारे भाग्य में हो तो आराधन कर लो।

यक्ष के इस प्रकार के सभ्यता पूर्ण उत्तर को सुनकर उन ब्राह्मणों ने जो कुछ उस यक्ष के प्रति कहा, अब शास्त्रकार उसी का वर्णन करते हैं—

खेत्ताणि अम्हं विइयाणि लोए, जहिं पकिण्णा विरुहन्ति पुण्णा।
जे माहणा जाइविज्जोववेया, ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं ॥ १३ ॥

क्षेत्राण्यस्माकं विदितानि लोके, येषु प्रकीर्णानि विरोहन्ति पुण्यानि ।
ये ब्राह्मणा जातिविद्योपपेताः, तानि तु क्षेत्राणि सुपेशलानि ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—खेत्ताणि—क्षेत्र, **अम्हं**—हमने, **विइयाणि**—जान लिए हैं, **लोए**—लोक में, **जहिं**—जिनमें, **पकिण्णा**—प्रकीर्ण, **विरुहंति**—उत्पन्न होते हैं, **पुण्णा**—पुण्य—धान्य, **जे**—जो, **माहणा**—ब्राह्मण, **जाइ**—जाति, **विज्जोववेया**—और विद्या से युक्त हैं, **ताइं**—वे ही, **तु**—वितर्क में, **खेत्ताइं**—क्षेत्र, **सुपेसलाइं**—अति मनोहर है।

मूलार्थ—लोक में पुण्य क्षेत्रों को हमने जान लिया है, जिनमें बहुत धान्यादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, अतः जो ब्राह्मण जाति और विद्या से युक्त हैं वे ही अति मनोहर क्षेत्र हैं।

टीका—यक्ष के कथन को सुनकर वे ब्राह्मण बोले कि लोक में वास्तविक रूप से जितने भी पुण्यक्षेत्र हैं, वे सब हमको विदित हैं, जिनमें बोए हुए बीज अधिक से अधिक सुन्दर और सम्पूर्ण रूप से फल देने में समर्थ होते है।

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे इस लोक में उत्तम क्षेत्र में वपन किया हुआ धान्यादि का बीज अपने समय पर विशिष्ट फल देता है, उसी प्रकार सुयोग्य पात्र को दिया हुआ दान भी परलोक में सर्व प्रकार से पुण्यरूप उत्तम फल का उत्पादक होता है। किन्तु उत्तम क्षेत्र वास्तव में वे ब्राह्मण ही हैं जो कि जाति और विद्या से युक्त है। तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण और वेदादि चतुर्दश विद्याओं* में निपुण हो वही परम सुन्दर क्षेत्र है। इसलिए शूद्र कुलोत्पन्न व्यक्ति पुण्यक्षेत्र नहीं हो सकते।

ब्राह्मणों के इस कथन के उत्तर में यक्ष ने जो कुछ कहा, अब शास्त्रकार उसका वर्णन करते हैं—

कोहो य माणो य वहो य जेसिं, मोसं अदत्तं च परिग्गहो य।
ते माहणा जाइविज्जाविहूणा, ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं ॥ १४ ॥

क्रोधश्च मानश्च वधश्च येषां, मृषाऽदत्तं च परिग्रहश्च ।
ते ब्राह्मणा जातिविद्याविहीनाः, तानि तु क्षेत्राणि सुपापकानि ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—कोहो—क्रोध, **य**—और, **माणो**—मान, **य**—और माया लोभ, **वहो**—प्राणिवध, **जेसिं**—जिन्हो के, **मोसं**—झूठ, **च**—और, **अदत्त**—चोरी, **परिग्गहो**—परिग्रह, **य**—और मैथुन, **ते**—वे, **माहणा**—ब्राह्मण, **जाइ**—जाति और, **विज्जा**—विद्या से, **विहूणा**—रहित हैं, **ताइं**—वे, **तु**—निश्चय ही, **खेत्ताइं**—क्षेत्र, **सुपावयाइं**—अतिशय पापरूप है।

मूलार्थ—जो ब्राह्मण क्रोध, मान, माया और लोभ तथा हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह से युक्त है तथा जाति और विद्या इन दोनों से भी रहित हैं निश्चय ही वे पापरूप क्षेत्र हैं।

टीका—ब्राह्मणो के कथन को सुनकर उनके प्रति यक्ष ने कहा कि—हे ब्राह्मणो! आप लोग क्रोध, मान, माया और लोभ तथा हिसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह मे प्रवृत्त रहते हो, परन्तु जो ब्राह्मण उक्त व्यसनो मे प्रवृत्त है वे वास्तव मे जाति और विद्या दोनो से ही रहित है, क्योंकि उत्तम कुल, जाति और विद्या का जो सात्त्विक फल होना चाहिए वह उनमें नहीं है तथा चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था गुण-कर्म के विभाग से ही मानी गई है, केवल जाति मात्र से नहीं। तथाहि—

ब्राह्मणो ब्रह्मचर्येण, तथा शिल्पेन शिल्पिकः ।
अन्यथा नाममात्रं स्यादिन्द्रगोपककीटवत् ॥

★ १ शिक्षा, २ कल्प, ३ व्याकरण, ४ छन्द, ५ ज्योतिष शास्त्र, ६ निरुक्त, ७-१० चार वेद, ११ मीमांसा १२ आन्वीक्षिकी, १३ धर्मशास्त्र, और १४ पुराण—ये चतुर्दश विद्याए कहलाती हैं।

अर्थात् जिस प्रकार शिल्पकला में नैपुण्य प्राप्त करने से व्यक्ति शिल्पी होता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य के सेवन से ब्राह्मण होता है। जिसमें ब्रह्मचर्य का अभाव है वह तो केवल नाममात्र का ब्राह्मण है, जैसे कि चतुर्मास में होने वाले एक क्षुद्र कीट का नाम इन्द्रगोप है। तात्पर्य यह है कि जैसे उस कीट में इन्द्रगोपता नहीं है, उसी प्रकार केवल जाति मात्र से किसी में वास्तविक ब्राह्मणत्व नहीं आ सकता। आप लोगों में सद्विद्या का भी अभाव है, क्योंकि जो पांचों आश्रवों का संवर-मार्ग के अवलम्बन द्वारा निरोध करता है उसी को वास्तव में विद्वान कहना अथवा मानना चाहिए। जाति मात्र से कोई विद्वान नहीं हो सकता है, इसलिए जाति और विद्या से रहित ब्राह्मणो में पुण्यक्षेत्रता का जो अभाव प्रतिपादन किया है वह वास्तव में आप लोगों में ही घटित हो रहा है।

साराश यह है कि चार कषाय और पाच आश्रवों से जो निवृत्त है, वही वास्तव मे पुण्य-क्षेत्र है। इसके अतिरिक्त यदि कोई विद्वान् लौकिक शास्त्रो का वेत्ता भी हो, तो भी यदि उसमें आश्रवों और कषायों की प्रधानता है तो वह पाप रूप क्षेत्र ही है।

जो लोग केवल वेदवक्ता होने से अपने आपको ब्राह्मण मानते हैं, अब उनको उत्तर देते हुए वह यक्ष कहता है—

तुब्भेत्थ भो! भारधरा गिराणं, अट्ठं न जाणेह अहिज्ज वेए।
उच्चावयाइं मुणिणो चरन्ति, ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं ॥ १५ ॥

यूयमत्र भो! भारधरा गिरां, अर्थं न जानीथाधीत्य वेदान् ।
उच्चावचानि मुनयः चरन्ति तानि तु क्षेत्राणि सुपेशलानि ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—भो—हे ब्राह्मणो! **अत्थ**—इस लोक में, **तुब्भे**—तुम, **गिराणं**—वेदरूप वाणी के **भारधरा**—भार उठाने वाले हो, **अट्ठं**—अर्थ को, **न जाणेह**—नहीं जानते, **वेए**—वेदों को, **अहिज्ज**—पढ़कर भी, **उच्चावयाइं**—ऊंच और नीच घरो में, **मुणिणो**—मुनि लोग भिक्षा के लिए, **चरंति**—विचरते है, **ताइं**—वे ही, **तु**—निश्चय ही, **खेत्ताइं**—क्षेत्र, **सुपेसलाइं**—मनोहर होते है।

मूलार्थ—हे ब्राह्मणों! तुम लोग इस लोक में वेदवाणी का केवल भार उठाने वाले ही हो, क्योंकि तुमने वेदों को पढ़कर भी उनके अर्थों को यथार्थतः नहीं जाना, अतः जो मुनि लोग ऊंच-नीच घरों में भिक्षा के लिए विचरते हैं वे ही वास्तव में सुन्दर क्षेत्र हैं। तात्पर्य यह है कि पुण्यरूप फल को उत्पन्न करने वाले भाव रूप उत्तम क्षेत्र मुनि ही हैं।

टीका—जो लोग केवल शास्त्रो के पाठ मात्र रट लेते है और उनके अर्थ के रहस्य पर विचार नही करते वे लोग वास्तव मे शास्त्रज्ञ नही होते, बस इसी भाव को व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत गाथा का उल्लेख किया गया है।

यक्ष ने ब्राह्मणो के कथन का उत्तर देते हुए कहा कि तुम लोग वेदो के केवल भारवाहक हो, अर्थात् उनकी वाणी का केवल बोझ ही तुमने उठा रखा है, क्योंकि वेदों को पढ़कर भी तुमने उसके

वास्तविक तात्पर्य को नहीं समझा, यदि तुमने वेदार्थ को यथार्थ रूप में समझा होता तो तुमको अपने ज्ञातव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य का भी यथार्थ ज्ञान होता, परन्तु वह तुममें दिखाई नहीं देता, इसीलिए तुम हिंसक यज्ञादि क्रियाओं में प्रवृत्त हो रहे हो! अन्यथा तुम्हारी प्रवृत्ति सात्त्विक होती। इससे प्रतीत होता है कि तुम लोग वास्तव मे वेदों के ज्ञाता नहीं हो, किन्तु विद्वान् होते हुए भी तुम वास्तविक विद्या से विहीन हो। ऐसी स्थिति में आप लोगो को पुण्यरूप क्षेत्र मानना नितान्त असंगत है। इसके अतिरिक्त जो मुनि लोग उत्तम, मध्यम और हीन कुलों में भिक्षा के लिए भ्रमण करते हैं तथा पचन-पाचनादि व्यापारों से रहित है, वास्तव मे वे ही उत्तम क्षेत्र है और उन्हीं को वेदविद् समझना चाहिए, क्योंकि शास्त्रों में मुनि की वृत्ति का इसी प्रकार से उल्लेख हुआ है। यथा—

'चरेन्माधुकरीं वृत्तिमपि म्लेच्छकुलादपि ।
एकान्नं नैव भुंजीत, बृहस्पतिसमादपि ॥'

अर्थात् नीच कुल से तो भिक्षा लेकर निर्वाह कर ले, परन्तु एक घर से तो—चाहे वह बृहस्पति के समान विद्वान् का ही घर क्यो न हो—यति कभी भी उस घर से अन्न ग्रहण न करे। इससे सिद्ध हुआ कि उत्तम क्षेत्र, सयमशील मुनि को ही कहा गया है, अथवा कहा जा सकता है।

जब यक्ष ने उन ब्राह्मणों को इस प्रकार का उत्तर दिया, तब उस यज्ञशाला में बैठे हुए उन पंडितों के छात्रों ने उस यक्ष से जो कुछ कहा अब उसका दिग्दर्शन कराते हैं—

अज्झावयाणं पडिकूलभासी, पभाससे किं नु सगासि अम्हं? ।
अवि एयं विणस्सउ अन्नपाणं, न य णं दाहामु तुमं नियण्ठा! ॥ १६ ॥

अध्यापकानां प्रतिकूलभाषिन्, प्रभाषसे किं नु सकाशेऽस्माकम् ।
अप्येतद्विनश्यत्वन्नपानं, न च खलु दास्यामस्तुभ्यं निर्ग्रन्थ! ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—अज्झावयाणं—अध्यापकों के, **पडिकूल**—प्रतिकूल, **भासी**—भाषण करने वाला तू, **अम्हं**—हमारे, **सगासि**—सामने, **पभाससे**—बोलता है, **किं**—क्या, **नु**—वितर्क मे, **अवि**—सम्भावना मे है, **एयं**—यह प्रत्यक्ष, **अन्नपाणं**—अन्न और पानी, **विणस्सउ**—विनष्ट हो जाए, **न**—नही, **य**—पुन:, **णं**—वाक्यालकार मे, **दाहामु**—देगे, **तुमं**—तुझे, **नियण्ठा**—हे निर्ग्रन्थ।

मूलार्थ—अध्यापकों के प्रतिकूल भाषण करने वाले! तू हमारे सामने उनके विरुद्ध बोल रहा है, यह प्रस्तुत अन्न-पानी भले ही विनष्ट हो जाए, परन्तु हे निर्ग्रन्थ! तुमको हम यह नही देंगे।

टीका—इस गाथा मे अन्य प्रतिपाद्य विषय के साथ इस भाव को भी व्यक्त किया गया है कि प्रतिकूल भाषण अभीष्ट प्राप्ति मे प्रतिबन्धक होता है, अर्थात् प्रतिकूल बोलने वाले को अपने अभिलषित कार्य में सफलता प्राप्त नही होती। जैसे कि विद्यार्थी मुनि के प्रतिकूल वचनो को सुनकर उनसे उत्तेजित होकर कहने लगे कि—

हे निर्ग्रन्थ! तू हमारे सामने हमारे ही अध्यापकों के प्रतिकूल भाषण क्यों कर रहा है? अर्थात् इनके विरुद्ध बोल रहा है। जाओ, भले ही यह प्रस्तुत अन्नादि पदार्थ सड़ जाए—नष्ट हो जाए, परन्तु **हम तुमको नहीं देंगे।**

छात्रों के इस कथन का अभिप्राय यह है कि यदि तुम हमारे गुरुजनों के विरुद्ध न बोलते तो संभव था कि हम तुम्हारे ऊपर कुछ दयाभाव लाकर तुमको कुछ भिक्षा दे भी देते, किन्तु अब तुम्हें यहां से अन्न-पानी की आशा रखनी व्यर्थ है।

इस गाथा मे '**किं**' शब्द आक्षेपार्थक है। वृत्तिकार ने '**तु**' के स्थान में '**नु**' का प्रयोग किया है और उसका अर्थ 'विचार' किया है। तब इसका भावार्थ यह हुआ कि—विचार से देखा जाए तो तू क्षमा करने के योग्य भी नही है, कारण कि तू निन्दक है और निन्दक क्षमा के योग्य नहीं होता।

छात्रों के इन असभ्यतापूर्ण और तिरस्कार युक्त वचनों को सुनकर यक्ष ने उनके प्रति जो उत्तर दिया, अब सूत्रकार उसका वर्णन करते हैं—

समिईहि मज्झं सुसमाहियस्स, गुत्तीहि गुत्तस्स जिइन्दियस्स ।
जइ मे न दाहित्थ अहेसणिज्जं, किमज्ज जन्नाण लहित्थ लाहं? ॥ १७॥

समितिभिर्मह्यं सुसमाहिताय, गुप्तिभिर्गुप्ताय जितेन्द्रियाय ।
यदि मह्यं न दास्यथाऽथैषणीयं, किमद्य यज्ञानां लप्स्यध्वे लाभम्? ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः—समिईहि—समितियों से युक्त, **मज्झं**—मुझे, **सुसमाहियस्स**—सुन्दर समाधि वाले के लिए, **गुत्तीहि**—गुप्तियो से, **गुत्तस्स**—गुप्त के लिए, **जिइन्दियस्स**—जितेन्द्रिय के लिए, **जइ**—यदि, **मे**—मुझे, न **दाहित्थ**—न दोगे, **अह**—अब, **एसणिज्जं**—निर्दोष आहार को, **किं**—क्या, **अज्ज**—आज, **जन्नाण**—यज्ञो का, **लहित्थ**—प्राप्त करोगे, **लाहं**—लाभ।

मूलार्थ—समितियों से समाहित, गुप्तियों से गुप्त और जितेन्द्रियता से सम्पन्न मुझे यदि तुम अब इस निर्दोष आहार को न दोगे तो आज इस यज्ञ के अनुष्ठान से आपको क्या लाभ प्राप्त होगा?

टीका—इस गाथा का भावार्थ यह है कि सुपात्र को ही दिया हुआ दान विशेष रूप से फलीभूत होता है, कुपात्र को नही। जैस मधु-घृत आदि पदार्थ किसी सुन्दर और स्वच्छ पात्र मे डाले हुए ही सुरक्षित और अपने अविकृत रूप में रह सकते है, उसी प्रकार दिया हुआ दान भी सुपात्र में ही फलीभूत हो सकता है, अन्यत्र नहीं। इसी हेतु से ऊपर की गाथाओं मे मुनि के द्वारा पात्रता के स्वरूप का वर्णन कराया गया है तथा इस गाथा में भी उसी को दोहराया गया है। जैसे कि—

जो व्यक्ति पांचों समितियों से समाहित और तीनों गुप्तियों से गुप्त एवं इन्द्रियों का निग्रह करने वाला है वही सुपात्र है, इसलिए उक्त सद्गुणों वाला भिक्षु यदि किसी के घर मे जाए तो अपना परम सौभाग्य समझकर उस योग्य अतिथि को श्रद्धापूर्वक भिक्षा देने का प्रयत्न करे, इसी से दाता को परम लाभ प्राप्त हो सकता है। इसी आशय को मन में रखकर ही उस यक्ष ने उन छात्रों के प्रति आरम्भ

किए हुए यज्ञ से उत्तम लाभ प्राप्त करने के निमित्त सुपात्ररूप मे अपने आपको उपस्थित करते हुए उनको सफल भिक्षा देने का उपदेश दिया है।

सारांश यह है कि यक्ष ने उन छात्रों से यह कहा कि मै सुपात्रता के गुणों से युक्त हूं और तुम यज्ञ कर रहे हो, यज्ञ सुपात्रदान से ही सफल होता है, अतः सुपात्र को दान देकर तुम भी इस आरम्भ किए हुए यज्ञ को सफल कर लो।

उक्त गाथा में आए हुए '**सुसमाहियस्स-गुत्तस्स**' इत्यादि प्रयोगो में चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग जानना चाहिए।

छात्रों के प्रति कहे हुए यक्ष के इन वचनों को सुनकर उन छात्रों को उनके अध्यापकों ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन किया जाता है—

के इत्थ खत्ता उवजोइया वा, अज्झावया वा सह खण्डिएहिं ।
एयं खु दण्डेण फलेण हन्ता, कण्ठम्मि घेत्तूण खलेज्ज जो णं ॥ १८ ॥

केऽत्र क्षत्रा उपज्योतिषो वा, अध्यापका वा सह खण्डिकैः ।
एनं खलु दण्डेन फलकेन हत्वा, कण्ठं गृहीत्वा स्खलयेयुः ये ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—**के**—कौन, **इत्थ**—यहां पर, **खत्ता**—क्षत्रिय हैं, **वा**—अथवा, **उवजोइया**—अग्नि के समीप बैठने वाले ब्राह्मण हैं, **वा**—अथवा, **अज्झावया**—अध्यापक, **खंडिएहिं**—छात्रों के, **सह**—साथ है, **एयं**—इस मुनि को, **दंडेण**—दण्ड से, **फलेण**—बिल्वादि फलो से, **हंता**—मार कर, **कण्ठम्मि**—कठ से, **घेत्तूण**—पकड़कर, **खलेज्ज**—निकाल देवें, **जो**—जो कोई समर्थ हो, **णं**—वाक्यालकार में है, **खु**—वितर्क में है।

मूलार्थ—कौन हैं यहां पर क्षत्रिय या अग्नि के समीप बैठने वाले अथवा छात्रों के साथ रहने वाले अध्यापक जो कि इस मुनि को दंड अथवा बिल्वादि फलों* से ताड़ना करके गले से पकड़कर बाहर निकाल दें ?

टीका—इस गाथा मे इस भाव को प्रकट किया गया है कि क्रोध के वशीभूत होकर योग्य मनुष्य भी अयोग्य काम करने को उद्यत हो जाता है, जैसे कि उस मुनि के उक्त वचनों को सुनकर क्रोध में आए हुए वे अध्यापक लोग साभिमान कहते है कि—

क्या यहा पर कोई क्षत्रिय अथवा अग्नि के समीप बैठने वाले ब्राह्मण छात्र या छात्रो के साथ आए हुए अध्यापकों में से ऐसा कोई है जो इस मुनि को दंडादि से ताड़न करता हुआ गले से पकड़कर इस यज्ञ-मडप से बाहर निकाल दे? क्योंकि यह हमारे प्रतिकूल बोल रहा है।

★ 'फलएण' का संस्कृत रूप 'फलकेन' होता है। फलक का अर्थ सस्कृत कोषो के अनुसार लकड़ी की पट्टी अर्थात् तख्ती है, किन्तु यहां पर जो बिल्लवादि फल का अर्थ लिखा गया है वह प्राचीन सस्कृत टीका के आधार पर है। हमारी समझ मे 'लकड़ी की पट्टी' अर्थ अधिक उपयुक्त है, क्योंकि लकड़ी की पट्टी—तख्ती बाल-छात्रो के लिये पाठशालाओं मे हर समय साथ रहती है। मूल गाथा में भी छात्रो की उपस्थिति का स्पष्ट उल्लेख है।

इसका तात्पर्य यह है कि जब ये ब्राह्मण उस यक्ष के कथन का युक्ति-युक्त प्रतिवाद करने को समर्थ न हो सके तब उन्होंने क्रोध में आकर उक्त मुनि का इस प्रकार से तिरस्कार करना चाहा। वास्तव मे जो पुरुष किसी वाद-विवाद में निरुत्तर हो जाता है और उसका स्थान—बल अधिक होता है तब वह इसी प्रकार के अनुचित बर्ताव करने पर उतारू हो जाता है, क्योंकि उस समय बल-प्रयोग के सिवाय उसके पास और कुछ नहीं होता। योग्य और अयोग्य व्यक्ति में इतना ही अन्तर है कि योग्य व्यक्ति तो क्रोध के वशीभूत होते ही नहीं और अन्य लोग क्रोधावेश में आकर अनुचित काम करने पर उद्यत हो जाते है।

यहां पर 'जो' शब्द वचन व्यत्यय से 'ये' के स्थान पर ग्रहण किया जाता है और 'तु' 'खु' के अर्थ मे निश्चय का बोधक है।

अध्यापकों के उक्त वचनों को सुनकर वहां पर बैठे हुए छात्रों ने उस मुनि के साथ जो व्यवहार किया अब शास्त्रकार उसी का वर्णन करते हैं—

अज्झावयाणं वयणं सुणेत्ता, उद्धाइया तत्थ बहू कुमारा।
दण्डेहिं वित्तेहिं कसेहिं चेव, समागया तं इसिं तालयन्ति ॥ १६ ॥

अध्यापकानां वचनं श्रुत्वा, उद्धावितास्तत्र बहवः कुमाराः।
दण्डैर्वैत्रैः कशैश्चैव, समागतास्तमृषिं ताडयन्ति ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—**अज्झावयाणं**—अध्यापको के, **वयणं**—वचनों को, **सुणेत्ता**—सुनकर, **उद्धाइया**—वेग से भाग आए, **तत्थ**—जहा पर मुनि था वहा, **बहू**—बहुत, **कुमारा**—कुमार, **दण्डेहिं**—दण्डों से, **वित्तेहिं**—बैतों से, **कसेहिं**—कोड़ो से, **च**—समुच्चयार्थक है, **एव**—पादपूर्त्यर्थ है, **समागया**—इकट्ठे मिलकर, **तं**—उस, **इसिं**—मुनि को, **तालयन्ति**—मारने लगे।

मूलार्थ—अध्यापकों के वचनों को सुनकर बड़े वेग से दौड़ते हुए वे कुमार अर्थात् विद्यार्थी जहां पर मुनि खड़ा था, वहां पर आए और डण्डों, बैतों और कोड़ों आदि से उस मुनि को मारने लगे।

टीका—जिस समय अध्यापकों के उक्त वचनो को वहा पर बैठे हुए विद्यार्थियों ने सुना तब वे इकट्ठे होकर बड़े वेग से दौड़कर वहा पर आ गए जहां पर कि वह मुनि खड़ा था। तब अध्यापक लोगो के आदेशानुसार वे कुमार डण्डों, बैतो और कोड़ों आदि से उस मुनि को मारने लगे। क्रोध के वशीभूत हुआ पुरुष क्या कुछ नहीं कर बैठता, क्रोधी पुरुष को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का कुछ भी भान नहीं रह जाता, यही इस गाथा का फलितार्थ है।

कुमारों के ताड़न करने पर फिर क्या हुआ, अब शास्त्रकार इसी विषय का वर्णन करते हैं—

रन्नो तहिं कोसलियस्स धूया, भद्द त्ति नामेण अणिन्दियंगी।
तं पासिया संजय हम्ममाणं, कुद्धे कुमारे परिनिव्ववेइ ॥ २० ॥

राज्ञस्तत्र कौशलिकस्य दुहिता, भद्रेति नाम्नाऽनिंदितांगी ।
तं दृष्ट्वा संयतं हन्यमानं, क्रुद्धान्कुमारान्परिनिर्वापयति ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः—तहिं—वहां पर, **रन्नो**—राजा, **कोसलियस्स**—कौशलिक की, **धूया**—पुत्री, **भद्दा**—भद्रा, **त्ति**—ऐसे, **नामेण**—नाम वाली, **अणिंदियंगी**—सुन्दर अंगों वाली, **तं**—उस, **संजय**—संयत मुनि को, **हम्ममाणं**—मारते हुए, **पासिया**—देखकर, **कुद्धे कुमारे**—कुपित हुए कुमारों को, **परिनिव्ववेइ**—सर्व प्रकार से शान्त करने लगी।

मूलार्थ—वहां पर आई हुई कौशलिक राजा की सुन्दर अंगों वाली भद्रा नाम की पुत्री ने उस संयत मुनि को क्रोध में आकर मारते हुए कुमारों को देखकर उन्हें सर्व प्रकार से शान्त किया अर्थात् उनको मारने से रोका।

टीका—जिस समय विद्यार्थी लोग उस ऋषि को मारने लगे उस समय वहां पर कौशलिक नरेश की भद्रा नाम की कन्या का आगमन हुआ। वह अपने नाम के अनुरूप अपनी रूपराशि तथा अग-लावण्य मे भी अपूर्व थी। उसने कुपित हुए ब्राह्मण कुमारो के द्वारा हरिकेशबल मुनि को जब मार पड़ते देखी तब उन कुमारो को उसने सर्वभाव से शान्त किया, अर्थात् उस अकार्य से रोक दिया, क्योंकि वह उक्त मुनि से पहले ही परिचित थी तथा उसके तपोबल के प्रभाव को भी भली-भान्ति जानती थी, इसलिए उसने ब्राह्मण-कुमारो के अनुचित बर्ताव को देखकर उनको शान्त किया।।

इस गाथा मे यह भाव व्यक्त किया गया है कि जो जिसके गुणों से परिचित होता है वह उसमे अवश्य अनुराग रखता है और वह अन्य जीवो को भी उसके गुणो से परिचित कराने का यत्न करता है तथा जब कोई व्यक्ति किसी को बिना अपराध ही किसी प्रकार का दण्ड देने लगता है और वह व्यक्ति जिसको कि दण्ड दिया जा रहा है—शान्तभाव से उस दण्ड को सहन कर रहा होता है तब कोई अन्य तटस्थ पुरुष उस दण्ड देने वाले को हटाता हुआ उस व्यक्ति की सहनशीलता की हार्दिक प्रशसा किए बिना नहीं रहता, इसीलिए राजकुमारी भद्रा ने उन कुमारो को शान्त करके उनके प्रति उक्त मुनि के तपोबल के माहात्म्य का वर्णन किया।

अब उक्त मुनि के सम्बन्ध मे उन अध्यापकों के प्रति कहे जाने वाले राजकुमारी भद्रा के वचनों का उल्लेख किया जाता है—

देवाभिओगेण निओइएणं, दिन्नामु रन्ना मणसा न झाया ।
नरिन्ददेविन्दऽभिवन्दिएणं, जेणामि वंता इसिणा स एसो ॥ २१ ॥

देवाभियोगेन नियोजितेन, दत्ताऽस्मि राज्ञा मनसा न ध्याता ।
नरेन्द्रदेवेन्द्राभिवन्दितेन, येनास्मि वान्ता ऋषिणा स एषः ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः—देवाभिओगेण—देवता के अभियोग से, **निओइएणं**—और प्रेरणा से, **रन्ना**—राजा के, **दिन्नामु**—मेरे को देने पर भी, **मणसा**—मन से, **न**—नहीं, **झाया**—इच्छा की,

नरिंद—राजा, **देविंद**—इन्द्र के, **अभिवंदिएणं**—वन्दनीय, **जेणाम्हि**—जिसने मुझे, **वंता**—त्याग दिया, **इसिणा**—जिस ऋषि ने, **स**—वह, **एसो**—यही है।

मूलार्थ—देवता के अभियोग और प्रेरणा से राजा ने मुझे इस मुनि को दे दिया था, परन्तु इस मुनि ने मुझे मन से भी नहीं चाहा तथा राजाओं, महाराजाओं और देवेन्द्र आदि से वन्दित जिस ऋषि ने मुझे त्याग दिया है, यह वही ऋषि है।

टीका—भद्रा ने उन अध्यापकों के प्रति कहा कि—आप लोग इस मुनि को नहीं जानते, यह वही ऋषि है जिसने मुझे भी त्याग दिया है। मैं स्वयं ही उसके पास उपस्थित नहीं हुई, किन्तु देवता की प्रेरणा से मेरे पिता ने मुझे इनके चरणों में उपस्थित किया था, तो भी इस ऋषि ने मुझे वमन कर दिया, अर्थात् मेरी और आंख उठाकर भी नहीं देखा। तात्पर्य यह है कि जैसे वमन किए हुए पदार्थ की ओर कोई भद्र पुरुष दृष्टि नहीं करता, इसी प्रकार मुझे भी इसने सर्वथा हेय समझा, अतएव यह ऋषि देव और मनुष्य सभी के द्वारा वन्दनीय है। इस कथन से भद्रा ने मुनि की अपूर्व विषय-त्यागवृत्ति और सयम-निष्ठा का वर्णन किया है।

राजकुमारी भद्रा के कहने का अभिप्राय यह है कि आप लोग इस मुनि का जो इस प्रकार से अपमान कर रहे हो, यह सर्वथा अयोग्य है। इनके महत्त्व को आप लोग बिल्कुल नही जानते। जिसने मुझ जैसी सुन्दरी को भी अति तुच्छ समझकर त्यागते हुए अपनी संयम-निष्ठा की दृढ़ता का प्रत्यक्ष परिचय दिया हो, ऐसे निःस्पृह और शान्त महात्मा की अशातना करने से अधिक और कौनसा जघन्य कार्य हो सकता है? इसलिए आप लोगों को इस मुनिवर्य का अपमान करने के बदले इनकी अधिक से अधिक सेवा-भक्ति करनी चाहिए। इसी में आपका और मेरा तथा अन्य भद्र पुरुषों का कल्याण है।

यहा पर '**मनसा**' शब्द का अर्थ 'मन से भी' यही अर्थ संगत है।

अब फिर इसी विषय की पुष्टि में कहते हैं—

एसो हु सो उग्गतवो महप्पा, जिइंदिओ संजओ बम्भयारी ।
जो मे तया नेच्छइ दिज्जमाणिं, पिउणा सयं कोसलिएण रन्ना ॥ २२ ॥

एष खलु स उग्रतपा महात्मा, जितेन्द्रियः संयतो ब्रह्मचारी ।
यो मां तदा नेच्छति दीयमानां, पित्रा स्वयं कौशलिकेन राज्ञा ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः—**एसो**—यह, **हु**—निश्चय में, **सो**—वह, **उग्गतवो**—उग्र तप वाला, **महप्पा**—महात्मा, **जिइंदिओ**—जितेन्द्रिय, **संजओ**—संयमशील, **बंभयारी**—ब्रह्मचारी, **जो**—जिसने, **मे**—मुझे, **तया**—उस समय, **नेच्छइ**—नही चाहा—नहीं ग्रहण किया, **दिज्जमाणिं**—दी हुई को, **पिउणा**—पिता द्वारा, **सयं**—स्वयं—अपने आप, **कोसलिएण**—कोशल देश के, **रन्ना**—राजा।

मूलार्थ—यह मुनि कठोर तप करने वाला, महान् आत्मा, जितेन्द्रिय, संयत और ब्रह्मचारी है।

इसने मुझे उस समय भी स्वीकार नहीं किया जब कि कौशल नरेश ने मेरे को इनके चरणों में स्वयं आकर उपस्थित किया था, अर्थात् ग्रहण करने के लिए दिया था।

टीका—राजकुमारी भद्रा उस मुनि के गुणो का वर्णन करती हुई फिर कहती है कि यह मुनि बड़ा ही तपस्वी और पांचों इन्द्रियों को वश में रखकर तथा निरन्तर यत्न से रहने वाला है, क्योंकि जब मेरे पिता कौशल नरेश ने स्वयमेव प्रसन्नता-पूर्वक मुझे इस मुनि को अर्पित किया था तब भी इस महर्षि ने मेरी मन से भी इच्छा नहीं की। इससे इस ऋषि के विषय-त्याग और उत्तम संयम का भली-भांति पता लग जाता है। जिसने अनायास-प्राप्त मुझ जैसी स्त्री का भी सर्वथा त्याग कर दिया। उसके विलक्षण त्याग और निस्पृहता की जितनी भी प्रशंसा की जाए उतनी ही कम है। सारांश यह है कि इस प्रकार के सर्वोत्तम भिक्षु का निरादर नही होना चाहिए, अपितु आप लोगो को इनका जितना भी सत्कार हो सके, उतना करना चाहिए।

अब फिर इसी विषय में कहते है—

महाजसो एस महाणुभावो, घोरव्वओ घोरपरक्कमो य ।
मा एयं हीलेह अहीलणिज्जं, मा सव्वे तेएण भे निद्दहेज्जा ॥ २३ ॥

महायशा एष महानुभागः घोरव्रतो घोरपराक्रमश्च ।
मैनं हीलयताहीलनीयं, मा सर्वांस्तेजसा युष्मान् निर्धाक्षीत् ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः—**महाजसो**—महान् यश वाला, **एस**—यह मुनि, **महाणुभावो**—महाप्रभावशाली, **घोरव्वओ**—घोर व्रतो वाला, **य**—और, **घोरपरक्कमो**—घोर पराक्रम वाला है, **मा**—मत, **एयं**—इसकी, **हीलेह**—हीलना करो, क्योकि यह, **अहीलणिज्जं**—अहीलनीय है—हीनता के योग्य नही है, **सव्वे**—सब, **भे**—तुमको, **तेएण**—तेज से, **मा निद्दहेज्जा**—कही भस्म ही न कर देवे।

मूलार्थ—यह मुनि महान् यशवाला, महाप्रभावशाली, घोर व्रतों के आचरण करने वाला तथा घोर पराक्रम रखने वाला है, अतः इसकी अवहेलना मत करो, यह अवहेलना के योग्य नही है, कहीं ऐसा न हो कि यह अपने तपःसंचित तेज से तुम सबको भस्म कर डाले।

टीका—भद्रा कहने लगी कि यह मुनि बड़ा यशस्वी और अचिन्त्य शक्ति को धारण करने वाला है तथा अहिसा आदि पाच महाव्रतो—जो कि अति घोर है—के पालन करने और तपश्चर्या में घोर पराक्रम करने वाला अति तेजस्वी है। इस ऋषि ने विषय-कषायो पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, इसलिए सभव है कि इस ऋषि के जाज्वल्यमान तेज रूप अग्नि मे आप सबको शलभ की भांति कही भस्म होने का अवसर न आ जाए, अत· इसकी अवहेलना मत करो, यह अवहेलना के योग्य नही है, अपितु पूजा के योग्य है। आत्मा मे अनन्त शक्तियां विद्यमान है। निग्रह और अनुग्रह की शक्ति भी उन्ही मे से एक है। यह शक्ति तपश्चर्या का एक विशिष्ट परिणाम है, परन्तु इसको उपयोग में लाना

उसके अपने अधिकार में है। इसी आशय से राजकुमारी भद्रा ने उनको शाप द्वारा अथवा मुनि के अद्भुत तेज के द्वारा भस्म होने की संभावना प्रदर्शित की है। कहने का अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्ति में उक्त प्रकार के गुण विद्यमान होते है, वह शाप तथा अनुग्रह में भी समर्थ होता है। उक्त मुनि में ये सब गुण विद्यमान हैं, इसलिए यह निग्रह और अनुग्रह करने में पूर्ण रूप से समर्थ है।

उन अध्यापकों के प्रति राजकुमारी भद्रा ने जो कुछ कहा उसको मुनि रूप में भिक्षा के लिए खड़े हुए उस यक्ष ने भी सुना और उसके वचनों को यथार्थ सिद्ध करने के लिए उसने जो कुछ किया अब उसका दिग्दर्शन कराया जाता है—

एयाइं तीसे वयणाइं सोच्चा, पत्तीइ भद्दाइ सुभासियाइं।
इसिस्स वेयावडियट्ठयाए, जक्खा कुमारे विणिवारयंति॥ २४॥

एतानि तस्या वचनानि श्रुत्वा, पत्न्या भद्रायाः सुभाषितानि।
ऋषेर्वैयावृत्त्यार्थतायै यक्षाः, कुमारान् विनिवारयन्ति॥ २४॥

पदार्थान्वयः—**एयाइं**—इन पूर्वोक्त, **वयणाइं**—वचनो को, **सोच्चा**—सुन करके, **पत्तीइ**—पत्नी, **भद्दाइ**—भद्रा के, **सुभासियाइं**—सुन्दर भाषणयुक्त, **तीसे**—उस (भद्रा के), **इसिस्स**—ऋषि की, **वेयावडियट्ठया**—वैयावृत्त्य के लिए, **जक्खा**—यक्ष, **कुमारे**—कुमारों को, **विणिवारयंति**—विशेष रूप से निवारण करते है।

मूलार्थ—राजकुमारी भद्रा के उक्त सुभाषित वचनों को सुनकर उस ऋषि की सेवा में रहने वाले वे यक्ष उन कुमारों को निवारण करने लगे।

टीका—पुरोहित सोमदेव की धर्मपत्नी सुभद्रा के सुभाषित वचनों को सुनकर मुनि की सेवा में रहे उस यक्ष ने उन कुमारों को हटा दिया। यहां पर 'जक्खा' यह एक वचन के स्थान में जो बहुवचन का प्रयोग किया गया है वह यक्ष के अन्य समस्त परिवार का सूचक है, क्योंकि घर का स्वामी जिस पर श्रद्धा रखता हो उस पर उसका परिवार भी श्रद्धा रखने लग जाता है, अतः उक्त गाथा मे बहुवचन प्रयुक्त हुआ है।

इसके अनन्तर जो कुछ हुआ अब उसका वर्णन करते हैं—

ते घोररूवा ठिय अंतलिक्खे, ऽसुरा तहिं तं जण तालयंति।
ते भिन्नदेहे रुहिरं वमंते, पासित्तु भद्दा इणमाहु भुज्जो॥ २५॥

ते घोररूपाः स्थिता अन्तरिक्षे, ऽसुरास्तत्र तान् जनान् ताडयन्ति।
तान् भिन्नदेहान्रुधिरं वमतः, दृष्ट्वा भद्रेदमाह भूयः॥ २५॥

पदार्थान्वयः—**ते**—वे यक्ष, **घोररूवा**—भयानक रूप वाले, **ठिय**—ठहरे, **अंतलिक्खे**—आकाश में, **असुरा**—असुर भाव से युक्त, **तहिं**—वहां पर, **तं**—उन, **जण**—जनों को, **तालयंति**—ताड़ते है,

ते—उन कुमारों को, **भिन्नदेहे**—भिन्न देह वालो को, **रुहिरं**—रुधिर, **वमंते**—वमन करते हुओं को, **पासित्तु**—देखकर, **भद्दा**—भद्रा, **भुज्जो**—फिर, **इणमाहु**—इस प्रकार कहने लगी।

मूलार्थ—तब अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश में ठहरे हुए भयानक रूप वाले वे यक्ष असुरों का रूप धारण करके उन कुमारों को ताड़ने लगे और उनकी ताड़ना से शरीर में भेद होने पर वे कुमार रुधिर का वमन करने लगे, अर्थात् उनके शरीर से रुधिर टपकने लगा, उन की यह शोचनीय दशा देखकर सोमदेव की पत्नी राजकुमारी भद्रा फिर कहने लगी।

टीका—मुनि की सेवा में सतत रहने वाले उस यक्ष ने आकाश मे बड़े भयंकर रूप को धारण करके मुनि को मारने वाले उन छात्रो की भी खूब ताड़ना की, उनके शरीरों को विदीर्ण कर दिया अतः उनके मुख से रुधिर गिरने लगा। कुमारों की इस दशा को देखकर राजकुमारी भद्रा फिर इस प्रकार निम्नलिखित वचन कहने लगी। यहा पर 'आहु' और 'जणं' में प्राकृत व्याकरण के नियमानुसार वचन-व्यत्यय किया गया।

भद्रा ने जो कुछ कहा अब उसी का वर्णन करते हैं—

गिरिं नहेहिं खणह, अयं दंतेहिं खायह ।
जायतेयं पाएहिं हणह, जे भिक्खुं अवमन्नह ॥ २६ ॥

गिरिं नखैः खनथ, अयो दन्तैः खादथ ।
जाततेजसं पादैर्हनथ, ये भिक्षुमवमन्यध्वे ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—**गिरिं**—पर्वत को, **नहेहिं**—नखों से, **खणह**—खोदते हो, **अयं**—लोहे को, **दंतेहिं**—दान्तो से, **खायह**—खाते हो, **जायतेयं**—अग्नि को, **पाएहिं**—पैरों से, **हणह**—हनते हो—बुझाते हो, **जे**—जो तुम, **भिक्खुं**—भिक्षु का, **अवमन्नह**—अपमान करते हो।

मूलार्थ—पर्वत को नखों से खोदते हो, लोहे को दान्तों से खाते हो और आग को पैरों से बुझाते हो जो कि तुम इस भिक्षु का अपमान करते हो।

टीका—इस गाथा में 'इव' शब्द का सर्वत्र अध्याहार कर लेना चाहिए। भद्रा के कथन का तात्पर्य यह है कि जैसे कोई व्यक्ति अपने नखों से पर्वत को खोदने की इच्छा रखता हुआ अपने इस कार्य में सफल नही हो सकता, जैसे लोहे को दान्तों से चबाया नहीं जा सकता और जैसे देदीप्यमान अग्नि को पैरो से बुझाना भी अत्यन्त कठिन है, इसी प्रकार इस भिक्षु का अपमान करना भी दुःशक्य है। तात्पर्य यह है कि तुम लोग इस भिक्षु का कभी अपमान नहीं कर सकते।

इसके अतिरिक्त भद्रा के कहने का यह भी अभिप्राय है कि जैसे नखो से पर्वत तो नहीं खुद पाता, अपितु खोदने वाले के नख ही नष्ट हो जाते हैं, लोहा दान्तो से तो चबाया नही जा सकता, किन्तु चबाने का प्रयास करने वाले के दान्त ही टूट जाते है एवं पैरों से अग्नि की ज्वाला शान्त होने के बदले पैरों को ही जला देती है, उसी प्रकार तुम लोग इस मुनि का अपमान करते हुए स्वयं ही

अपमानित हो जाओगे, इसको कष्ट देते हुए 'स्वयं कष्ट मे पड़ोगे'। सारांश यह है कि इसमें मुनि का तो कुछ बिगड़ेगा नहीं, जो कुछ भी अहित होगा वह सब तुम्हारा ही होगा।

भद्रा ने फिर कहा कि—

आसीविसो उग्गतवो महेसी, घोरव्वओ घोरपरक्कमो य ।
अगणिं व पक्खंद पयंगसेणा, जे भिक्खुयं भत्तकाले वहेह ॥ २७ ॥

आशीविष उग्रतपा महर्षिः, घोरव्रतो घोरपराक्रमश्च ।
अग्निमिव प्रस्कन्दथ पतंगसेना, ये भिक्षुकं भक्तकाले व्यथयथ ॥ २७ ॥

पदार्थान्वयः—आसीविसो—आशीविष लब्धि वाला, **उग्गतवो**—कठोर तप करने वाला, **महेसी**—महर्षि है, **घोरव्वओ**—घोर व्रतों के पालन करने वाला, **य**—और, **घोरपरक्कमो**—घोर पराक्रम करने वाला है, **व**—जैसे, **अगणिं**—आग मे, **पयंगसेणा**—पतंगों की सेना, **पक्खंद**—पड़ती है—उसी प्रकार तुम भी, **जे**—जो, **भिक्खुयं**—भिक्षु को, **भत्तकाले**—भोजन काल में, **वहेह**—मारते हो।

मूलार्थ—यह मुनि आशीविष लब्धि वाला है, घोर व्रतों का आचरण करने वाला है तथा घोर पराक्रमी है, अतः जैसे पतंगों की सेना आग में पड़कर उसको बुझाना चाहती है, ठीक उसी प्रकार भोजन-काल में उपस्थित हुए इस भिक्षु को अभिहनन करते हुए तुम भी पतंगों की तरह ही आचरण कर रहे हो।

टीका—भद्रा ने कहा कि यह मुनि आशीविष-लब्धि से युक्त है, अर्थात् जैसे आशीविष नाम का सर्प महाभयंकर होता है, उसी प्रकार यह मुनि भी लब्धि-सम्पन्न होने से शाप देने तथा अनुग्रह करने मे समर्थ है। यह उग्र तपस्वी घोर व्रतों का आचरण करने वाला पराक्रमशाली है। इस प्रकार के महातपस्वी को जो कि आप लोगों के पुण्य के उदय से भिक्षा के लिए इस यज्ञ-मण्डप में उपस्थित हुआ है आप लोग उसे मारने के लिए उद्यत हो गए हैं, आप लोगों का यह उद्योग वैसा ही है जैसा कि पतगो की सेना द्वारा अग्नि मे कूदकर उसको बुझाने के लिए प्रयत्न करना। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पतंगे अग्नि मे गिरकर उसको बुझाने के बदले स्वयं ही जलकर भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार यदि आप लोग इस मुनि को मारोगे तो स्वयं ही नष्ट हो जाओगे।

प्रस्तुत गाथा में जो भोजन-काल का उल्लेख किया गया है उसका तात्पर्य यह है कि इस समय पर तो चाहे कोई भी व्यक्ति उपस्थित हो, उसको भी दान देना प्रत्येक गृहस्थ का मुख्य कर्त्तव्य है, फिर ऐसे गुण-सम्पन्न तपस्वी मुनि का तो जितना हो सके उतना सत्कार करना चाहिए।

अब भद्रा इस विषय में उनके कर्त्तव्य को बताती हुई कहती है—

सीसेण एयं सरणं उवेह, समागया सव्वजणेण तुब्भे ।
जइ इच्छह जीवियं वा धणं वा, लोगंपि एसो कुविओ डहेज्जा ॥ २८ ॥

शीर्षेणैनं शरणमुपेत्, समागताः सर्वजनेन यूयम् ।
यदीच्छथ जीवितं वा धनं वा, लोकमप्येष कुपितो दहेत् ॥ २८ ॥

पदार्थान्वयः—सीसेण—मस्तक से, **एयं**—इस मुनि की, **सरणं**—शरण, **उवेह**—ग्रहण करो, **समागया**—एकत्रित होकर, **सव्वजणेण**—सर्व जनो के साथ, **तुब्भे**—तुम, **जइ**—यदि, **इच्छह**—चाहते हो, **जीवियं**—जीवन को, **वा**—अथवा, **धणं**—धन को, **लोगंपि**—लोक को भी, **एसो**—यह, **कुविओ**—कुपित होने पर, **डहेज्जा**—दग्ध करने मे समर्थ है।

मूलार्थ—यदि तुम अपने जीवन और धन की रक्षा करना चाहते हो तो आप सभी लोग इकट्ठे होकर मस्तक झुकाकर इस मुनि की शरण ग्रहण करो, अर्थात् इनके चरणों में गिरकर इनसे क्षमा मांगो, क्योंकि यह मुनि कुपित होने पर सारे लोक को भस्म कर देने की शक्ति रखने वाला है।

टीका—इसके अनन्तर पुरोहित सोमदेव की धर्मपत्नी भद्रा ने उन अध्यापकों से यह कहा कि तुम सब लोग मिलकर इस मुनि की शरण ग्रहण करो, अन्यथा आपकी रक्षा का कोई उपाय नही है, क्योकि कुपित हुआ यह मुनि आपको तो क्या, समस्त लोक को भी भस्म कर देने मे समर्थ है, अतः सर्व प्रकार के गर्व का परित्याग करके तुम्हारे लिए इस मुनि की शरण मे उपस्थित होना ही परम कल्याणकारी है।

भद्रा के कथन का आन्तरिक रहस्य तो यह है कि यह मुनि शान्ति का अगाध समुद्र है, परम निस्पृह है, इसलिए इसकी शरण मे जाने से तुम्हारे जीवन और धन की रक्षा होने के अतिरिक्त तुमको परम शान्ति और अभीष्ट-सिद्धि का भी लाभ होगा। इसके अनन्तर मुनि को मारने के लिए दौड़कर गए हुए उन विद्यार्थियो की जो दशा उस समय यक्ष के कोप द्वारा हो रही थी, अब शास्त्रकार उसका वर्णन करते है—

अवहेडियपिट्ठिसउत्तमंगे, पसारिया बाहु अकम्मचेट्ठे ।
निब्भेरियच्छे रुहिरं वमंते, उड्ढंमुहे निग्गयजीहनेत्ते ॥ २६ ॥

अबाधः कृतपृष्ठि सोत्तमाङ्गान् प्रसारितबाहूनकर्मचेष्टान् ।
प्रसारिताक्षान् रुधिर वमतः, ऊर्ध्वमुखान्निर्गतजिह्वानेत्रान् ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—अवहेडिय—नीचे गिरा हुआ है, **पिट्ठि**—पीठ पर्यन्त, **सउत्तमंगे**—मस्तक जिनका, **पसारिया**—पसारी हुई, **बाहु**—भुजाए, **अकम्मचेट्ठे**—क्रिया रहित है चेष्टाएं जिनकी, **निब्भेरियच्छे**—पसारी हुई आखो वाले, **रुहिरं**—रुधिर को, **वमंते**—वमते हुए, **उड्ढंमुहे**—मुख जिनका ऊचा हो रहा है, **निग्गय**—निकली हुई है, **जीहनेत्ते**—जिह्वा और आखें जिनकी।

मूलार्थ—नीचे गिरे हुए मस्तक, पीठ की तरफ पसारी हुई भुजाएं, चेष्टाओं से रहित शरीर और फटी हुई आंखों वाले कुमारों के मुख से रुधिर निकल रहा है, उनका मुख ऊपर की ओर हो रहा है, जिह्वा तथा आंखे बाहर निकल रही हैं, इस प्रकार की दशा में उन कुमारों को अध्यापकों ने देखा।

टीका—यज्ञ-मंडप में बैठे हुए अध्यापक लोगों ने यक्ष के कोप से उन कुमारो की जो दशा देखी उसी का वर्णन इस गाथा में किया गया है। जैसे कि उन कुमारों का मस्तक नीचे गिरा हुआ है, दोनों भुजाएं पीठ की ओर फैली हुई हैं, मुख से रुधिर बह रहा है, जीभ और आंखें बाहिर निकल रही हैं, तथा शरीर निश्चेष्ट हो रहा है। यहां पर '**निब्भेरियच्छे**' यह देशी प्राकृत का प्रयोग है।

इसके अनन्तर क्या हुआ, अब इसी बात को कहते हैं—

ते पासिया खंडिय कट्ठभूए, विमणो विसण्णो अह माहणो सो।
इसिं पसाएइ सभारियाओ, हीलं च निंदं च खमाह भंते! ॥ ३० ॥

तान् दृष्ट्वा खण्डिकान्काष्ठभूतान्, विमना विषण्णोऽथ ब्राह्मणः सः।
ऋषिं प्रसादयति सभार्याकः, हीलां च निन्दां च क्षमध्वं भदन्त! ॥ ३० ॥

पदार्थान्वयः—ते—उन, **खंडिय**—छात्रों को, **कट्ठभूए**—काष्ठ के समान बने हुओं को, **पासिया**—देखकर, **विमणो**—उन्मनस्क, **विसण्णो**—विषादयुक्त, **अह**—अथ, **स**—वह, **माहणो**—ब्राह्मण, **इसिं**—ऋषि को, **पसाएइ**—प्रसंन्न करता है, **सभारियाओ**—भार्या को साथ लेकर, **भंते**—हे भगवन्!, **हीलं**—हीलना, **च**—और, **निंदं**—निंदा, **च**—पादपूर्ति में, **खमाह**—क्षमा कीजिए।

मूलार्थ—काष्ठ की तरह चेष्ठा-रहित हुए उन छात्रों को देखकर सोमदेव को बहुत विषाद हुआ और वह अपनी भार्या को साथ लेकर उक्त मुनि को प्रसन्न करने के लिए उनके पास गया और कहने लगा कि—'हे भगवन्! हमारे द्वारा आपकी जो हीलना और निन्दा हुई है। उसके लिए हमें क्षमा कीजिए।''

टीका—यज्ञ-मण्डप के अधिष्ठाता सोमदेव ने उन कुमारों की इस प्रकार की दशा को देखकर मन मे बहुत पश्चात्ताप किया और इस कृत्य से उसको बहुत खेद हुआ। तब वह अपनी भार्या भद्रा को साथ लेकर उक्त ऋषि को प्रसन्न करने के निमित्त उसके चरणों मे उपस्थित होकर अपने अपराधों की क्षमा मागने लगा।

अब क्षमा के प्रकार का वर्णन करते हैं, यथा—

बालेहिं मूढेहिं अयाणएहिं, जं हीलिया तस्स खमाह भंते!।
महप्पसाया इसिणो हवंति, न हु मुणी कोवपरा हवंति ॥ ३१ ॥

बालैर्मूढैर - जानद्भिः, यद् हीलितास्तत्क्षमध्वम् भदन्त!।
महाप्रसादा ऋषयो भवन्ति, न खलु मुनयः कोपपरा भवन्ति ॥ ३१ ॥

पदार्थान्वयः—**बालेहिं**—बालों ने, **मूढेहिं**—मूर्खो एव, **अयाणएहिं**—अज्ञानियों ने, **जं**—जो, **हीलिया**—आपकी हीलना की है, **तस्स**—उसको, **भंते**—हे भगवन्! **खमाह**—क्षमा करें, **महप्पसाया**—महाप्रसाद अर्थात् अति प्रसन्नचित वाले, **इसिणो**—ऋषि लोग, **हवंति**—होते हैं, **हु**—निश्चय ही, **मुणी**—साधु, **कोवपरा**—क्रोधयुक्त, **न हवंति**—नहीं होते।

मूलार्थ—हे भगवन्! इन मूढ़, अज्ञानी बालकों ने आपकी जो अवहेलना की है, आप उसे क्षमा करें, क्योंकि ऋषि लोग सदा ही प्रसन्नचित्त वाले होते हैं, इसीलिए मुनि लोग किसी पर क्रोध नहीं करते।

टीका—सोमदेव नाम के ब्राह्मण ने उस मुनि के पास आकर उन बालकों के अपराध की क्षमा-याचना की और कहा कि—'हे भगवन्! इन बालको ने आपकी जो अवज्ञा की है उसको आप क्षमा करें, क्योंकि ये बालक वास्तव में अज्ञानी और मूर्ख हैं और आप महाकृपालु हैं। आप जैसे महात्मा पुरुष किसी पर कोप नही करते, प्रत्युत अविनीतो पर भी दयाभाव ही दिखाते है।

इस गाथा मे मुनि के स्वभाव का बहुत ही सुन्दर चित्र प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि अपराध करने वालो पर भी मुनिजनों को अनुकम्पा-भाव ही रखना चाहिए।

इस गाथा में 'तस्स' के स्थान पर यद्यपि 'तत्' शब्द का प्रयोग करना चाहिए था, तथापि प्राकृत के नियम को लेकर 'तत' के स्थान पर 'तस्स' का प्रयोग हुआ है।

सोमदेव के वचनों को सुनकर उस ऋषि ने जो उत्तर दिया, अब उसी का शास्त्रकार वर्णन करते है—

पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च, मणप्पदोसो न मे अत्थि कोई।
जक्खा हु वेयावडियं करेंति, तम्हा हु एए निहया कुमारा॥ ३२॥

पूर्वं चेदानीं चानागतं च, मनःप्रद्वेषो न मेऽस्ति कोऽपि।
यक्षाः खलु वैयावृत्त्यं कुर्वन्ति, तस्मात्खल्वेते निहताः कुमाराः॥ ३२॥

पदार्थान्वयः—**पुव्विं**—पहले, **च**—और, **इण्हिं**—इस समय, **च**—तथा, **अणागयं**—अनागत काल में, **च**—संभावना में है, **मणप्पदोसो**—मन से भी द्वेष, **न**—नहीं, **मे**—मेरे, **अत्थि**—है, **कोई**—थोड़ा भी, **जक्खा**—यक्ष, **हु**—निश्चय ही मेरी, **वेयावडियं**—वैयावृत्य, **करेंति**—करते है, **तम्हा**—इसलिए, **हु**—जिससे, **एए**—ये-प्रत्यक्ष, **निहया**—ताड़ना किए गए है, **कुमारा**—कुमार।

मूलार्थ—इस यज्ञ-मंडप में आने से पहले तथा इस समय और आगे भी मेरा तुम्हारे प्रति थोड़ा सा मन से भी द्वेष नही है, किन्तु यक्ष मेरी सेवा में रहते हैं, अतः ये कुमार उन्हीं यक्षों के द्वारा अभिहत अर्थात् ताड़ित हुए हैं।

टीका—सोमदेव नाम के ब्राह्मण की विनय-प्रार्थना को सुनकर उस मुनि ने कहा कि—"मेरे मन में आप लोगो के प्रति न कोई पहले द्वेष था, न अब है और न कभी होगा। मै तो शत्रु और मित्र दोनों पर ही समभाव रखने वाला हू, अर्थात् मित्र से मेरा कोई प्यार नहीं और शत्रु से मेरा कोई द्वेष नहीं। तात्पर्य यह है कि वीतरागता की ओर बढ़ते हुए मुनि का ससार मे कोई शत्रु अथवा मित्र नहीं होता। उसके लिए तो प्राणिमात्र ही उसकी आत्मा के समान है, इसलिए मैंने इन कुमारो का किसी प्रकार का अनिष्ट नही किया, किन्तु मेरी सेवा मे रहने वाले यक्ष का यह कोप अवश्य है और उसी के द्वारा इन कुमारों की यह दशा हुई है। यहा पर 'हु' यह एव के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

मुनि के इस प्रकार के शान्त वचनों को सुनकर वे अध्यापक लोग फिर उसी की स्तुति करने लगे, यथा—

अत्थं च धम्मं च वियाणमाणा, तुब्भे न वि कुप्पह भूइपन्ना ।
तुब्भं तु पाए सरणं उवेमो, समागया सव्वजणेण अम्हे ॥ ३३ ॥

अर्थञ्च धर्मञ्च विजानन्तः, यूयं नापि कुप्यथ भूतिप्रज्ञाः! ।
युष्माकं तु पादौ शरणमुपेमः, समागताः सर्वजनेन वयम् ॥ ३३ ॥

पदार्थान्वयः—**अत्थं**—अर्थ के, **च**—और, **धम्मं**—धर्म के, **च**—समुच्चय अर्थ में, **वियाणमाणा**—जानने वाले है, **तुब्भे**—आप, **न वि**—नही, **कुप्पह**—कोप करने वाले है, **भूइपन्ना**—रक्षा करने की बुद्धि वाले, **तु**—निश्चय ही, **तुब्भं**—आपके, **पाए**—चरणों का, **सरणं**—शरण, **उवेमो**—ग्रहण करते है, **अम्हे**—हम लोग, **समागया**—इकट्ठे मिलकर, **सव्वजणेण**—सर्वजनों के साथ।

मूलार्थ—हे भगवन्! आप अर्थ और धर्म के जानने वाले हैं तथा कदाचित् भी क्रुद्ध होने वाले नहीं हैं, क्योंकि आपकी बुद्धि सदा रक्षा करने वाली है, अतः हम सब लोग आपके चरणों की शरण ग्रहण करते है, अर्थात् आपकी शरण में आए हैं।

टीका—अध्यापक लोग मिलकर मुनि की सेवा में उपस्थित होते हुए उनसे फिर प्रार्थना करते है—'हे भगवन्! आप समस्त शास्त्रों के अर्थ अर्थात् रहस्य के जानकार तथा दशविध यति-धर्म के पूर्ण ज्ञाता है, इसलिए आप मे अणुमात्र भी क्रोध नही है। आप भूतिप्रज्ञ अर्थात् हर एक जीव की मगल-कामना, वृद्धि और रक्षा करने वाले हैं, अतः हम सब मिलकर आपकी शरण में आए है। यहां पर 'भूति' शब्द से मगल, वृद्धि और रक्षा ये तीन अर्थ अभिप्रेत है। तात्पर्य यह है कि आप सबका कल्याण चाहते है, किसी का विनाश नही चाहते, अतएव आप के हृदय में सबके लिए रक्षा की कामना है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

अच्चेमु ते महाभाग!, न ते किंचि न अच्चिमो ।
भुंजाहि सालिमं कूरं, नाणावंजणसंजुयं ॥ ३४ ॥

अर्चयामस्त्वां महाभाग! न तव किंचिन्नार्चयामः ।
भुंक्ष्व शालिमयं कूरं, नानाव्यञ्जनसंयुतम् ॥ ३४ ॥

पदार्थान्वयः—**महाभाग**—हे महाभाग!, **ते**—आपकी, **अच्चेमु**—हम पूजा करते है, **ते**—आपका, **किंचि**—कोई भी-अंग ऐसा, **न**—नही है जो, **न अच्चिमो**—पूजने योग्य न हो, **भुंजाहि**—भोजन कीजिए, **सालिमं**—तण्डुल, **कूरं**—विशिष्ट ओदन—पकाया हुआ भात, **नाणावंजण**—नाना प्रकार के व्यंजनों से, **संजुयं**—संयुक्त।

मूलार्थ—हे महाभाग! हम आपकी पूजा करते हैं, आपके शरीर का ऐसा कोई भी अंग नहीं है जो पूजा के योग्य न हो! आप नाना प्रकार के व्यंजनों सहित शुद्ध शालियों से निर्मित चावलों का भोजन कीजिए।

टीका—वे ब्राह्मण कहते है कि 'हे महाभाग! हे पूज्य! हम आपकी सर्व प्रकार से पूजा करते है, आपकी चरण-रेणु तथा आपके शरीर का अन्य कोई भी अवयव ऐसा नहीं है जो कि पूजने के योग्य न हो, अत हमारी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए आप शुद्ध शालि—धान्य विशेष से उत्पन्न हुए और इस यज्ञ-मण्डप मे बने हुए चावलो का भोजन कीजिए। यह चावल नाना प्रकार के दधि आदि पदार्थों से उपसस्कृत है, अथवा नाना प्रकार के व्यंजनो—मसालो—से सुसंस्कृत अर्थात् स्वादिष्ट बनाए गए है।

इस गाथा में भक्ति के अतिरेक का दिग्दर्शन कराया गया है तथा **'त्वां'** के स्थान में **'ते'** का प्रयोग भी 'सुपृ' के व्यत्यय से प्राकृत नियम द्वारा बन जाता है।

अब फिर इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं—

इमं च मे अत्थि पभूयमन्नं, तं भुंजसू अम्ह मणुग्गहट्ठा ।
बाढं ति पडिच्छइ भत्तपाणं, मासस्स ऊ पारणए महप्पा ॥ ३५ ॥

इदं च मेऽस्ति प्रभूतमन्नं, तद् भुंक्ष्वास्माकमनुग्रहार्थम् ।
बाढमिति प्रतीच्छति भक्तपानं, मासस्य तु पारणके महात्मा ॥ ३५ ॥

पदार्थान्वयः—**इमं**—यह—प्रत्यक्ष, **च**—पुन , **मे**—मेरे, **पभूयं**—प्रभूत, **अन्नं**—अन्न, **अत्थि**—है, **तं**—वह, **भुंजसू**—खाइये, **अम्ह**—हम पर, **अणुग्गहट्ठा**—अनुग्रह के लिए, **बाढं**—मुनि ने कहा कि मुझे स्वीकार है, **ति**—इस प्रकार कहकर, **भत्तपाणं**—भक्त और पान को, **पडिच्छइ**—ग्रहण करता है, **ऊ**—वितर्क मे, **मासस्स**—मास के, **पारणए**—पारणा मे, **महप्पा**—महात्मा।

मूलार्थ—सोमदेव ने कहा—'हे मुने! मेरे यज्ञ-मंडप में यह प्रचुर अन्न तैयार है, आप हम पर अनुग्रह करते हुए इसे स्वीकार करें।' मुनि ने कहा, मुझे 'स्वीकार है', इस प्रकार कहकर एक मास के पारणे के निमित्त उस महात्मा ने अन्न और जल ग्रहण कर लिए।

टीका—इस गाथा मे सोमदेव की विनम्र प्रार्थना पर मुनि हरिकेशबल के भिक्षा-ग्रहण करने का उल्लेख किया गया है, अर्थात् सोमदेव नाम के ब्राह्मण ने मुनि हरिकेशबल की स्तुति करने के बाद जब उससे नम्रता-पूर्वक भिक्षा ग्रहण करने की प्रार्थना की तब उक्त मुनि ने आहार लेने की अनुमति प्रदान करते हुए वहा से आहार लेकर अपने एक मास के उपवास का पारणा किया।

तात्पर्य यह है कि संयमशील मुनि की यह वृत्ति है कि यदि कोई व्यक्ति अज्ञानतावश प्रथम उसका तिरस्कार कर दे और फिर विनम्र होकर प्रार्थना करे तो फिर उसको मुनि निराश न करे, किन्तु वहा से अपने योग्य आहार आदि लेकर उसको सफल-मनोरथ बनाने का ही प्रयत्न करे। इसी नियम

के अनुसार उक्त मुनि ने भिक्षा को ग्रहण किया। यहां पर 'बाढं' यह स्वीकार अर्थ में अव्यय है, यथा 'बाढं'—एवमस्तु इत्यादि।

भिक्षा ग्रहण करने के अनन्तर जब उसके द्वारा मुनि ने एक मासिक उपवास का पारणा किया तब उसके बाद वहां पर क्या हुआ, अब इसी विषय का वर्णन करते हैं।

तहियं गंधोदयपुप्फवासं, दिव्वा तहिं वसुहारा य वुट्ठा ।
पहयाओ दुन्दुहीओ सुरेहिं, आगासे अहो! दाणं च घुट्ठं ॥ ३६ ॥

तत्र गंधोदकपुष्पवर्षं, दिव्या तत्र वसुधारा च वृष्टा ।
प्रहता दुन्दुभयः सुरैः, आकाशेऽहो! दानं च घुष्टं ॥ ३६ ॥

पदार्थान्वयः—**तहियं**—उस समय, **गंधोदय**—गन्धोदक, **पुप्फवासं**—पुष्पों की वृष्टि, **दिव्वा**—दिव्य, **तहिं**—वहा पर, **य**—और, **वसुहारा**—द्रव्य—सुवर्ण की, **वुट्ठा**—वर्षा हुई, **पहयाओ**—बजाई, **दुन्दुहीओ**—दुन्दुभिया, **सुरेहिं**—देवताओं ने, **आगासे**—आकाश में, **च**—पुन., **अहो दाणं**—अहो दान, **घुट्ठं**—ऐसा घोषित किया गया।

मूलार्थ—उस समय गन्धोदक और पुष्पों की वर्षा तथा सुवर्ण की वृष्टि हुई और देवों द्वारा आकाश में दुन्दुभियां बजाई गईं तथा उक्त दान की महिमा का गान किया गया।

टीका—उक्त मुनि ने जिस समय यज्ञ-मण्डप मे मासोपंवास का पारणा किया, उस समय देवों ने आकाश से सुगन्धित जल और पुष्पो की वर्षा की तथा वसुधारा—सुवर्ण की वृष्टि की तथा देवो द्वारा दुन्दुभिया बजाई गई और प्रस्तुत दान की प्रशंसा की गई।

योग्यपात्र मे विशिष्ट श्रद्धा से अर्पण किया गया पदार्थ कितना महान फल देने वाला होता है तथा तपश्चर्यामय जीवन का आत्म-शुद्धि के अतिरिक्त लोक में भी कितना विलक्षण प्रभाव होता है एव शुद्ध बुद्धि से किया गया सुपात्र-दान किस सीमा तक ऐहिक और पारलौकिक श्रेय का साधक होता है, इत्यादि बातो को प्रस्तुत गाथा में भावार्थ विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा के भावार्थ से यह भी सहज ही मे ध्वनित होता है कि दान करने से लक्ष्मी देवों के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होती है, अत 'दान करने से लक्ष्मी क्षीण हो जाएगी' ऐसा संकुचित विचार दानशील पुरुष के हृदय में कभी नही आना चाहिए। जैसे कूप से जल निकालने पर वह खाली नही होता, किन्तु उसमे और शुद्ध, पवित्र जल आने लग जाता है, यही दृष्टान्त दान के विषय में भी जान लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि दान से लक्ष्मी की कमी नहीं होती, किन्तु वह प्रतिदिन बढ़ती है।

उक्त मुनि के इस प्रकार के महात्म्य को देखकर अति विस्मय को प्राप्त हुए वे अध्यापक लोग इस प्रकार कहने लगे—

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेस कोई ।
सोवागपुत्तं हरिएससाहुं, जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ॥ ३७ ॥

साक्षात् खलु दृश्यते तपोविशेषः, न दृश्यते जातिविशेषः कोऽपि ।

श्वपाकपुत्रं हरिकेशसाधुं, यस्येदृशी ऋद्धिर्महानुभागा ॥ ३७ ॥

पदार्थान्वयः—**खु**—निश्चय ही, **सक्खं**—साक्षात्, **तवो**—तप की, **विसेसो**—विशेषता, **दीसई**—देखी जाती है—किन्तु, **जाइविसेस**—जाति की विशेषता, **कोई**—थोड़ी सी भी, **न दीसई**—नहीं दिखाई देती, देखो, **सोवागपुत्तं**—चांडाल के पुत्र, **हरिएस**—हरिकेश, **साहुं**—साधु को, **जस्स**—जिसकी, **एरिसा**—इस प्रकार की, **इड्ढि**—ऋद्धि और, **महाणुभागा**—महाभाग्य है।

मूलार्थ—निश्चय ही तप की विशेषता तो यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रही है और जाति की विशेषता तो थोड़ी सी भी नहीं दिखाई देती। देखो! इस चाण्डाल-पुत्र हरिकेश साधु को कि जिसकी इस प्रकार की ऋद्धि और भाग्य है।

टीका—मुनि के तपोबल की प्रत्यक्ष महिमा को देखकर आश्चर्य-मग्न हुए वे अध्यापक लोग आपस मे इस प्रकार कहने लगे कि 'वास्तव मे तप का ही प्रभाव प्रत्यक्ष है, अर्थात् इसी की विशिष्टता ससार मे दृष्टिगोचर होती है और जाति का वैशिष्ट्य तो प्राय. विश्वास-गम्य ही है, अर्थात् प्रत्यक्षरूप में उसका कोई भी प्रभाव देखने मे नही आता। यदि वस्तुतः जाति का कोई विशिष्ट महत्त्व होता तो देवता गण ब्राह्मण के अतिरिक्त और किसी के भी अनुचर न बनते, परन्तु देखने में इससे सर्वथा विपरीत दृष्टि-गोचर हो रहा है, देखो यह हरिकेशबल नाम का साधु कितने हीन कुल व हीन जाति मे उत्पन्न हुआ है, परन्तु इसका तपोबल इतना महान् है कि उसके प्रभाव से मनुष्य तो क्या, देवता भी इसकी सेवा मे उपस्थित होने मे अपना परम सौभाग्य समझते है, इससे प्रतीत होता है कि केवल जाति मे कोई महिमा की बात नहीं, वह तो आत्म-शुद्धि और उसके साधनभूत विशेष प्रकार के तप मे ही है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषो को चाहिए कि वे केवल जाति के अभिमान मे फंसे न रहकर अपने आत्मा मे गुणोत्कर्ष के सम्पादनार्थ अधिक से अधिक प्रयत्न करे, यही इस गाथा का आशय है।'

इसके अनन्तर मुनि हरिकेशबल ने उन अध्यापकों को विनीत और उपशान्त मोह वाले जानकर जो हितकारी उपदेश दिया अब शास्त्रकार उसका वर्णन करते है—

किं माहणा! जोइसमारभंत्ता, उदएण सोहिं बहिया विमग्गहा? ।

जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं, न तं सुइट्ठं कुसला वयन्ति ॥ ३८ ॥

कि ब्राह्मणा! ज्योतिः समारभमाणाः, उदकेन शुद्धिं बाह्यां विमार्गयथ? ।

यद् मार्गयथ बाह्यां विशुद्धिं, न तत् सुदृष्टं कुशला वदन्ति ॥ ३८ ॥

पदार्थान्वयः—**किं**—क्या, **माहणा**—हे ब्राह्मणो! **जोइ**—अग्नि का, **समारभंता**—समारम्भ करते हुए—और, **उदएण**—जल से, **सोहि**—शुद्धि, **बहिया**—बाहर की, **विमग्गहा**—अन्वेषण करते हो, **जं**—जो, **मग्गहा**—अन्वेषण करते हो, **बाहिरियं**—बाहर, **विसोहिं**—विशुद्धि का मार्ग, **तं**—वह मार्ग,

सुइट्ठं—सुयोग्य, न—नहीं, इस प्रकार, कुसला—कुशल लोग, वयंति—कहते हैं।

मूलार्थ—हे ब्राह्मणो! तुम क्यों अग्नि का आरम्भ करते हो? तथा पानी से बाहर की शुद्धि की गवेषणा क्यों करते हो? क्योंकि जो मार्ग केवल बाहर की विशुद्धि का है उसको कुशल लोग अच्छा नहीं समझते।

टीका—ब्राह्मणों को उपदेश देते हुए मुनि ने कहा कि आप लोग इस अग्नि का आरम्भ क्यों कर रहे हो? तथा जल के द्वारा केवल बाहर की शुद्धि की अभिलाषा क्यों कर रहे हो? क्योंकि जो मार्ग केवल बाहर की शुद्धि का है उसको कुशल—विचारशील-तत्त्ववेत्ता लोग अच्छा नहीं समझते। कारण कि इस बाह्यशुद्धि से आन्तरिक शुद्धि की कोई सम्भावना नहीं होती और आन्तरिक शुद्धि के बिना भाव शुद्धि का होना असम्भव है, इसलिए आत्म-विकास की इच्छा रखने वाले महानुभावों को बाह्य शुद्धि को गौण समझते हुए सर्व प्रकार से आन्तरिक शुद्धि को ही प्राप्त करना चाहिए।

यहा पर इतना और भी समझ लेना चाहिए कि मुनि बाह्य-शुद्धि का निषेध नहीं करते और न ही उनका यह उपदेश है। उनके कथन का तात्पर्य तो यह है कि इस बाह्य शुद्धि से अन्तरंग शुद्धि की इच्छा रखनी भूल है, इसलिए जो व्यक्ति केवल बाह्य शुद्धि से आत्म शुद्धि का होना मानते या समझते है वे भ्रान्त है। उनका विचार तो ऐसा है जैसे किसी ज्वर-ग्रस्त पुरुष का स्नान करके ज्वर को उतारने का विचार हो, अर्थात् जैसे केवल स्नान कर लेने से ज्वर का उतरना दुस्तर है—अपितु ज्वर के बढ़ जाने की ही अधिक सम्भावना रहती है, इसी प्रकार बाह्यशुद्धि से आन्तरिक निर्मलता प्राप्ति की आशा करना भी केवल मनोरथ मात्र ही प्रतीत होता है। इस गाथा में आया हुआ 'किं' अधिक्षेपार्थक है।

अब इसी विषय का उपपत्तिपूर्वक वर्णन करते हैं—

कुसं च जूवं तणकट्ठमग्गिं, सायं च पायं उदयं फुसंता।
पाणाइं भूयाइं विहेडयंता, भुज्जो वि मंदा ! पकरेह पावं ॥ ३६ ॥

कुशं च यूपं तृणकाष्ठमग्निं, सायं च प्रातरुदकं स्पृशन्तः ।
प्राणिनो भूतान् विहेठमानाः, भूयोऽपि मन्दाः! प्रकुरुथ पापम् ॥ ३६ ॥

पदार्थान्वयः—**कुसं**—कुशा, **च**—और, **जूवं**—यूप—यज्ञ-स्तम्भ, **तण**—तृण, **कट्ठं**—काष्ठ, **अग्गिं**—अग्नि को स्पर्श करते हो, **सायं**—सायंकाल, **च**—और, **पायं**—प्रातःकाल, **उदयं**—जल को, **फुसंता**—स्पर्श करते हुए, **पाणाइं**—प्राणियो का तथा, **भूयाइं**—भूतो का, **विहेडयंता**—विनाश करते हुए, **भुज्जोवि**—फिर भी तुम, **मंदा**—मन्द बुद्धि, **पावं**—पाप को, **पकरेह**—करते हो।

मूलार्थ—कुशा, यूप, तृण, काष्ठ और अग्नि तथा जल का स्पर्श करते हुए एवं प्राणियों और भूतों का प्रातःकाल और सायंकाल विनाश करते हुए फिर भी तुम मन्दबुद्धि होकर पापकर्मों का उपार्जन करते हो।

टीका—मुनि हरिकेशबल कहते हैं कि तुम लोग शुद्धि के बहाने पापकर्म का उपार्जन कर रहे हो। जैसे कि यज्ञ के लिए कुशा लाते हो, यूप—यज्ञस्तम्भ का निर्माण करते हो, हवन के लिए वीरणादि तृण और समिधाएं इकट्ठी करके उनका अग्नि में होम करते हो, तथा प्रातः-सायं जल का सेवन करते हो, अर्थात् शुद्धि के निमित्त जल का स्पर्श करते हो, इन सब कार्यों के पीछे पाप का कुछ न कुछ अंश विद्यमान रहता है।

तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की क्रियाओं द्वारा प्राणियों और भूतों का विनाश करते हुए पापकर्म का ही संचय होता है, परन्तु तुम लोग इन उक्त क्रियाओं को शुद्धि का कारण मान रहे हो यही तुम्हारी अज्ञानता है, क्योंकि स्नानादि क्रियाएं व्यवहार-पक्ष में केवल शरीर की शुद्धि का ही कारण मानी जाती है, आत्म-शुद्धि मे तो इनका कोई उपयोग नहीं है। यही उक्त गाथा का रहस्य है। अपि च—

'प्राणाः द्वित्रिचतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः ।
जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेया, शेषाः सत्त्वाः प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥'

इत्यादि प्रमाणों से तुम्हारे यज्ञारम्भ में नाना प्रकार के जीवों का प्रत्यक्ष विनाश हो रहा है तथा उदकादि से होने वाले मात्र बाह्य शौच से ही आन्तरिक-आध्यात्मिक शौच की अभिलाषा रखना तुम्हारी भारी भूल है, क्योंकि आपको यथार्थ बोध नहीं है।

मुनि के इस प्रकार के कथन को सुनकर वे ब्राह्मण लोग अपनी-अपनी शंकाओं की निवृत्ति करने के लिए उक्त मुनि से यज्ञ विषयक इस प्रकार से प्रश्न करने लगे, यथा—

कहं चरे! भिक्खु! वयं जयामो? पावाइं कम्माइं पुणोल्लयामो?
अक्खाहि णे संजय! जक्खपूइया! कहं सुइट्ठं कुसला वयंति? ॥ ४० ॥

कथं चरामो? भिक्षो! वयं यजामः? पापानि कर्माणि प्राणोदयामः ? ।
आख्याहि नः संयत! यक्षपूजित! कथं स्विष्टं कुशला वदन्ति? ॥ ४० ॥

पदार्थान्वयः—**भिक्खु**—हे भिक्षो!, **वयं**—हम, **कहं**—किस प्रकार, **चरे**—आचरण करे, **जयामो**—यज्ञ करे, **पावाइं**—पाप, **कम्माइं**—कर्म, **पुणोल्लयामो**—जिससे दूर हो जाए, **अक्खाहि**—कहो, **णे**—हमको, **संजय**—हे संयत! **जक्खपूइया**—हे यक्षपूजित! **कहं**—किस प्रकार, **सुइट्ठं**—अतिश्रेष्ठ यज्ञ, **कुसला**—कुशल पुरुष, **वयंति**—कहते है।

मूलार्थ—हे भिक्षो! हम किस प्रकार का यज्ञ करें जिसके करने से पाप-कर्म दूर हो जाएं, सो हमारे प्रति आप कहें, हे संयत! हे यक्षपूजित! कुशल पुरुष किस को स्विष्ट अर्थात् अतिश्रेष्ठ यज्ञ कहते हैं?

टीका—इस गाथा में यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए ब्राह्मणों ने मुनि से प्रश्न किया है। वे कहते हैं कि पाप कर्मों को दूर करने के लिए किस प्रकार के यज्ञ का आरम्भ करना चाहिए? क्योंकि प्रस्तुत यज्ञ को तो आपने हिंसात्मक होने से पाप का कारण बताया है, इसलिए ऐसा

कौनसा यज्ञ है जिससे पापों का नाश हो? तथा कुशल पुरुष जिसको अतिश्रेष्ठ तथा इष्ट फल के देने वाला कहते हैं।

ब्राह्मणो के प्रश्न करने का अभिप्राय यह है कि जब तक पहले वस्तु-तत्त्व का ज्ञान न हो जाए, तब तक उसका सम्यक् रीति से अनुष्ठान नहीं हो सकता, इसलिए वे मुनि के प्रति कहते है कि हम किस प्रकार का आचरण करें? अर्थात् कौनसा यज्ञ करें, जिससे पापों का नाश हो एवं वह कौनसा यज्ञ है कि जिसको उत्तम पुरुषों ने अतिश्रेष्ठ बताया है?

इस प्रश्न में यज्ञ का स्वरूप और उसके अनुष्ठान की विधि ये दोनों ही बातें समाविष्ट है तथा प्रस्तुत गाथा में '**कहं चरे**' यहां पर तिङ् प्रत्यय का व्यत्यय किया हुआ है, अर्थात् '**कहं चरेम**' इस उत्तम पुरुष की बहुवचनात्मक क्रिया के स्थान मे यह प्रयुक्त हुआ है।

मुनि ने उक्त प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया—

छज्जीवकाए असमारभंता, मोसं अदत्तं च असेवमाणा ।
परिग्गहं इत्थिओ माण मायं, एयं परिन्नाय चरंति दंता ॥ ४१ ॥

षड्जीवकायानसमारभमाणाः, मृषाऽदत्तं चासेवमानाः ।
परिग्रहं स्त्रियो मानं मायां, एतत्परिज्ञाय चरन्ति दान्ताः ॥ ४१ ॥

पदार्थान्वयः—छज्जीवकाए—षट्जीवकाय के जीवों का, **असमारभंता**—समारम्भ न करते हुए, **मोसं**—असत्य, **च**—और, **अदत्तं**—चोरी को, **असेवमाणा**—सेवन न करते हुए, **परिग्गहं**—परिग्रह, **इत्थिओ**—स्त्रियो, **माण**—मान, **मायं**—माया, **एयं**—यह सब, **परिन्नाय**—भली भान्ति जानकर, **चरंति**—आचरण करते है, **दंता**—जिन्होंने इन्द्रियो का दमन कर लिया है।

मूलार्थ—छह काय के जीवों का समारम्भ न करते हुए, असत्य और चोरी का सेवन न करते हुए तथा परिग्रह, स्त्री, मान और माया इन सबका भली-भान्ति त्याग करके इन्द्रियों का दमन करते हुए तुम विचरो, अर्थात् इस प्रकार आचरण करो।

टीका—ब्राह्मणों के प्रश्न का उत्तर देते हुए मुनि ने उनसे कहा—कि छह काय के जीवों की हिंसा न करते हुए, असत्य, चोरी, परिग्रह स्त्रियों एवं क्रोध, मान, माया आदि कषायों का परित्याग ही नहीं, अपितु ज्ञ-परिज्ञा से उक्त बातो के फलाफल का विचार करके फिर प्रत्याख्यान परिज्ञा से जिन्होंने इनका त्याग किया है वे ही जीव यथार्थत· यज्ञ करते है। तुम भी उक्त गुणों को धारण करके ऐसे पवित्र यज्ञ का आचरण करो।

उक्त गाथा में मुनि ने अपने उत्तर से अहिंसा आदि पांचों महाव्रतों के सेवन और क्रोध आदि चारो कषायो के परित्याग का उपदेश करते हुए सात्त्विक यज्ञ के स्वरूप में उसके अधिकारी का स्वरूप बड़ी सुन्दरता से दर्शाया है। तात्पर्य यह है कि उत्तम पुरुषो ने जिस यज्ञ की प्रशंसा की है, अर्थात् जिस प्रकार के यज्ञ को वे अति श्रेष्ठ बताते है, उसके अनुष्ठान का अधिकार उन्ही पुरुषों को है जिन मे उक्त गुणों का समावेश हो।

किसी-किसी प्रति में '**चरंति**' के स्थान पर '**चरेयुः**' क्रियापद दिया गया है जो कि केवल प्रथम प्रश्न से ही सम्बन्ध रखता है। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणों का प्रथम प्रश्न यही था '**कहं चरेम**' हम कैसे चलें और मुनि ने उत्तर दिया कि इस विधि से चलो।

प्रथम प्रश्न का उत्तर देने के अनन्तर अब ब्राह्मणों के शेष प्रश्नों का उत्तर देते हुए मुनि कहते हैं, यथा—

सुसंवुडा पंचहिं संवरेहिं, इह जीवियं अणवकंखमाणा ।
वोसट्ठकाया सुइचत्तदेहा, महाजयं जयई जन्नसिट्ठं ॥ ४२ ॥

सुसंवृताः पंचभिः संवरैः, इह जीवितमनवकांक्षन्तः ।
व्युत्सृष्टकायाः शुचि-त्यक्तदेहाः, महाजयं यजन्ते श्रेष्ठयज्ञम् ॥ ४२ ॥

पदार्थान्वयः—**पंचहिं**—पांच, **संवरेहिं**—संवरों से, **सुसंवुडा**—जो संवृत हैं, **इह**—इस जन्म में, **जीवियं**—अपने जीवन की, **अणवकंखमाणा**—इच्छा न करने वाले, **वोसट्ठकाया**—काया की ममता से रहित, वे, **सुइ**—पवित्र है, **चत्तदेहा**—त्यक्त देह हैं, **महाजयं**—कर्मों को जय करने वाले, **जन्नसिट्ठं**—श्रेष्ठ यज्ञ को, **जयई**—जयन अर्थात् यज्ञ-कर्म करते है।

मूलार्थ—जो पांच संवरो से संवृत हैं, जो इस जन्म में संयम-रहित जीवन की इच्छा न रखने वाले और परीषहों को सहन करने वाले हैं, जिन्होंने शरीर के ममत्व को त्याग दिया है वे ही पवित्र हैं और वे ही जीव कर्मों पर विजय प्राप्त करने वाले श्रेष्ठ यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं।

टीका—मुनि कहते है कि जिन व्यक्तियों ने सवर द्वारा हिसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह रूप आस्रवों का निरोध किया है तथा जो इस जन्म में असंयत जीवन व्यतीत करने की इच्छा नही रखते, शीतोष्ण आदि परीषहो को सहन करने के लिए जिन्होने शरीर के ममत्व का त्याग कर दिया है और जो कषायों के त्याग तथा व्रतो के पालन से पवित्र हो रहे है तथा देहादि के लिए किसी प्रकार का अभिमान न होने से जो त्यक्त-देह अर्थात् विदेह कहलाते है, वे ही व्यक्ति कर्म-रूप वैरियो का विनाश करने वाले परम श्रेष्ठ—आध्यात्मिक यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले है। तात्पर्य यह है कि इन उक्त गुणों वाले सत्पुरुषों की भांति आप लोग भी उक्त प्रकार से ही यज्ञ का आरम्भ कीजिए।

प्रस्तुत गाथा मे '**महाजयं**' यह क्रिया-विशेषण है और '**जयइ**' यहां पर वचन-व्यत्यय किया हुआ है—जैसे '**यजते**' पद होने पर भी '**जयइ**' इसी क्रियापद का सद्भाव है।

इस प्रकार जिन क्रियाओं द्वारा आरम्भ किया हुआ यज्ञ पापो का नाश तथा श्रेष्ठ व्यक्तियों के द्वारा आचरणीय है, उसका वर्णन श्रवण करने के अनन्तर अब ब्राह्मण लोग उक्त यज्ञ के उपकरणों के विषय में पूछते हैं, यथा—

के ते जोई? के व ते जोइठाणे? का ते सुया? किं व ते कारिसंगं?
एहा य ते कयरा सन्ति? भिक्खू! कयरेण होमेण हुणासि जोइं? ॥ ४३ ॥

किं ते ज्योतिः? किं वा ते ज्योति-स्थानं?, कास्ते स्रुवाः? किन्ते करीषांगम्? ।

एधाश्च ते कतराः? शान्तिर्भिक्षो!, कतरेण होमेन जुहोषि ज्योतिः? ॥ ४३ ॥

पदार्थान्वयः—**ते**—तुम्हारे, **जोई**—अग्नि, **के**—कौन सी है, **के व ते**—कौन सा तुम्हारे, **जोइठाणे**—अग्नि-स्थान अर्थात् कुंड है, **का ते**—कौनसा तुम्हारे **सुया**—स्रुवा है, **वं**—और, **किं**—क्या, **ते**—तुम्हारे, **कारिसंगं**—अग्नि को प्रदीप्त करने का साधन है, **य**—फिर, **ते**—तुम्हारे, **एहा**—समिधा, **कयरा**—कौनसी है ? **भिक्खू**—हे भिक्षो, **संति**—शांति-पाठ कौन सा है, **कयरेण**—किस, **होमेण**—होम से—हवन से, **हुणासि**—हवन करते हो, और, **जोइं**—ज्योति को तृप्त करते हो।

मूलार्थ—हे भिक्षो! तुम्हारे (यज्ञ की) अग्नि कौन-सी है? और कौन-सा अग्नि कुण्ड है? कौन-सी स्रुवा है? अग्नि को प्रज्वलित करने का साधन रूप कारिषांग क्या है? एवं समिधा कौन-सी है? और कौन सा शांति-पाठ है? किस हवन से तुम अग्नि को प्रसन्न करते हो?

टीका—ब्राह्मणों ने मुनि से पूछा कि—आपके मत में अहिंसामय आध्यात्मिक यज्ञ ही वास्तविक यज्ञ है तो बताइए कि यज्ञ में अग्नि कौन सी है और अग्नि-कुण्ड कौन-सा है? तथा जिससे अग्नि में आहुति दी जाती है वह स्रुवा (हाथ के आकार की लकड़ी की बनी हुई घृत डालने की कड़छी) कौन सी है? तथा अग्नि प्रचण्ड करने के लिए शमी आदि व मधु-घृतादि सामग्री कौन-सी है? एवं यज्ञ की समिधाएं अर्थात् लकड़िया कौन-सी है? और आपके यज्ञ में कष्टों को दूर करने के लिए किया जाने वाला शाति-पाठ कौन-सा है? और किस हवन से आप अग्नि को प्रसन्न करते है?

ब्राह्मणों ने हरिकेशी मुनि से यज्ञ के जो उपकरण पूछे हैं, उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके द्वारा आरम्भ किए हुए यज्ञ मे जो उपकरण काम में आते थे, उसके अनुसार मुनि के द्वारा प्रदर्शित किए गए अहिसात्मक यज्ञ मे भी उनकी आवश्यकता होगी, तब उस यज्ञ में वे कौन और किस प्रकार के उपकरण है, यह जानना भी उनके लिए बहुत जरूरी है, इसलिए उन्होंने उक्त मुनि से यज्ञ-सम्बन्धी उपकरणो के विषय मे प्रश्न किया है जो कि परम आवश्यक प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत विषय मे एक बात और ध्यान देने के योग्य है वह यह कि उस समय तक यज्ञों में पशु-वध की प्रथा नहीं थी, अथवा बन्द हो चुकी थी। यदि होती तो उस यज्ञ में प्रवृत्त रहने वाले ब्राह्मणो के साथ मुनि के यज्ञ-सम्बन्धी जो प्रश्नोत्तर हुए है, उनमें पशु-वध का उल्लेख भी किसी न किसी प्रकार से अवश्य होता। परन्तु न तो मुनि ने ही इसकी अपने भाषण में कहीं पर चर्चा की है और न ही ब्राह्मणों ने उनके प्रति अन्य उपकरणो के साथ पशु के स्थानापन्न पदार्थ को पूछा है, अर्थात् **'किं ते पशुः'** आपके यज्ञ में हवन के लिए पशु कौन सा है? ऐसा न तो ब्राह्मणों ने ही पूछा है और न ही याज्ञिक हिसा का वर्णन करते हुए मुनि ने उसकी चर्चा की है। तात्पर्य यह है कि यदि उस समय यज्ञों में पशु-वध की प्रथा होती तो जैसे प्रस्तुत सूत्र की ३८वीं और ३९वीं गाथा में मुनि ने आरम्भ किए हुए यज्ञ मे मात्र अग्नि, जल और वनस्पति के जीवो का वध होने से उनके यज्ञ को

हिंसात्मक बताया है वैसे यह नहीं बताया कि आप लोग इस यज्ञ में अज, अश्व आदि पशुओं का वध करते हो, इसलिए आपका यह यज्ञ हिंसात्मक है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय पशुवध की प्रवृत्ति नहीं थी और यदि थी भी तो उस समय तक वह समाप्त-प्राय हो चुकी थी।

वास्तव में पशु-वध की प्रथा के समर्थक मांसलोलुपी जीव ही प्रतीत होते हैं, ऐसे ही लोगों के कुत्सित आचरण से पवित्र यज्ञ शब्द भी लांछित हो रहा है, वस्तुतः **'यज्'** धातु से निष्पन्न होने वाला यज्ञ शब्द तो देव-पूजा, दान और संगतिकरण आदि अर्थों में ही व्यवहृत होता है, अतः विचारशील व्यक्तियो को हिंसात्मक यज्ञो का अनुष्ठान नही करना चाहिए, सच्चा यज्ञ तो वही है जिसमें दान की प्रवृत्ति हो, गुरुदेवों एव बड़ो का सन्मान हो और साधु पुरुषों का सत्संग हो।

अब ब्राह्मणों द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उक्त मुनि अनुक्रम से उत्तर देते हैं, यथा—

तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं ।
कम्मेहा संजमजोगसंती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥ ४४ ॥

तपो ज्योतिर्जीवो ज्योति-स्थानं, योगाः स्रुवाः शरीरं करीषाङ्गम् ।
कर्मैधाः संयम-योगाः शान्तिः, होमेन जुहोम्यृषीणां प्रशस्तेन ॥ ४४ ॥

पदार्थान्वयः—तवो जोई—तप रूप अग्नि है, **जीवो**—जीव, **जोइठाणं**—अग्नि का स्थान है, **जोगा**—मन, वचन और कायरूप योग, **सुया**—स्रुवा है, **सरीरं**—शरीर, **कारिसंगं**—करीषांग है, **कम्म**—कर्म, **एहा**—इंधन है, **संजमजोग**—संयम-व्यापार, **संती**—शान्ति-पाठ है, **होमं**—होम से—चारित्र-यज्ञ से, **हुणामि**—हवन करता हूं जो, **इसिणं**—ऋषियो के लिए, **पसत्थं**—प्रशस्त है।

मूलार्थ—तप रूप अग्नि है, जीव ही अग्नि का स्थान है, तीनों योग स्रुवा हैं, शरीर करीषांग है, कर्म ईंधन हैं और संयम-व्यापार शान्तिपाठ है, इस प्रकार के होम से अर्थात् चारित्ररूप यज्ञानुष्ठान से मैं अग्नि को प्रसन्न करता हूं जिसको ऋषियों ने प्रशस्त माना है, अथवा जो ऋषियों के लिए प्रशस्त है।

टीका—मुनि ने अहिंसामय आध्यात्मिक यज्ञ के विषय में किए गए ब्राह्मणो के प्रश्नों का अनुक्रम से जो उत्तर दिया है वह इस प्रकार है—

प्रश्न—आपके यज्ञ में अग्नि क्या है?

उत्तर—तपरूप।

प्रश्न—अग्नि-कुण्ड कौन-सा है?

उत्तर—जीवात्मा।

प्रश्न—अग्नि-कुण्ड मे जिसके द्वारा चरु आदि की आहुति दी जाती है, वह स्रुवा कौन-सा है?

उत्तर—मन, वचन और कायरूप योग।

प्रश्न—यज्ञ की सामग्री कौन-सी है?

उत्तर—शरीर।

प्रश्न—यज्ञ के लिए समिधा कौन-सी है?

उत्तर—शुभाशुभ कर्म।

प्रश्न—शान्ति पाठ कौन-सा है?

उत्तर—संयम व्यापार।

प्रश्न—किस हवन से अग्नि को प्रसन्न करते हो?

उत्तर—उक्त प्रकार के हवन से अग्नि को प्रसन्न करते है जो ऋषियों के लिए प्रशस्त है।

इस प्रश्नोत्तर माला का तात्पर्य इस प्रकार है—प्रथम तप को ज्योति, अर्थात् अग्नि बताया गया है, उसका आशय यह है कि तप मे कर्म-मल को भस्म कर देने की शक्ति है और वह तप जीव के आश्रित है, इसलिए उस तप रूप अग्नि का स्थान जीव है एवं मन, वचन और काय योग को स्रुवा कहने का तात्पर्य यह है कि शुभाशुभ कर्मों का आगमन इन्हीं के द्वारा होता है। जिस प्रकार मधु-घृत आदि चरु के प्रक्षेप से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार शरीर में ही यह तप रूप अग्नि प्रदीप्त होती है, अतः शरीर को करीषांग बताया गया है। यहां पर समिधा के स्थानापन्न कर्म है, अर्थात् जैसे अग्निकुण्ड में शमी, पलाश आदि की लकड़िया डालने से वे भस्म हो जाती हैं उसी प्रकार तप रूप अग्नि मे कर्म-रूप इंधन भस्म हो जाते हैं और संयम-व्यापार से ही सर्व जीवो को शान्ति मिलती है, अत. प्रस्तुत यज्ञ मे वही शान्ति-पाठ है। इस प्रकार उक्त यज्ञ की सारी ही उपकरण-सामग्री का वर्णन कर दिया गया है।

यहा पर '**होमेन**' के स्थान पर जो '**होमं**' पाठ दिया गया है, वह विभक्ति-व्यत्यय से जानना।

यही हवन ऋषियो के लिए प्रशस्त है। इस कथन से प्रतीत होता है कि उक्त प्रकार की हवन विधि केवल त्यागी ऋषियों के लिए ही प्रतिपादन की गई है और गृहस्थों के लिए तो केवल पशुवध जिनमें हो, ऐसे यज्ञों का निषेध है।

इस प्रकार मुनि के उत्तर से यज्ञ के स्वरूप का निश्चय करके अब ब्राह्मण लोग स्नानादि क्रिया के विषय में पूछते हैं, यथा—

के ते हरए? के य ते संति-तित्थे? कहिं सिणाओ व रयं जहासि?
आइक्ख णे संजय! जक्खपूइया! इच्छामु नाउं भवओ सगासे ॥ ४५ ॥

कस्ते ह्रदः? किं च ते शान्ति-तीर्थं? कस्मिन् स्नातो वा रजो जहासि?
आख्याहि नः संयत! यक्षपूजित! इच्छामो ज्ञातुं भवतः सकाशे ॥ ४५ ॥

पदार्थान्वयः—**के**—कौन सा, **ते**—तुम्हारे, **हरए**—जलाशय है, **य**—और, **के**—कौन सा, **ते**—तुम्हारा, **संति-तित्थे**—शान्ति तीर्थ है, **कहिं**—किस स्थान पर, **सिणाओ**—स्नान करते हुए,

व—वा, **रयं**—कर्म-रज को, **जहासि**—छोड़ते हो, **णे**—हमको, **संजय**—हे संयत! **जक्खपूइया**—हे यक्ष-पूजित! **आइक्ख**—सुनाएं, **भवओ**—आपके, **सगासे**—समीप से, **नाउं**—जानने को, **इच्छामो**—चाहते हैं।

मूलार्थ—हे संयत! हे यक्षपूजित! आप का जलाशय अर्थात् सरोवर कौन-सा है? और कौन सा शान्ति-रूप तीर्थ है? आप किस स्थान पर स्नान करते हुए कर्म-रूप मल को छोड़ते हैं? हम आपसे यह जानना चाहते हैं, आप हमारे प्रति कहें।

टीका—यहां पर ब्राह्मणों ने ऋषि से तीन बातें पूछी है, जलाशय, शान्ति-रूप तीर्थ और स्नान करने का स्थान। वास्तव में ये तीनों बातें एक ही प्रश्न के अन्तर्गत हैं, अर्थात् जलपूर्ण वह तीर्थ स्थान कौनसा है कि जिसमें स्नान करने से आत्मा में लगा हुआ कर्म-मल धुल जाता है।

ब्राह्मणों के इस प्रश्न का यह भी आशय है कि प्रथम मुनि ने उनके प्रति यह कहा था कि तुम लोग दोनों समय पानी का स्पर्श करते हो और इसके द्वारा शुद्धि की गवेषणा करते हो, परन्तु कुशल व्यक्तियों ने इस बाह्य-शुद्धि को उचित नहीं बताया, क्योंकि यह अन्तरंग-शुद्धि में कारणभूत नहीं है। इस पर वे ब्राह्मण लोग उक्त मुनि से प्रश्न करते है कि कृपा करके आप ही हमे बताएं कि आपका स्नान करने का तालाब कौन सा है? और किस प्रकार के स्नान से आन्तरिक शुद्धि की प्राप्ति होती है? तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार बाह्य सरोवर आदि के जल में स्नान करने से शरीर का मल दूर होकर उसकी शुद्धि होती है, उसी प्रकार की आन्तरिक शुद्धि के लिए किस प्रकार के जल का उपयोग करना चाहिए, जिससे कि कर्म-रूप मल दूर हो जाता है। इत्यादि।

इन उक्त प्रश्नों का उत्तर देते हुए मुनि ने जो कुछ कहा, अब उसी का वर्णन करते हैं—

धम्मे हरए बम्भे संति-तित्थे, अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो, सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥ ४६ ॥

धर्मो ह्रदो ब्रह्म शान्ति-तीर्थ, अनाविलमात्म-प्रसन्नलेश्यम् ।
यस्मिन् स्नातो विमलो विशुद्धः, सुशीतीभूतः प्रजहामि दोषम् ॥ ४६ ॥

पदार्थान्वयः—धम्मे—धर्म, **हरए**—ह्रद अर्थात् तालाब है, **बंभे**—ब्रह्मचर्य, **संति-तित्थे**—शान्तितीर्थ है, **अणाविले**—कलुष-भाव से रहित, **अत्तपसन्नलेसे**—आत्मा प्रसन्न लेश्या है, **जहिं**—जिसमें, **सिणाओ**—स्नान किया हुआ, **विमलो**—मल से रहित और, **विसुद्धो**—विशुद्ध हो जाता है, **सुसीइभूओ**—अत्यन्त शीतल होकर, **दोसं**—कर्म-दोष को, **पजहामि**—भली-भाति छोड़ता हू।

मूलार्थ—धर्म-रूप तालाब है, ब्रह्मचर्य ही शांति-तीर्थ है और कलुषभाव-रहित आत्मा प्रसन्न लेश्या है जिसमें स्नान किया हुआ आत्मा निर्मल और विशुद्ध हो जाता है, इस प्रकार मैं अत्यन्त शीतल होकर दोषों को छोड़ता हूं।

टीका—इस गाथा में ब्राह्मणों के प्रश्नों का उत्तर मुनि ने दृष्टान्त और दार्ष्टान्त भाव से दिया है,

जैसा कि बाह्य स्नान के लिए एक जलाशय होता है इसी प्रकार आन्तरिक स्नान के लिए अहिंसा-धर्म रूप जलाशय है जो कि कर्म-रूप मल को दूर करने में समर्थ है। जिस प्रकार तालाब में सोपानादिक होते हैं, उसी प्रकार अहिंसा धर्मरूपी तालाब के ब्रह्मचर्य आदि रूपी तीर्थ अर्थात् सोपान हैं, यह तीर्थ कर्मरूप मल को जड़ से दूर करने में तथा मिथ्यात्वादि कालुष्यों से रहित होने से आत्मा की प्रसन्न लेश्या के सम्पादन में समर्थ है। अतः सिद्ध हुआ कि ब्रह्मचर्य और शान्ति ये दोनों धर्मरूप तालाब के सुदृढ़ तीर्थ अर्थात् सोपान है। सो इस प्रकार के धर्म-रूपी जलाशय में स्नान करने पर आत्मा निर्मल-कर्म अर्थात् मलो से रहित होकर निष्कलंक हो जाता है। जिस प्रकार कषाय-रूप ताप से रहित होकर अत्यन्त शीतलता को प्राप्त हुआ मै दोषों को त्याग रहा हूं, उसी प्रकार तुमको भी कर्मरूप मल से रहित होने का प्रयत्न करना चाहिए।

४५ वीं और ४६वीं गाथा में आए हुए प्रश्नोत्तरों की तालिका इस प्रकार समझनी चाहिए—

प्रश्न—स्नान के लिए जलाशय कौन सा है?

उत्तर—अहिंसारूप धर्म।

प्रश्न—उस जलाशय का तीर्थ-सोपान कौन सा है?

उत्तर—ब्रह्मचर्य और शांति।

प्रश्न—किसमें स्नान करने से कर्म-रज दूर होता है?

उत्तर—उक्त तीर्थ में स्नान करने से कर्ममल से रहित हुआ यह आत्मा प्रसन्न लेश्या वाला होता है।

प्रश्न—क्या इस जलाशय में स्नान करने से आत्मा निर्मल अर्थात् शुद्ध हो जाता है?

उत्तर—हां, इसी जलाशय मे स्नान करने से आत्मा कर्ममल से रहित होकर विशुद्ध हो जाता है।

प्रश्न—आप किस जलाशय में स्नान करके परमशांति को प्राप्त होते हुए कर्ममल को छोड़ते है?

उत्तर—मै उक्त धर्म रूप जलाशय मे स्नान करके अत्यन्त शांति को प्राप्त होता हुआ कर्मरज को दूर करता हू।

प्रश्न—हम किस जलाशय मे स्नान करें?

उत्तर—तुम भी इसी जलाशय में स्नान करके कर्म-मल से रहित होने का प्रयत्न करो।

एयं सिणाणं कुसलेहिं दिट्ठं, महासिणाणं इसिणं पसत्थं ।
जहिं सिणाया विमला विसुद्धा, महारिसी उत्तम ठाण पत्ते ॥ ४७ ॥

त्ति बेमि।

इति हरिएसिज्जं अज्झयणं समत्तं ॥ १२ ॥

एतत्स्नानं कुशलैर्दृष्टं, महास्नानमृषीणां प्रशस्तम् ।
यस्मिन्स्नाता विमला विशुद्धाः, महर्षय उत्तमं स्थानं प्राप्ताः ॥ ४७ ॥

इति ब्रवीमि।

इति हरिकेशीयमध्ययनं संपूर्णम् ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—**एयं**—यह पूर्वोक्त, **सिणाणं**—स्नान, **कुसलेहिं**—कुशल पुरुषों ने, **दिट्ठं**—देखा है और यही, **महासिणाणं**—महास्नान है जो, **इसिणं**—ऋषियों के लिए, **पसत्थं**—प्रशस्त है, **जहिं**—जिस स्थान से, **सिणाया**—स्नान किए हुए, **विमला**—मल-रहित और, **विसुद्धा**—विशुद्ध होकर, **महारिसी**—महर्षि लोग, **उत्तम**—उत्तम, **ठाण**—स्थान को, **पत्ते**—प्राप्त हो गए, **त्ति**—इस प्रकार, **बेमि**—मै कहता हूं। (यह हरिकेशीय अध्ययन समाप्त हुआ।)

मूलार्थ—यह पूर्वोक्त स्नान कुशल पुरुषों द्वारा भली प्रकार से देखा गया है और यही महास्नान ऋषियों के लिए प्रशस्त है, जिसमें स्नान किए हुए महर्षि लोग उत्तम स्थान को प्राप्त हो गए हैं, इस प्रकार मैं कहता हूं।

टीका—मुनि कहते है कि यह पूर्वोक्त स्नान कर्म-रज को दूर करने में समर्थ और कुशल—तीर्थङ्करों के द्वारा दृष्ट है और यही महास्नान ऋषियों के लिए प्रशस्त कहा गया है। तात्पर्य यह है कि जिस स्नान को ब्राह्मणो ने उत्तम समझा है वह स्नान कर्ममल को दूर करने में समर्थ नहीं है, किन्तु प्रस्तुत अध्यात्म-स्नान ही उत्तम और महास्नान है, अतएव इसी स्नान के द्वारा महर्षि लोग उत्तम स्थान-मोक्ष को प्राप्त हुए हैं।

यहा पर उत्तम स्थान से '**मोक्ष**' ही अभिप्रेत है, तथा '**जहिं**' में विभक्ति-व्यत्यय है, अर्थात् '**येन**' के स्थान पर '**जहिं**' इस सप्तम्यन्त पद का प्रयोग किया गया है। प्रस्तुत विषय का उपसहार करते हुए सर्वार्थसिद्धि टीका के कर्त्ता लिखते है कि—

'एवं च प्रशान्तेषु द्विजेषु यक्षेण प्रगुणीकृतेषु छात्रेषु धर्मदेशनया तान् प्रबोध्य मुनि· पृथिव्या विहृतवान्'।

अर्थात् ब्राह्मणो को शान्त करके और यक्ष के द्वारा व्यथित हुए उन छात्रो को धर्म-देशना द्वारा प्रतिबोध देकर मुनि पृथ्वी पर विचरने लगे।

तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणो की नम्रता से उस यक्ष ने उन कुमारो को छोड़ दिया और वे स्वस्थ हो गए।

इसके अतिरिक्त '**त्ति-बेमि**' का अर्थ प्रत्येक अध्ययन के अन्त मे पहले आ चुका है, उसी के अनुसार समझ लेना चाहिए।

द्वादशम अध्ययन संपूर्ण

अह चित्तसम्भूइज्जं तेरहमं अज्झयणं

अथ चित्तसंभूतीयं त्रयोदशममध्ययनम्

इस बारहवें अध्ययन मे श्रुत और तप का माहात्म्य वर्णन किया गया है, श्रुत और तप उसी समय तक शुद्ध रह सकते है जब तक कि निदान न किया जाए, क्योंकि शास्त्रकारों ने निदान का फल अशुभ ही बताया है। इस विषय मे चित्त और सम्भूति का उदाहरण अधिक स्पष्ट है जिससे कि निदान पूर्वक तप करने तथा निदान को त्याग कर तप करने का फलाफल प्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शित किया गया है। अब इस तेरहवें अध्ययन मे इन्हीं के विषय का उल्लेख करते हैं। चित्त और सम्भूति का संक्षिप्त आख्यान इस प्रकार है—

साकेतपुर नाम के नगर में चन्द्रावतंसक राजा के पुत्र मुनिचन्द्र ने सागरचन्द्र नाम के किसी मुनि के पास दीक्षा अंगीकार की। फिर वह अनुक्रम से विहार करते-करते किसी वन में मार्ग भूल जाने से उसी वन मे इधर-उधर भ्रमण करने लगे।

कुछ समय बाद क्षुधा और पिपासा से व्याकुल हुए वे मुनिचन्द्र मुनि एक गौशाला में पहुंचे। तब वहा पर रहने वाले चार गोपालो ने उनका स्वागत किया और बड़ी श्रद्धा से उन्हें दुग्ध बहराया। दुग्ध-पान करने के बाद उक्त मुनि ने उनको धर्म का उपदेश सुनाया। मुनि के शान्त और वैराग्यमय उपदेश को सुनकर उन चारो ने उक्त मुनि से दीक्षा-ग्रहण कर ली, परन्तु उन चारों में से दो ने तो शुद्ध और निर्मल सयम का पालन किया तथा शेष दो ने सयम का तो पालन किया, किन्तु घृणा के साथ। वे चारो आयु-कर्म को पूर्ण करके प्रथम स्वर्ग में देवता के रूप से उत्पन्न हुए।

उनमें से जिन दो ने घृणा-पूर्वक सयम का पालन किया था वे दोनों देवलोक से च्यव कर शंखपुर नगर मे शांडिल्य नामक ब्राह्मण की यशोमती नाम की दासी के घर पुत्र-रूप मे उत्पन्न हुए।

वहा से फिर वे दोनों भाई सर्प के दंश से मृत्यु को प्राप्त होकर कालिंजर नाम के पर्वत में मृग की योनि में उत्पन्न हुए। वहां पर भी वे किसी व्याध के द्वारा मारे जाने पर गंगा नदी के किनारे पर हंस-रूप में जन्मे। कुछ समय के बाद अपने आयु-कर्म को समाप्त करके वे दोनों वाराणसी नगरी मे भूदत्त नामक चांडाल के घर में उत्पन्न हुए। तब माता-पिता ने उन दोनों मे से एक का नाम चित्त और दूसरे का नाम संभूति रखा।

उस समय वाराणसी में शंख नाम का राजा राज्य करता था। उसका नमुची नामक एक राज-मंत्री था। उस मंत्री ने एक समय उस राजा की रानी के साथ दुराचार सेवन किया। राजा को भी उसके इस कुकृत्य का पता लग गया। राजा ने सुनकर, जानकर और देखकर जब भली-भांति निश्चय कर लिया तब उसने भूदत्त नामक चांडाल को बुलाकर कहा कि तुम इस मंत्री को ले जाकर किसी गुप्त स्थान में इसका वध कर दो। तब चांडाल भूदत्त मंत्री नमुची को साथ लेकर अपने घर में आया। घर में आने पर उसने नमुची से कहा कि "यदि तुम मेरे इन पुत्रों को विद्या पढ़ा दो तो मै तुमको नही मारूंगा।" नमुची ने इस बात को स्वीकार कर लिया और तदनुसार दोनों चांडाल-पुत्रों को विद्याध्ययन कराना आरम्भ कर दिया।

यहां पर भी वह दुष्ट बुद्धि वाला नमुची अपने कुत्सित आचार से नहीं टला, अर्थात् वह उस भूदत्त की पत्नी के साथ ही अनाचार सेवन करने लग गया। जब भूदत्त को उसके इस दुष्टकर्म का पता चला, तब उसने उसका वध कर देने का पूर्ण निश्चय कर लिया, परन्तु उन दोनों भाइयों ने अपना विद्या-गुरु जानकर उसे भगा दिया।

इसके अनन्तर नमुची हस्तिनापुर नगर में आकर वहां के सनत्कुमार चक्रवर्ती का प्रधान मंत्री बन गया। इधर वे दोनो भाई गायन-कला में अति निपुण हो गए और नगर में गायन करना आरम्भ कर दिया। नगर-निवासी उनके गायन पर मुग्ध हो गए। वे जहां पर भी गायन करते थे लोग अपने काम-धन्धे को छोड़कर वहा पर ही आ जाते थे। इस प्रकार उनके गायन से लोगो के प्रतिदिन के काम-धन्धे में अधिक विघ्न उपस्थित होते देख कर नगर के कतिपय प्रधान पुरुषो ने वहां के राजा से उनके विरुद्ध विज्ञप्ति की। राजा ने भी उनकी विज्ञप्ति पर ध्यान देते हुए उन दोनों चाडाल-पुत्रो को नगर से बाहर चले जाने का आदेश किया।

राज्य से इस प्रकार के तिरस्कार को प्राप्त करके उन दोनों भाइयो ने अपमानित होकर नगर से बाहर रहने की अपेक्षा आत्म-हत्या कर लेने को अधिक श्रेष्ठ समझा। वे दोनों एक दिन पर्वत से गिर कर मर जाने का विचार कर ही रहे थे कि उस समय वहां पर उनको एक मुनि के दर्शन हुए और उनके उपदेश से वे दोनो भाई उनके पास दीक्षित हो गए अर्थात् साधु बन गए।

दीक्षा ग्रहण करने के बाद उन दोनो ने घोर तप किया। फिर विहार करते हुए वे किसी समय हस्तिनापुर मे पधारे। वहा पर नमुची ने उनको पहचान लिया और अपने दोष को छिपाने के लिए उनको नगर से बाहर निकलवा दिया। नमुची के इस नीच व्यवहार को देखकर उन्होंने नगर के बाहर बड़ा उग्र तप करना आरम्भ कर दिया। उस उग्र तप के प्रभाव से उनको तेजोलेश्या की प्राप्ति हो गई। तब संभूति को बिना कारण नगर से बाहर निकाले जाने पर क्रोध उत्पन्न हो गया, जिससे उसने नगर पर तेजोलेश्या छोड़ दी। पहले उसके मुख से अति प्रचण्ड धूम निकलना आरम्भ हुआ। यह देख चित्त नाम के दूसरे मुनि ने उसको बहुत समझाया और उसके मुख पर अपना हाथ रख दिया। उससे अग्नि तो रुक गई, परन्तु धूम तो सारे नगर मे फैल गया।

यह देखकर सनत्कुमार चक्रवर्ती बहुत भयभीत हुआ और अपनी श्रीदेवी नाम की रानी को साथ

लेकर नगर के बाहर आया और आकर दोनों साधुओं को नमस्कार करके अपने एवं मंत्री के अपराध के लिये क्षमा प्रदान करने की प्रार्थना करने लगा।

उस समय उसकी रानी ने भी अपना सिर नीचा करके संभूति मुनि को नमस्कार किया। नमस्कार करते समय रानी के केशों में लगे हुए गोशीर्ष - चन्दन के तेल का एक बिन्दु संभूति मुनि के चरणों पर गिर पड़ा, जिससे संभूति मुनि का क्रोध उपशान्त हो गया तथा वह आंखें खोलकर रानी को देखने लगा और उसके रूप लावण्य को देखकर उस पर मोहित हो गया। तब उस समय संभूति मुनि ने यह निदान बांधा कि यदि मेरे घोर तप और संयम का फल हो तो मैं भी मर कर इस प्रकार का चक्रवर्ती बनकर इस प्रकार की रानी के साथ भोगविलास-जन्य सुखों का अनुभव करूं। परन्तु उक्त विचार की आलोचना किए बिना ही वह काल-धर्म को प्राप्त हो गया और चित्त मुनि बिना किसी प्रकार के निदान किए ही शुद्ध संयम को पालकर मृत्यु को प्राप्त हुए। वे दोनो प्रथम स्वर्ग में जाकर देवता बने। वहां पर स्वर्गीय सुखों का अनुभव करके आयु-कर्म को पूर्ण करके उनमें से चित मुनि का जीव तो पुरिमताल नगर के एक प्रधान सेठ के घर में पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ और संभूति का जीव कांपिल्यपुर नगर के ब्रह्मभूति नामक राजा की महारानी चुलनी की कुक्षि से चतुर्दश स्वप्नों के साथ पुत्र-रत्न के रूप में उत्पन्न हुआ। माता-पिता ने उसका नाम ब्रह्मदत रखा।

किसी समय ब्रह्मभूति राजा को किसी असाध्य रोग ने ग्रस लिया, तब उसने अपने चारो प्रधान मित्रो, प्रान्तिक राजाओं को बुलाकर कहा—"मेरी मृत्यु के पश्चात् आप लोगों ने मेरे राज्य की पूरी सावधानी से व्यवस्था करनी है और जिस समय ब्रह्मदत्त राज्य के योग्य हो जाए उस समय इसका राज्याभिषेक कर देना। उन लोगों ने राजा के आदेश को नत-मस्तक होकर स्वीकार किया और राजा की मृत्यु हो गई।

राजा के और्ध्वदैहिक सस्कार करने के अनन्तर उन चारों राजाओं मे से प्रथम दीर्घ नाम के राजा को राज्य की रक्षा के लिए नियुक्त किया गया, परन्तु वह रानी चुलनी से व्यभिचार करने मे प्रवृत्त हो गया और उसके इस अपकृत्य का ब्रह्मदत्त को भी पता चल गया। तब एक दिन ब्रह्मदत्त काक और हसनी का जोड़ा सामने रखकर दीर्घ राजा को सुनाकर बोला कि—"रे नीच काक ! यदि तूने इस हंसनी का संग किया तो याद रख मै तुझे प्राण दण्ड दिये बिना न छोड़ूंगा। इस बात को राजा दीर्घ समझ गया। तब उसने रानी चुलनी के पास जाकर सारा भेद खोल दिया और साथ में यह भी कहा कि यह बालक भविष्य में हमारे लिए बहुत ही दु:खदायी होगा, अतः मै तो अपने राज्य मे ही जाता हूं !

रानी चुलनी विषय-वासनाओं में अन्धी हो रही थी, उसने राजा दीर्घ से कहा कि "हे प्रिय ! आप चिन्ता मत करे, मै इस कुमार को मरवा डालूगी। अत: हे प्राणनाथ ! आप मत जाइए, क्योकि मै तो अपने आपको आपके चरणो पर न्यौछावर कर चुकी हू।

इसके अनन्तर उस रानी ने एक लाक्षागृह तैयार कराया और ब्रह्मदत्त का विवाह करके दम्पत्ति को उसी नवीन घर में शयन करने की आज्ञा दी तथा अग्नि द्वारा उस घर को जला देने का षड्यन्त्र भी रच दिया। परन्तु माता की इस गुप्त मन्त्रणा को किसी मंत्री के द्वारा ब्रह्मदत्त ने भी जान लिया।

मंत्री और ब्रह्मदत्त के परामर्श के अनन्तर नगर के बाहर से उस लाक्षागृह तक एक गुप्त सुरंग खुदवाई गई और मंत्री ने ब्रह्मदत्त के पास उसकी सेवा के लिये अपने पुत्र को रख दिया।

जब ब्रह्मदत्त उस लाक्षागृह में शयन करने के लिए गया, तब रानी ने उसे प्रासाद में सोया जानकर उस प्रासाद को आग लगवा दी, परन्तु उसकी सेवा मे रहने वाले मंत्री-पुत्र ने राजकुमार ब्रह्मदत्त को उसी समय सावधान किया और सुरंग के रास्ते से निकलकर अपने सहित उसको उक्त संकट से बचा लिया। इसके अतिरिक्त राजा दीर्घ ने राजकुमार ब्रह्मदत्त को मारने के और बहुत से उपाय किए, परन्तु सब निष्फल गए।

राजकुमार ब्रह्मदत्त ने कुछ समय के लिए अपने नगर को छोड़कर विदेश जाने का निश्चय किया, तदनुसार वह विदेश-यात्रा के लिए चल पड़ा। विदेश मे वह अनेक राज-कन्याओं से पाणिग्रहण करके तथा अनेक राजाओं की सेना को साथ लेकर वापिस कांपिल्यपुर की ओर चल दिया। नगर मे आते ही उसने राजा दीर्घ को मारकर अपना राज्य सम्भाल लिया। फिर अनुक्रम से उसे चौदह रत्नों की प्राप्ति हुई जिनके प्रभाव से छः खण्ड पृथ्वी पर उसने विजय प्राप्त की और चक्रवर्ती पद को प्राप्त किया।

किसी समय ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को नाटक देखते हुए देवलोक के नाटक का स्मरण हो आया, जिससे उसको जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। तब उसने अपने प्रिय भ्राता चित्त को पाच भवो तक तो अपने साथ ही देखा, परन्तु छठे भव मे वह उसको अपने साथ न देख सका। तब अपने भाई को मिलने के लिए और उसकी खोज के लिए उसने **'गोपदासौ मृगौ हंसौ मातंगावमरौ यथा'** यह पद बना कर लोगों को सिखा दिया और साथ मे यह भी कहा कि जो व्यक्ति इस श्लोक का उत्तरार्द्ध बना कर लाएगा उसको आधा राज्य दे दिया जाएगा।

तब उस प्रदेश के कवियो ने श्लोक का उत्तरार्द्ध बनाने के लिए अनेक प्रयत्न किये, परन्तु कोई भी यत्न सफल न हो सका। उस समय चित्त मुनि दीक्षा ले चुके थे और उनको अवधिज्ञान की प्राप्ति भी हो चुकी थी। अवधिज्ञान के द्वारा अपने भाई को चक्रवर्ती बना देखकर उसको मिलने की इच्छा से उग्र विहार करते हुए कांपिल्यपुर नगर के बाहर एक उद्यान मे वे आ विराजे। उस समय उस उद्यान मे एक कृषक कूप से पानी निकालकर खेत को दे रहा था, परन्तु जब वह पानी छोड़ता था तब वही आधा श्लोक बोलता था। तब उद्यान मे विराजे हुए मुनि ने उसे बुलाकर पूछा कि तू इस श्लोक का आगे का आधा भाग क्यो नही पढ़ता ? यह सुनकर उसने कहा कि—"भगवन् ! कृपा करके आप ही इसे पूर्ण कर दीजिए !" तब उक्त मुनि ने **'एषा नौ षष्ठिका जातिरन्योऽन्याभ्यां वियुक्तयोः'** इस प्रकार उक्त श्लोक को पूर्ण कर दिया।

श्लोक की पूर्ति होने पर वह कृषक ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के पास पहुचा और उसने पूरा श्लोक सुनाया। श्लोक के उत्तरार्ध को सुनकर वह आश्चर्य-चकित हो गया और विचार करने लगा कि क्या मेरा भाई यह कृषिकार बना है ? इस प्रकार का विचार करते ही वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। यह देखकर लोग उस कृषक को पीटने लगे। तब उसने कहा कि आप लोग मुझे क्यो मारते है,

मेरा तो इसमें कोई भी अपराध नहीं है। इस नगर के बाहर उद्यान में एक बड़े सौम्यमूर्त्ति महात्मा आए हुए हैं, उन्होंने ही इस श्लोक की पूर्ति की है, अर्थात् इस श्लोक के उत्तरार्द्ध की रचना करने वाले वे महात्मा हैं। मैंने इसकी पूर्ति उन्हीं से कराई है।

इस बात को सुनते ही चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त सावधान हो गए और अति प्रसन्नता में उस कृषक को मनमाना पारितोषिक देकर चतुरंगिणी सेना को लेकर अपने भ्राता के दर्शनार्थ नगर से बाहर निकले और अति हर्ष के साथ उक्त उद्यान में पहुंचकर अपने पूर्व जन्म के भाई के दर्शन करके असीम हर्ष प्राप्त किया। इस प्रकार दोनों भ्राताओं के समागम से उनकी अन्तरात्मा को जो आनन्द प्राप्त हुआ वह अकथनीय था। इसके अनन्तर प्रेम-पूर्वक दोनो भाई उपस्थित जनता के मध्य में विराजते हुए अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्त को आपस में कहने लगे, अर्थात् पारस्परिक सुख-दुःख की वार्ता करने लगे।

प्रस्तुत प्रथम गाथा में ब्रह्मदत्त के बारे में फरमाते हैं—

जाईपराजिओ खलु, कासि नियाणं तु हत्थिणपुरम्मि।
चुलणीए बंभदत्तो, उववन्नो पउमगुम्माओ ॥ १ ॥

जाति-पराजितः खलु, अकार्षीत् निदानं तु हस्तिनापुरे।
चुलन्यां ब्रह्मदत्तः, उत्पन्नः पद्मगुल्मात् ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः—खलु—निश्चयार्थक है, **जाई-पराजिओ**—जाति से पराजित हुआ, **तु**—वितर्क में, **हत्थिणपुरम्मि**—हस्तिनापुर नगर मे, **नियाणं**—निदान, **कासि**—करता हुआ, **चुलणीए**—चुलनी की कुक्षि मे, **बंभदत्तो**—ब्रह्मदत्त नामक चक्रवर्ती, **पउमगुम्माओ**—पद्मगुल्म विमान से च्यव कर, **उववन्नो**—उत्पन्न हुआ।

मूलार्थ—जाति से पराजित हुआ और हस्तिनापुर नगर में निदान करता हुआ रानी चुलनी की कुक्षि मे पद्मगुल्म विमान से च्यव कर ब्रह्मदत्त नामक चक्रवर्ती उत्पन्न हुआ।

टीका—चाण्डाल की जाति में अत्यन्त तिरस्कार होने से हस्तिनापुर में आकर चक्रवर्ती होने का जिसने निदान बाधा, वह सम्भूति मुनि फिर वहा से मरकर देवलोक मे गया और वहा से च्यवकर अर्थात् नलिनी-गुल्मविमान से च्यवकर रानी चुलनी की कुक्षि से ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप मे उत्पन्न हुआ।

यद्यपि पिछले भव में ये दोनो भाई चाण्डाल जाति में साथ ही उत्पन्न हुए थे, परन्तु निदान तो सम्भूति ने ही बांधा था, चित्त ने नही, इसलिए सम्भूति ने ही चक्रवर्ती पद को प्राप्त किया।

अब पुनः उनके उत्पत्ति-स्थानो का वर्णन करते हैं—

कंपिल्ले सम्भूओ, चित्तो पुण जाओ पुरिमतालम्मि।
सेट्ठिकुलम्मि विसाले, धम्मं सोऊण पव्वइओ ॥ २ ॥

काम्पिल्ये संभूतः, चित्तः पुनर्जातः पुरिमताले।
श्रेष्ठिकुले विशाले, धर्म श्रुत्वा प्रव्रजितः ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—कंपिल्ले—कांपिल्य नगर में, **संभूओ**—संभूत का जीव उत्पन्न हुआ, **पुण**—फिर, **चित्तो**—चित्त का जीव, **पुरिमतालम्मि**—पुरिमताल नगर में, **जाओ**—उत्पन्न हुआ, **सेट्ठिकुलम्मि**—श्रेष्ठि-कुल में, **विसाले**—विशाल में, **धम्मं**—धर्म को, **सोऊण**—सुनकर, **पव्वइओ**—दीक्षित हो गया।

मूलार्थ—संभूत का जीव कांपिल्य नगर में उत्पन्न हुआ और पुरिमताल नगर के एक विशाल श्रेष्ठि-कुल में चित्त का जन्म हुआ। चित्त धर्म को श्रवण करके दीक्षित हो गए।

टीका—पंचनद—पजाब देश के सुप्रसिद्ध कांपिल्य नगर मे संभूत का जीव महारानी चुलनी के गर्भ से उत्पन्न होकर ब्रह्मदत्त नाम का बारहवां चक्रवर्ती हुआ और चित्त का जीव पुरिमताल नगर के सुप्रसिद्ध विशाल श्रेष्ठि-कुल में उत्पन्न हुआ, परन्तु इनमें से चित्त के जीव ने किसी महात्मा से धर्म का श्रवण करके ससार का परित्याग करते हुए दीक्षा अगीकार कर ली। कारण कि धर्म के श्रवण करने से ही उसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य प्रयत्न करता है, अतः श्रुत-ज्ञान को ही प्रायः सर्वत्र प्रधानता दी गई है।

इसके अनन्तर क्या हुआ, अब इसी के विषय में कहते हैं—

कंपिल्लम्मि य नयरे, समागया दो वि चित्तसंभूया।
सुह-दुक्ख-फल-विवागं, कहेंति ते एक्कमेक्कस्स ॥ ३ ॥

काम्पिल्ये च नगरे, समागतौ द्वावपि चित्तसंभूतौ।
सुख-दुख-फल-विपाकं, कथयतस्तावेकैकस्य ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—कंपिल्लमि—कापिल्य, **नयरे**—नगर मे, **य**—पुनः, **समागया**—इकट्ठे हो गए, **दो वि**—दोनो ही, **चित्तसंभूया**—चित्त और सभूत, **सुह**—सुख, **दुक्ख**—दु ख, **फल**—कर्म-फल के, **विवागं**—विपाक को, **ते**—वे दोनो, **एक्कमेक्कस्स**—परस्पर, **कहेंति**—कहने लगे।

मूलार्थ—कांपिल्य नगर में चित्त और संभूत दोनों भाई इकट्ठे हो गए और सुख-दुख रूप कर्मफल के विपाक को वे दोनों आपस में एक दूसरे से कहने लगे।

टीका—प्रव्रजित होने के बाद चित्त का जीव और ब्रह्मदत्त नाम का चक्रवर्ती होने के बाद सभूत का जीव अर्थात् पूर्व जन्म के दोनों भाई कांपिल्यपुर के उद्यान में एकत्रित होकर पूर्व के जन्मों मे अनुभव किए गए सुख-दुख और उनके विपाक के सम्बन्ध मे वार्तालाप करने लगे।

अब इसी विषय का उल्लेख करते हैं—

चक्कवट्टी महिड्ढीओ, बंभदत्तो महाजसो।
भायरं बहुमाणेणं, इमं वयणमब्बवी ॥ ४ ॥

चक्रवर्ती महर्द्धिकः ब्रह्मदत्तो महायशाः।
भ्रातरं बहुमानेन, इदं वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—चक्कवट्टी—चक्रवर्ती, **महिड्ढीओ**—महाऋद्धि वाला, **बंभदत्तो**—ब्रह्मदत्त,

महाजसो—महान् यश वाला, **भायरं**—भाई को, **बहुमाणेणं**—बड़े सम्मान से, **इमं**—इस प्रकार, **वयणं**—वचन, **अब्बवी**—कहने लगा।

मूलार्थ—महान् समृद्धि वाला और महान् यशस्वी ब्रह्मदत्त नामक चक्रवर्ती अपने भाई को बड़े सत्कार से इस प्रकार कहने लगा।

टीका—सज्जन पुरुषों के वार्तालाप में सभ्यता को कितना अधिक स्थान मिलता है यह इस गाथा से भली-भांति व्यक्त हो रहा है। यद्यपि चित्त का जीव इस समय संयम धारण किए हुए साधु-वृत्ति में स्थित है, तथापि पूर्वजन्म के भ्रातृ-भाव को लेकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती उनसे वार्तालाप करने में प्रवृत्त हुए है।

ब्रह्मदत्त ने जो कुछ कहा, अब उसी का वर्णन करते है—

आसि मो भायरा दोवि, अन्नमन्नवसाणुगा ।
अन्नमन्नमणुरत्ता, अन्नमन्नहिएसिणो ॥ ५ ॥

आस्व भ्रातरौ द्वावपि, अन्योऽन्यवशानुगौ ।
अन्योऽन्यमनुरक्तौ, अन्योऽन्यहितैषिणौ ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—**मो**—हम, **भायरा**—भाई, **दोवि**—दोनों ही, **आसि**—थे, **अन्नमन्न**—परस्पर, **वसाणुगा**—वशवर्ती, **अन्नमन्नं**—परस्पर, **अणुरत्ता**—प्रीति वाले, **अन्नमन्न**—परस्पर, **हिएसिणो**—हितैषी थे।

मूलार्थ—हम दोनों भाई परस्पर वशवर्ती, परस्पर प्रीति रखने वाले और परस्पर हितैषी थे।

टीका—ब्रह्मदत्त ने कहा कि हे चित्त! पिछले जन्म मे हम दोनो भाई थे। वह भी कैसे कि एक-दूसरे के वश में रहने वाले, एक-दूसरे से प्रीति रखने वाले और एक-दूसरे के हित-चिन्तक थे। तात्पर्य यह है कि हम दोनो में किसी प्रकार के भी वैमनस्य को स्थान नही था।

प्रस्तुत गाथा मे **'मो'** यह **'वयं'** के स्थान में आदेश रूप है, क्योकि प्राकृत में द्विवचन नही होता।

अब पूर्व जन्मों में साथ रहने का वर्णन करते हैं—

दासा दसण्णे आसी, मिया कालिंजरे नगे ।
हंसा मयंगतीरे य, सोवागा कासिभूमिए ॥ ६ ॥

दासौ दशार्णेषु आस्व, मृगौ कालिंजरे नगे ।
हंसौ मृतगंगातीरे, श्वपाकौ काशीभूम्यौ ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—**दसण्णे**—दशार्ण देश में, **दासा**—दासों के रूप में, **आसी**—हुए, **कालिंजरे नगे**—कालिंजर पर्वत पर, **मिया**—मृग रूप में, **मयंगतीरे**—मृतगंगा के तीर पर, **हंसा**—हंस रूप से, **कासिभूमिए**—काशी की भूमि मे, **सोवागा**—श्वपाक—चांडाल रूप से हम उत्पन्न हुए।

मूलार्थ—हम दोनों दशार्ण देश में दासों के रूप में, कालिंजर पर्वत पर मृगों के रूप में, मृतगंगा के तीर पर हंसों के रूप में और काशी की भूमि में चांडाल के रूप में उत्पन्न हुए थे।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे आया हुआ 'आसी' यह क्रियापद 'आस्व' इस द्विवचनान्त क्रिया के स्थान में प्रयुक्त हुआ है और इसका चारो पदो के साथ सम्बन्ध है। मृतगगा का अर्थ सर्वार्थसिद्धि टीका मे इस प्रकार किया है—

'गंगाविंशतिपाथोधिं, वर्षे वर्षे पराध्वना ।
वाहस्तत्र चिरात्त्यक्तो, मृतगंगेति कथ्यते ।'

अर्थात् गंगा नदी प्रत्येक बीस वर्ष के बाद अपना प्रवाह-स्थान बदल देती है, गगा द्वारा परित्यक्त स्थान ही मृतगगा कहलाता है।

अब पांचवें और छठे भव का वर्णन करते हैं, यथा—

देवा य देवलोगम्मि, आसि अम्हे महिड्ढिया ।
इमा णो छट्ठिया जाई, अन्नमन्नेण जा विणा ॥ ७ ॥

देवौ च देवलोके, आस्वाऽऽवां महर्द्धिकौ ।
इयमावयोः षष्ठिका जातिः, अन्योऽन्येन या विना ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—**देवा**—देवता, **य**—पुनः, **देवलोगम्मि**—देवलोक मे, **आसि**—हुए, **अम्हे**—हम दोनों, **महिड्ढिया**—महाऋद्धि वाले, **इमा**—यह, **णो**—हम दोनों की, **छड्डिया जाई**—षष्ठिका जाति, **अन्नमन्नेण**—परस्पर के स्नेह से, **जा**—जो, **विणा**—रहित हुई।

मूलार्थ—हम दोनों देवलोक में देवता के रूप में उत्पन्न हुए थे जो कि महान् समृद्धि वाले थे, परन्तु हमारी यह छठी जाति (जन्म) परस्पर के स्नेह से रहित क्यों हुई?

टीका—ब्रह्मदत्त कहते है कि देवलोक मे भी हम दोनो समान ऋद्धि रखने वाले देव हुए और वहा पर भी हमारा परस्पर स्नेह-प्रेम बराबर बना रहा, परन्तु यह छठी जाति—छठा भव परस्पर स्नेहरहित—पृथक्-पृथक् स्थानों मे क्यो हुआ? तात्पर्य यह है कि ऐसा होने का कारण क्या है? क्योकि पाच जन्मो तक तो हमारा एक ही प्रकार का जन्म और एक ही प्रकार का सम्बन्ध चला आया और इस छठे भव मे हमारा वियोग क्यो हुआ, इसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए, परन्तु वह कारण क्या है, इसका मुझे ज्ञान नहीं। यही प्रस्तुत गाथा का भावार्थ है।

अब उक्त शंका का समाधान करते हुए मुनि चित्त कहते हैं—

कम्मा नियाणप्पगडा, तुमे राय! विचिंतिया ।
तेसिं फल-विवागेण, विप्पओगमुवागया ॥ ८ ॥

कर्माणि निदानप्रकृतानि, त्वया राजन्! विचिन्तितानि ।
तेषां फलविपाकेन, विप्रयोगमुपागतौ ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—**कम्मा**—कर्म, **नियाण**—निदान रूप, **पगडा**—किए, **तुमे**—तूने, **राय**—राजन्! **विचिंतिया**—चिन्तन किए, **तेसिं**—उन्हीं के, **फल-विवागेण**—फल-विपाक से हम, **विप्पओगं**—वियोग को, **उवागया**—प्राप्त हुए।

मूलार्थ—हे राजन्! तुमने जो पुण्य-कर्म किए थे वे निदान को लेकर किए थे और निदान-पूर्वक ही उनका विशेष रूप से चिन्तन किया था, अतः उनके फल-विपाक से ही हमारा यह परस्पर वियोग हुआ।

टीका—मुनि ने उत्तर में प्रतिपादन किया कि हे राजन्! तूने ज्ञानावरणीयादि कर्म निदान रूप से किए थे, क्योंकि जिसके द्वारा तप आदि क्रियाएं खडित हो उसे निदान कहते हैं **'नितरां दीर्यन्ते खंड्यन्ते, तपः प्रभृतीन्यनेनेति निदानम्'**।

तात्पर्य यह है कि तुमने भोगादि की आशा से निदान-पूर्वक कर्म किए और उनके लिए आर्त्त-ध्यानादि का विशेष रूप से चिन्तन किया, अतः उन्हीं कर्मो के फल-विपाक से तेरा और मेरा इस छठे भव मे वियोग हो गया। यद्यपि मैने तुमको रोका भी था, परन्तु तुमने नहीं माना इसी का यह वियोग रूप विलक्षण फल है।

अब चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त फिर पूछता है—

सच्चसोयप्पगडा, कम्मा मए पुरा कडा ।
ते अज्ज परिभुंजामो, किं नु चित्ते वि से तहा? ॥ ६ ॥

सत्यशौचप्रकटानि, कर्माणि मया पुराकृतानि ।
तान्यद्य परिभुञ्जे, किन्नु चित्तोऽपि तानि तथा ? ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—**सच्च**—सत्य, **सोय**—शौच, **पगडा**—प्रकर्षता से, **कम्मा**—कर्म, **मए**—मैने **पुराकडा**—पूर्व जन्म मे किए, **ते**—उन कर्मो के फल को, **अज्ज**—आज, **परिभुंजामो**—सर्व प्रकार से भोगता हू, **कि**—क्या, **नु**—वितर्क मे, **चित्ते वि**—हे चित्त! तू भी, **से**—उन कर्मो के फल को **तहा**—उसी प्रकार भोगता है।

मूलार्थ—मैंने सत्य-शौच रूप जो कर्म पूर्व जन्म में किए थे उनका फल मैं आज सर्व प्रकार से भोग रहा हूं, हे चित्त! क्या तुम भी उसी प्रकार से फल भोग रहे हो?

टीका—चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त चित्त मुनि से कहते है कि मै पूर्व-जन्म मे अर्जित किए हुए सत्य शौचादि शुभ कर्मो का जो फल है उसको चक्रवर्ती सम्राट् के रूप मे आज प्रत्यक्ष रूप से भोग रहा हूं। क्या आप भी अपने पूर्वार्जित पुण्य कर्मो का फल नहीं भोग रहे है?

ब्रह्मदत्त के प्रश्न का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मैने पूर्व-जन्म मे तप एवं संयम रूप शुभ कर्मो का अनुष्ठान किया था उसी प्रकार आपने भी तप-सयम आदि पुण्य कर्मो का भली-भाति सचय किया था। उन पुण्य-कर्मो के फल-स्वरूप जिस प्रकार आज मै आनन्दोपभोग कर रहा हूं, उसी तरह आप क्यों नहीं कर रहे? क्योंकि आप इस समय भिक्षु के रूप में दिखाई देते हो और मैं चक्रवर्ती हूं। तात्पर्य यह है कि मेरी और आपकी लौकिक सुख-समृद्धि मे बहुत अन्तर है।

इसके अतिरिक्त चित्त मुनि ने आपस के वियोग का कारण जो निदान कर्म कहा है, अर्थात् निदान-पूर्वक किया हुआ कर्म दोषपूर्ण होता है—इस प्रकार का जो कथन है, वह मुझे ठीक प्रतीत नहीं होता। इसी आशय से ब्रह्मदत्त कहते है कि 'हे चित्त! यदि आपने कोई निदान नहीं किया, तो आपने मेरे से विशेषता क्या प्राप्त की? अथवा आप अपने पुराकृत कर्मों का फल अपनी इच्छा से मेरी तरह क्यो नहीं भोग रहे? क्यो, उनका फल मूल से ही जाता रहा? अर्थात् आप तप का फल प्राप्त नही कर पाए। यही उक्त गाथा के चतुर्थ पाद का भाव है।

चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त के इस कथन को सुनकर अब मुनि उसका उत्तर देते हैं—

सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं, कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।
अत्थेहिं कामेहि य उत्तमेहिं, आया ममं पुण्णफलोववेए ॥ १० ॥

सर्वं सुचीर्णं सफलं नराणां, कृतेभ्यः कर्मभ्यो न मोक्षोऽस्ति ।
अर्थैः कामैश्चोत्तमैः, आत्मा मम पुण्यफलोपपेतः ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—**सव्वं**—सब, **सुचिण्णं**—अच्छे किये हुए कर्म, **सफलं**—सफल, **नराणं**—नरों का, **कडाण**—किए हुए, **कम्माण**—कर्मो को बिना भोगे, **मोक्ख**—मोक्ष, **न अत्थि**—नही है, **अत्थेहिं**—धन से, **य**—और, **उत्तमेहिं**—उत्तम, **कामेहि**—काम-भोगो से, **ममं**—मेरा, **आया**—आत्मा, **पुण्ण**—पुण्य के, **फलोववेए**—फल से युक्त था।

मूलार्थ—मनुष्य के द्वारा किए हुए सब अच्छे कर्म अवश्य सफल होते हैं और किए हुए कर्मों को भोगे बिना मोक्ष नहीं होता तथा हे राजन्! धन से और उत्तम काम-भोगो से मेरी आत्मा भी पुण्यरूप फल से युक्त थी।

टीका—मुनि कहते है कि हे राजन्! किए हुए सभी पुण्य-कर्म प्राणियो के लिए अवश्य ही शुभ फलदायक होते है और मानव के द्वारा जो कर्म किए गए हैं उनका फल भोगे बिना किसी जीव का छुटकारा भी नहीं हो सकता। धन और काम-भोगों से मेरी आत्मा भी पुण्यरूप फल से युक्त था। हे राजन्! जैसे तुम अपने आपको पुण्यरूप फल से युक्त मानते हो, वैसे ही मुझे भी फल से युक्त मानो, क्योकि जो भौतिक समृद्धिया मानव को प्राप्त हैं वे सब तप का ही फल तो है, वैराग्य का आनन्द भी तप का ही फल है।

अब मुनि अपने विषय में इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

जाणासि संभूय! महाणुभागं, महिड्ढियं पुण्णफलोववेयं ।
चित्तं पि जाणाहि तहेव रायं!, इड्ढी जुई तस्स वि य प्पभूया ॥ ११ ॥

जानासि संभूत ! महानुभागं, महर्द्धिकं पुण्यफलोपपेतम् ।
चित्रमपि जानीहि तथैव राजन्! ऋद्धिर्द्युतिस्तस्यापि च प्रभूता ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—संभूय—हे संभूत! **जाणासि**—तू जानता है कि मैं, **महाणुभागं**—महाभाग्यवान् हूं, **महिड्ढियं**—महाऋद्धि वाला हूं और, **पुण्णफलोववेयं**—पुण्य फल से युक्त हूं, **रायं**—हे राजन्! **तहेव**—उसी प्रकार, **चित्तंपि**—चित्त को भी, **जाणाहि**—जानो, **य**—और, **इड्ढी**—ऋद्धि, **जुई**—द्युति, **तस्सवि**—चित्त की भी, **प्पभूया**—प्रभूत थी।

मूलार्थ—हे संभूत! जैसे तू जानता है कि मैं महा भाग्यवान् हूं और महासमृद्धि वाला हूं तथा पुण्यरूप फल से युक्त हूं, हे राजन्! इसी प्रकार चित्त मुनि के पास भी जानो, उसके पास भी ऋद्धि और द्युति प्रभूत थी—बहुत थी।

टीका—चित्त मुनि कहते हैं कि हे संभूत! जैसे तुम अपने आपको विशेष भाग्यशाली और ऋद्धि वाला समझते हो उसी प्रकार चित्त को भी अर्थात् मुझे भी समझो, क्योंकि मुनि-जीवन से पूर्व मेरे घर में भी अपार ऋद्धि और समृद्धि थी। तात्पर्य यह है कि तेरे समान सर्व प्रकार की बाह्य समृद्धियों से मै भी युक्त था, अर्थात् ये सब मुझे भी प्राप्त थी।

मुनि के इस कथन को सुनकर चक्रवर्ती ने कहा कि यदि तुम इस प्रकार के समृद्धिशाली थे, तो फिर दीक्षित क्यों हुए? अर्थात् भिक्षु क्यों बने?

अब मुनि उसके इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

महत्थरूवा वयणप्पभूया, गाहाणुगीया नरसंघमज्झे ।
जं भिक्खुणो सीलगुणोववेया, इह जयन्ते समणोमि जाओ ॥ १२ ॥

महार्थरूपा वचनाऽल्पभूता, गाथाऽनुगीता नरसंघमध्ये ।
यां (श्रुत्वा) भिक्षवः शीलगुणोपपेताः, इह यतन्ते श्रमणोऽस्मि जातः ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—महत्थरूवा—महान् अर्थ वाली, **वयणप्पभूया**—अल्प अक्षरों वाली, **गाहा**—गाथा, **अणुगीया**—अनकूल गाई हुई, **नरसंघमज्झे**—नरों के सघ मे, **जं**—जो, **भिक्खुणो**—भिक्षु, **सीलगुणोववेया**—शील गुण से युक्त है, **इह**—इस जिन-शासन मे, **जयन्ते**—यत्न करने वाले है, उसी गाथा को सुनकर, **समणोमि**—मै भी साधु, **जाओ**—बन गया हू।

टीका—चित्त मुनि कहते है कि 'हे राजन्! यद्यपि आपकी और मेरी लौकिक समृद्धि समान थी, तथापि मैने मनुष्यो के समुदाय में एक मुनिराज के मुख से ऐसी गाथा को श्रवण किया कि जिसके अक्षर तो बहुत थोड़े थे, परन्तु अर्थ रूप से उसमें अनन्त द्रव्य और पर्यायों के ज्ञान का समावेश था और वह सूत्र रूप गाथा तीर्थंकर एव गणधरो के द्वारा पहले गायन की जा चुकी है। वह गाथा 'अणु गीता' के नाम से प्रसिद्ध थी। जो सयमशील भिक्षु शीलगुणयुक्त होकर इस जिन-शासन में प्रयत्नशील है, उनका उक्त गाथा मे भली प्रकार वर्णन किया हुआ था, उसी गाथा को सुनकर मैंने भी संसार के इन तुच्छ पौद्गलिक सुखो का त्याग करके सन्यास व्रत ग्रहण कर लिया। तात्पर्य यह है कि मैने किसी दुख से व्याप्त होकर दीक्षा अगीकार नहीं की, किन्तु इन लौकिक सुखो की अपेक्षा विशेष, अधिक और अविनाशी मोक्ष-सुख की अभिलाषा से इनका त्याग किया है।'

इस कथन से चित्त मुनि ने सूत्ररूप गाथा की उपपत्ति तथा अपनी ज्ञान-गर्भित वैराग्यमयी दीक्षा का भली-भांति निदर्शन करा दिया है।

यह सुनकर चक्रवर्ती अपनी समृद्धि का वर्णन करता हुआ उक्त मुनि से पुनः कहता है कि—

उच्चोअए महु कक्के य बंभे, पवेइया आवसहा य रम्मा ।
इमं गिहं चित्त! धणप्पभूयं, पसाहि पंचालगुणोववेयं ॥ १३ ॥

उच्चोदयो मधुः कर्कश्च ब्रह्मा, प्रवेदिता आवसथाश्च रम्याः ।
इदं गृहं चित्त ! प्रभूतधनं, प्रशाधि पंचालगुणोपपेतम् ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—उच्चोअए—उच्चोदय, **महु**—मधु, **कक्के**—कर्क, **य**—और मध्य, **बंभे**—ब्रह्मा, **पवेइया**—कहे गए हैं, **आवसहा**—आवास, प्रासाद, **य**—और, **रम्मा**—रमणीय है, **इमं**—यह, **गिहं**—घर, **चित्त**—हे चित्त! **धणप्पभूयं**—धन से प्रभूत है, **पंचाल**—पाचालदेश के, **गुणोववेयं**—गुणो से युक्त है, इसलिए हे मुने, **पसाहि**—तू भी इसको भोग।

मूलार्थ—१. उच्चोदय, २. मधु, ३. कर्क, ४. मध्य और, ५. ब्रह्मा ये पांच प्रासाद कहे गए हैं और हे चित्त! ये मेरे पांचों प्रासाद प्रभूत धन से युक्त हैं और पांचाल देश के गुणों से युक्त हैं, इसलिए तू भी इनको भोग।

टीका—चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त चित्तमुनि से कहते है कि हे मुने! सूत्रधार के द्वारा भली प्रकार से निर्माण किए गए उच्चोदयादि पांचो ही प्रकार के प्रासाद मेरे पास विद्यमान है। इतना ही नहीं, किन्तु जहा पर भी मै जाता हू वहां पर ही देव-शक्ति के द्वारा ये तैयार हो जाते है और ये बड़े ही रमणीय है। मेरे ये राज-महल नाना प्रकार की सम्पत्तियो से भरपूर है और पाचाल देश के जो विशिष्ट से विशिष्टतर पदार्थ है, वे सभी इनमे विद्यमान है, अत· आप प्रसन्नता पूर्वक इन्हें ग्रहण करे और इनका उपयोग करे।

यहा पर पाचाल देश को प्रधानता देने का अभिप्राय है कि इस देश मे ऋतुओं की पूर्ण रूप से प्रवृत्ति देखने मे आती है और छः ऋतुओं के फल भी भली प्रकार से उपलब्ध होते है तथा रूप मे भी आयु-पर्यन्त प्रायः परिवर्तन नही होता और वैसे भी यह देश समृद्धिपूर्ण है, अतः इसको प्राधान्य दिया गया है।

इसके अतिरिक्त 'प्रभूत' शब्द का यहां पर पर-निपात होना प्राकृत के नियम के अनुसार समझना चाहिए तथा चित्त शब्द यहां पर मुनि का वाचक है। चित्त शब्द का सस्कृत रूप चित्र भी होता है वह नानाविध धन का वाचक है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

नट्टेहिं गीएहिं य वाइएहिं, नारीजणाइं परिवारयन्तो ।
भुंजाहि भोगाइं इमाइं भिक्खू!, मम रोयई पव्वज्जा हु दुक्खं ॥ १४ ॥

नाट्यैगीतैश्च वादित्रैः, नारीजनान् परिवारयन् ।
भुंक्ष्व भोगानिमान् भिक्षो!, मह्यं रोचते प्रव्रज्या खलु दुःखम् ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—नट्टेहिं—नाटको से, **गीएहिं**—गीतों से, **य**—और, **वाइएहिं**—वादित्रों से, **नारीजणाइं**—नारी-जनों के, **परिवारयंतो**—परिवारों से परिपूर्ण, **इमाइं**—इन प्रत्यक्ष, **भोगाइं**—भोगों को, **भिक्खू**—हे भिक्षो! **भुंजाहि**—तुम भोगो! **मम**—मुझे, **रोयई**—रुचता है, **हु**—निश्चय ही, **पव्वज्जा**—प्रव्रज्या, **दुक्खं**—दुख रूप है।

मूलार्थ—हे भिक्षो! नाटकों से, गीतों से, वादित्रों से तथा नारी-जनों के परिवार अर्थात् समूह से परिपूर्ण इन भागों को तुम भी भोगो, क्योंकि मुझे निश्चय ही प्रव्रज्या दुखरूप प्रतीत होती है।

टीका—चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त कहते है कि 'हे मुने! विविध प्रकार के नाट्य और सुरताल पूर्ण गीतों तथा नाना प्रकार के वाद्यों एवं स्त्री-जनों के समूह से घिरे हुए इन भोगों को आप भोगें। यही मुझे ठीक प्रतीत होता है। आपका दीक्षित होना अर्थात् प्रव्रज्या ग्रहण करना मुझे अत्यन्त दुखरूप प्रतीत होता है, अतः इसको मै उचित नहीं समझता। यद्यपि गज, अश्व आदि अनेक वस्तुएं राज्य में प्रधान होती है, तथापि सबसे अधिक लौकिक सुख का साधन यही पदार्थ है जिनका कि ऊपर वर्णन किया गया है। उसमे भी स्त्री को वैषयिक सख का सबसे प्रमुख साधन माना गया है, इसीलिए उसको प्रमुख स्थान दिया गया है।

इस प्रकार विषय-जन्य लौकिक सुखों के उपभोग के लिए स्नेहपूर्वक आमन्त्रित करने पर उक्त मुनि ने जो प्रवृत्ति अंगीकार की अब उसी का सूत्रकार दिग्दर्शन कराते है—

तं पुव्वनेहेण कयाणुरागं, नराहिवं कामगुणेसु गिद्धं ।
धम्मस्सिओ तस्स हियाणुपेही, चित्तो इमं वयणमुदाहरित्था ॥ १५ ॥

तं पूर्वस्नेहेन कृतानुरागं, नराधिपं कामगुणेषु गृद्धम् ।
धर्माश्रितस्तस्य हितानुप्रेक्षी, चित्त इदं वचनमुदाहृतवान् ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—**तं**—उसको, **पुव्वनेहेण**—पूर्व स्नेह से, **कयाणुरागं**—किया है अनुराग जिसने, **नराहिवं**—नराधिप को, **कामगुणेसु**—काम-गुणो मे जो, **गिद्धं**—गृद्ध है आसक्त है, **धम्मस्सिओ**—धर्म मे स्थित, **तस्स**—उसके, **हियाणुपेही**—हित की चाहना करने वाला, **चित्तो**—चित्त मुनि, **इमं**—यह, **वयणं**—वचन, **उदाहरित्था**—कहने लगा।

मूलार्थ—पूर्व स्नेह के कारण अनुरक्त और काम-गुणों में आसक्त उस चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त को देखकर धर्म में स्थित और उसका सदा हित चाहने वाले चित्त मुनि उसके प्रति ये वक्ष्यमाण वचन कहने लगे।

टीका—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के पूर्वभव-जन्य स्नेह को जानकर तथा उसकी विषय-भोगो में बढ़ी हुई लालसा को देखकर धर्म में आरूढ़ हुए वे चित्त मुनि ब्रह्मदत्त के हित-चिन्तन से उसके प्रति निम्न-लिखित वचन कहने लगे।

प्रस्तुत गाथा में जिस भाव को व्यक्त किया गया है उसका सारांश इतना ही है कि यद्यपि ब्रह्मदत्त विषयों में अति मूर्च्छित हो रहा है और इसीलिए वीतराग के धर्म में दीक्षित होने को वह दुखरूप समझ रहा है फिर भी पूर्व भव के स्नेह से और हित-बुद्धि से वह धर्मात्मा मुनि उसके प्रति निम्नलिखित उपदेश करने में प्रवृत्त हुए। इसमें मुनि की पर-हित-कांक्षा और दृढ़तर धर्म-निष्ठा का जो चित्र सूत्रकार ने उपस्थित किया है, वह वर्तमान समय के मुनिजनों के लिए अधिक मननीय है।

अब उक्त मुनि के वचनों का ही उल्लेख किया जा रहा हैं—

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडंबियं ।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥ १६ ॥

सर्वं विलपितं गीतं, सर्वं नृत्यं विडम्बितम् ।
सर्वाण्याभरणानि भाराः, सर्वे कामा दुखावहाः ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—सव्वं—सर्व, **विलवियं**—विलापरूप, **गीयं**—गीत है, **सव्वं**—सर्व, **नट्टं**—नाटक, **विडंबियं**—विडम्बना रूप है, **सव्वे**—सर्व, **आभरणा**—आभूषण, **भारा**—भाररूप है, **सव्वे**—सर्व, **कामा**—काम-भोग, **दुहावहा**—दुखों के देने वाले है।

मूलार्थ—सर्व गीत विलापरूप हैं, सर्व नाटक विडम्बना रूप हैं, सर्व प्रकार के भूषण भार रूप हैं और काम-भोग दुखों के देने वाले हैं।

टीका—चित्त मुनि ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती से कहते है कि हे राजन्! वास्तव में ये गीत जिनको तुम आनन्द के देने वाला समझ रहे हो मेरे को तो केवल विलाप रूप ही प्रतीत होते है। कल्पना करो कि किसी युवती स्त्री से अत्यन्त प्रेम करने वाले तथा भरण-पोषण करने वाले पति का देहान्त हो जाए और अभी तक उसके शव का दाह-सस्कार भी न किया गया हो, उस समय पति-वियोग से अत्यन्त दुखी हुई उस स्त्री को यदि कोई गीत सुनाए तो क्या वह गीत उसके आमोद का कारण होगा, अथवा विलाप का?

जैसे कोई बालक उन्मत दशा मे गाता है तो उसका गान निरर्थक होता है, उसी भांति आपके ये गीत भी प्रयोजन-शून्य और सर्वथा निरर्थक है, इसी प्रकार आपके ये नाटक भी विडम्बना रूप ही है। जैसे किसी पुरुष में यक्ष आदि व्यन्तर के आवेश से शरीर का विकृति-पूर्ण संचालन होता है, अथवा जैसे कोई मद्यप नशे मे धुत्त होकर कुचेष्टाएं करने लग जाता है, उसी प्रकार की यह नाटकीय चेष्टाएं है एवं आभूषण आदि पदार्थ भी एक प्रकार के शरीर पर निरर्थक बोझ जैसे ही है, जैसे कोई स्त्री मुलम्मे को स्वर्ण समझकर उसके आभूषणो को पहनती हुई मुलम्मा प्रतीत होने से उनको निरर्थक और भारभूत समझ कर फैंक देती है, उसी प्रकार ये स्वर्णादि के आभूषण है जो कि उतार कर फैंक देने योग्य है।

अब रही बात काम-भोग आदि विषयो की, सो ये तालपुट विष के समान है, जैस वह देखने मे सुन्दर और खाने में स्वादिष्ट होता है, परन्तु मारने में जरा भी विलम्ब नहीं करता, उसी प्रकार ये

विषय-भोग भी भोक्ता का समूल नाश किए बिना उसे नहीं छोड़ते, अतः ये सबसे अधिक भयंकर हैं। इनको सुख का हेतु समझना मृत्यु को जीवन समझने के समान बहुत बड़ी अज्ञानता है, इसलिए इन उक्त पदार्थों के विषय मे मेरी तनिक भी रुचि नहीं है। इसलिए इनके उपयोग के लिए मेरे से प्रार्थना करना सर्वथा अनुपयुक्त है।

अब विषय-जन्य सुख की लघुता को दिखाते हुए वे मुनि फिर कहते हैं—

बालाभिरामेसु दुहावहेसु, न तं सुहं कामगुणेसु रायं! ।
विरत्तकामाण तवोधणाणं, जं भिक्खुणं सीलगुणे रयाणं ॥ १७ ॥

बालाभिरामेषु दुखावहेषु, न तत्सुखं कामगुणेषु राजन्! ।
विरक्तकामानां तपोधनानां, यद् भिक्षूणां शीलगुणेषु रतानाम् ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः—**रायं**—हे राजन्!, **बालाभिरामेसु**—बाल जीवों को प्रिय लगने वाले, **दुहावहेसु**—दुखों के देने वाले, **कामगुणेसु**—काम-गुणो में, **न तं सुहं**—वह सुख नहीं, **विरत्तकामाण**—काम-भोगों से विरक्त, **तवोधणाणं**—तपोधनों को, **सीलगुणे**—शील गुणों मे, **रयाणं**—रत, **भिक्खुणं**—भिक्षुओं को, **जं**—जो सुख प्राप्त होता है।

मूलार्थ—हे राजन्! बाल जीवों को प्रिय लगने वाले तथा दुखों के देने वाले काम-भोगों में वह सुख नही है जो सुख काम-भोगों से विरक्त रहने वाले शीलगुण में अनुरक्त तपोधन—तपस्वी भिक्षुओं अर्थात् साधुओं को प्राप्त होता है।

टीका—मुनि कहते है—हे राजन्! विषयो से विरक्त और शीलगुणों में अनुरक्त रहने वाले साधु पुरुषो को जिस अलौकिक सुख की प्राप्ति होती है वह अलौकिक सुख इन बालप्रिय और परिणाम में दुख देने वाले काम-भोगो मे कदापि उपलब्ध नहीं हो सकता। ये काम-भोगादि विषय आरम्भ में ही किंचित् सुख देने वाले है, वे भी उन अज्ञानी जीवों को जो कि परमार्थ से सदा अनभिज्ञ है।

तात्पर्य यह है कि जो जीव विवेक से रहित है, उन्हीं को ये काम-भोगादि विषय प्रिय लगते हैं और वास्तव मे तो ये काम-भोग दुखो के मूल है। इनमें सुख का लेश भी नही। अतएव संयमशील तपस्वी जनों को आत्म-रमणता मे जो अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है, उस आनन्द के एक कण का सहस्राश भी इन काम-भोगो में उपलब्ध नहीं हो सकता।

यह प्रत्यक्ष है कि विषयी पुरुषों को विषय-वासना से किसी भी समय शाति नही मिलती, विपरीत इसके वे प्रतिक्षण अशान्त और सन्तप्त ही रहते हैं। इसलिए तपस्वी और संयमी पुरुषों के आध्यात्मिक आनन्द के साथ इस विषय-जन्य अतिक्षुद्र सुख की किसी अश में भी तुलना नही हो सकती।

प्रस्तुत गाथा में त्यागशील और मननशील साधु-पुरुषों और विषय-जन्य सुख की लालसा रखने वाले संसारी पुरुषों के सुख में जो अन्तर है उसका दिग्दर्शन कराया गया है। इस विश्व में हर एक प्राणी सुख की अभिलाषा रखता है और उसके लिए न्यूनाधिक रूप मे यत्न भी करता है, परन्तु जो

अज्ञानी जीव होते है वे अपनी विषय-वासना की पूर्ति को ही वास्तविक सुख समझकर उसी में प्रवृत्त होते हुए अपने जीवन को विनष्ट कर देते हैं, परन्तु जो विचारशील व्यक्ति हैं वे विषय-जन्य सुख को अति तुच्छ और दुखमूलक समझते हुए उसकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखते। इसके अतिरिक्त विषय-जन्य सुख और आध्यात्मिक सुख की तुलना में इससे अधिक और प्रत्यक्ष उदाहरण क्या हो सकता है कि विषयी पुरुषो की शारीरिक और मानसिक स्थिति जितनी अधिक दुर्बल और मलिन होती है, उससे कई गुणा अधिक बलवान् और उज्ज्वल शारीरिक और मानसिक स्थिति ब्रह्मचारी और धर्मनिष्ठ पुरुषो की होती है। जिनको इस पर भी सन्देह हो वे एक पामर विषयी पुरुष के साथ एक धर्मात्मा ब्रह्मचारी पुरुष को खड़ा करके अपने संदेह को दूर कर लें। इससे दोनों में रहने वाला अन्तर स्वतः ही स्पष्ट हो जाएगा।

इस प्रकार विषय-जन्य सुख की अवहेलना करते हुए उक्त मुनिराज अब और ज्ञातव्य बातों का उपदेश उस राजा के प्रति करते हुए कहते हैं—

नरिंद! जाई अहमा नराणं, सोवागजाई दुहओ गयाणं ।
जहिं वयं सव्वजणस्स वेस्सा, वसीअ सोवागणिवेसणेसु ॥ १८ ॥

नरेन्द्र! जातिरधमा नराणां, श्वपाकजातिर्द्वयोः गतयोः ।
यस्यामावां सर्वजनस्य द्वेष्यौ, अवसाव श्वपाकनिवेशनेषु ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—नरिंद—हे नरेन्द्र! **जाई**—जाति, **अहमा**—अधम, **नराणं**—नरों में, **सोवागजाई**—श्वपाक—चाडाल जाति में, **दुहओ**—दोनो, **गयाणं**—गये, **जहिं**—जहां पर, **वयं**—हम दोनों, **सव्व**—सर्व, **जणस्स**—जन को, **वेस्सा**—द्वेष के कारण हुए, **वसीअ**—निवास करते रहे, **सोवागणिवेसणेसु**—चाडाल के घर मे।

मूलार्थ—हे नरेन्द्र! नरों में अधम ऐसी चांडाल जाति में हम दोनों उत्पन्न हुए, जिस जाति में जन्म लेने से और उस जाति में रहते हुए हम दोनों सभी जनों के द्वेष का कारण बने।

टीका—चित्त मुनि कहते है कि हे नरेन्द्र! नरो मे अधम जो चांडाल जाति है हम दोनों पिछले जन्म में उसी जाति मे उत्पन्न हुए थे तथा वह जाति सबके लिए द्वेष एव निंदा का कारण थी। परन्तु हम दोनो ने उसी जाति में जन्म धारण करके चाडाल के घर में निवास किया, अत. जाति का अभिमान तो व्यर्थ है, क्योकि यह प्राणी जिस प्रकार के कर्म करता है उसी के अनुसार वह श्रेष्ठ एवं अधम जातियों में उत्पन्न होकर अच्छे बुरे कृत कर्मो के फल भोगता है, परन्तु हीन जाति में उत्पन्न होकर भी मनुष्य यदि शुभ कर्म करे तो वह निन्दनीय नही होता।

अब इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं, यथा—

तीसे य जाईइ उ पावियाए, वुच्छा मु सोवागनिवेसणेसु ।
सव्वस्स लोगस्स दुगुंछणिज्जा, इहं तु कम्माइं पुरे कडाइं ॥ १६ ॥

तस्यां च जातौ तु पापिकायां, उषितौ स्वः श्वपाकनिवेशनेषु ।
सर्वस्य लोकस्य जुगुप्सनीयौ, अस्मिंस्तु कर्माणि पुराकृतानि ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—तीसे—उस, **जाईइ**—जाति में, **य**—पुनः, **उ**—वितर्क में, **पावियाए**—पापरूप में, **वुच्छा**—बसे, **मु**—हम दोनों, **सोवागनिवेसणेसु**—चांडाल के घर में, **सव्वस्स**—सब, **लोगस्स**—लोक में, **दुगुंछणिज्जा**—निन्दनीय थे, **तु**—फिर, **इहं**—इस जन्म में जो उत्तम जाति मिली है वह सब, **पुरेकडाइं**—पूर्व जन्मों मे किए हुए, **कम्माइं**—कर्मो का फल है।

मूलार्थ—उस अधम जाति में हम दोनों चांडाल के घर में रहे थे, वह जाति सर्वलोक में निन्दनीय थी परन्तु इस जन्म में हम जो फल भोग रहे हैं, वह सब पूर्व जन्मों में किए हुए शुभ कर्मों का फल है।

टीका—मुनि कहते हैं—'हे राजन्! हम उस चांडाल जाति में रहे जो कि अधम थी और पाप-प्रधान क्रियाओं की अधिक प्रवृत्ति होने से जिसको पापरूप और निन्दनीय कहा जाता था, परन्तु इस समय हम दोनो को जो उत्तम जाति और विशिष्ट भोग-सामग्री का लाभ हो रहा है वह सब उसी हीन जाति मे उत्पन्न होने पर भी किए हुए शुभ कर्मो का फल है।

तात्पर्य यह है कि इस समय तू जिस तप-सयम को दुखरूप समझ रहा है यह वर्तमान समय का विशिष्ट ऐश्वर्य उसी कष्ट दायक समझे जाने वाले तप-सयम का फल है। इससे सिद्ध हुआ कि शुभ कर्म किसी भी अवस्था मे किए जाए, उनका अच्छा ही फल प्राप्त होता है।

प्रस्तुत गाथा में 'मु' यह 'आवां' के अर्थ में ग्रहण किया गया है।

इतना **कहने के अनन्तर अब कर्त्तव्य के विषय में कहते हैं**—

सो दाणिसिं राय! महाणुभागो, महिड्ढिओ पुण्णफलोववेओ ।
चइत्तु भोगाइं असासयाइं, आदाणहेउं अभिणिक्खमाहि ॥ २० ॥

स इदानी राजन्! महानुभागः, महर्द्धिकः पुण्यफलोपपेतः ।
त्यक्त्वा भोगानशाश्वतान्, आदानहेतोरभिनिष्काम् ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः—सो—वह संभूत का जीव, **दाणिसिं**—इस समय, **राय**—राजन्, **महाणुभागो**—महा भाग्यवान्, **महिड्ढिओ**—महान् ऋद्धि वाला है, **पुण्णफलोववेओ**—पुण्यरूप फल से युक्त है, अतः, **चइत्तु**—छोड़कर, **असासयाइं**—अशाश्वत, **भोगाइं**—भोगों को, **आदाण**—चारित्र के, **हेउं**—हेतु, **अभिणिक्खमाहि**—घर से निकलो।

मूलार्थ—पिछले जन्म में जो संभूत का जीव था, वही इस समय भाग्यवान् महती समृद्धि और पुण्यफल से युक्त होकर महाराज चक्रवर्ती है, अतः हे राजन्! इन विनाशी काम-भोगों को छोड़कर संयम ग्रहण करने के लिए तुम घर से बाहर निकलो।

टीका—चित्त मुनि चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त को उपदेश देते हुए कहते हैं कि 'हे राजन्! तू पिछले जन्म के अनगार संभूत का जीव है जो कि इस समय महासमृद्धिशाली, महाभाग्यवान् और महान् पुण्यफल का उपभोग करने वाले एक सम्राट् के रूप में विद्यमान है। यह सब कुछ धर्म का ही फल है अतः इन विनश्वर तथा आपात-रमणीय काम-भोगों को छोड़कर चारित्र-धर्म की आराधना के लिए घर से बाहर निकलो, क्योंकि गृहवास में सर्व-विरति धर्म का अनुष्ठान नहीं हो सकता तथा जब कि इस समय तुझको अपने पिछले पांच जन्मों का ज्ञान है और उनमें उपस्थित हुई परिस्थितियों का भी तुझको परिचय है, तब तो धर्म और कर्म के शुभाशुभ फल का भी तुझको अवश्य ज्ञान होगा। अतः अब तुम्हारे लिए प्रमाद करना उचित नहीं है। यदि किसी जीव के हृदय में ज्ञानांकुर की उत्पत्ति न हुई हो तो उसका संयम में दृढ़ होना कठिन ही होता है, परन्तु जिसका हृदय ज्ञान-ज्योति से आलोकित हो रहा हो उसके लिए प्रमाद का आचरण कैसे सम्भव हो सकता है? तात्पर्य यह है कि आपको तो पिछले पांच जन्मों का ज्ञान है, अतः आप जैसे ज्ञानवान् को अब दीक्षा के लिए विलम्ब नहीं करना चाहिए।'

धर्म का आचरण न करने वालों को क्या हानि होती है, अब शास्त्रकार इसी विषय का वर्णन करते हैं—

इह जीविए राय! असासयम्मि, धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो।
से सोयई मच्चुमुहोवणीए, धम्मं अकाऊण परम्मि लोए ॥ २१ ॥

इह जीविते राजन्नशाश्वते, अधिकं तु पुण्यान्यकुर्वाणः ।
स शोचति मृत्युमुखोपनीतः, धर्ममकृत्वा परस्मिंल्लोके ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः—राय—राजन्!, **इह**—इस, **असासयम्मि**—अशाश्वत, **जीविए**—जीवितव्य, **धणियं**—जो अत्यन्त अस्थिर हैं, **पुण्णाइं**—पुण्य, **तु**—ही, **अकुव्वमाणो**—न करता हुआ, **से**—वह जीव, **मच्चु**—मृत्यु के, **मुहोवणीए**—मुख में प्राप्त होने के समय, **सोयई**—सोचता है, **धम्मं**—धर्म के, **अकाऊण**—बिना किए, **परम्मि लोए**—परलोक में।

मूलार्थ—हे राजन्! इस अशाश्वत जीवन में पुण्य-कर्म न करने वाला जीव मृत्यु के मुख में पहुंचकर सोच करता है तथा धर्म के न करने वाला परलोक में भी सोच ही करता रहता है।

टीका—महर्षि कहते है कि हे राजन्! इस अशाश्वत जीवन में पुण्य के न करने वाला जीव मृत्यु के निकट पहुंचकर बड़े सोच एवं पश्चात्ताप सहित चिन्ता करता है कि अहो! मैने कोई पुण्योपार्जन नही किया और मृत्यु के पश्चात् परलोक मे पहुचकर अभीष्ट सुख की प्राप्ति न होने पर पुनः परम दुखी होता है कि अहो! यदि मैने कोई सत्कर्म किया होता तो इस जन्म में सुखी होता, परन्तु इस पश्चात्ताप से फिर क्या बन सकता है। अत. राजन्! अब प्रमाद मत करो! कारण कि यह जीवन अत्यन्त अस्थिर है।

यहां पर '**धणियं**' यह अव्यय अत्यन्त अस्थिर अर्थ मे आया है और '**तु**' एवं अर्थ में है।

यदि कोई कहे कि मृत्यु के समय स्वजन आदि रक्षक बन जाएंगे, अब इसी शंका का समाधान करते है—

जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं नेइ हु अंतकाले ।
न तस्स माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मंसहरा भवंति ॥ २२ ॥

यथेह सिंहो वा मृगं गृहीत्वा, मृत्युर्नरं नयति खल्वन्तकाले ।
न तस्य माता वा पिता च भ्राता, काले तस्यांशधरा भवन्ति ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैसे, **इह**—इस लोक में, **सीहो**—सिंह, **व**—वा, **मियं**—मृग को, **गहाय**—पकड़कर मृत्यु के मुख में पहुंचाता है, उसी प्रकार, **मच्चू**—मृत्यु, **नरं**—मनुष्य को, **हु**—निश्चय ही, **अंतकाले**—अन्त समय में, **नेइ**—परलोक में पहुंचा देती है, **तस्स**—उस समय उसके, **माया**—माता, **व**—वा, **पिया**—पिता, **व**—वा, **भाया**—भ्राता, **कालम्मि**—उस काल मे, **तम्मंसहरा**—अंश के धरने वाले, **न भवंति**—नही होते है।

मूलार्थ—जैसे इस लोक में सिंह मृग को पकड़कर मृत्यु के मुख में पहुंचा देता है, उसी प्रकार निश्चय ही मृत्यु अंत समय में इस जीव को परलोक में पहुंचा देती है। परन्तु उसके माता, पिता और भ्राता मृत्यु के समय आयुरूप अंश के धरने वाले नहीं होते।

टीका—इस गाथा मे अशरण-भावना का दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे इस लोक में सिंह और व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी मृगादि जीवो को पकड़कर मृत्यु के मुख मे पहुंचा देते हैं, ठीक उसी प्रकार यह मृत्यु इस जीव को निश्चय ही अन्तकाल में परलोक में पहुंचा देती है, परन्तु उस समय माता, पिता वा भ्राता आदि कोई भी उसे बचा नहीं सकते, क्योंकि जैसे किसी व्यक्ति पर राजा का कोप होने से उसके सम्बन्धी लोग धन आदि देकर उसकी राजा से रक्षा कर लेते है, इसी प्रकार मृत्यु के समय मरते हुए प्राणी को उसके स्वजनादि अपने जीवन में से कुछ आयु का अंश देकर बचा नहीं सकते*।

यदि कोई कहे कि आयु का अंश तो नही दिया जा सकता, परन्तु उसके दुख की निवृत्ति के लिए उपक्रम तो किया जा सकता है, अब सूत्रकार इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं—

न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा ।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥ २३ ॥

न तस्य दुःखं विभजन्ते ज्ञातय, न मित्रवर्गा न सुता न बान्धवाः ।
एकः स्वयं प्रत्यनुभवति दुःखं, कर्तारमेवानुयाति कर्म ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः—**तस्स**—उसके, **दुक्खं**—दुख का, **नाइओ**—ज्ञातिजन, **न विभयंति**—विभाग नहीं कर सकते, **न मित्तवग्गा**—न ही मित्रवर्ग कर सकता है, **न सुया**—न पुत्र कर सकते हैं, **न बंधवा**—न

★ 'अश जीवितभाग धारयन्ति मृत्युना नीयमान रक्षन्तीत्यशधरा' स्वजीविताशदानत.' टीका।

भाई कर सकते हैं, **एक्को**—अकेला, सयं—स्वयमेव, **दुक्खं**—दुःख का, **पच्चणुहोइ**—प्रत्यनुभव करता है, **कत्तारमेव**—कर्ता के ही, **कम्मं**—कर्म, **अणुजाइ**—पीछे जाता है।

मूलार्थ—मरते हुए प्राणी के दुख का ज्ञाति जन विभाग नहीं कर सकते तथा न मित्रवर्ग, न पुत्र और न ही भ्राता आदि उसे बचा सकते हैं, किन्तु यह जीव अकेला स्वयमेव उस दुख का अनुभव करता है, क्योंकि कर्त्ता के पीछे ही कर्म जाता है।

टीका—मुनि कहते है कि 'हे राजन्! मृत्यु के समय उस प्राणी के शारीरिक व मानसिक दुखों का विभाग उसके ज्ञाति-जनो में से कोई भी नहीं कर सकता, किन्तु जिसने कर्म किए है वह जीव अकेला ही अपने किए हुए कर्मों के फल-स्वरूप दुख का स्वयमेव अनुभव करता है, क्योंकि कर्म कर्त्ता के ही पीछे जाते है।

जैसे हजारों गौओं में से बछड़ा अपनी माता को ढूढ़ लेता है, अथवा जैसे पुरुष की छाया पुरुष के पीछे ही चलती है, उसी प्रकार कर्म भी कर्त्ता के पीछे ही जाता है, अत. सम्बन्धी-जनो ने आयु के अश को तो क्या लेना है, वे तो उपस्थित होते हुए दुख को भी नही बांट सकते। यहां पर '**ज्ञाति**' शब्द दूर के सम्बन्धियो का और '**बन्धु**' शब्द निकट के सम्बन्धियों का वाचक है।

इस प्रकार अशरण-भावना का वर्णन करने के अनन्तर अब एकत्व-भावना का वर्णन करते हैं, यथा—

चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च, खेत्तं गिहं धण-धन्नं च सव्वं।
सकम्मबीओ अवसो पयाइ, परं भवं सुंदर पावगं वा ॥ २४ ॥

त्यक्त्वा द्विपदं च चतुष्पदं च, क्षेत्रं गृहं धन धान्यं च सर्वम् ।
स्वकर्मद्वितीयोऽवशः प्रयाति, परं भवं सुन्दरं पापकं वा ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः—**दुपयं**—द्विपद को, **च**—और, **चउप्पयं**—चतुष्पद को, **खेत्तं**—क्षेत्र को, **च**—तथा, **गिहं**—गृह को, **च**—और, **धणं**—धन को, **धन्न**—धान्य को, **सव्वं**—अन्य सर्व वस्तुओं को, **चिच्चा**—छोड़कर, **सकम्मबीओ**—अपने कर्मरूप दूसरे साथी के सहित, **अवसो**—परवशता से, **पयाइ**—प्राप्त करता है, **परं भवं**—पर-भव को, **सुंदर**—स्वर्गादि स्थान, **वा**—अथवा, **पावगं**—नरकादि स्थान को।

मूलार्थ—यह जीव द्विपद (नौकर-चाकर), चतुष्पद (पशु), क्षेत्र, घर, धन और धान्य तथा अन्य सर्व वस्तुओं को छोड़कर स्वयं ही अकेला अपने कर्मरूप दूसरे साथी के सहित परवशता से कर्मानुसार परलोक में स्वर्ग अथवा नरक स्थान को प्राप्त करता है।

टीका—मुनि कहते है कि मृत्यु के समय यह आत्मा अर्थात् जीव अपनी प्यारी भार्या आदि तथा प्रिय लगने वाले अश्वादि, क्षेत्र तथा सुन्दर बाग-बगीचे आदि तथा गृह और धन-धान्यादि सभी पदार्थों को छोड़कर अकेला ही—एकमात्र कर्म को साथ लेकर परलोक को प्रयाण कर जाता है। वहां पर अपने किए हुए शुभाशुभ कर्मो के अनुसार स्वर्ग अथवा नरक में स्थान प्राप्त करता है।

सारांश यह है कि जिन पदार्थों पर इस जीव का अत्यन्त प्रेम होता है, मृत्यु के समय उन सबको छोड़कर परवश होकर परलोक में अपने कर्मों के अनुसार उत्तम व अधम गति को प्राप्त कर लेता है।

यहां पर 'सुंदर' शब्द में अनुस्वार का लोप प्राकृत के नियम से हुआ है।

मृत्यु होने के पश्चात् जीव के द्वारा धारण किए हुए शरीर की क्या गति होती है, अब इसी विषय का वर्णन करते हैं। यथा—

तं एक्कगं तुच्छसरीरगं से, चिईगयं दहिय उ पावगेणं ।
भज्जा य पुत्ताविय नायओ य, दायारमण्णं अणुसंकमन्ति ॥ २५ ॥

तदेककं तुच्छशरीरकं तस्य, चितिगतं दग्ध्वा तु पावकेन ।
भार्या च पुत्रा अपि च ज्ञातयश्च, दातारमन्यमनुसंक्रमन्ति ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः—**तं एक्कगं**—वह अकेला जीव रहित, **तुच्छ**—सार-रहित, **सरीरगं**—शरीर को, **से**—उसका, **चिईगयं**—चिता-गत, **पावगेणं**—अग्नि के द्वारा, **दहिय**—जलाया जाता है, **उ**—वितर्क अर्थ मे, **भज्जा**—भार्या, **य**—और, **पुत्तावि**—पुत्र भी, **य**—तथा, **नायओ**—ज्ञातिवर्ग, **अण्णं**—अन्य, **दायारं**—दातार के, **अणुसंकमंति**—पीछे चलने लगते हैं।

मूलार्थ—जीव-रहित इस तुच्छ शरीर को चिता पर रखकर अग्नि के द्वारा जलाया जाता है, फिर मृत जीव के भार्या, पुत्र तथा अन्य सम्बन्धी जन अन्य दातार के पीछे चल पड़ते हैं।

टीका—जब यह जीव शरीर को छोड़कर परलोक को प्रयाण कर जाता है तब इस शरीर को तुच्छ एव निस्सार जानकर चिता मे रखकर अग्नि के द्वारा उसे भस्म कर दिया जाता है। फिर उसकी भार्या, पुत्र तथा अन्य सगे-सम्बन्धी पुरुष वहां से पराङ्मुख होकर उसके स्थान पर किसी दूसरे पुरुष को नियुक्त करके उसको अपना रक्षक समझते हुए उसके अनुसार उसकी आज्ञा मे चलने लग जाते है। तात्पर्य यह है कि उस दिन के बाद फिर उस मृतक का कोई स्मरण तक भी नहीं करता है।

प्रस्तुत गाथा के द्वारा ससार की अनित्यता, स्वार्थ-परायणता और इस शरीर की अन्तिम दशा का बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा गया है। अग्नि द्वारा शव का दाह करना आर्यावर्त्त की अति प्राचीन प्रथा है, जिसका कि उल्लेख इस गाथा मे किया गया है। मृत्यु के बाद जो रुदन और विलाप आदि किया जाता है, उसमे स्वार्थ-परायणता के अतिरिक्त अन्य कोई भाव नहीं होता।

अब मुनि उक्त सम्राट् को फिर उपदेश करते हैं—

उवणिज्जई जीवियमप्पमायं, वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं!
पंचालराया! वयणं सुणाहि, मा कासि कम्माइं महालयाइं ॥ २६ ॥

उपनीयते जीवितमप्रमादं, वर्णं जरा हरति नरस्य राजन् !
पंचालराज! वचनं श्रृणुष्व मा कार्षीः कर्माणि महालयानि ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—उवणिज्जई—काल के समीप होता जाता है, **जीवियं**—जीवन, **अप्पमायं**—प्रमाद रहित होकर, **रायं**—राजन्! **नरस्स**—नर के, **वण्णं**—वर्ण को, **जरा**—जरा बुढ़ापा, **हरइ**—हरण करती है, **पंचालराया**—हे पंचाल देश के राजा, **वयणं**—मेरे वचन को, **सुणाहि**—सुनो! **महालयाइं**—महाहिंसक, **कम्माइं**—कर्मो को, **मा कासि**—तुम मत करो।

मूलार्थ—हे राजन्! यह जीवन प्रमाद के बिना अर्थात् बिना किसी भी प्रकार की बाधा के सतत चलता जा रहा है अर्थात् आयु व्यतीत हो रही है और मनुष्य के वर्ण को अर्थात् रंग-रूप को जरा हरण कर रही है, हे पंचाल देश के राजा! मेरे वचन को सुन और तू महाहिंसक पाप कर्मों को मत कर।

टीका—मुनि कहते है कि राजन्! आवीचि मरण के द्वारा समय-समय पर यह जीव अविराम गति से मृत्यु के समीप जा रहा है और इसके रंग-रूप को जरा हर रही है, अतः मेरे वचनो को सुनकर तुम घोर हिसा—पंचेन्द्रिय जीवो का वध मत करो।

इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि जितना समय व्यतीत हो चुका है, इस जीव की मृत्यु उतनी ही निकट आ गई समझनी चाहिए। काल का चक्र निरन्तर चल रहा है और आयु प्रतिक्षण क्षय होती जा रही है। इसलिए शरीर में जरा के आगमन से दुर्बलता एवं क्षीणता का प्रवेश होता ही चला जा रहा है। जब ऐसा है तब तुम मेरे वचनो को सुनकर उन पर आस्था रखते हुए पञ्चेन्द्रिय जीवों का वधरूप जो महाहिसक कर्म है उससे उपराम क्यो नही होते? उचित तो यही है कि मेरे उपदेश को श्रवण करके तुमको इन नरक-प्रद हिसक कर्मो से अवश्य निवृत्त हो जाना चाहिए।

मुनि के इस उपदेश को सुनकर सम्राट् इस प्रकार कहने लगा—

अहं पि जाणामि जहेह साहू!, जं मे तुमं साहसि वक्कमेयं।
भोगा इमे संगकरा हवंति, जे दुज्जया अज्जो! अम्हारिसेहिं॥ २७॥

अहमपि जानामि यथेह साधो! यन्मम त्वं साधयसि वाक्यमेतत्।
भोगा इमे संगकरा भवन्ति, ये दुर्जया आर्य! अस्मादृशैः॥ २७॥

पदार्थान्वयः—अहंपि—मै भी, **जाणामि**—जानता हू, **जहा**—जैसे, **इह**—इस ससार मे, **साहू**—हे साधो! **जं**—जो, **मे**—मुझे, **तुमं**—आपने, **साहसि**—कहा है, **वक्कं**—वाक्य, **एयं**—यह, परन्तु **भोगा**—भोग, **इमे**—यह प्रत्यक्ष, **संगकरा**—कर्मों का बन्ध करने वाले, **हवंति**—होते है, **जे**—जो, **दुज्जया**—दुर्जय है, **अज्जो**—हे आर्य!, **अम्हारिसेहिं**—हमारे जैसो को।

मूलार्थ—हे साधो! जैसे आपने इस संसार के स्वरूप का वर्णन किया है मैं भी उसे उसी प्रकार का जानता हूं, परन्तु हे आर्य! कर्मों का बन्ध करने वाला जो इन कर्मों का संग है, वह हमारे जैसे सांसारिक आनन्द में निमग्न पुरुषों के लिए छोड़ना दुष्कर है।

टीका—चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त चित्त मुनि से कहते है कि हे साधो! जिस प्रकार आपने मेरे समक्ष इस ससार की परिस्थितियो का वर्णन किया है, मुझे भी उनका ज्ञान है, परन्तु मेरे जैसे सासारिक आनन्द मे लीन पुरुषो के लिए इन काम-भोगो का त्याग करना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि ये काम-भोग

कर्मबन्ध के असाधारण कारण है, तथापि मेरे लिए ये दुर्जेय है, अतः मैं विवश हूं जो कि इन विषय-भोगों की असारता, दुष्टता और मोहकता को जानते हुए भी इनका परित्याग करने में समर्थ नहीं हूं।

अब फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

हत्थिणपुरम्मि चित्ता!, दट्टूणं नरवइं महिड्ढियं ।
कामभोगेसु गिद्धेणं, नियाणमसुहं कडं ॥ २८ ॥

हस्तिनापुरे चित्त! दृष्ट्वा नरपतिं महर्द्धिकम् ।
कामभोगेषु गृद्धेन, निदानमशुभं कृतम् ॥ २८ ॥

पदार्थान्वयः—हत्थिणपुरम्मि—हस्तिनापुर मे, **चित्ता**—हे चित्त !, **नरवइं**—नरपति—सनत्कुमार चक्रवर्ती, **महिड्ढियं**—महाऋद्धि वाले को, **दट्टूणं**—देखकर ! **कामभोगेसु**—कामभोगों में, **गिद्धेणं**—आसक्ति रखने वाले मैने, **नियाण**—निदान, **असुहं**—अशुभ, **कडं**—किया।

मूलार्थ—हे चित्त! हस्तिनापुर में महासमृद्धि वाले नरपति सनत्कुमार चक्रवर्ती को देखकर काम-भोगों में आसक्त होने के कारण मैंने अशुभ निदान किया।

टीका—अपनी भूल को स्वीकार करते हुए चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने कहा कि मैने हस्तिनापुर में सनत्कुमार चक्रवर्ती की विलक्षण समृद्धि को देखा और उससे आकर्षित होकर उसकी प्राप्ति के लिए कठिन से कठिन तपश्चर्या करने लगा। इस प्रकार अन्तःकरण में बढ़ी हुई काम-भोग विषयिणी वासना से प्रेरित होकर मैने जो निदान किया उसी का यह परिणाम है कि अब मेरे लिए इन विषय-भोगो का त्याग अत्यन्त कठिन हो रहा है।

इस विषय मे इतना और समझ लेना चाहिए कि जो व्यक्ति सत्य और सरल प्रकृति के होते हैं, वे वस्तुतत्त्व को समझकर उस विषय मे अपनी जो त्रुटि होती है उसको स्पष्ट कह देते हैं। यही दशा चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त की है। उसने चित्त मुनि से धर्मोपदेश सुनकर उसकी यथार्थता और उसके यथावत् पालन करने मे अपनी असमर्थता स्पष्ट शब्दों में वर्णन करने के अनन्तर उसके कारणभूत अशुभ निदान के लिए पश्चात्ताप के रूप मे अपनी त्रुटि को भी स्वीकार कर लिया है। साराश यह है कि सम्यक्त्व की ओर आने वाले जीवो के ये ही लक्षण होते है।

क्या निदान कर्म का प्रतिरोध नहीं हो सकता? अब इसी विषय का वर्णन करते हैं। यथा—

तस्स मे अप्पडिकंतस्स, इमं एयारिसं फलं ।
जाणमाणो वि जं धम्मं, कामभोगेसु मुच्छिओ ॥ २६ ॥

तस्मान्ममाप्रतिक्रान्तस्य, इदमेतादृशं फलम् ।
जानन्नापि यद् धर्मं, कामभोगेषु मूर्च्छितः ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—तस्स—उस निदान कर्म से, **मे**—मुझे, **अप्पडिकंतस्स**—अप्रतिक्रान्त को, **इमं**—

यह प्रत्यक्ष, **एयारिसं**—ऐसा, **फलं**—फल प्राप्त हुआ, **जं**—जो, **जाणमाणो वि**—जानता हुआ भी, **धम्मं**—धर्म को—फिर भी, **कामभोगेसु**—काम-भोगों मे, **मुच्छिओ**—मूर्च्छित हूं।

मूलार्थ—उस निदान से निवृत्त न होने का यह प्रत्यक्ष फल हुआ कि मैं धर्म को जानता हुआ भी काम-भोगों में मूर्च्छित अर्थात् आसक्त हूं।

टीका—चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने कहा कि 'हे मुने! जब मैंने काम-भोगों से आकर्षित होकर निदान-पूर्वक कर्म करने का प्रयत्न किया था उस समय आपने मुझे हटाने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु मै इस अशुभ निदान से नहीं हटा। उसका फल यह हुआ कि मै श्रुत और चारित्र-धर्म को जानता हुआ भी काम-भोगों मे अत्यन्त आसक्त हो रहा हूं, अत· सिद्ध हुआ कि अशुभ कर्म का फल शुभ कभी नही हो सकता। यद्यपि निदान कर्म भी कई प्रकार के होते है, तथापि जिन भावों से प्रेरित होकर वे किए जाते है उन्हीं के अनुसार उनका फल भी प्राप्त होता है।

अब इसी विषय को दृष्टान्त के द्वारा प्रतिपादन करते हैं—

नागो जहा पंकजलावसन्नो, दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं ।
एवं वयं कामगुणेसु गिद्धा, न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो ॥ ३० ॥

नागो यथा पंकजलावसन्नः, दृष्ट्वा स्थलं नाभिसमेति तीरम् ।
एवं वयं कामगुणेषु गृद्धाः नो भिक्षोर्मार्गमनुव्रजामः ॥ ३० ॥

पदार्थान्वयः—नागो—नाग अर्थात् हस्ती, **जहा**—जैसे, **पंक**—कीचड़ से भरे, **जलावसन्नो**—जल मे फसा हुआ, **दट्ठु**—देखकर, **थलं**—स्थल को, **नाभिसमेइ**—नहीं प्राप्त होता, **तीरं**—तीर को, **एवं**—उसी प्रकार, **वयं**—हम, **कामगुणेसु**—काम-भोगो मे, **गिद्धा**—आसक्त हुए, **भिक्खुणो**—भिक्षु के, **मग्गं**—मार्ग को, **न अणुव्वयामो**—ग्रहण नही कर सकते।

मूलार्थ—जैसे कीचड़ वाले जलाशय मे फंसा हुआ हाथी निर्जल प्रदेश को देखकर भी तीर को प्राप्त नही हो सकता, उसी प्रकार काम-भोगों में अत्यन्त आसक्त हुए हम लोग भी भिक्षु के मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकते, अर्थात् साध्वाचार का पालन नहीं कर पाते।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे काम-भोगो को दलदल के समान और उनमे आसक्ति रखने वाले को हस्ती के समान माना गया है तथा साधु-मार्ग को स्थल के सदृश बताया गया है, अर्थात् जैसे दलदल मे फसा हुआ हाथी स्थल प्रदेश को देखता हुआ भी उसे सहसा प्राप्त करने मे समर्थ नहीं होता, इसी प्रकार विषय-भोगो मे अत्यन्त आसक्ति रखने वाले पुरुष साधु-धर्म की श्रेष्ठता को जानते हुए भी उसके ग्रहण करने मे समर्थ नही हो सकते। तात्पर्य यह है कि दलदल मे फसा हुआ हाथी वहा से निकलने का प्रयत्न तो बहुत करता है और चाहता है कि कीचड़ में से निकलकर स्थल प्रदेश मे चला जाऊ परन्तु वह निकल नही सकता। ऐसे ही काम-भोगो मे आसक्त पुरुष भी उनसे निकलने की कोशिश करते है परन्तु सफल-मनोरथ नही हो पाते। इसी आशय से चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने भी कीचड़ के समान काम-भोगो से निकलकर साधु-मार्ग के अवलम्बन में या उस मार्ग पर चलने में चित्त मुनि के

समक्ष अपने आपको असमर्थ बताया है। यद्यपि यह आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र माना गया है, तथापि जिस समय निकाचित—अवश्य-भोक्तव्य कर्मों का उदय होता है, उस समय यह जीव परवश हो जाता है। इसलिए उसके अन्तःकरण पर साधु पुरुषों के सदुपदेश का भी पूर्ण प्रभाव नहीं पड़ पाता।

चक्रवर्ती के इस कथन को सुनकर अब मुनि फिर कहते हैं—

अच्चेइ कालो तूरंति राइओ, न यावि भोगा पुरिसाण णिच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयंति, दुमं जहा खीणफलं व पक्खी॥ ३१॥

अत्येति कालस्त्वरन्ते रात्रयः, न चापि भोगाः पुरुषाणां नित्याः।
उपेत्य भोगाः पुरुषं त्यजन्ति, द्रुमं यथा क्षीणफलमिव पक्षिणः॥ ३१॥

पदार्थान्वयः—अच्चेइ कालो—काल का अतिक्रम हो रहा है, **राइओ**—रात्रियां, **तूरंति**—शीघ्र जा रही है, **न यावि**—नहीं है, **भोगा**—भोग, **पुरिसाण**—पुरुषों के, **णिच्चा**—नित्य, **उविच्च**—अपनी इच्छा के अनुसार प्राप्त होकर, **भोगा**—भोग, **पुरिसं**—पुरुष को, **चयंति**—छोड़ जाते है, **जहा**—जैसे, **खीणफलं**—फल-रहित, **दुमं**—द्रुम—वृक्ष को, **पक्खी**—पक्षी, **व**—सादृश्य अर्थ मे है।

मूलार्थ—काल का अतिक्रम हो रहा है, रात्रियां शीघ्रता से जा रही हैं। पुरुषों के भोग नित्य नही हैं, अपितु भोग अपनी इच्छा के अनुसार पुरुष को छोड़ जाते हैं, जैसे कि फल-रहित वृक्ष को पक्षी छोड़ जाते हैं।

टीका—चित्त मुनि कहते है कि हे राजन्! काल का अतिक्रम हो रहा है, रात और दिन बड़े वेग से चले जा रहे है। पुरुषो के भोग भी नित्य नही है और वे भोग भोगी व्यक्तियों की इच्छानुसार नही रहते, अपितु अपनी इच्छा के अनुसार वे पुरुष को छोड़कर चले जाते है, जैसे फल हीन वृक्ष को पक्षीगण छोड़कर चले जाते है।

इस गाथा में यह बताया गया है कि केवल जीवन ही अनित्य नही, किन्तु काम-भोग भी अनित्य है। अनित्य होने पर भी वे पुरुष के स्वाधीन नहीं, किन्तु अपनी इच्छानुसार वे जब चाहा भोगासक्त जनो को छोड़कर चले जाते हैं। जैसे कि फलो से रहित हो जाने वाले वृक्ष को उसकी इच्छा के विरुद्ध ही पक्षीगण छोड़कर उड़ जाते है। इसलिए इन विनश्वर पदार्थो की मोह-ममता का त्याग कर धर्म-कार्यों के अनुष्ठान मे प्रवृत्त होना चाहिए। यह भी स्मरण रहे कि यहा पर फल के समान पुण्य है और फल-शून्य वृक्ष के समान श्री-हीन भोगासक्त जन है, एवं पक्षीगण के समान काम-भोगादि विषय हैं। सो जब इस जीव का पुण्यरूप फल क्षीण हो जाता है, तब काम-भोग रूप पक्षी जीवरूपी वृक्ष को छोड़ जाते हैं, अतः धर्म का आचरण करना ही अधिक श्रेय देने वाला है।

अस्तु, यदि तुम काम-भोगादि पदार्थों का त्याग नहीं कर सकते तो तुमको आर्य-कर्म तो अवश्य करने चाहिएं, सो अब उन कार्यों को ही फल-सहित बताते हैं—

जइ तंसि भोगे चइउं असत्तो, अज्जाइं कम्माइं करेहि रायं! ।
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकंपी, तो होहिसि देवो इओ विउव्वी ॥ ३२ ॥

यदि त्वमसि भोगान् त्यक्तुमशक्तः, आर्याणि कर्माणि कुरुष्व राजन्! ।
धर्मे स्थितः सर्वप्रजानुकम्पी, तस्माद् भविष्यसि देव इतो वैक्रियी ॥ ३२ ॥

पदार्थान्वयः—**जइ**—यदि, **तं**—तू, **सि**—है, **भोगे**—भोगों के, **चइउं**—छोड़ने को, **असत्तो**—असमर्थ है तो, **अज्जाइं**—आर्यों के, **कम्माइं**—कर्मों को, **रायं**—हे राजन्! **करेहि**—तू कर, **धम्मे**—धर्म में, **ठिओ**—स्थित, **सव्व**—सर्व, **पयाणुकंपी**—प्रजा पर अनुकम्पा करने वाला हो, **तो**—तिस से, **होहिसि**—होवेगा, **देवो**—देवता, **इओ**—यहा से मरकर, **विउव्वी**—वैक्रिय शरीर वाला।

मूलार्थ—**हे राजन्! यदि तू काम-भोगों को छोड़ने में असमर्थ है तो आर्य-कर्म कर और धर्म में स्थित होकर समस्त प्रजा पर अनुकम्पा करने वाला हो, उससे तू यहां से मर कर वैक्रिय लब्धि से सम्पन्न देवता हो जाएगा।**

टीका—चक्रवर्ती के प्रति चित्त मुनि कहते है कि हे राजन्! यदि आप काम-भोगों के त्याग मे असमर्थ है तो आप आर्य-जनोचित कर्मो का अनुष्ठान अवश्य करें एवं धर्म में आरूढ़ होकर अपनी समस्त प्रजा पर अनुकम्पा भाव रखे, क्योकि न्याय-पूर्वक प्रजावर्ग का पालन करना ही राजा का मुख्य धर्म है। इस प्रकार श्रेष्ठजनानुमोदित कर्मो के अनुष्ठान से आप यहा से मर कर वैक्रिय-लब्धि वाले देव बन जाओगे।

प्रस्तुत गाथा मे गृहस्थ-धर्म, राज-धर्म, और दोनो धर्मो के फल का भली-भाति दिग्दर्शन कराया गया है, क्योंकि राजा का मुख्य धर्म न्याय और शाति से प्रजा का यथावत् पालन-सरक्षण करना है। इसी से वह धर्मज्ञ और संसार मे प्रशसा का पात्र बनता है।

गृहस्थ धर्म द्वादश व्रत रूप है, अतः श्रावक-धर्म का मुख्य उद्देश्य आर्य कर्मों का अनुष्ठान और न्याय-प्रियता है। इसी आशय से मुनि कहते है कि 'हे राजन्! यदि तुम सर्वविरति रूप साधु धर्म के अनुष्ठान में असमर्थ हो तो न्यायपूर्वक प्रजा का अनुकम्पा बुद्धि से सरक्षण करे और देश विरति रूप गृहस्थ-धर्म में स्थित हो। इसका फल यह होगा कि यहा से मरने के बाद आप वैक्रिय-लब्धि युक्त देव बन जाएगे, अर्थात् वैमानिक देवो की श्रेणी मे जन्म लेगे। मांस, मदिरा और प्राणी-वध के त्याग-पूर्वक शास्त्र-विहित जो कर्म है, वे कर्म आर्य-कर्म कहलाते है।

इतना कहने पर भी जब मुनि के उपदेश को राजा ने ग्रहण न किया, तब वे कहने लगे कि—

न तुज्झ भोगे चइऊण बुद्धी, गिद्धोसि आरंभपरिग्गहेसु ।
मोहं कओ एत्तिओ विप्पलावो, गच्छामि रायं! आमंतिओ सि ॥ ३३ ॥

न तव भोगान् त्यक्तुं बुद्धिः, गृद्धोऽसि आरंभ-परिग्रहेषु ।
मोघं कृतमेतावान् विप्रलापः, गच्छामि राजन्नामंत्रितोऽसि ॥ ३३ ॥

पदार्थान्वयः—**न तुज्झ**—नहीं तेरे में, **भोगे**—भोगों के, **चइऊण**—त्यागने की, **बुद्धी**—बुद्धि, **गिद्धोसि**—तू गृद्ध है, **आरंभपरिग्गहेसु**—आरम्भ और परिग्रह में, **मोहं कओ**—निष्फल किया, **एत्तिओ**—इतना, **विप्पलावो**—विप्रलाप, **रायं**—राजन्, **गच्छामि**—मैं जाता हूं, **आमंतिओसि**—तुम्हें कहकर—पूछकर।

मूलार्थ—हे राजन्! तेरे में भोगों के त्यागने की बुद्धि नहीं है, तू आरम्भ और परिग्रह में अत्यन्त आसक्त हो रहा है। तूने इतना अर्थात् मेरे द्वारा समझाना बुझाना सब निष्फल ही कर दिया है, अतः तुम्हें कहकर अब मैं जा रहा हूं।

टीका—जब चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने चित्त मुनि के किसी भी उपदेश को स्वीकृत नहीं किया, तब मुनि ने कहा कि हे राजन्! तेरे मे भोगों को त्यागने की बुद्धि नहीं है और न आर्य-कर्मो के अनुष्ठान की भावना है। न्याय-पूर्वक प्रजा का शासन करना भी तूने स्वीकार नहीं किया, क्योंकि तू आरम्भ और परिग्रह में मूर्च्छित—आसक्त हो रहा है, अतः मेरा किया हुआ सब उपदेश निष्फल हो गया अर्थात् वह प्रलापमात्र ही ठहरा, 'अस्तु, अब मै जाता हू।' यह कहकर मुनि वहा से चल दिए।

'धातुओं के अनेक अर्थ होते है,' इस नियम के अनुसार '**आमंतितोसि**' इस शब्द का '**पृष्टोसि**' अर्थ करना चाहिए। मुनि के 'मै जाता हूं' कहने का अभिप्राय यह है कि यदि कोई व्यक्ति उपदेश को स्वीकार न करे तो उस पर क्रोध नहीं करना चाहिए, किन्तु अपने आप ही उससे उपसम हो जाना चाहिए।

इस प्रकार कहकर चित्त मुनि जब चले गए तब उसके बाद ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने जो कुछ किया और उसका जो फल हुआ अब उसी का वर्णन करते हैं—

पंचालरायावि य बंभदत्तो, साहुस्स तस्स वयणं अकाउं ।
अणुत्तरे भुंजिय कामभोगे, अणुत्तरे सो नरए पविट्ठो ॥ ३४ ॥

पंचालराजोऽपि च ब्रह्मदत्तः, साधोस्तस्य वचनमकृत्वा ।
अनुत्तरान् भुक्त्वा कामभोगान्, अनुत्तरे सः नरके प्रविष्टः ॥ ३४ ॥

पदार्थान्वयः—**पंचालराया**—पचाल देश का राजा, **बंभदत्तो**—ब्रह्मदत्त, **तस्स**—उस, **साहुस्स**—साधु के, **वयणं**—वचनो को, **अकाउं**—स्वीकार न करके, **अणुत्तरे**—प्रधान, **कामभोगे**—काम-भोगो को, **भुंजिय**—भोगकर, **अणुत्तरे**—प्रधान, **नरए**—नरक मे, **सो**—वह चक्रवर्ती, **पविट्ठो**—प्रविष्ट हुआ, **वि**—निश्चय अर्थ मे और, **य**—पादपूर्त्यर्थ है।

मूलार्थ—पंचाल देश का राजा ब्रह्मदत्त उस साधु के वचनों को स्वीकार न करके प्रधान काम-भोगों का उपभोग करता हुआ प्रधान नरक में गया।

टीका—चित्त मुनि के प्रयाण कर जाने के अनन्तर पचाल देश के चक्रवर्ती राजा ब्रह्मदत्त ने उक्त मुनि के उपदेश को अगीकार नही किया, अतः वह उत्तम एवं प्रमुख काम-भोगों का सेवन करता हुआ

मर कर सबसे निकृष्ट नरक में गया, अर्थात् सातवें नरक के अप्रतिष्ठान नामक पांचवें नरकावास में उत्पन्न हुआ।

इस गाथा में निदानपूर्वक किए जाने वाले कर्मो का फल तथा काम-भोगों में अत्यन्त आसक्ति रखने का जो परिणाम होता है उसका चित्र बहुत ही सुन्दरता से प्रस्तुत किया गया है जिससे कि विचारशील पुरुष इन विषय-भोगों का त्याग करके धर्माचरण में प्रवृत्त होने का प्रयत्न करें।

प्रसङ्गवशात् अब शास्त्रकार चित्त मुनि के विषय में कहते हैं—

चित्तो वि कामेहिं विरत्तकामो, उदग्गचारित्ततवो महेसी ।
अणुत्तरं संजमं पालइत्ता, अणुत्तरं सिद्धिगइं गओ ॥ ३५ ॥
त्ति बेमि ।

इति चित्तसंभूइज्जं तेरहमं अज्झयणं समत्तं ॥ १३ ॥

चित्तोऽपि कामेभ्यो विरक्तकामः, उदग्रचारित्रतपा महर्षिः ।
अणुत्तरं संयमं पालयित्वा, अनुत्तरां सिद्धिगतिं गतः ॥ ३५ ॥
इति ब्रवीमि ।

इति चित्तसंभूतीयं त्रयोदशमध्ययनं सम्पूर्णम् ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—चित्तो वि—चित्त भी, **कामेहिं**—काम-भोगों से, **विरत्तकामो**—विरक्तकाम होकर, **उदग्ग**— प्रधान, **चारित्त**—चारित्र और **तवो**—तप वाला, **महेसी**—महर्षि, **अणुत्तरं**—प्रधान, **संजमं**—सयम को, **पालइत्ता**—पालकर, **अणुत्तरं**—प्रधान, **सिद्धिगइं**—मोक्ष गति को, **गओ**—प्राप्त हुआ। **त्ति बेमि**—इस प्रकार मै कहता हू।

मूलार्थ—महर्षि चित्त मुनि भी काम-भोगों से विरक्त होकर चारित्र और तप संयम का आराधन करता हुआ सर्व प्रधान मोक्ष-गति को प्राप्त हुआ।

टीका—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के विषय मे तो ऊपर सब कुछ कह दिया गया है, अर्थात् काम-भोगो मे बढ़ी हुई अधिक आसक्ति के कारण वह सातवे नरक मे गया और काम-भोगो से सर्वथा विरक्त होकर तप और चारित्र की प्रधानता वाले चित्त मुनि संयम की आराधना करते हुए सर्वश्रेष्ठ मोक्ष गति को प्राप्त हुए। इस कथन से काम-भोगो के कटु परिणामों को और धर्माचरण के शुभ परिणामो को बताते हुए शास्त्रकारो ने मुमुक्षु पुरुषों के लिए धर्म का ही आचरण सर्वश्रेष्ठ बताया है अतः वही सब के लिए उपादेय है।

इसके अतिरिक्त **'त्ति बेमि'** इस वाक्य का अर्थ अनेक बार प्रत्येक अध्ययन के अन्त में बताया जा चुका है। उसी के अनुसार यहा भी समझ लेना चाहिए।

त्रयोदशम अध्ययन सम्पूर्ण।

जैन धर्म दिवाकर जैनागम रत्नाकर ज्ञान महोदधि
आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज

जैन धर्म दिवाकर, आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज : शब्द चित्र

जन्मभूमि	:	राहों
पिता	:	लाला मनसारामजी चौपड़ा
माता	:	श्रीमती परमेश्वरी देवी
वंश	:	क्षत्रिय
जन्म	:	विक्रम सं० १९३९ भाद्र सुदि वामन द्वादशी (१२)
दीक्षा	:	वि.सं. १९५१ आषाढ़ शुक्ला ५
दीक्षा स्थल	:	बनूड़ (पटियाला)
दीक्षा गुरु	:	मुनि श्री सालिगरामजी महाराज
विद्यागुरु	:	आचार्य श्रीमोतीरामजी महाराज (पितामह गुरु)
साहित्य सृजन	:	अनुवाद, संकलन-सम्पादन-लेखन द्वारा लगभग ६० ग्रन्थ
आगम अध्यापन	:	शताधिक साधु-साध्वियों को।
कुशल प्रवचनकार	:	तीस वर्ष से अधिक काल तक।
आचार्य पद	:	पंजाब श्रमण संघ, वि.सं २००३, लुधियाना।
आचार्य सम्राट् पद	:	अखिल भारतीय श्री वर्ध. स्था. जैन श्रमण संघ सादड़ी (मारवाड़) २००९ वैशाख शुक्ला
सयम काल	:	६७ वर्ष लगभग।
स्वर्गवास	:	वि.सं. २०१९ माघवदि ९ (ई. १९६२) लुधियाना।
आयु	:	७९ वर्ष ८ मास ढाई घंटे।
विहार क्षेत्र	:	पंजाब, हरियाणा, हिमाचल, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, दिल्ली आदि।
स्वभाव	:	विनम्र-शान्त-गंभीर प्रशस्त विनोद।
समाज कार्य	:	नारी शिक्षण प्रोत्साहन स्वरूप कन्या महाविद्यालय एवं पुस्तकालय आदि की प्रेरणा।

जैनभूषण, पंजाब केसरी, बहुश्रुत, गुरुदेव श्री ज्ञान मुनि जी महाराज : शब्द चित्र

जन्मभूमि	:	साहोकी (पंजाब)
जन्म-तिथि	·	वि सं. १६७६, वैशाख शुक्ल ३ (अक्षय तृतीया)
दीक्षा	.	वि.स. १६६३, वैशाख शुक्ला १३
दीक्षा-स्थल	:	रावलपिडी (वर्तमान पाकिस्तान)
गुरुदेव	:	आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज
अध्ययन	:	प्राकृत, संस्कृत, उर्दू, फारसी, गुजराती, हिन्दी, पंजाबी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के जानकार तथा दर्शन एवं व्याकरण शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित, भारतीय धर्मो के गहन अभ्यासी।
सृजन		हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण पर भाष्य, अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना आदि कई आगमों पर बृहद् टीका लेखन तथा तीस से अधिक ग्रन्थो के लेखक।
प्रेरणा		विभिन्न स्थानकों, विद्यालयों, औषधालयो, सिलाई केन्द्रो के प्रेरणा स्रोत।
विशेष	:	आपश्री निर्भीक वक्ता है, सिद्धहस्त लेखक है, कवि है। समन्वय तथा शान्तिपूर्ण क्रान्त जीवन के मंगलपथ पर बढ़ने वाले धर्मनेता है, विचारक है, समाज सुधारक हैं, आत्मदर्शन की गहराई मे पहुंचे हुए साधक है। पजाब तथा भारत के विभिन्न अंचलों मे बसे हजारों जैन-जैनेतर परिवारो मे आपके प्रति गहरी श्रद्धा एवं भक्ति है। आप स्थानकवासी जैन समाज के उन गिने-चुने प्रभावशाली सतो मे प्रमुख है जिनका वाणी-व्यवहार सदा ही सत्य का समर्थक रहा है। जिनका नेतृत्व समाज को सुखद्, संरक्षक और प्रगति पथ पर बढ़ाने वाला रहा है।
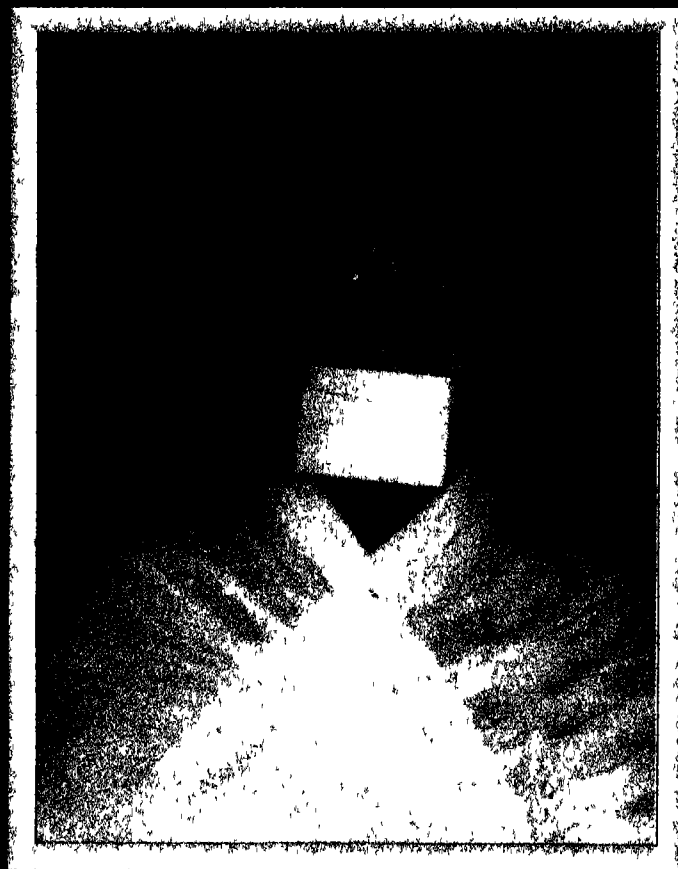
बहुश्रुत, पंजाब केसरी, गुरुदेव
श्री ज्ञान मुनि जी महाराज

आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म. संक्षिप्त परिचय

जैन धर्म दिवाकर गुरुदेव आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनिजी महाराज वर्तमान श्रमण संघ के शिखर पुरुष है। त्याग, तप, ज्ञान और ध्यान आपकी संयम-शैया के चार पाए हैं। ज्ञान और ध्यान की साधना मे आप सतत साधनाशील रहते है। श्रमण संघ रूपी बृहद्-संघ के बृहद्-दायित्वों को आप सरलता, सहजता और कुशलता से वहन करने के साथ-साथ अपनी आत्म-साधना के उद्यान में निरन्तर आत्मविहार करते रहते हैं।

पंजाब प्रान्त के मलौट नगर मे आपने एक सुसमृद्ध और सुप्रतिष्ठित ओसवाल परिवार में जन्म लिया। विद्यालय प्रवेश पर आप एक मेधावी छात्र सिद्ध हुए। प्राथमिक कक्षा से विश्वविद्यालयी कक्षा तक आप प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण होते रहे।

अपने जीवन के शैशवकाल से ही आप श्री में सत्य को जानने और जीने की अदम्य अभिलाषा रही है। महाविद्यालय और विश्वविद्यालय की उच्चतम शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी सत्य को जानने की आपकी प्यास को समाधान का शीतल जल प्राप्त न हुआ। उसके लिए आपने अमेरिका, कनाडा आदि अनेक देशो का भ्रमण किया। धन और वैषयिक आकर्षण आपको बांध न सके। आखिर आप अपने कुल-धर्म—जैन धर्म की ओर उन्मुख हुए। भगवान महावीर के जीवन, उनकी साधना और उनकी वाणी का आपने अध्ययन किया। उससे आपके प्राण आन्दोलित बन गए और आपने ससार से सन्यास मे छलांग लेने का सुदृढ़ सकल्प ले लिया।

ममत्व के असख्य अवरोधो ने आपके सकल्प को शिथिल करना चाहा। पर श्रेष्ठ पुरुषों के सकल्प की तरह आपका सकल्प भी वज्रमय प्राचीर सिद्ध हुआ। जैन धर्म दिवाकर आगम-महोदधि आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज के सुशिष्य ज्ञान के गौरिशकर गुरुदेव श्री ज्ञानमुनि जी महाराज से आपने दीक्षा-मत्र अगीकार कर श्रमण संघ मे प्रवेश किया।

आपने जैन-जैनेतर दर्शनो का तलस्पर्शी अध्ययन किया। 'भारतीय धर्मो में मुक्ति विचार' नामक आपका शोध ग्रन्थ जहां आपके अध्ययन की गहनता का एक साकार प्रमाण है वहीं सत्य की खोज मे आपकी अपराभूत प्यास को भी दर्शाता है। इसी शोध-प्रबन्ध पर पंजाब विश्वविद्यालय ने आपको पी-एच डी. की उपाधि से अलंकृत भी किया।

दीक्षा के कुछ वर्षो के पश्चात् ही श्रद्धेय गुरुदेव के आदेश पर आपने भारत भ्रमण का लक्ष्य बनाया और पजाब, हरियाणा, दिल्ली, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक, उड़ीसा, तमिलनाडु, गुजरात आदि अनेक प्रदेशो मे विचरण किया। आप जहा गए आपके सौम्य-जीवन और सरल-विमल साधुता को देख लोग गदगद बन गए। इस विहार-यात्रा के दौरान ही

संघ ने आपको पहले युवाचार्य और क्रम से आचार्य स्वीकार किया। आप बाहर में ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे और अपने भीतर सत्य के शिखर/ सोपानों पर सतत आरोहण करते रहे। ध्यान के माध्यम से आप गहरे और गहरे पैठे। इस अन्तर्यात्रा मे आपको सत्य और समाधि के अद्‌भुत अनुभव प्राप्त हुए। आपने यह सिद्ध किया कि पंचमकाल में भी सत्य को जाना और जीया जा सकता है।

वर्तमान में आप ध्यान रूपी उस अमृत-विधा के देश-व्यापी प्रचार और प्रसार में प्राणपण से जुटे हुए है जिससे स्वय आपने सत्य से साक्षात्कार को जीया है। आपके इस अभियान से हजारों लोग लाभान्वित बन चुके है। पूरे देश से आपके ध्यान-शिविरो की मांग आ रही है।

जैन जगत आप जैसे ज्ञानी, ध्यानी और तपस्वी संघशास्ता को पाकर धन्य-धन्य अनुभव करता है।

आचार्य प्रवर श्री शिवमुनिजी महाराज : शब्द चित्र

जन्म स्थान	—	मलौटमडी, जिला (फरीदकोट (पंजाब)
जन्म	—	१८ सितम्बर १६४२ (भादवा सुदी सप्तमी)
माता	—	श्रीमती विद्यादेवी जैन
पिता	—	स्व श्री चिरजीलाल जी जैन
वर्ण	—	वैश्य ओसवाल
वश	—	भाबू
दीक्षा	—	१७ मई, १६७२ समय १२ ०० बजे
दीक्षा स्थान	—	मलौटमण्डी (पंजाब)
दीक्षा गुरु	—	बहुश्रुत, जैनागम रत्नाकर राष्ट्र सत श्रमणसंघीय सलाहकार श्री ज्ञानमुनिजी महाराज
शिष्य	—	श्री शिरीष मुनि जी, श्री शुभम मुनि जी, श्री श्रीयश मुनि जी श्री सुव्रत मुनि जी, श्री शमित मुनि जी।
प्रशिष्य	—	श्री निशात मुनि जी, श्री निरज मुनि जी श्री निरजन मुनि जी, श्री निपुण मुनि जी।
युवाचार्य पद	—	१३ मई, १६८७ पूना-महाराष्ट्र
श्रमणसघीय आचार्य पदारोहण	—	६ जून, १६६६ अहमदनगर, (महाराष्ट्र)
चादर महोत्सव	—	७ मई, २००२ ऋषभ विहार, नई दिल्ली
अध्ययन	—	डबल एम ए , पी-एच डी , डी लिट्, आगमो का गहन गभीर अध्ययन, ध्यान-योग-साधना मे विशेष शोध कार्य

युवा मनीषी श्री शिरीष मुनि जी महाराज :
संक्षिप्त परिचय

श्री शिरीषमुनि जी महाराज आचार्य भगवन ध्यान योगी श्री शिवमुनि जी महाराज के प्रमुख शिष्य हैं। वर्ष १६८७ के आचार्य भगवन के मुम्बई (खार) के वर्षावास के समय आप पूज्य श्री के सम्यक् सम्पर्क मे आए। आचार्य श्री की सन्निधि मे बैठकर आपने आत्मसाधना के तत्त्व को जाना और हृदयगम किया। उदयपुर से मुम्बई आप व्यापार के लिए आए थे और व्यापारिक व्यवसाय मे स्थापित हो रहे थे। पर आचार्य भगवन के सान्निध्य में पहुचकर आपने अनुभव किया कि अध्यात्म ही परम व्यापार है। भौतिक व्यापार का कोई शिखर नही है जबकि अध्यात्म व्यापार स्वय एक परम शिखर है। और आपने स्वय के स्व को पूज्य आचार्य श्री के चरणो पर अर्पित-समर्पित कर दिया।

पारिवारिक आज्ञा प्राप्त होने पर ७ मई सन् १६६० यादगिरी (कर्नाटक) मे आपने आर्हती दीक्षा में प्रवेश किया। तीन वर्ष की वैराग्यावस्था मे आपने अपने गुरुदेव पूज्य आचार्य भगवन से ध्यान के माध्यम से अध्यात्म में प्रवेश पाया। दीक्षा के बाद ध्यान के क्षेत्र मे आप गहरे और गहरे उतरते गए। साथ ही आपने हिन्दी, अग्रेजी, संस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओं का भी तलस्पर्शी अध्ययन जारी रखा। आपकी प्रवचन शैली आकर्षक है। समाज मे विधायक क्रांति के आप पक्षधर है और उसके लिए निरतर समाज को प्रेरित करते रहते है।

आप एक विनय गुण सम्पन्न, सरल और सेवा समर्पित मुनिराज है। पूज्य आचार्य भगवन के ध्यान और स्वाध्याय के महामिशन को आगे और आगे ले जाने के लिए कृतसकल्प है। अहर्निश स्व-पर कल्याण साधना रत रहने से अपने श्रमणत्व को साकार कर रहे है।

शब्द चित्र में आपका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

जन्म स्थान	नाई (उदयपुर राज.)
जन्मतिथि	१६/२/१६६४
माता	श्रीमती सोहनबाई
पिता	श्रीमान ख्यालीलाल जी कोठारी
वश, गौत्र	ओसवाल, कोठारी
दीक्षा तिथि	७ मई १६६०
दीक्षा स्थल	यादगिरी (कर्नाटक)
गुरु	श्रमण सघ के चतुर्थ पट्टधर आचार्य श्री शिवमुनिजी म
दीक्षार्थ प्रेरणा	दादीजी मोहन बाई कोठारी द्वारा।
शिक्षा	M.A. (हिन्दी साहित्य)
अध्ययन	आगमो का गहन गभीर अध्ययन, जैनेतर दर्शनो मे सफल प्रवेश तथा हिन्दी, सस्कृत, अग्रेजी, प्राकृत, मराठी, गुजराती भाषाविद्।
शिष्य :	श्री निशात मुनि जी, श्री निरज मुनि जी श्री निरंजन मुनि जी, श्री निपुण मुनि जी।
विशेष प्रेरणादायी कार्य .	ध्यान योग साधना शिविरो का सचालन, बाल सस्कार शिविरो और स्वाध्याय शिविरो के कुशल सचालक। आचार्य श्री के अन्यतम सहयोगी।

आचार्य भगवंत का प्रकाशित साहित्य

साहित्य (हिन्दी) –

- श्री उपासकदशांग सूत्रम् (सम्पादन) — (आगम)
- श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (सम्पादन) — (आगम)
- भारतीय धर्मों मे मोक्ष विचार — (शोध प्रबन्ध)
- ध्यान . एक दिव्य साधना — (ध्यान पर शोध-पूर्ण ग्रन्थ)
- ध्यान-पथ — (ध्यान सम्बन्धी चिन्तनपरक विचारबिन्दु)
- ध्यान-साधना — (ध्यान-सूत्र)
- समयं गोयम मा पमायए — (चिन्तन प्रधान निबन्ध)
- अनुशीलन — (निबन्ध)
- योग मन सस्कार — (निबन्ध)
- जिनशासनम् — (जैन तत्व मीमासा)
- पढम नाणं — (चिन्तन परक निबन्ध)
- अहासुहं देवाणुप्पिया — (अन्तगडसूत्र प्रवचन)
- शिव-धारा — (प्रवचन)
- अन्तर्यात्रा — (प्रवचन)
- नदी नाव सजोग — (प्रवचन)
- शिव वाणी — ,, ,,
- अनुश्रुति — ,, ,,
- अनुभूति — ,, ,,
- मा पमायए — ,, ,,
- अमृत की खोज — ,, ,,
- आ घर लौट चले — ,, ,,
- सबुज्झह कि ण बुज्झह — ,, ,,
- प्रकाश पुञ्ज महावीर — (सक्षिप्त महावीर जीवन-वृत्त)

साहित्य (अंग्रेजी) –

- दी जैना पाथवे टू लिब्रेशन
- दी फण्डामेन्टल प्रिसीपल्स ऑफ जैनिज्म
- दी डॉक्ट्रीन ऑफ द सेल्फ इन जैनिज्म
- दी जैना ट्रेडिशन
- दी डॉक्ट्रीन ऑफ लिब्रेशन इन इडियन रिलिजन
- दी डॉक्ट्रीन ऑफ लिब्रेशन इन इडियन रिलिजन विथ रेफरेस टू जैनिज्म
- स्परीच्युल प्रक्टेसीज ऑफ लॉर्ड महावीरा

पुण्य स्मृति में

श्री त्रिलोक चन्द जी जैन (कुमार [illegible])
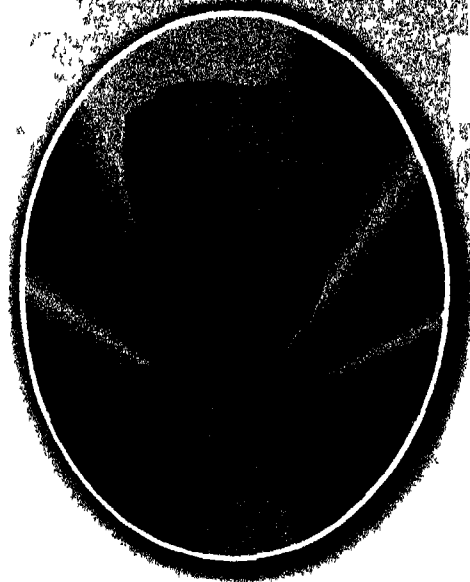
श्रावकरत्न भक्त श्री त्रिलोक चन्द्र जी जैन जगत के एक सुप्रतिष्ठित और सुख्यात व्यक्तित्व थे। उपनी कर्मशीलता, धर्मवीरता और दानशूरता के कारण उन्होंने समाज में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाया था। देव, गुरु और धर्म के प्रति अनन्य आस्थाशील श्री भक्त जी आचार्य सम्राट् श्री आत्मारामजी महाराज के प्रमुख श्रावक थे। उन्होंने आचार्य श्री की जो सेवा की उससे जनमानस सहज ही परिचित है। उनकी सेवा और भक्तिभाव से प्रसन्न होकर ही आचार्य श्री ने उनको 'भक्तजी' की उपाधि से अलंकृत किया था।

सादड़ी सम्मेलन के अवसर पर भक्त जी की सेवाएं आज भी सुश्रुत हैं। आचार्य श्री के सुशिष्य वरिष्ठ उपाध्याय श्री मनोहर मुनि जी की दीक्षा समारोह में भी भक्तजी ने उनके धर्म पिता बनकर अपना पूर्ण सहयोग प्रस्तुत किया था। वर्तमान में श्री भक्त जी के सुपुत्र उदारमना सुश्रावक श्री महेन्द्र कुमार जी जैन ने आचार्य प्रवर श्री शिवमुनि जी के सान्निध्य में दीक्षित श्री निपुण मुनि जी म. के धर्मपिता का दायित्व वहन करते हुए अपने पूज्य पिता जी की स्वर्णिम परम्परा को आगे बढ़ाया है।

प्रस्तुत आगम श्री भक्त जी के सुपुत्रों ने उनकी पुण्यस्मृति में प्रकाशित कराया है। भक्तजी के चार सुपुत्र हैं—श्री ऋषभ दास जी, श्री धर्मवीर जी, श्री महेन्द्र कुमार जी एवं श्री सतीश कुमार जी तथा भरा-पूरा पौत्र, प्रपौत्र परिवार है जो सुसंस्कारित और धर्म के रंग मे रंगा हुआ है। यह परिवार १९३८ से ही होजरी व्यवसाय से जुड़ा है। इनके उत्पादन मिनी किंग निटवियर (टाप गेयर) नाम से भारत भर में विश्रुत और प्रचलित हैं।

सम्प्राप्त सौजन्य के लिए धन्यवाद!

प्रकाशक